

ॐ नमो वेदपुराणाय ।

शुक्लयजुर्वेदकाण्वसंहिता

श्रीसायणाचार्यविरचितभाष्यसंज्ञिता ।

१ अध्यायादारभ्य २० अध्यायान्तिता ।

सनातनधर्ममहोपदेशकेन माधव
शास्त्रिणा संशोधिता ।

KANVA SANHITA.

OF THE SHUKLA YAJURVEDA

With Vashya of Sayana Charya

1 to 20 Chapters.

Edited by Madhava Sastri.

Published and Sold by H. D. Gupta & Sons,

PROPRIETORS,

THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE,

BENARES CITY:

Printed by Jai Krishna Das Gupta,

at the Vidyavilas Press,

BENARES.

1919.

289.99

सायणा

वीर सेवा मन्दिर
दिल्ली



प्रकाशक

श्री १०८

१०८

[illegible][illegible]

४-इन्द्राक्षरधामोपनिषद्वाचिस्पत्ययज्ञ।

१० - २७५११११ - ८१११११११

११- अथानुप्रास- राजपुत्र

82-2015-27151-21-711

२१-२३ तब होना प्रतीत है

२४. ३. ४५ २७. ०१५५२१

2- 38 745 - 10811111

38 39 100 404 414 424 434 444 454 464 474 484 494 504 514 524 534 544 554 564 574 584 594 604 614 624 634 644 654 664 674 684 694 704 714 724 734 744 754 764 774 784 794 804 814 824 834 844 854 864 874 884 894 904 914 924 934 944 954 964 974 984 994 1004 1014 1024 1034 1044 1054 1064 1074 1084 1094 1104 1114 1124 1134 1144 1154 1164 1174 1184 1194 1204 1214 1224 1234 1244 1254 1264 1274 1284 1294 1304 1314 1324 1334 1344 1354 1364 1374 1384 1394 1404 1414 1424 1434 1444 1454 1464 1474 1484 1494 1504 1514 1524 1534 1544 1554 1564 1574 1584 1594 1604 1614 1624 1634 1644 1654 1664 1674 1684 1694 1704 1714 1724 1734 1744 1754 1764 1774 1784 1794 1804 1814 1824 1834 1844 1854 1864 1874 1884 1894 1904 1914 1924 1934 1944 1954 1964 1974 1984 1994 2004 2014 2024 2034 2044 2054 2064 2074 2084 2094 2104 2114 2124 2134 2144 2154 2164 2174 2184 2194 2204 2214 2224 2234 2244 2254 2264 2274 2284 2294 2304 2314 2324 2334 2344 2354 2364 2374 2384 2394 2404 2414 2424 2434 2444 2454 2464 2474 2484 2494 2504 2514 2524 2534 2544 2554 2564 2574 2584 2594 2604 2614 2624 2634 2644 2654 2664 2674 2684 2694 2704 2714 2724 2734 2744 2754 2764 2774 2784 2794 2804 2814 2824 2834 2844 2854 2864 2874 2884 2894 2904 2914 2924 2934 2944 2954 2964 2974 2984 2994 3004 3014 3024 3034 3044 3054 3064 3074 3084 3094 3104 3114 3124 3134 3144 3154 3164 3174 3184 3194 3204 3214 3224 3234 3244 3254 3264 3274 3284 3294 3304 3314 3324 3334 3344 3354 3364 3374 3384 3394 3404 3414 3424 3434 3444 3454 3464 3474 3484 3494 3504 3514 3524 3534 3544 3554 3564 3574 3584 3594 3604 3614 3624 3634 3644 3654 3664 3674 3684 3694 3704 3714 3724 3734 3744 3754 3764 3774 3784 3794 3804 3814 3824 3834 3844 3854 3864 3874 3884 3894 3904 3914 3924 3934 3944 3954 3964 3974 3984 3994 4004 4014 4024 4034 4044 4054 4064 4074 4084 4094 4104 4114 4124 4134 4144 4154 4164 4174 4184 4194 4204 4214 4224 4234 4244 4254 4264 4274 4284 4294 4304 4314 4324 4334 4344 4354 4364 4374 4384 4394 4404 4414 4424 4434 4444 4454 4464 4474 4484 4494 4504 4514 4524 4534 4544 4554 4564 4574 4584 4594 4604 4614 4624 4634 4644 4654 4664 4674 4684 4694 4704 4714 4724 4734 4744 4754 4764 4774 4784 4794 4804 4814 4824 4834 4844 4854 4864 4874 4884 4894 4904 4914 4924 4934 4944 4954 4964 4974 4984 4994 5004 5014 5024 5034 5044 5054 5064 5074 5084 5094 5104 5114 5124 5134 5144 5154 5164 5174 5184 5194 5204 5214 5224 5234 5244 5254 5264 5274 5284 5294 5304 5314 5324 5334 5344 5354 5364 5374 5384 5394 5404 5414 5424 5434 5444 5454 5464 5474 5484 5494 5504 5514 5524 5534 5544 5554 5564 5574 5584 5594 5604 5614 5624 5634 5644 5654 5664 5674 5684 5694 5704 5714 5724 5734 5744 5754 5764 5774 5784 5794 5804 5814 5824 5834 5844 5854 5864 5874 5884 5894 5904 5914 5924 5934 5944 5954 5964 5974 5984 5994 6004 6014 6024 6034 6044 6054 6064 6074 6084 6094 6104 6114 6124 6134 6144 6154 6164 6174 6184 6194 6204 6214 6224 6234 6244 6254 6264 6274 6284 6294 6304 6314 6324 6334 6344 6354 6364 6374 6384 6394 6404 6414 6424 6434 6444 6454 6464 6474 6484 6494 6504 6514 6524 6534 6544 6554 6564 6574 6584 6594 6604 6614 6624 6634 6644 6654 6664 6674 6684 6694 6704 6714 6724 6734 6744 6754 6764 6774 6784 6794 6804 6814 6824 6834 6844 6854 6864 6874 6884 6894 6904 6914 6924 6934 6944 6954 6964 6974 6984 6994 7004 7014 7024 7034 7044 7054 7064 7074 7084 7094 7104 7114 7124 7134 7144 7154 7164 7174 7184 7194 7204 7214 7224 7234 7244 7254 7264 7274 7284 7294 7304 7314 7324 7334 7344 7354 7364 7374 7384 7394 7404 7414 7424 7434 7444 7454 7464 7474 7484 7494 7504 7514 7524 7534 7544 7554 7564 7574 7584 7594 7604 7614 7624 7634 7644 7654 7664 7674 7684 7694 7704 7714 7724 7734 7744 7754 7764 7774 7784 7794 7804 7814 7824 7834 7844 7854 7864 7874 7884 7894 7904 7914 7924 7934 7944 7954 7964 7974 7984 7994 8004 8014 8024 8034 8044 8054 8064 8074 8084 8094 8104 8114 8124 8134 8144 8154 8164 8174 8184 8194 8204 8214 8224 8234 8244 8254 8264 8274 8284 8294 8304 8314 8324 8334 8344 8354 8364 8374 8384 8394 8404 8414 8424 8434 8444 8454 8464 8474 8484 8494 8504 8514 8524 8534 8544 8554 8564 8574 8584 8594 8604 8614 8624 8634 8644 8654 8664 8674 8684

३४- साहित्यशास्त्र

4-3804-41242421.

४४ ॥ १०१ ॥ अ ॥ १०१ ॥ ॥

श्रीवेङ्कटपुराणे विजयते ।

हरिः ॐ नमस्तु ।

प्रत्यङ्गोच्चरं ब्रह्म साक्षाद् यस्य रविर्गुहः ॥
कायेन मनसा वाचा याज्ञवल्क्ये नमाम्यहम् ॥ १ ॥
पीतोद्गीर्णो बिभुर्देवैरेका वै शुक्लकृष्णयोः ॥
याज्ञवल्क्ये च यजुषि न्यायोऽयमतिदिश्यताम् ॥ २ ॥
भासेनेव विधिः सोमं शुक्लं कृष्णं तथा यजुः ॥
भाष्येण समलम्बकुर्विद्यारण्यमुनीश्वराः ॥ ३ ॥
तत्र कृष्णयजुर्माष्यं यदि सर्वत्र हृदयते ॥
इन्दुषद् राहुणा शुक्लं कालेन कवलीकृतम् ॥ ४ ॥
तदुद्दिधीर्षया शास्त्री पिता मे वेङ्कटाक्षलः ॥
व्यवसायात्मिकां बुद्धिं चक्रे सूर्यमुपासितुम् ॥ ५ ॥
लेभे वेङ्कटरामं मां मृतुं तस्य प्रसादतः ॥
व्यासस्यादाह मां- पुत्र याज्ञवल्क्योऽशाल्यसि ॥ ६ ॥
तद् गच्छ, भारते शुक्लयजुर्माष्यं गवेषय ॥
शुभास्ते सन्तु पन्थानो ममाशीर्वचनाद्-इति ॥ ७ ॥
अहं प्रोत्साहितस्त्वेवं भ्रामं भ्राममितस्ततः ॥
अहो शुक्लयजुःकाण्डमन्त्रभाष्यमघातवान् ॥ ८ ॥
जिज्ञासूनां हितायाद्य तदेवैकं प्रचार्यते ॥
आशासे लप्स्यते चाग्न्यच्छिष्टं कालेन गच्छता ॥ ९ ॥
श्रीवेङ्कटाक्षलगुरोः पादपद्मयुगं स्मरद् ॥
आदिपः प्रायेवेऽज्ञातिप्रसङ्गेन बुधेष्वलम् ॥ १० ॥

निवेदकः

शालहस्ति-भूपालस्वामिप्रधान-पण्डितः

श्रीवेङ्कटरामशास्त्री ।

धाराणसी ।

श्रीगणेशाय नमः ।

शुक्लयजुर्वेदकाण्वसंहिता ।

श्रीसायणाचार्यविरचितभाष्यसंवलिता ।

धामीशाद्याः सुमनसः सर्वाऽर्थानामुपक्रमे ॥
यं नत्वा कृतकृत्याः स्युस्तं नमामि गजाननम् ॥ १ ॥
यस्य निःश्वमिनं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ॥
निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ २ ॥
यत्कटाक्षेण तदरूपं दधद् बुक्कमहीपतिः ॥
आदिशत् सायणाचार्यं वेदार्थस्य प्रकाशने ॥ ३ ॥
ये पूर्वोत्तरमीमामे ते व्याख्यायाऽतिसंग्रहात् ॥
कृपालुः सायणाचार्यो वेदार्थं व्याकरोत् खलु ॥ ४ ॥
ऋग्यजुःसामवेदा ये व्याख्यातास्तेषु तद्यजुः ॥
कृष्णं शुक्रमिति द्वेधा तत् कृष्णं तैत्तिरीयकम् ॥ ५ ॥
वैशम्पायनशिष्येण याज्ञवल्क्येन यद् यजुः ॥
अर्धित्य वान्तमाचार्यकोषभीनेन योगिना ॥ ६ ॥
गुरुः शिष्यमुवाचेत्थं क्रुद्धः केनाऽपि हेतुना ॥
प्रत्यर्पय मदीयां त्वं विद्यामिसर्थयत् स च ॥ ७ ॥
योगमामर्ष्यनो विद्यां मूर्तां कृत्वाऽवमत्तदा ॥
शृण्वीत तद्यजुर्वान्तमित्यन्यान् गुरुमब्रवीत् ॥ ८ ॥
अन्ये तित्तिरयो भूत्वा किञ्चित् तान्यप्यऽभक्षयन् ॥
प्रवर्तितः खण्डशस्तैर्न सम्यग् व्यथ्यते नृभिः ॥ ९ ॥
आध्वर्यवं कचिद्धौत्रं कचिदित्यऽव्यवस्थया ॥
बुद्धिमालिन्यहेतुत्वाद् यजुः कृष्णमितीर्यते ॥ १० ॥
याज्ञवल्क्यस्ततः सूर्यमाराध्याऽस्मादधीतवान् ॥
व्यवस्थितप्रकरणं यजुः शुक्रं तदीर्यते ॥ ११ ॥

पौराणकीं कथामेतां वेदव्याख्यान आदरात् ॥

आदिशन्महामाचार्याः श्रुतावापि मया श्रुतम् ॥ १२ ॥

काण्ववेदगते विद्या वंशब्राह्मण ईर्यते ॥

यजूंषि शुक्लान्यादित्यान्मुनिः प्रापेत्यपि स्फुटम् ॥ १३ ॥

अथ वक्षः पौतिमाषीपुत्रः कात्यायनीपुत्राद् इत्यारभ्य, परमेष्ठी-
ब्रह्मणो ब्रह्मस्वयम्भु ब्रह्मणे नम इत्येतदन्तं काण्ववेदस्यान्तिमं वंशब्राह्मणम् ।
पौतिमाषीपुत्रः कश्चिद्वेदसंमदायप्रवर्तको मुनिर्ननुष्याणां गुरुः । स च का-
त्यायनीपुत्राद् वेदमधीतवान् । परमेष्ठीशब्देन सत्यलोकप्रवर्ती चतुर्मुखोऽभि-
धीयते ॥ ब्रह्मशब्देनात्र, मज्ञानं ब्रह्म, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, मायां तु प्रकृ-
र्तिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् * इत्यादिवेदवाक्यप्रसिद्धः परमेश्वरो विवक्षितः ।
तस्य च इतरेषामिवोत्पत्त्यर्थं वेदाऽध्ययनादिव्यवहाराय वा पास्तन्व्यं, तत्
स्वयम्भुशब्देन निवार्यते । तथाच ज्ञेयताश्चतुरा आमनन्ति— न तस्य कार्यं
करणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते * पराऽस्य शक्तिविवि-
धैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानवल्क्रिया च * न तस्य कश्चिन् पतिरस्ति लोके
न चेशिता नैव च तस्य लिङ्गम् * स कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य
कश्चिज्जनितान् न चाऽधियः * । यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्र-
दिशोति तस्मै । तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्य इति ।
नमःशब्देन चाऽस्य ब्राह्मणस्य गुरुपरम्पराविषयनमस्कारं प्रत्यङ्गमन्त्रत्वं द्यो-
त्यते । सा च गुरुनमस्काररूपा गुरुसेवा वेदाध्ययनतदर्थविचारतदनुष्ठानानां
साफल्याय संपद्यते । तथाच स्मृतिः— गुरुमुख्याः क्रियाः सर्वा भुक्ति-
मुक्तिफलप्रदाः * तस्मात् सेव्यो गुरुर्नित्यं मुक्त्यर्थं सुसमाहितैरिति * ।
ईदृशे चाऽस्मिन् वंशब्राह्मणे वाक्यमेवमास्त्रायते—आदित्यानीनामानि शुक्लानि
यजूंषि वाजसनेयेन याज्ञवल्क्येनाख्यायन्त इति । आदित्येनाध्यापितत्वादा-
दित्यान्पुत्र्यन्ते । वाज इत्यत्रस्य नामधेयम् । अन्नं वै वाज इति श्रुतेः । वाजस्य
सनिः=दानं यस्य गृह्येगस्ति सोऽयं वाजसनिः । तस्य पुत्रो वाजसनेयस्तस्य
याज्ञवल्क्य इति नामधेयम् । तेन याज्ञवल्क्येनैतानि शुक्लयजूंषि महाभिभ्यः
पञ्चदशभ्य आख्यायन्ते समन्तादुपदिश्यन्ते । एवं सति याज्ञवल्क्येन प्रवर्तिताः
शुक्लयजुर्विषयाः शाखाः पञ्चदश संपद्यन्ते । तच्छाखाऽध्यायिनश्चरणव्यूहा-
दिग्रन्थे काण्वादिभिः पञ्चदशभिर्ज्ञामिभिरित्थं व्यवह्रियन्ते— काण्वाः ॥ १ ॥

माध्यन्दिनाः ॥२॥ शपेयाः ॥३॥ स्तापायनीयाः ॥४॥ काषाळाः ॥५॥ पी-
ण्डवत्साः ॥६॥ आवटिकाः ॥७॥ परमावटिकाः ॥८॥ पाराशर्याः ॥९॥ वैधेयाः ॥१०॥
बैनेयाः ॥११॥ औघेयाः ॥१२॥ गालवाः ॥१३॥ बैजवाः ॥१४॥ कात्यायनीयाश्चे-
ति ॥१५॥ इति पञ्चदश नामानि । तत्र काष्ठाभिधेन महर्षिणा लब्धो यजुर्वेदविशेषः
काष्ठाः । तल्लाभश्च स्मर्यते—युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षयः *
लेभिरेतपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवेति । यद्यप्ययं वेदः स्वयम्भूपरमेष्ट्यादि-
परम्परया प्राप्त आदित्यशिष्येण याज्ञवल्क्येन बहुभ्यः शिष्येभ्य उपदिष्टस्त्वा-
थापि महता तपसा तुष्टस्येवरस्याऽनुग्रहात् काण्वसम्बन्धितयैव लोके प्रख्या-
यते । तमेतं काण्ववेदमधीयते विदन्ति वेति व्युत्पत्त्या काण्वशिष्यप्रशिष्या-
दिपरम्परायां वर्तमानाः सर्वेऽपि काष्ठा इत्युच्यन्ते । एवं ज्ञात्वा काष्ठादिषु
द्रष्टव्यम् । तत्रेदं काण्ववेदारूपं शुक्लं यजुः पूर्वं न व्याख्यातं, किन्तु तैत्तिरी-
यारूपं कृष्णं यजुरेव व्याख्यातम् । तस्मादिदानीं काण्वशाखा व्याख्यायते ।
यद्यप्यनयोः शाखयोरध्वर्यव एव प्रयोगः प्रतिपाद्यते । तथापि मन्त्रपाठ-
विशेषैः प्रयोगविशेषैर्महान् भेदः । स चानुष्ठातृभेदेन व्यवस्थितविषयत्वान्न
विकल्प्यते । अतएव, स्वाध्यायोऽध्येतव्य इति स्वकीयशाखाध्ययनम् अनुष्ठान-
विशेषाय विहितम् ।

अत्रैतच्चिन्तनीयम् । किमेतत् स्वविधिप्रयुक्तं माणवकाध्ययनम् ?
उतःऽध्ययनविधिप्रयुक्तम् ? इति । तत्र प्राभाकरो मन्यते— स्वाध्यायोऽध्येतव्य
इत्यर्थविधिरष्टवर्षमुपनीतं माणवकमध्ययने प्रवर्तयितुं न प्रभवति । अनधीत-
वेदस्य तद्विधिवाक्यपाठाभावाद्, वाक्याऽर्थज्ञानं व्याकरणादिषडङ्गाध्ययन-
रहितस्य दूरापेक्षम् । बालक्रीडासु निरन्तरमावृत्तस्यानुष्ठाने प्रवृत्तिरक्षाङ्कित-
मप्यशक्या । तस्मान्नायं विधिः प्रवर्तकः । ननु पित्राचार्यादिभिः शिक्षितो
माणवकः क्रीडाभ्य उपरतः पित्रादिमुखादेव यथोक्तवाक्यार्थप्रवगत्याध्ययने
प्रवर्तिष्यत इति चेत् । एवं तर्हि पित्राचार्यादिकर्तृकाऽध्यापनप्रयुक्तं माणवका-
ध्ययनं, न त्वध्ययनविधिप्रयुक्तमित्येतादृशमस्मदीयमेव मतं भवताऽप्यङ्गीक-
र्तव्यम् । अध्यापनस्य तु विधिरेवमाप्नायते—अष्टवर्षं ब्राह्मणमुपनयीतेति । ननु
पूर्वोक्ताध्ययनविधाविधौ तस्मिन्नाध्यापनविधावपि योग्योऽधिकारी साक्षान्न श्रूय-
ते । ततोऽध्ययनसिद्धौ तत्प्रयुक्तिरप्यध्ययनस्य दुर्लभेति चेत् । मैवम् । उप-
नयीतेत्येतेनात्मनेपदेनाचार्यत्वकामस्याऽधिकारिणः प्रतीयमानत्वात् । संमाननो-

स्तज्जनाचार्यकरणेखादिना सूत्रेणाऽऽचार्यकरणविवक्षायां, नयतिधातोरुत्पन्नेपदं विहितम् । एवमप्युपनयन एवाधिकारिसिद्धिर्न त्वऽध्यापन इति चेत् । मैवम् । उपनयति तमध्यापयतीतित्युपनयनाध्ययनयोरेकप्रयोगत्वावगमात् । अयमेवाऽर्थो मनुना स्मरते— उपनीय गुरुः शिष्यं वेदमध्यापयेन्नरः * सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते इति । आचार्यत्वकामेन पित्रादिनाऽनुष्ठेयम् अध्यापनं माणवककर्तृकाध्ययनव्यतिरेकेण न मिद्ध्यति । पाचयति याजयतीत्यादौ सर्वत्र धात्वर्थव्यतिरेकेण णिच्प्रत्ययार्थादर्शनात् । अतः पित्रादिभिरनुष्ठेयमध्यापनं माणवकाध्ययनस्य प्रयोजकम् । एवं तर्हि, स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यस्य विधेः का गतिरिति चेत् । ब्रह्मयज्ञाध्ययनमनेन विधीयत इति ब्रूमः । अत एव, तैत्तिरीयब्रह्मयज्ञेन यक्ष्यमाणः प्राच्यां दिशि ग्रामादित्यारभ्य तस्मिन्नेव प्रकरणे स्वाध्यायस्य महिमानम्— अपहतपाप्मा स्वाध्याय इत्यादिना बहुधा प्रपञ्च्य तस्मादेवमामनन्ति तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्यः, यं यं क्रतुमधीते तेन तेनास्येष्टं भवतीति । तस्मादध्यापनविधिप्रयुक्तं माणवकाऽध्ययनमित्येवं प्रभाकरमतम् ॥

अत्रोच्यते। नित्यस्य ग्रहणाध्ययनस्य काम्येनाध्यापनेन प्रयोज्यत्वं न संभवति । ग्रहणाध्ययनस्य नित्यत्वमकरणे प्रत्ययायस्मरणादवगतव्यप्तातथाच स्मर्यते योऽनधीत्य द्विजो वेदानन्यत्र कुरुते श्रमम् * स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशुगच्छति सान्त्रय इति । अध्यापनं तु कुटुम्बपोषणाय गुरुदक्षिणाकामेनानुष्ठीयत इति तस्य काम्यत्वम् । एतदपि स्मर्यते—पण्णां तु कर्मणामस्य त्रीणि कर्माणि जीविका * याजनाध्यापने चैव त्रिशुद्धाच्च प्रतिग्रह इति। यजनयाजनाध्ययनाध्यापनदानप्रतिग्रहेषु षट्मु कर्मसु यजनाध्ययनदानानि त्रीण्यदृष्टार्थानि । याजनादीनि तु त्रीणि जीवनार्थानि, न त्वदृष्टार्थानि । यस्तु गुरुदक्षिणामनेपक्ष्य माणवकान् अध्यापयति तन्नाध्यापनं विद्यादानरूपत्वाददृष्टार्थमस्तु । न चेतावता एतस्य निषिद्धत्वात्मिद्ध्यति । दानस्य धनवत्त्वादिना संपादयितुं शक्यत्वात् । इत्थमऽनित्यमध्यापनं यदा पित्रादयो नानुतिष्ठन्ति तदा नित्यमध्यापनप्रयुक्तं माणवकस्याध्ययनं न निष्पद्येत । तस्मान्नित्यं ग्रहणाध्ययनं स्वविधिप्रयुक्तमेवैव-वगन्तव्यम् । ननु स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यस्य वेदब्रह्मयज्ञविषयत्वाद्ग्रहणाध्ययन-स्वविधिर्न लभ्यते इति चेत् । बाढम् । अत एव प्रकाशात्माचार्यैर्विवरणग्रन्थे तमध्यापयतीत्यस्य माणवकाध्ययनविधिपरत्वम् उक्तम् । अत्राऽध्यापयतीति पदे, धात्वर्थो, णिच्प्रत्ययार्थो, विधायकविभक्त्यर्थश्चेति त्रयोऽर्थाः प्रतिपाद्यन्ते ।

तेषु णिरूप्यत्यर्थस्य जीवनकामनयैव प्राप्तत्वात्माऽसौ विधेयः । अतः प्राप्तं त-
मनूय धात्वर्थोऽप्राप्तोऽस्मिन् वाक्ये विधीयते । यथा, अग्निहोत्रं जुहोतीति होमं
विधाय, दध्ना तु जुहोतीति वाक्ये प्राप्तहोमाऽनुवादेनाऽप्राप्तो दधिगुणो विहित-
स्तद्वत् । तस्मान्माणवककर्तृकाध्ययनविधिपरमेतद्वाक्यम् । तच्च तदर्थवाचकत्वं
योऽष्टवर्षो ब्राह्मणमुपगच्छेत्, सोऽधीयीतेत्येवं परिणेतव्यम् । किञ्च सर्वासु
स्मृतिषु ब्रह्मचारिप्रकरणेऽध्ययनविधेरुपलब्धत्वात्तत्तन्मूलभूताषु श्रुतिषु विद्यते
एवाध्ययनविधिरित्यनुमीयते । तस्मात् स्वविधिप्रयुक्तमध्ययनम् । तत्र माणव-
कस्याप्रबुद्धत्वेऽपि पित्रादिशिक्षया तदनुष्ठानं सिद्ध्यति । यथा वेदाध्ययनात्
प्रागेव पित्रादिशिक्षया सन्ध्यावन्दनसमिदाहरणाद्यनुष्ठानमिद्विस्तद्वत् ।

तस्मात् स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्ययमेव विधिः कण्वशिष्यान् स्वशाखा-
विशेषाऽध्ययने प्रवर्तयतीति सिद्धम् ।

इदमपरञ्चिन्त्यते । किमेतदध्ययनमदृष्टार्थमुत दृष्टार्थमिति ? ।

तत्र दृष्टार्थेष्वाहारनिद्रादिषु वैदिकविध्यदर्शनाद् वेदेन विहितस्या-
ध्ययनस्य सन्ध्यावन्दनादिवददृष्टार्थत्वं युक्तम् । स्वर्गकामो ज्योतिष्टोमेन य-
जेतत्यादिष्विवैतत्कामोऽधीयीतेत्येवमदृष्टसाध्यफलविशेषो न श्रूयत इति चेत् ।
न हि अध्ययनत्वमाम्येन ब्रह्मयज्ञाध्ययने श्रूयमाणं घृतकुल्यादिफलमत्रातिदि-
श्यताम् । ब्रह्मयज्ञप्रकरणे होमं श्रूयते । यद्वचोऽधीते पयसः कुल्या अस्य पि-
तृन् स्वधा अभिवहन्ति, यद्यजूंषि घृतकुल्या, यस्तामानि सोम पृथ्यः प-
वते यदर्थं चाङ्गिरमो मधोः कुल्येति । तदेतद्ब्रह्मयज्ञफलं ग्रहणाध्ययनेऽति-
देष्टव्यम् । न चादृष्टचरोऽतिदेश इति वाच्यम् । जैमिनीययोः सममाष्टमाध्या-
ययोरतिदेशस्यैव बहुधा विस्तृतत्वात् । तत्र कर्माङ्गानामेवातिदेशो निरूपितः,
घृतकुल्यादिवाक्यं न तु कर्माङ्गावबोधकं, किं तु फलकथनेन स्तावकोऽर्थवादः
इदंशस्यातिदेशो न कापि दृष्ट इति चेत् । मैवम् । वैयासिके गुणोपसंहारपादे,
हानौ तूपायनशब्दशेषत्वादिति सूत्रे तस्य दृष्टत्वात् । तथाहि । कौपीतिकिनो
ब्रह्मविदा परित्यक्तयोः सुकृतदुष्कृतयोरितरेतरैरनुकूलैः प्रतिकूलैश्च स्वीका-
रमिष्टमामनन्ति, न त्वितरस्वीकारम् । तदीयं च वाक्यमेतत् । तदा विद्वान्
पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैतीति । तत्र भगवान् बादरायणः
कौषीतिकशाखायां श्रुतस्येतरस्वीकारस्यार्थवर्णशाखायामुपसंहारं निर्णीत-
वान् । सोऽयं फलवाक्यरूपस्याऽर्थवादस्यातिदेशः । तद्वद् घृतकुल्यादिकमति-

दिश्यताम् । अथवा विश्वजिन्म्यायेन स्वर्गो ग्रहणाध्ययनफलत्वेन कल्पनी-
यः । तथाहि, विश्वजिता यजेतेति यागविधिरेवान्मातो न तत्र फलविशेषः ।
तथा सत्यधिकार्यभावादननुष्ठाने प्राप्ते तत्तमाधानं भगवान् जैमिनिरसूत्रयत्-
स स्वर्गः स्यात् सर्वान् प्रत्यविशिष्टत्वादिति । अस्यार्थः । अधिकारहेतुत्वेन
योऽयं फलविशेषोऽपेक्षितः सोऽयं स्वर्गोऽत्र भवेत् । कुतः ? । फलकामिनः
सर्वान् पुरुषान् प्रति स्वर्गाख्यफलस्य साधारणत्वादिति । स्वर्गो नाम सुखा-
ऽतिशयः । तथाच, दुःखेन यन्न संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम् *अभिलाषोपनीतं च
सुखं स्वर्गपदाभिधमिति । अतोऽत्रापि तेनैव न्यायेन माणवकाध्ययनस्य स्व-
र्गः फलमित्यदृष्टार्थमध्ययनमिति प्राप्ते ब्रूमः । दृष्टफलमम्भवे सत्यऽदृष्टकल्पन-
मन्याय्यम् । अन्यथा, व्रीहिनवहन्तीसत्रापि तण्डुलनिष्पत्तिलक्षणं दृष्टफलं बहु-
प्रयाससाध्यत्वादुपेक्ष्य सकृन्मुसलप्रहाररूपं प्रयासरहितमवघातम् अदृष्टार्थं
पुरुषोऽनुतिष्ठेत् । तथा सति शास्त्रीयतण्डुलाभावेन पुरोडाशाभिद्धौ यागविध-
यो बाध्येत् । तस्माद् दृष्टफलमम्भवे तदेवादरणीयम् । सम्भवति ह्यध्ययन-
स्याऽक्षरप्राप्तिरूपं दृष्टफलम् । नन्वक्षरप्राप्तिरूपं दृष्टफलं गुरुपूर्वकाध्ययनव्य-
तिरेकेण लिखितपाठेनापि लभ्यते । आयुर्वेदादिमन्त्रपाठेषु तथा दर्शनात् ।
तथा सति किमनेनाध्ययनविधिनेति चेत् । उच्यते । नियमादृष्टार्थोऽयमध्ययन-
विधिः । यथा तण्डुलनिष्पत्तिरूपस्य दृष्टफलस्य विक्रियनखाविदलनादिनापि
सिद्धौ नियमादृष्टार्थोऽवघातविधिस्तद्वत् । तस्मादक्षरप्राप्तिः प्रत्यक्षोऽध्ययन-
विधिरिति सिद्धम् ॥

तदिदं शांकरदर्शनाऽनुसारिणं मतम् अमहमानौ भट्टगुरु मन्येते ।
भवत्यध्ययनस्याक्षरप्राप्तिः फलं तथापि भवनामपि विधिर्न पर्यस्यति । किन्तु
प्राप्तैरक्षरैर्योऽयमर्थोऽवबोधस्तस्मिन् विधिः पर्यवस्यति । अर्थावबोधेनानुष्ठाने
निष्पन्ने सति पुरुषार्थस्याग्निहोत्रादिकलस्य स्वर्गस्य सिद्धेः । अक्षरप्राप्तिमात्रेण
तु न अग्निहोत्राद्यनुष्ठानफलं सिद्ध्यति । तस्मात् फलवदर्थवबोधेऽध्ययनविधेः
पर्यवमानमवगन्तव्यम् । यद्यपि विहितस्वाध्यायाध्ययनमात्रादिदानीन्तनेषु सर्वे-
ष्वध्यापकेषु अर्थावबोधो न दृष्टस्तथापि निगमनिरुक्तव्याकरणाद्यङ्गपरिशी-
लनवत्सु दृष्ट एवार्थावबोधः । व्याकरणादिपरिशीनमात्रेणार्थप्रतीतिमात्रे स-
त्यपि तन्निर्णयो न लभ्यते । अक्ताः शर्करा उपदधातीत्यादिवाक्येषु केन
द्रव्येणाऽक्ता इत्यादेः संदेहस्याऽनपगमादिति चेत् । एवं तर्हि निर्णायकं

मीमांसाशास्त्रमनेनाध्ययनविधिनार्थनिर्णयाय स्वीक्रियताम् । यथाऽवघातविधि-
स्तण्डुलनिष्पत्तिफलसिद्ध्यर्थोऽवघातस्याट्टाति स्वीकरोति तद्वत् । तस्मात्फलवद-
र्याऽवबोधे पर्यवस्यत्ययमध्ययनविधिर्न त्वऽक्षरप्राप्तिमात्र इति प्राप्ते ब्रूमः—

किमयमर्थाऽवबोधः स्वयमेव पुरुषार्थस्य स्वर्गहेतुः? उताऽग्निहोत्राद्यनुष्ठानद्वा-
रेण । नाद्यः । अनुष्ठानत्रैयर्थ्यप्रसङ्गात् । द्वितीये तु यथार्थावबोधस्यानुष्ठानहेतोः
परस्परया पुरुषार्थहेतुत्वम्, एवमर्थावबोधहेतुभूताया अक्षरप्राप्तेरपि परस्पर-
या पुरुषार्थहेतुत्वाद्विधिरक्षरप्राप्तौ पर्यवस्यतु । किञ्चानुष्ठानद्वारस्वर्गफलोपेते-
ऽर्थावबोधे विधिपर्यवसानं वदतः कृत्स्नवेदाध्ययनं न सिद्ध्येत् । राजसूयाऽश्व-
मेवादावनधिकारिणो ब्राह्मणस्य तत्फलवत्पर्यन्तार्थावबोधसंभवात् । अक्षरप्रा-
प्तिफलवादिनस्तु कृत्स्नवेदाध्ययनं सिद्ध्यति । अक्षरप्राप्तिर्ब्रह्मयज्ञे जपहेतुत्वात् ।
तत्र ब्राह्मणोऽपि राजसूयाऽश्वमेधादिवेदविभागे भागोत्तरब्रह्मयज्ञजपं करोत्येव ।
विवेच्यार्थावबोधपर्यन्तत्वाऽभावे कथमर्थावबोधसिद्धिरिति चेत् । काव्यनाटका-
दिग्रन्थेषु वैदिकविधिमन्तरेण यथा अर्थावबोधस्तद्वद् भविष्यति । विध्यर्थाभावे-
ऽर्थावबोधप्रयुक्तमहृष्टं किं चिदपि न सिद्ध्यतीति चेत् । मैवम् । अर्थावबोधस्या-
ध्ययनविधिप्रयुक्त्यभावेपि विध्यन्तरप्रयुक्तत्वेन तस्याहृष्टस्य सिद्धेः । विध्यन्तरं
वैवमाम्नायते— ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति, यो-
ऽर्थज्ञ इत्यकलं भद्रमनुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मेति च । तस्मादध्ययनविधिः
पाठमात्रपर्यवसायी । अर्थावबोधस्तु विध्यन्तरप्रयुक्त इति सिद्धम् ॥

अथेदानीं विहितार्थावबोधसिद्धये काण्ववेदो व्याख्यायते । कण्वसंबन्धश्च
वेदस्य पूर्वमेव प्रासिद्धः प्रदर्शितः । कण्वसंबन्धिशाखाया वेदत्वं चाऽलौकिक-
पुरुषार्थोपायवेदनहेतुत्वादत्रगन्तव्यम् । (तथाचोक्तं— प्रत्यक्षेणाऽनुमित्या वा
यस्तूयायो न बुद्ध्यते * एतं विदन्ति वेदेन तस्माद् वेदस्य वेदतेति । तस्मिंश्च
वेदे द्वौ काण्डो—कर्मकाण्डो, ब्रह्मकाण्डश्च । बृहदारण्यकाऽऽख्यो ग्रन्थो ब्रह्म-
काण्डस्तद्व्यतिरिक्तं शतपथब्राह्मणं संहिता चेत्यनयोर्ग्रन्थयोः कर्मकाण्डत्वम् ।
तत्रोभयत्राधानाग्निहोत्रदर्शपूर्णमासादिकर्मण एव प्रतिपाद्यत्वात् । बृहदा-
रण्यके तु तृतीयाद्यध्यायेषु ब्रह्म प्रतिपाद्यते । अतः कर्माणि वेदस्य विषय-
स्तदवबोधः प्रयोजनं, बोधार्थी चाधिकारी । तत्र प्रयोजनं विषयेण जन्य-
ते । तयोर्जन्यजनकभावः संबन्धः । प्रयोजनाधिकारिणोरर्थ्यमानार्थित्व-
संबन्धः । अधिकारिविषययोस्तु प्रयोजनद्वारेणोपकार्योपकारकत्वसंबन्धः ।

इत्थं विषयप्रयोजनाधिकारिसंबन्धरूपस्याऽनुबन्धचतुष्टयस्य विद्यमानत्वात् त-
दीयप्रामाण्यस्य जैमिनिना प्रथमपादे प्रपञ्चितत्वाच्च वेदो व्याख्यातुं योग्यः ।

तस्मिंश्च वेदे कर्मकाण्डः प्रथममाह्वतः । यद्यपि ब्रह्मणोऽभ्यर्हितत्वाद्
ब्रह्मकाण्डस्यैव प्राथम्यमुचितम् । तथापि कर्मभिः साध्यां चित्तशुद्धिमन्तरेण
पुरुषस्य ब्रह्मकाण्डेऽधिकाराभावादधिकारहेतुकर्मप्रतिपादकः काण्डः प्रथमं
समाह्वतः । कर्माणि च चतुर्विधानि । नित्यं, नैमित्तिकं, काम्यं, निषिद्धं
चेति । तत्र नित्यनैमित्तिकयोरननुष्ठानान्निषिद्धमेवनाच्च प्रत्यवाय उत्पद्य-
ते । तथाच याज्ञवल्क्यः स्मरति—विहितस्याऽननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेव-
नात् * अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छतीति । तेन च प्रत्यवायेन बुद्धि-
मान्द्ये सति नित्याऽनित्यवस्तुविवेकवैराग्यादीनाम् अनुदयात् ब्रह्मविविदिषा
पुरुषस्य न जायते । तस्माद् विविदिषाहेतुत्वं नित्यनैमित्तिककर्मणां बृहदारण्यके
सगामनन्ति— तमेतं वेदाऽनुवचनेन ब्राह्मणा विविदधन्ति यज्ञेन दानेन तप-
साऽनाशकेनेति । तदनुष्ठानेन तमोगुणरूपे चित्तमालिन्ये अपगमे सति सत्त्व-
गुणरूपस्य नैर्मल्यस्योदयाद् विवेकवैराग्यादिमपत्तौ सत्यां परमपुरुषार्थरूपे
ब्रह्मतत्त्ववेदनेऽभिरुचिर्जायते । कारीर्या दृष्टिकामो यजेत, चित्रया पशुकाम
इत्यादीनि तु काम्यकर्माणि परमपुरुषार्थमाधनाऽभावेऽपि स्वाभाविककामग्र-
स्तानां पुरुषाणां वैदिकमार्गे फलसंवादेन श्रद्धामुत्पादयितुमेवाह्वान्यन्ते । तस्मात्
तानि वेदे प्रामाद्विकानि । परमतात्पर्यं तु वेदस्य नित्यकर्मस्वेव । तस्मात्
कर्मकाण्डगतयोः संहिताशतपथग्रन्थयोः प्राधान्येन नित्यकर्माण्याह्वानात्तानि ॥

तत्र शतपथब्राह्मणस्य मन्त्रव्याख्यानरूपत्वाद् व्याख्येयमन्त्रप्र-
तिपादकः संहिताग्रन्थः पूर्वभावेत्वात् प्रथमो भवति । (तस्मिंश्च संहिताग्रन्थे
चत्वारिंशदध्यायाः । तेषु प्रथमाद्विंशत्ययोरध्याययोर्दर्शपूर्णमासौ । तृतीयेऽन्वा-
धानान्निग्रहोत्राभ्युपस्थानचातुर्मास्यानि । चतुर्थपञ्चमषष्ठसप्तमाष्टमनवमेषु षट्स्व-
ऽग्निष्टोमः । दशमे वाजपेयः । एकादशे राजसूयः । द्वादशमारभ्य त्रिंशान्तेषु नव-
स्वग्निचयनम् । एकविंशद्वाविंशत्रयोविंशेषु त्रिषु सौत्रामणी । चतुर्विंशपञ्चविं-
शषड्विंशसप्तविंशेषु चतुर्ष्वऽश्वमेधः । अष्टाविंशमारभ्य त्रयस्त्रिंशान्तेषु षट्सु तत्र
तत्र विप्रकीर्णा लिङ्गविनियोज्या अनारभ्याधीता मन्त्राः । चतुस्त्रिंशपञ्चविं-
शयोः पुरुषमेधः । षट्त्रिंशे शान्तिः । सप्तत्रिंशाष्टत्रिंशौकोनचत्वारिंशेषु प्रव-
र्ग्यः । चत्वारिंशे च ब्रह्मविद्या ॥)

ननु संहिताया आदौ कर्मान्तरं परित्यज्य दर्शपूर्णमासेष्टिरेव कुतः प्र-
तिपाद्यत इति चेत् । प्रकृतित्वाभिरपेक्षत्वाच्चेति ब्रूमः ॥
प्रकर्षेणाऽङ्गोपदेशो यत्र क्रियते सा प्रकृतिः । कृत्स्नाऽङ्गविषयत्वमुपदेशस्य
प्रकर्षः । विकृतिषु तु विशेषाङ्गमात्रस्योपदेशः क्रियते । अङ्गान्तराणि तु प्र-
कृतेरातिदिश्यन्ते । अत उपदेशस्य प्रकर्षाभावः । प्रकृतिस्त्रिविधा । अग्निहोत्र-
मिष्टिः, सोमश्चेति । त्रिष्वप्येतेष्वन्यनैरपेक्ष्येण स्वाङ्गजातं सर्वमुपदिष्टम् । तत्र
सोमयागस्य स्वरूपेणान्यनैरपेक्ष्येण्यङ्गेषु दीक्षणीयादिषु दर्शपौर्णमासेष्टिमापे-
क्षत्वाद् न पूर्वभावित्वं युक्तम् । इष्टेस्तु सोमयागनैरपेक्ष्यात् सोमात् प्राचीनत्वं यु-
क्तम् । यद्यप्यग्निहोत्रस्य स्वरूपाङ्गेषु नास्त्यन्यापेक्षा, तथाप्यग्निसिद्धयेपेक्षत्वाद्
आहवनीयाद्यग्नीनां च पत्रमानेष्टिमाध्यत्वात् पत्रमानेष्टीनां च दर्शपूर्णमास-
विकृतित्वात् परम्परयाग्निहोत्रस्य दर्शपूर्णमासापेक्षास्तीति प्रथमभावित्वं युक्त-
म् । दर्शपूर्णमासयोरग्निसाध्यत्वाद्ग्निसाधकमाधानं प्रथमतो वक्तव्यमिति चेद्
मैवम् । नाधानमात्रेणाऽनयः सिद्ध्यन्ति । किन्तु पत्रमानेष्टिभिरपि । ताश्चेष्टयो
दर्शपूर्णमासविकृतित्वात् साक्षादेव दर्शपूर्णमासावपेक्षन्ते । दर्शपूर्णमासौ त्व-
ऽग्निद्वारापत्रमानेष्टिमापेक्षावपि न साक्षात् पत्रमानेष्टीरपेक्षेते । अतो निरपेक्षत्वाद्
दर्शपूर्णमासेष्टिरेव प्रथमं वक्तव्या । ऋग्वेदसामवेदयोरदौ दर्शपूर्णमासेष्टि-
र्नाम्नातेति चेत् । बाढम् । यजुर्वेदमपेक्ष्य दर्शपूर्णमासयोरदित्वमुक्तम् ।
कर्मकाण्डविषये यजुर्वेदस्यैव प्राधान्यात् । आनुपूर्व्या कर्मणां स्वरूपं यजु-
र्वेदे समाम्नातम् । तत्र तत्र विशेषापेक्षायामपेक्षिता याज्यापुरोनुवाक्यादय
ऋग्वेदे समाम्नायन्ते । स्तोत्रादीनि तु सामवेदे । तथा सति भित्तिस्थानीयो
यजुर्वेदः । चित्रस्थानीयावितरौ । तस्मात् कर्मसु यजुर्वेदस्य प्राधान्यम् । तस्मिंश्च
दर्शपूर्णमासेष्टिरादौ समाम्नाता । तस्यां चेष्टौ, इषे त्वादयो मन्त्राः । तेषां च
मन्त्राणां सामान्यलक्षणं न्यायविस्तराभिधे ग्रन्थे द्वितीयाऽध्याये प्रथमपादे
द्राभ्यामधिकरणाभ्यामित्थं विचारितम्—

अहे बुध्नय मन्त्रं मे इति मन्त्रस्य लक्षणम् ।

नास्त्यस्ति वाऽस्य नास्त्येतदव्याप्त्यादेरवारणात् ॥

याज्ञिकानां समाख्यानं लक्षणं दोषवर्जितम् ।

तेऽनुष्ठानस्मारकादौ मन्त्रशब्दं प्रयुञ्जत, इति ॥

आधानप्रकरण इदमाप्नायते-अहे बुध्नय मन्त्रं मे गोपायेति । तत्र मन्त्रस्य

लक्षणं नास्ति कुतः ? अव्याप्त्यतिव्याप्त्योर्वारयितुमशक्यत्वात् । विहितार्थस्याभिधायको मन्त्र इत्युक्ते, वसन्ताय कपिञ्जलानालभत इत्यस्य मन्त्रस्य विधिरूपत्वादव्याप्तिः । मननहेतुर्मन्त्र इत्युक्ते ब्राह्मणेऽतिव्याप्तिरिति चेन्नैवम् । याज्ञिकसमाख्यानस्य निर्दोषलक्षणत्वात् । तच्च समाख्यानमनुष्ठानस्मारकादीनां मन्त्रत्वं गमयति । उरु प्रथा उरु प्रथस्व इत्यादयोऽनुष्ठानस्मारकाः । अग्निमीळे पुरोहितमित्यादयः स्तुतिरूपाः । इषे त्वेत्यादयः शाखाछेदनादिस्मारकाः । अग्न आयाहि वीतय इत्यादय आमन्त्रणोपेताः । एवमन्येऽप्युदाहार्याः । ईदृशेष्वत्यन्तविजातीयेषु समाख्यानमन्तरेण नान्यः कश्चिदनुगतो धर्मोऽस्ति । यस्य लक्षणमुच्यते । तस्मात् समाख्यानं मन्त्रलक्षणम् ॥

ऋगादिलक्षणं पूर्वोत्तरपक्षादाह । न ऋक्सामयजुषां लक्षणं कुर्यात् । लक्ष्मसाङ्कुर्यादिति शङ्किते । पादश्च गीतिः प्रशिष्टपृषाठ इत्यस्त्वसङ्करः* । इदमाम्नायते, अहे बुध्रियमन्त्रं मे गोपाय यमृषयस्त्रैविदां विदुः ऋचः सामानि यजूंषि इति । त्रीन् वेदान् विदन्तीति त्रिविदः । त्रिविदां सम्बन्धिनोऽध्येतारस्त्रैविदाः । ते च यं मन्त्रभागमृगादिरूपेण विविधं वदन्ति तं गोपायेति योजना । त्रिविधानाम् ऋक्सामयजुषां व्यवस्थितं लक्षणं नास्ति । कुतः ? साङ्कर्यस्य दुष्परिहरत्वात् । अध्यापकप्रसिद्धेष्टृग्वेदादिषु पठितो मन्त्र ऋगादिरूप इति हि वक्तव्यम् । तच्च सङ्कीर्णम् । तथाहि । अग्नये मध्यमानायानुब्रूहेहि, हविर्धानाभ्यां प्रोक्षमाणान्भ्यामनुब्रूहेहि इत्यादीनि यजूंष्यग्वेदे समाम्नातानि । देवो वः सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण दप्तोः सूर्यस्य रश्मिभिरित्ययं मन्त्रो यजुर्वेदे सम्प्रतिपन्नयजुषां मध्ये पठितः । न च तस्य यजुष्टमस्ति । ऋग्रूपत्वेन तद्ब्राह्मणे व्यवहृतत्वात् । सावित्र्यत्रेति हि ब्राह्मणम् । एतत् साम गायत्रास्त इति हि प्रतिज्ञाय, हाउ इत्यादिकं साम यजुर्वेदे गीतम् । अक्षितमस्यऽच्युतमसि प्राण संशितमभि इति त्रीणि यजूंषि सामवेदे समाम्नायन्ते । तस्मान्नाऽस्ति लक्षणमिति चेन्न । पादादीनामसङ्कीर्णलक्षणत्वात् । पादेनार्द्धचैनोपेता वृत्तवद्वा मन्त्राः ऋचः । गीतिरूपा मन्त्राः सामानि । वृत्तगीतिवर्जितत्वेन प्रशिष्टपृषाठिना मन्त्रा यजूंषि इति व्यवस्थितं लक्षणम् ॥

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयपादे मन्त्रेष्वन्यद्विचारितम् ।

मन्त्रा उरु प्रथस्वेति किमदृष्टैकहेतवः ।

यागे कृतपुरोडाशमथनादेश्च भासकाः ॥

ब्राह्मणेनाऽपि तज्ज्ञानान्मन्त्राः पुण्यैकहेतवः ।

न तज्ज्ञानस्य दृष्टत्वाद् दृष्टं वरमदृष्टं, इति ॥

उरुप्रथस्वेत्ययं कश्चिन्मन्त्रः । तस्याऽयमर्थः—भोः पुरोडाश त्वमुरु विपुलता यथा भवति तथा कपालेषु प्रसरति हीदृशा मन्त्रा यागप्रयोगेषूच्चार्यमाणा अदृष्टमेव जनयन्ति, न त्वर्थप्रकाशनाय तदुच्चारणम् । पुरोडाशप्रथमलक्षणार्थस्य ब्राह्मणवाक्येनापि भासमानत्वात् । उरु प्रथस्वेति पुरोडाशं प्रथयतीति हि ब्राह्मणवाक्यमिति चेन्नैतद्युक्तम् । अर्थप्रसायनस्य दृष्टप्रयोजनस्य सम्भवे सति केवलादृष्टस्य कल्पयितुमशक्यत्वात् । तस्माद् दृष्टमर्थानुस्मरणमेव यागप्रयोगे मन्त्रोच्चारणस्य प्रयोजनम् । ब्राह्मणवाक्येनाप्यर्थानुस्मरणसम्भवे मन्त्रैर्नैवानुस्मरणीयमिति यो नियमस्तस्यादृष्टं प्रयोजनमस्तु । ननु मन्त्राणामनुष्ठेयार्थस्मारकत्वं कचिद् व्यभिचरितम् । तथाहि । दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्यामहो वा विष्णुत वाऽन्तरिक्षाद्धस्तौ पृणस्व बहुभिर्वसुभिराप्रयच्छ दक्षिणादोत सव्यादित्यस्मिन् मन्त्रे धनमाशास्त इत्ययमर्थः प्रतीयते । अनुष्ठेयार्थस्तु शकटविशेषस्थापनायाऽऽधारभूतकाष्ठस्थापनं, तच्च ब्राह्मणे न विधीयते । दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या इत्याशीरित्यर्चा दक्षिणस्य हविर्धानस्य मेढीं निहन्तीति । नाऽयं दोषः । अस्याधिकरणस्य लिङ्गविनियोगविषयत्वात् । उदाहृतस्तु मन्त्रः श्रुत्या विनियुज्यते । य एतेऽर्थस्मरणाय प्रयोक्तव्या मन्त्राः सन्ति तेषु सर्वेष्टृण्यादिकं वेदितव्यम् । अत एव छन्दोगा ऋष्याद्यवेदने बाधमभिधाय तद्वेदनविधिमामनन्ति । यो ह वा अविदिताप्येयच्छन्दोदैवतब्राह्मणेन मन्त्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं वर्छति गर्गं वा पद्यत इत्यादिः वेदने बाधः । तस्मादेतानि मन्त्रे विद्यादिति वेदनविधिः । तथा कात्यायनाऽऽचार्योऽप्याह । एतान्यविदित्वा योऽधीतेऽनुब्रूते जपति जुहोति यजते याजयते तस्य ब्रह्म निर्वीर्यं यातव्यामं भवत्यथ विज्ञायैतानि योऽधीते तस्य वीर्यवदथ योऽर्थवित्र तस्य वीर्यवत्तरं भवति जपित्वा हुत्वेष्ट्वा तत्फलं युज्यत इति । अस्यास्तु मन्त्रब्राह्मणात्मिकायाः काण्वशाखायाः सर्वस्या अपि स्वयम्भुव्रह्मरभ्य पौतिशाखापर्यन्ताः संप्रदायप्रवर्तका ऋषयस्त्रिषु वंशब्राह्मणेषु मन्त्रविशेषेषु स्पष्टमाप्ताः । काण्डविशेषेषु मन्त्रविशेषेषु चाऽपेक्षितास्तत्तद्विधिविशेषा ब्राह्मणगताख्यायिकाभिरनुक्रमणिकादिग्रन्थैश्चावगन्तव्याः । तदज्ञानेऽपि वंशोक्तानामृषीणामवगतत्वादऽवेदनप्रयुक्तो बाधो नास्ति । ऋषिविशेषाणामपि विज्ञाने फलाधिक्यमस्ति । अतः

एव वीर्यवत्तरं भवतीति कात्यायनवाक्यं पूर्वमुदाहृतम् । छन्दस्तु मन्त्राणाम्
 इषे त्वादीनामनियताभ्रस्वान्नास्त्येव । ये तु यजुषामपि छन्द इच्छन्ति ।
 तैः कात्यायनोक्तसर्वानुक्रमणिकायां पञ्चमाऽध्यायमभ्यस्य तद्द्वारेण तत्तन्मन्त्र-
 छन्दोऽनुमन्थेयम् । देवता तु मन्त्रप्रतिपाद्या । सा च मन्त्रलिङ्गादवगन्त-
 व्या । येषु मन्त्रेऽप्यग्नीन्द्रादयश्चेतनाः प्रतिपाद्यन्ते तेऽप्यग्न्यादीनां देवतात्वं
 भिस्पष्टम् । येषु तु मन्त्रेषु पलाशशाखावर्हिर्जुह्वादयोऽचेतनाः प्रतिपाद्यन्ते
 तेऽपि शाखादिशब्दाभिधेयास्तत्तद्द्रव्याभिमानिनश्चेतना देवता अवगन्त-
 व्याः । अत एव भगवान् वादरायणो, मृदववीदापोऽबुवाञ्जित्यादिष्वचेतनद्रव्येषु
 चेतनोचितव्यपारमुपपादयितुम्, अभिमानिव्यपदेशस्त्विति सूत्रयामास ।
 एवञ्च सति, इषे त्वादीनां मन्त्राणाम् ऋषिछन्दोदेवता यथोक्तनीत्या सुबोधः ।
 तस्माद्वन्ववाहुत्वाभीकभिरस्माभिः प्रतिमन्त्रं नोदाह्रियन्ते । विनियोगज्ञानाय
 तु प्रतिमन्त्रं कात्यायनसूत्रवाक्यमुदाह्रियते । मन्त्रार्थज्ञानाय काण्वसम्बन्धि-
 द्वाचक्षणं तत्र तत्र यथागन्भवमुदाहरामः । तदर्थान्वोधदाकृत्या शाखान्तर-
 पिपयपकापमन्त्रान्त्रं, औधायनसूत्रं, तैत्तिरीयब्राह्मणं च कचिन्कचिदुदाहरा-
 मः ॥ दर्शयामि चिकीर्षुरमावास्यायां प्रातर्नित्याग्निहोत्रं कृत्वा ततो दर्शयागा-
 ऽर्थं, वनाग्ने र्वर्च इत्यादिभिर्मन्त्रैर्वह्निषु समिदाधानरूपमन्त्राधानं कृत्वा वत्सापा-
 करणं कुर्यात् । तस्मिन् वत्सापकरणमिति चेत् । मन्त्रि दर्शयागे व्रीणि प्रधान-
 त्वीति, अग्निरोऽष्टकपालः, ऐन्द्रं दधि, ऐन्द्रं पयः इति । तत्र प्रतिपदि दधि
 होतुं तस्य दध्नः संपादनायाऽमावस्यायां रात्रौ गावो दोग्धव्याः । तदोहनार्थं
 प्रातः काये लौकिकदोहनाद्ध्वं स्वमातृभिः सह मञ्चरन्तो वत्सा मातृभ्यो-
 ऽप्राकरणीयाः । तदिदं वत्सापाकरणम् । एतच्च कण्वो महर्षिः स्वकीये ब्राह्मणे
 विद्यमाने इदं वाक्यं पठति— स वै पर्णशाखया वत्सानपाकरोति इति ।
 तेषामुपपादयितुम् अथवादे गायत्रीकृतं सोमरोहणमभिधाय तदाहरणवेलायां
 पक्षिवाद्या गायव्याः पक्षावशेषः सोमवल्ग्याः पर्णं च भूमावपतत् । तयोरन्यत-
 रत् पर्णशामकः पलाशवृक्षोऽभूत् । अतः सोमसम्बन्धाद् गायत्रीमम्बन्धाच्च
 पलाशवृक्षः शस्य इत्यभिधीयते । ते विधिमेवमुपसंहरति । पर्णं प्रचिच्छेद्
 गायव्या पातोऽन्यवा गच्छस्तत् पतित्वा पर्णोऽभवत् । तस्मात् पर्णो नाम यत्
 तत्र तिष्ठति सोमस्य त्यक्तं, तस्मात् पर्णशाखया वत्सानपाकरोतीति ।

गायव्याः सोमाहरणं, कदूश्च वै सुपर्णा चेत्यादौ तैत्तिरीयब्राह्मणगतानुवाके,

सोमो वै राजा गन्धर्वेष्वामीदित्यादौ बह्वचब्राह्मणे च प्रपञ्चितम् । पलाश-
वृक्षस्य सोमसम्बन्धिपर्णादुत्पन्नत्वेन वृक्षजातिषु ब्राह्मणवृक्षतया प्रशस्तत्वात्
तदीयशाखाया वत्सापाकरणं तित्तिरिः स्वकीयब्राह्मणेऽपि स्पष्टमित्थमुवाच ।
तृतीयस्यामितो दिवि सोम आसीत् । तं गायत्र्याहरत् । तस्य पर्णमुच्छिद्ये-
त् । तस्य पर्णोऽभवत् । तस्य पर्णस्य पर्णत्वं (ब्रह्म वै पर्णम्) यत् पर्णशाखाया
वत्सानपाकरोति । ब्रह्मण्यैनानपाकरोति इति । नचाऽत्र सोमवल्ग्याः पत्रमात्र-
स्य कथं वृक्षस्य सम्पत्तिरिति विस्मेतव्यम् । विधातुरीश्वरस्याऽचिन्त्यशक्ति-
त्वात् । अन्यथा बीजाद् वृक्ष इत्यत्रापि, क बीजं, कुत्र वा वृक्ष इत्ययं विस्मयः
केन वार्येत । सर्वत्र पर्णोऽभ्यो वृक्षः प्रसज्येतेत्ययमतिप्रसङ्गोऽपीश्वरमङ्गलभा-
वेन परिहर्तव्यः । स च सङ्कल्पः कार्यैकमपिगम्यः । तस्माद्वेदार्थे कुतर्कैर्न
चोदनीयम् । तस्याः पर्णवृक्षशाखायाच्छेदनेन प्रथममन्त्रं कात्यायनः स्वकीय-
सूत्र इत्थं विनियुक्ते- पर्णशाखां छिनत्ति शामीलीं वेपे त्वेत्युर्जे त्वेति वा
छिनद्मीति बोधयोः साकाङ्क्षत्वात् । मन्त्रमयामीति बोधश्च इति ॥

अस्याऽयमर्थः ॥ पलाशशाखा शामीशाखा चाऽत्र विकल्पिता । तच्छेदने, इषे
त्वेत्युर्जे त्वेति चेतौ मन्त्रौ विकल्पितौ । तयोरुभयोः क्रियापदाकाङ्क्षत्वादार्था-
वबोधाय छिनद्मीति पदमध्याहर्तव्यम् । सोऽयमेकः पक्षः । इषे त्वेति छेदना-
ऽर्थो मन्त्रः । ऊर्जे त्वेति मन्त्रमनाऽर्थो मन्त्रः । मन्त्रमनमृत्करणम् । तदिदं
पक्षान्तरमिति । अत्र बोधायन उभयोर्वाक्ययोरैकमन्त्रत्वमाश्रित्य तं मन्त्रं छे-
दने विनियुक्ते- तामाछिनत्तीपे त्वोर्जे त्वेति । आपस्तम्बस्तु तदभिसन्धाय म-
न्त्रभेदपक्षमपि कञ्चिदाश्रित्य विनियोगभेदमाह- मन्त्रयतः पलाशशाखां शामी-
शाखां वाहरति । इषे त्वोर्जे त्वेति तामाच्छिनत्त्यपि वेपे त्वेत्याच्छिनत्त्युर्जे त्वेति
संनमयत्यनुमाष्टिवेति । मन्त्रयतः मान्नायनामकं दधिरूपं हविः कुर्वत इत्यर्थः ॥
काण्वशिष्यास्तु मन्त्रभेदं विनियोगभेदं चाश्रित्येत्यमनन्ति । तामाच्छिन-
त्तीपे त्वेति वृष्टये तदाह यदिषे त्वेत्युर्जे त्वेत्यनुमाष्टिं यद्वृष्ट्या ऊर्गमो जायते त-
स्मा उ एतदाह तस्मादाहोर्जे त्वेतीति ॥ अस्यायमर्थः ॥ तां पर्णशाखाम्, इषे
त्वेति मन्त्रेणाध्वर्युः साकल्येन छिन्द्यात् । छेदकालेऽध्वर्युः- इषे त्वेति यद्
वाक्यमाह तदाक्यं वृष्टिमिद्वयम् । अधिकेनादरेण सेवते, ऊर्जे त्वेतिमन्त्रेण तां
शाखामनुमृज्यात् । अनुमार्जनमानुलोम्येन तस्यां संलग्नधूल्याद्यपनयनम् ।
यदि प्रभूताया वृष्टेः सकाशाद् ब्रीहियत्राद्यभिवृद्धिहेतुर्ऊर्जशब्दाऽभिप्रेयः

श्रीगणेशाय नमः ।

हरिः ॐ

अथ मंडलं दक्षिणमक्षिहृदयं चाधिष्ठितं येन शुक्लानियजूंषि
भगवान् याज्ञवल्क्योयतःप्रापतंविष्वन्तंवर्ग्यमयमर्चिष्मंतमभि
ध्यायंकाण्वीये वाजसनेयके यजुर्वेदाम्नायेसर्केसखिलेसशुक्रियंऽ
ऋषिदेवतछंदोस्यनुक्रमिष्यामोयजुषामनियताक्षरत्वादिकेषांछंदो
नविद्यतेद्रष्टार ऋषयः स्मर्त्तारः परमेष्ठ्यादयोदेवतामंत्रांतर्भूता
अग्न्यादिकाहविर्भाजःस्तुतिभाजोवांसःशास्त्रोवाशम्योपवेपक
पालेध्मोलृग्वलादयश्चप्रतिमाभूताइछंदाःसिगायत्र्यादीन्येतान्य-
विदित्वायोधीनेनुब्रूतेजपतिजुहोतियजंतयाजयंततस्यब्रह्मनिवी
र्ययातयामेभवत्यथांतराश्वगतेवापयतेस्थाणुवर्त्तेतिप्रसीयतेवापा-
पीयान्भवत्यथ विज्ञायेतानियोधीनेतस्य वीर्यवदथ योर्व्यक्तस्य
वीर्यवत्तरंभवतिजपित्वाहृत्वेष्टानत्फलंनयुज्यते॥इष्ट्वेत्यादिनमऽ
उक्तिविधेमेत्यंतंविष्वानपश्यन्तः प्रतिकर्मविभागेनब्राह्मणानु
सारेणऽऋषयोवेदिनव्याःपरमेष्ठाप्राजापत्योदर्शपूर्णमासमंत्राणा
मृषिदेवावाप्राजापत्याः ॥ इष्ट्वाशास्त्रानुष्टुब्धिनिर्यागःकल्पका
रोक्तऽग्नवमृजंत्वावायवोवायव्यंदेवोवऽग्नेर्द्रव्यजमानस्य शास्त्राव-
सोर्वायव्यंयौर्मातरिइवनऽउग्रावसोर्वायव्यंदेवस्त्वापयःकाम इक्षुः
प्रदत्तःमाविश्वायुश्च्राणिगव्यानींद्रस्यैंद्रविष्णोपयोर्ग्नःइहमाग्नेयं-
कस्त्वाप्राजापत्यंकर्मेणेरूकृशृपेप्रत्युष्टं छेराक्षमेउरुवक्षरक्षोत्रःस
र्वत्रधूरमिबृद्धवानांविष्णुस्त्वाऽनेउरुहविष्याअपहतःरक्षोयच्छंताः
हविष्यादेवस्यत्वासावित्रःसर्वत्राऽग्नयेलिगोक्ते भूतायत्वाहविः
स्वःसूर्यादृहंतांगृहाःपृथिव्यास्त्वाहव्यंपवित्रेलिङ्गोक्तःसवितुर्देवा
प्रोक्षिताआपान्यग्नयेलिगोक्तेदेव्यायपात्राणिशर्मास्यदित्याःकृ-
ष्णाजिनमवधृतःराक्षसमद्रिग्रीवोलृग्वलंअग्नेर्हविर्बृहत्तमइदमोस
लेहविष्कृद्धिदेवतंवांगधियज्ञस्पत्नीकुक्कुटोवाग्वर्षवृहःशृपेप्रति
त्वाहविःपरापूतमपहतःराक्षमेवायुर्वोदेवोवस्तेहुलाधृष्टिरुपवेपो
ऽपाग्नआदेवयजमानेयंध्रुवमसिषण्णांकपालान्यग्नेब्रह्मानेयंधि
पणासिदार्पिर्देवःशम्याधिषणौपलंधान्यमसि षण्णाःहविर्मही

नामाज्यं वेदोसिवेदबधः संवपामिहविः समापऽआर्पं जनयत्यैत्वेदः
हविरिषेत्वाज्यं घर्मोसिषण्णां पुरोच्छाशो तारितः राक्षसं त्रितायत्रया
णां त्रितो द्वित एकतः क्रमेणादद इन्द्रस्य स्पर्धः पृथिव्यै पृथिविवेदिर्वै
जंपुरीषं वर्षतु वेदिर्वै धानसाविवं मपारुमररो आसुरेद्रप्सस्ते वेदि
र्गायत्रेण त्रीणि वैष्णवानि सुश्मात्रयाणां वेदिः पुराघशः सोपदय
चांद्रमसो त्रिष्टुभं त्रिपत आभिचारिकं मनिशितः स्खोऽनिशिता
स्खोदित्यै विष्णोर्योक्त्रमृजं घ्राणमाज्यं सवितुरापं तेजोसि-
धामाज्यं यस्तं प्राणश्च त्रिष्टुभं ॥ १ ॥

ॐ इषेत्वा । जेत्वा वायवस्थः । देवो बः स त्रिता प्रार्पयतु श्रेष्ठं तमाय

समीचीनजगत्त्वको रमो जायते, तदा प्राणिनामुपकारो भवति । तदर्थमेवा-
ऽध्वर्युर्देदात् । किमाहेत्याशङ्क्य, तस्मादाहोर्जे त्वेति वाक्येन तदेव स्पष्टीक्रियते
इति ॥ काण्वशमिमत एव मन्त्रभेदपक्षो जैमिनीयैरपि द्वितीयाध्याये प्रथमपादे
इत्थं निर्णीतः—

इषे त्वादिर्मन्त्र एको भिक्षो वैकः क्रियापदे ।

अमत्यर्थोस्मारकत्वादेकाऽदृष्टस्य कल्पनात् ॥

छन्देन मार्जने चैतौ विनियुक्तौ क्रियापदे ।

अध्याहृते स्मारकत्वान्मन्त्रभेदोऽर्थभेदतः, इति ॥

इषे त्वोर्जे त्वेत्यत्र क्रियापदाभावेनोरुप्रथम्येति मन्त्रवदर्थस्मारकत्वाभावा-
ददृष्टार्थे सत्येकादृष्टस्य कल्पने लाघवादेक एव मन्त्र इति चेन्मैत्रय । काण्व-
ब्राह्मणे, छिनत्त्यनुमाष्टि इति विनियोगभेदश्रवणात्तदनुसारेणैषे त्वा छिनत्ति उर्जे
त्वाऽनुमार्जमिति क्रियापदेऽध्याहृते सत्यर्थद्वयस्मारकत्वाद्भिन्नौ मन्त्रौ ॥

अथानयोरर्थोऽभिधीयते । इषु इच्छायां धातुः । इष्यत इति व्युत्पत्त्या क्विप्तेन
पकारान्तेनेपशब्देन दृष्टिर्भिधीयते । व्रीहियवादिधान्यनिष्पत्तिहेतुत्वेन सर्वे
प्राणिनो दृष्टिमिच्छन्ति । हे पलाशशाखे इष्यमाणायै दृष्ट्यै त्वामाच्छिनत्ति । उर्जे
बलप्राणनयोरिति धातुः । दृष्टिगतो बलात्मको रमः सर्वान् मनुष्यपश्यादीन्
बलयति पानादिना दृढशरीरान् करोति । यद्वा, प्राणयति प्रकर्षेण चेष्टयतीति
व्युत्पत्तिद्वयेन रम उर्जशब्देनाभिधीयते । हे पलाशशाखे ! उर्जे रमाय त्वाम-
ऽनुमार्जि । इषशब्दगत इकारो धातुस्वरेण प्रातिपदिकस्वरेण वा उदात्तः ।

चतुर्थ्येकवचनस्य, अनुदात्तौ सुप्तितावित्यनुदात्तत्वे प्राप्ते, तदपवादत्वेन, सावे-
काचस्तृतीयादिर्विभक्तिरित्युदात्तत्वं, तस्मिन्नित्यनुदात्तं पदमेकवर्जमिति पूर्व
इकारोऽनुदात्तः । यद्यप्येकशब्देन द्वयोरुदात्तयोरन्यतरौ यः काऽपि वक्तुं
शक्यते । तथापि, सति शिष्टस्वरो बलीयानिति न्यायेन विभक्तिगत उदात्त
एव प्रबलः । तथा सति अनुदात्तादिकमुदात्तान्तमिदं सम्पन्नम् । त्वाशब्द-
स्य प्रातिपदिकस्वरेण यद्यपि उदात्तः प्राप्तस्तथाप्यनुदात्तं सर्वमपादादावि-
त्यस्य सूत्रस्याऽनुवृत्तौ सत्यां, त्वामौ द्वितीयाया इति त्वादेशविधानादयं
शब्दोऽनुदात्तः । संहितायामुदात्तादनुदात्तस्य स्वरित इति त्वाशब्दस्य स्व-
रितत्वम् । ऊर्जे त्वेत्यत्रापि यथोक्तरीत्या स्वर उक्तेयः । मन्त्रद्वयस्य संहिता-
यामूर्ज इत्युकारस्य, स्वरितात् संहितायामनुदात्तानामिति प्रचयाभिधायामैक-
श्रुत्यं प्राप्तम् । तदपवादत्वेनोदात्तस्वरितपरस्य सन्नतर इत्यत्यन्तनीचोऽनुदात्तो
भवति । एवमुत्तरेष्वपि मन्त्रेषु स्वरप्रक्रियोहनीया । उक्तमन्त्रद्वयपाठेनाध्वर्यु-
रिष्यमाणमन्नं बलकरमाज्यक्षीरादिरसं च यजमाने सम्पादयत्येव । तदाह
तित्तिरिः । इषे त्वोर्जे त्वेत्याह । इषमेवोर्जे यजमाने दधातीति । न चाऽत्र प्रत्यक्ष-
विरोध आशङ्कनीयः । अर्थवादस्य प्रशंमारूपगुणत्वाङ्गीकारात् । भूताऽर्थ-
वादत्वाऽङ्गीकारे यदाकदाचिदभ्रमयोर्यत् सम्पादनं तदेतन्मन्त्रफलमित्यव-
गन्तव्यम् ॥

उत्तरमन्त्रस्य विनियोगमाह कात्यायनः ॥ मातृभिर्वत्सान् संसृज्य
वत्सं शाव्वयोपस्पृशति वायवस्थोपायव स्थेति चैक इति ॥ कण्वोऽप्याह ॥
स वत्समुपस्पृशति । वायवस्थेति ॥ एतावानेव कण्वोऽभिमतो मन्त्रः ।
उपायवस्थेत्ययम् उत्तरभागस्तित्तिरेरभिमतः । तस्मादेक इत्यन्यदीयमत-
त्वेन कात्यायन उदाजहार । तित्तिर्यभिमतं विनियोगमाह बौधायनः ॥ तथा
वत्सानपाकरोति वायव स्थोपायव स्थेति इति ॥ तत्रोत्तरभागं कण्वो निराच-
कार । उपायव स्थेत्युद्देक आहुस्तदु नाद्रियेतेति । वा गतिगन्धनयोरिति धातुः ।
वान्ति गच्छन्तीति वायवो गन्तारः । हे वत्सा यूयं वायवः स्थ, मातृभ्यः
सकाशाद् अन्यत्र गन्तारो भवत । सह मातृभिर्गमने सति सायो दोहो न लभ्य-
त इत्यभिप्रायः । अथवा, वायुसादृश्याद् वत्सानां वायुत्वम् । यथा वायुः
पादप्रक्षालननिष्ठीवनादिभिरुपहतां भूमिं शोधयित्वा पुनाति, एवं वत्सा अप्यनु-
लेपनहेतुभूतगोमयादिदानेन भूमिं पुनन्ति तस्माद् वायुसादृश्यम् ॥ सोऽय-

कर्मणे ॥ १ ॥ आप्यायध्व । मध्न्या इन्द्रायभागं प्रजापतीरनृषीषा

मभिप्रायः कण्वेन प्रदर्शितः । वायव स्थैत्ययं वाव वायुर्गोष्ठं पतत इत्यादिवाक्येनाम्नातः । अथवा मनुष्याणामिव पशूनां स्थितिः तत्र युष्मिन्मित्र-सामर्थ्याभावाच्चिरावरणेऽन्तरिक्षे सञ्चरणादन्तरिक्षे । पशूनां स्थितिः । तत्र चान्तरिक्षस्य वायुरधिपतिः । स च वायुर्गोष्ठं पशूनां स्थितिः समवस्थितं पश्य-यतीति पशूनां वायुरूपत्वम् । तथाविधपाठनायपशूनां वायुर्गोष्ठं पश्यितुं वायु-रूपत्वमापाद्य, वायव स्थेति मन्त्रः प्रवर्तते । सोऽयमभिप्रायः किंवाऽप्यात्मा । वायव स्थेत्याह । वायुर्वा अन्तरिक्षम्याध्यक्षः । अन्तरिक्षं स्वयं वायुर्गोष्ठं पश्यति । पशूनां वायव एवेतान् परिदृशतीति । तेन वायुरूपत्वमुच्यते । अथ वा तृणमक्षणायाऽऽहेति । तत्र तत्रारण्ये चरित्वा मायुर्गोष्ठं वायुर्गोष्ठं पश्यमान-गृहे समागमनाय पशून् प्रकर्षणाकारयितुं वायुरूपत्वमुच्यते । अपनमिवा-यन्तिचरिणैराम्नातः । प्र वा एतानेतेदाकरोति, यदाह वायव स्थेति च ॥

कान्त्यायनः ॥ देवो व इति मातृणां मेकां व्याकृत्यैन्द्रं भवति । महेन्द्रं वेति । अत्र
 प्रतिपन्नानि विषेणान्न वा मया च्छाद्योपस्पृशतीति पदद्वयमनुवर्तते । ततोऽयमर्थः
 भेषजं । तन्नानां मतसो या गावः सन्ति तामां मध्ये गामेकां व्याकृत्य पृथ-
 ककृत्य देवो व इति मन्त्रेण शास्त्रयोपस्पृशेत् । तथा सति गौर्भवन्ति पृथक्
 हांषेन्द्रं महेन्द्रं वा भवति । एतदेवाभिषेत्यापस्तम्ब आह, इन्द्रं निगमेष्टुपक्ष-
 येतिन्द्रयाजिनो महेन्द्रयाजिन इति । तत्रोभयविषयजनानविवेकं तत्तिरिदिक्षीय-
 ति । नागतधीभिरेन्द्रं यजेत् । त्रयो वै मतश्रियः शुश्रूवा ग्रामणी राजन्य-
 स्तोता महेन्द्रा देवतेति ॥

मन्त्रपाठस्तु ॥ द्यो वः सविता प्रार्पियतु श्रेष्ठतमाय कर्मणे । आप्यायध्वमन्य ।
इन्द्राय धामं प्रजादतीरनधीया अयस्माः । मा वस्तेन ईशान साधशस्त्रो ध्रुवा
अम्भिन् गोपती स्यात् वहीरिति ॥ अतिनार्थस्य दीव्यतिधातोर्देव इति रूपम् ।
पृ प्रेरण इति धातोः सविनेति । सोऽयं सविता देवः स्वर्ग्यापारे प्रेरकः पर-
मेश्वरः, हे गावो ! युष्मान् प्रार्पियतु प्रभूतनृणपयमोपेतमरणदेशं गमयतु । किमर्थं
श्रेष्ठतमाय कर्मणे । कर्म हि चतुर्विधम्, अपशस्तं प्रशस्तं श्रेष्ठं श्रेष्ठतमं चेति । लोक-
विरुद्धं बध्वन्धचौर्यादिकमपशस्तं, लौकिकैः श्लाघनीयं बन्धुवर्गपोषणादिकं
प्रशस्तं, स्मृतिभिः श्लाघनीयं वापीकूपतडागादिकं श्रेष्ठं, वेदैः श्लाघनीयं यज्ञरूपं

ऽअयक्ष्माः ॥ मावस्तेनऽईशतमाघशः ॥ २ ॥ ध्रुवाऽअस्मि । गो-
पतौ स्यात बह्वीः ॥ यजमानस्य पशून्पाहि वसोः पूर्वावचमसि ॥ ३ ॥

कर्म श्रेष्ठतममिति तद्विवेकः ॥ १ ॥ हे अग्न्याः गावः । गोवधस्योपपातक-
रूपत्वाद्धन्तुमयोग्या अग्न्या इत्युच्यन्ते । तथाविधा यूयमिन्द्राय भागम् इन्द्रदेव-
तामुद्दिश्य संपादयिष्यमाणदधिहेतुभूतं क्षीरम्, आप्यायध्वं समन्ताद्दर्धयध्वम् ।
सर्वास्वपि गोषु प्रभूतं कुरुत । स्फायी प्यायी वृद्धाविति धातुः । वो युष्मान-
ऽपहर्तु स्तेनश्चोरो मेशत, ईश्वरः = समर्थो मा भूत । कीदृशीर्युष्मान् । प्रजावती-
बृहस्पत्याः । अनमीवाः, अम् रोग इति धातुः, क्रिमिदृष्ट्वादिस्वल्परोगरहिताः ।
अवक्ष्माः क्षयव्याध्यादिमरोगरहिताः । अघशः = । अघेन तीव्रपापेन भक्षणा-
दिना, क्षमो घातको व्याघ्रादिरपि मा हिंसको भूत ॥ २ ॥ किञ्च, यूयं गोपतौ
गवां युष्माकं पत्यावस्मिन् यजमाने ध्रुवाः शाश्वतिकाः, बह्वीः—बहुविधाः स्यात
भवत ॥ तन्वध्यापकाः श्रेष्ठतमाय कर्मण इत्येतावत् एव प्रथमकर्ण्डकां समा-
पयन्ति । आप्यायध्वमित्यादिना तु द्वितीयां कर्ण्डकाम् आरभन्ते । तयोर्मन्त्र-
खण्डकयोरेकमन्त्रत्वेन व्याख्यानमयुक्तामिति चेत् । नाऽयं दोषः । माणवकाना-
मावर्तनमैकयायि खण्डकाविच्छेदस्य बुद्धिमद्भिन्नध्यापकैः कल्पितत्वात् ।
यथा बहुचानां नवतत्र सक्तमन्त्रेऽपि वर्गविच्छेदः कल्पितः । यथा वा तैत्तिरी-
यकार्णां वाक्यवर्गेषु पञ्चाशत्पदमन्त्रव्या विच्छेदः आवृत्तिः मौक्त्यायि क-
ल्पितः । तद्भवाऽऽयवमन्त्रव्या । कण्वत्वेतस्य मन्त्रस्य विनियोगं मन्त्रभागानां
व्याख्यानं च विवक्षितेत्वं पठति ॥ अथ धेनुमुपस्पृशति, देवा वः सविता प्रा-
पयतु श्रेष्ठतमाय कर्मण इति ॥ सोऽयं विनियोगः । मावता वै देवानां प्रमविता ।
सवितुः सता यज्ञं संभरति इति प्रथमभागव्याख्यानम् ॥ श्रेष्ठतमाय कर्मण इति
यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म यज्ञाय हितत्वात्मादाह श्रेष्ठतमाय कर्मण इति (द्वितीय-
भागव्याख्यानम्) ॥ आप्यायध्वमग्न्या इन्द्राय भागमिति । स यथैवादी देव-
तायै हविष्टृक्तादिजन्मैवेतदेवताया आदिशति यदाहेन्द्राय भागमिति
तृतीयभागव्याख्यानम् ॥ प्रजावतीरनमीवा अवक्ष्मा इति ॥ नाऽत्र तिरोहितामिवा-
ऽस्तीति चतुर्थभागव्याख्यानम् ॥ मा व स्तेन ईशत माघशः स इति । मावः कश्चन
नाष्टा ईशतेत्येवैतदाहेति पञ्चमभागव्याख्यानम् ॥ नाष्टा नाशकारिण्य इत्य-
र्थः । ध्रुवा अस्मिन् गोपतौ स्यात बह्वीरित्यनपक्रामिण्यः । अस्मिन् यजमाने

धौरसि । पृथिव्यसिमातरिद्वेनोद्यमीसि ॥ विद्वधाः पुर-

बह्व्यः स्यातेत्येवैतदाहेति षष्ठभागव्याख्यानम् ॥ कात्यायनः ॥ यजमानस्य पशून् पाहीत्यग्न्यगारस्यान्यतरस्य पुरस्ताच्छाखामुपगृह्णीति ॥ हे पलाशशाखे त्वमुन्नतप्रदेशे स्थित्वा प्रतीक्षमाणा मनी यजमानस्य पशुनरण्ये सम्भरतश्चोर-
व्याघ्रादिभयात् पाहि रक्ष । यद्यप्यचेतना शाखा तथापि तदभिमानिर्नी देव-
तामुद्दिश्यैवमभिधातुं शक्यते । यथा शास्त्रज्ञा अनेतनेऽपि शालग्रामे शास्त्र-
दृष्ट्या विष्णुमन्त्रिधिमभिप्रेत्य तं विष्णुं सम्बोधनाऽऽवाहनादीन् षोडशोपचा-
राननुतिष्ठन्ति, तद्वदनया शाखादेवतया रक्षितत्वादेव गावो निरुपद्रवाः
सत्यः सायङ्काले पुनः समागच्छन्ति । सोऽयमर्थस्मिन्नित्तिरिणा समाम्नातः ॥
यजमानस्य पशून् पाहीत्याह, पशूनां गोपीथाय । तस्मात् सायं पशव उप-
समावर्तन्त इति ॥ कर्षेनाऽपि विनियोगपुरःसरं मन्त्राऽभिप्राय आम्नायेन ॥
अथाऽऽहवनीयागारस्य, गार्हपत्यागारस्य वा पूर्वार्ध उपगृह्णीति । यजमानस्य
पशून् पाहीति । ब्रह्मणैवैतद्यजमानस्य पशून् गुप्तये परिददातीति ॥ एतद्ब्रह्मणैव
एतेन मन्त्रेणैव, रक्षार्थं शाखाभिमानिदेवतायै समर्पयतीत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥
वमोः पवित्रमिति पवित्रमस्यां बध्नाति कुशौ त्रिवृद्वेति ॥ अमीति मन्त्र-
पाठस्य शेषः । हे दर्भमय पवित्र, वमोरिन्द्रदेवताया निवामहेतोः पयसः शोधकं
पवित्रममि । अनेन मन्त्रेण पवित्रं कृत्वा पर्णशाखायां बध्नीयात् । द्वौ
कुशौ कुशत्रयं वा पवित्रमित्युच्यते । तदेतद्विस्पष्टं तित्तिरिणा समाम्नातम् ॥
त्रिवृत्पलाशशाखायां दर्भमयं भवति । त्रिवृद्वै प्राणाः । त्रिवृत्मेव प्राणं मध्य-
तो यजमाने दधाति । मौम्यः पर्णः सयोनित्वाय । साक्षात्पवित्रं दर्भा इति ॥
आपस्नम्बोऽपि विस्पष्टमेतदवोचत् ॥ त्रिवृदर्भमयं पवित्रं कृत्वा वमूनां पवित्र-
ममीति शाखायां शिथिलमवमजति मूले मूलान्यग्रेऽग्राणि, न ग्रन्थिं करोती-
ति ॥ काण्वेन तु मन्त्र एवं व्याख्यातः । तस्या एव पवित्रं करोति, वमोः
पवित्रममीत्येतावन्तैव, यज्ञो वै वसुर्यज्ञस्य पवित्रममीत्येतदाहेति ॥ तस्या
एव पलाशशाखाया एव सम्बन्धि एतावन्तैव पदत्रयरूपेण मन्त्रेणैव यज्ञशब्देन
तदीयहविर्द्रव्यरूपं क्षीरं लक्ष्यत इत्यवगन्तव्यम् ॥ ३ ॥ इति श्रीसायणाचार्य-
विरचितेमाधवीये वेदार्थप्रकाशे काण्वमंहितायां प्रथमेऽध्याये प्रथमोऽनुवाकः ।

प्रथमेऽनुवाके पलाशशाखाप्रयुक्ता मन्त्रा उक्ताः । द्वितीये दोहन-

मेणधाम्ना ॥ १ ॥ दृहस्वमाह्वामर्तेयज्ञपतिर्हार्षीत् ॥ वसोऽप-

प्रयुक्ता मन्त्रा उच्यन्ते ॥ कान्यायनः ॥ द्यौरसीति स्थाल्यादानमिति ।
यस्यां स्थाल्यां दग्धं क्षीरं प्रक्षिप्यते तस्याः स्वीकारार्थोऽयं मन्त्रः ॥ तत्पाठ-
स्तु ॥ द्यौरसि पृथिव्यसीति ॥ हे स्थालि मृज्जलाभ्यां निष्पन्ना त्वं जलहेतुवृष्टि-
प्रदद्युलोकरूपाऽसि । द्युर्भवन्वात्तद्रूपत्वमस्या उपवर्ण्यते । तथा पृथिव्याः सका-
शादुद्भूततया मुदा निष्पन्नत्वात् पृथिवीरूपा त्वम् । इममेवाभिप्रायं तित्तिरिर्वि-
स्पष्टयति । द्यौरसि पृथिव्यसीत्याह । दिवश्च ह्येषा पृथिव्याश्च संभृता यदुत्वे-
त्येवमाहोति ॥ कान्यायनः ॥ मातरिश्वन इत्यधिश्रयतीति ॥ तमेव विनियोगमा-
पन्नम्बः स्पष्टीचकार—गार्हपत्यादुदीचोऽङ्गारान्निरुद्धं मातरिश्वनो घर्मोऽसीति
तेषु कुम्भीमधिश्रयतीति ॥ तत्पाठस्तु ॥ मातरिश्वनो घर्मोऽसि विश्वधाः परमेण
धाम्ना दृहस्वमाह्वामर्ते यज्ञपतिर्हार्षीत् इति ॥ मातरिश्वनरिक्षे उग्रनिति निःश्वामव-
चेष्टां करोतीति मानग्निश्वा वायुः । वृक्षराणदीप्योरिति धातुः । घर्मो दीपकः ।
अन्नरिक्षोक्तः संचारस्थानप्रदानेन वायोर्दीपिकोऽभिव्यञ्जको भवति । हे कुम्भ
तदोदरेऽप्यन्नरिक्षहृदयस्यावकाशस्य वायुसंचारस्य सद्भावात् त्वमपि वायोर-
भिव्यञ्जकोऽसि । एतदंशमभिमेत्य तित्तिरिराह ॥ मातरिश्वनो घर्मोऽस्येत्याह ।
अन्नरिक्षं वै मातरिश्वनो घर्मः । एषां लोकानां विधृत्या इति ॥ पूर्वमन्त्रे द्यौ-
रसि पृथिव्यसीति श्लोकस्य द्रष्टव्यं कुम्भस्योक्तम् । अत्र तु मातरिश्वनो घर्मो-
ऽसीत्यन्तर्निर्दिष्टमप्युच्यते । तस्मादेषां त्रयाणां लोकानां स्वात्मानि विशेषेण
वायव्यासं धुत्वा मातरिश्वनः । किञ्च, परमेण धाम्ना उत्तमेन बहुक्षीरधार-
ण्यतां, तित्तिरिर्वेदोऽसि इत्येताः सर्वत्रगद्धास्कृष्टिप्रूपोऽयं कुम्भः । अनेन
धुत्वा तेषां धुतिं, तित्तिरिर्वेदेन धूतं मुदादित्यद्वारेण वृष्टिः संपद्यते । तथाच
स्वर्गस्य । अर्धो मातृमाऽऽहुतिः सम्यगादित्यमुपातिष्ठते * आदित्याज्जायते
वृष्टिर्होतृर्वातः सता इति । वृष्टिरूपेण विश्वधारकत्वं तित्तिरिणा समाम्ना-
यत् ॥ विश्वधारया तमे परमेण धाम्नेत्याह । वृष्टिर्वै विश्वधाया वृष्टिमेवावकन्थ
इति ॥ १ ॥ हे कुम्भ दृहस्व त्वन्निरुद्धस्य क्षीरस्य गलनं वारयितुं दृढो भव ।
अन्यथा भग्नस्य न च छिद्रेण क्षीरं गलेत् । दृह दृहि वृद्धाविति धातुर्यद्यपि
वृद्धवर्धनधायि एतर्धं सति भङ्गाभावेन चिरमवस्थानाद्, दार्ढ्यं नाम कालवृद्धि-
रेव भवति । किञ्च, तथा, हे कुम्भ, मा ह्यः, कुटिलो मा भव । ह कौटिल्ये

वित्रमसिशतधारंवसोःपवित्रमसिहस्रधारं ॥ २ ॥ देवस्त्वा ।
सवितापुनातुवसोःपवित्रेणशतधारिण ॥ सुप्याकामधुक्षः ॥ ३ ॥
साविश्वायुः । साविश्वकर्मासाविश्वधायाः ॥ इंद्रस्यत्वाभागः

इति धातुः । यदि कुम्भः कुटिलो भवेत् तदानीमवाङ्मुखे तिर्यङ्मुखे वा
सति तत्र स्थितं क्षीरं गलेत् । अतः क्षीरधारणाय दाढ्यमकौटिल्यं चोच्यते ।
तदाह तित्तिरिः ॥ दृहस्व मा हारित्याह । धृत्या इति ॥ किञ्च, ते यज्ञपतिस्त्व-
त्पम्बन्धी यजमानो मा हार्षीत् । कुटिलो मा भूत् । त्वन्निष्ठस्य क्षीरस्या-
ऽस्कन्दनेन अनुष्ठानाऽविघ्न एव यजमानस्याऽकौटिल्यम् । तच्च त्वदीयेन दा-
ढ्येन कौटिल्याभावेन च भविष्यति ॥ कात्यायनः ॥ वसोः पवित्रमिति पवित्र-
मस्यां करोत्युदग्नेति । अस्यां कुम्भ्यां स्थापनीयस्य पवित्रस्य प्रागग्रत्वं सामा-
न्यतः प्राप्तमिति निद्वक्त्वोदगग्रत्वविकल्प उच्यते । तच्च प्रागग्रत्वं बौधायनो
दर्शयति ॥ तस्यां प्राचीनाग्रं शाखापवित्रं निदधातीति ॥

आपस्तम्बस्तु मायंदोहप्रातर्दोहभेदेन प्रागग्रत्वोदगग्रत्वयोर्व्यवस्थामभिप्रेत्याह ॥
तस्यां प्रागग्रं शाखापवित्रमप्यादधात्युदकप्रातरिति । एवमेवाभिप्रायं तित्ति-
रिर्विशदयति ॥ प्राक्मायमधिनिदधाति तिर्यक्प्रातरिति ॥ पाठस्तु ॥ वसोः
पवित्रमसि शतधारं वसोः पवित्रमसि सहस्रधारमिति ॥ हे शाखापवित्र वसो-
रिन्द्रदेवताया निवासहेतोः पयसः पवित्रं शोधकमसि । पवित्रेण व्यवधाने
सति क्षीरेण सह कुम्भ्यां पतनां तृणपर्णादीनां प्रतिबद्ध्यमानत्वात् पवि-
त्रस्य क्षीरशोधकत्वम् । नच क्षीरमप्येवं प्रतिबद्ध्यत इति शङ्कनीयम् । सूक्ष्मैः
पवित्रच्छिद्रैः कुम्भ्यां पतन्तीनां क्षीरधाराणां शतसहस्रसंख्याकानां सद्भावा-
बोधकत्वमादर्तुं, वसोः पवित्रमिति द्विरुक्तिः ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ देवस्त्वे-
त्यामिच्यमाने जपतीति ॥ पाठस्तु ॥ देवस्त्वा सविता पुनातु वसोः पवित्रेण
शतधारेण सुप्तेति ॥ दोहनादूर्ध्वं कुम्भ्यां सिच्यमान हे क्षीर! त्वां प्रेरको देवः
पूर्वोक्तनीत्या शतधारेण वसोः पवित्रेण पुनातु शोधयतु । सुप्तेति पवित्र-
विशेषणम् । सुष्टु पुनातीति सुपूः । तस्य तृतीया सुप्ता ॥ कात्यायनः ॥
कामधुक्ष इति प्रश्न इति ॥ एकस्यां गवि दुग्धायां दोग्धारं प्रत्यन्यः पृच्छेत् ।
हे दोग्धः ! विंशमानानां गवां मध्ये कां गामधुक्षो दुग्धवानसि ॥ ३ ॥

कात्यायनः ॥ प्रोक्ते, सा विश्वायुरित्याहेति ॥ पूर्वोक्ते प्रश्ने प्रष्टा प्रोक्ते सति

सोमेनातनक्मिचिष्णोहव्यरक्षस्व ॥ ४ ॥

सा विश्वायुरिति मन्त्रेणोत्तरं दोग्धा ब्रूयात् । तस्य मन्त्रस्याऽयमर्थः । या गौर्मया दुग्धा त्वया च पृष्टा सा गौर्विश्वायुः—शब्देनाभिधीयते । विश्वमायुर्यस्या इति विग्रहः । यजमानस्य संपूर्णमायुः प्रयच्छतीत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ एवमितरे उत्तराभ्यामिति ॥ यथा सा गौः प्रथमा पृष्टा एवमितरे द्वितीयतृतीये गावौ तत्तद्दोहनादूर्ध्वं कामधुक्ष इति मन्त्रेण प्रष्टव्ये । दोग्धा पुरुषोऽप्युत्तराभ्यां, सा विश्वकर्मा, सा विश्वधाया इति मन्त्राभ्यां क्रमेणोत्तरं ब्रूयात् । या द्वितीया गौस्त्वया पृष्टा सा विश्वकर्मेत्युत्तरम् । क्षीरदधिनवनीताज्यैः साध्यानि विश्वानि सर्वाणि कर्माणि यस्या गोः सन्ति सा गौर्विश्वकर्मा । या तृतीया गौस्त्वया पृष्टा सा विश्वधाया इति तत्प्रश्नस्योत्तरम् । दुधाञ् धारणपोषणयोरिति धातुः । क्षीरदध्यादिहविर्भुज इन्द्रादिदेवान् विश्वान् सर्वान् दधाति पुष्पातीति विश्वधायाः । यद्वा, धेद् पान इति धातुः । विश्वान् सर्वान् इन्द्रादीन् हव्यं क्षीररूपं धापयति पाययतीति विश्वधायाः ॥ कात्यायनः ॥ उद्रास्यातनक्ति प्राग्धुतशेषेणेन्द्रस्य त्वेतीति ॥ कथितं क्षीरमग्नेः साकाशाद् वहि रुद्रास्य मन्दोष्णे क्षीरे सायंकालीनाग्निहोत्रानन्तरवर्तिना यवागृशेषेण दधिनिष्पन्नयर्थमातञ्जनं कुर्यात् । यवागृशेषस्यातञ्जनमाधनत्वमापस्तम्बः स्पष्टमाह ॥ अत्रावास्यायाः रात्र्याः स्वयं यजमानो यवाग्नाग्निहोत्रं जुहोति । अग्निहोत्रोच्छेषेण आतञ्जनार्थं निदधातीति ॥ नित्तिरिणाऽप्याम्नातम् ॥ अग्निहोत्रोच्छेषणाऽभ्यातनक्ति यज्ञस्य मन्तव्या इति ॥ पाठस्तु ॥ इन्द्रस्य त्वा भागः सोमेनातनक्मीति ॥ हे क्षीर इन्द्रस्य भागं त्वां सोमवल्लीरमेनाऽऽतनक्मि । अञ्जतिधातुः कठिनीकरणार्थः । दधिनिष्पत्तये कठिनीकरोमीत्यर्थः । यद्यप्यत्रातञ्जनहेतुर्यवागृशेषो, न तु सोमस्तथापि मनोभावनया तस्य सोमत्वं संपद्यते । यथा कश्चिन् पुरुष आनुकूल्येन भाविनो बन्धुर्भवति, प्रातिकूल्येन भावितः शत्रुर्भवति । यथा वा भक्ष्यं भोज्यं च विपत्रत्वेन भावितं वमनं करोति । अमृतत्वेन भावितं जीर्णं सद् बलहेतुर्भवति । तदुक्तं वासिष्ठरामायणे, बन्धुत्वे भावितो बन्धुः परत्वे भावितः परः * विषाऽमृतदृशेवेह स्थितिर्भावनिबन्धनीति । तथात्राऽपि यवागृशेषस्य भावनया सोमत्वम् । तदेतत् नित्तिरिणा समाम्नातम् ॥ सोमेन त्वातनवतीन्द्राय दधीत्याह सोममेवैतत् करोतीति ॥

अग्नेव्रतपते । व्रतंचरिष्यामि नष्टं केयंतन्मे राध्यतां ॥ इदमह-

एतावता प्रयामेन सोमसम्पादने प्रयोजनं च तेनैवाभ्यातम् ॥ यो वै सोमं
भक्षयित्वा संवत्सरः सोमेन पिवति पुनर्भक्ष्यस्य सोमपीथो भवति सोमः
खलु वै साक्षात्प्रयमः । य एवं विद्वान् साक्षात्प्रयं पिवति अगुनर्भक्षस्य सोमपीथो
भवतीति मन्त्रगतस्येन्द्रमन्त्रकथनस्य सोमत्वकथनस्य च तात्पर्यं कण्वना-
ऽऽम्नातम् ॥ स आतनक्तीन्द्रस्य त्वा भागः सोमेनातनक्मीति । स यथैवादी
देवतायै हविर्गृह्णादिशत्येवमेवैतदेवताया आदिशति । यदाहेन्द्रस्य त्वा भा-
गमिति सोमेनातनक्मीति स्वदयत्येवैनमिति ॥ कात्यायनः ॥ सोदकेनापि दधा-
त्यमृन्मयेन विष्णो हव्यमितीति ॥ रक्षस्वेति मन्त्रशेषः । सर्वत्र सृष्टौ पालने
संहारे च ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा अभिमानिदेवताः । अतो विष्णुं सर्वोध्य हवि-
षो रक्षा प्रार्थ्यते । पिधानपात्रस्योदकयुक्तस्याभिप्रायः काण्वेनाम्नातः ॥ उ-
दन्वता कमेन वा चमेन वाऽमृन्मयेनाऽपि दधाति । वज्रो वा आपो वज्रमे-
वास्यै तदुपगृह्णादभिगोपारं करोतीति ॥ अमृन्मयेनेत्यस्य मृन्मयवर्जनस्या-
ऽभिप्रायस्तिचिचिणा समाभ्यातः ॥ न मृन्मयेनाऽपि दध्यात् । यन्मृन्मयेनाऽपि-
दध्यात् पितृदेवतयः स्यात् । अयस्पात्रेण वा दारुपात्रेण वाऽपि दधाति ।
तद्धि मदेवम् उदन्वज्जनात् । आपो वै रक्षोव्रीः । रक्षमामपहत्या इति ॥ ४ ॥
इति प्रथमाध्याये द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

द्वितीये दोहनमन्त्रा उक्ताः । तृतीये हविर्विपतमन्त्रा उच्यन्ते ॥ का-
त्यायनः ॥ अपरेणाहवनीयं प्राङ् निष्ठुन्नग्निमीक्षमाणोऽप उपस्पृश्य व्रतमुपै-
त्यग्रे व्रतपत इदमहमिति वेति ॥ तयोर्मन्त्रयोः प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ अग्ने व्रत-
पते व्रतं चरिष्यामि तच्छक्यं तन्मे राध्यतामिति ॥ व्रतस्यानुष्ठेयस्य कर्मणः
पते! पालक, हे अग्ने! त्वदनुष्ठेया व्रतं चरिष्यामि कर्माऽनुष्ठेयाऽस्यामि । तच्छ-
केयं तत्कर्माऽनुष्ठेयं त्वत्प्रसादाच्छक्तो भूयामस्य । तन्मे राध्यतां मदीयं तत्
कर्म निर्विशं सत् फलपर्यन्तं साध्यताम् । एतस्य मन्त्रणस्य तात्पर्यं काण्वेना-
म्नातम् ॥ स आहवनीयमीक्षमाणो व्रतमुपैत्यग्ने व्रतपत इति व्रतं चरिष्यामि
तच्छकेयं तन्मे राध्यतामित्यग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्तस्मा एवैतद् व्रतं चरिष्यन्
प्राह तस्मै निवेदयति, तच्छकेयं तन्मे राध्यतामिति ॥ नात्र तिरोहितमित्रास्ती-
ति । तिचिरिणाप्येतदाम्नातम् । व्रतेन मेध्योऽग्निर्व्रतपतिर्ब्राह्मणो व्रतमुद-

मनृतास्त्यमुपैमि ॥ १ ॥ कस्त्वा । युनक्तिस्तत्वायुनक्ति कस्मै-

व्रतमुपेक्ष्य ब्रूयादग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामीत्यग्निर्वै देवानां व्रतपतिस्तस्मा ए-
सं प्रति प्रोच्य व्रतमालमत इति ॥ द्वितीयमन्त्रपाठस्तु ॥ इदमहमनृतात् सत्य-
मुपैमीति ॥ अनृतं मनुष्यजस्य । शीघ्रविनाशित्वात् । यथा बोधमात्रेण शीघ्रं
निवर्तमानाः स्वप्नगजादयोऽनृता इत्युच्यन्ते, तद्वत् । सत्यं देवजन्म । बहुकाल-
स्थायित्वात् । यथा जागरणगजादयस्तद्वत् । अहं यजमानोऽस्मादनृतान्म-
नुष्यजन्मन उद्वृत्य सत्यदेवताशरीरमुपैमि प्राप्नोमि । तत् सत्यमनुष्ठीयमानकर्म-
रूपेण प्रत्यक्षमिति मन्वान, इदमिति विशिनष्टि । सत्यानृतयोर्देवमानुषजन्मपर-
त्वं मत्वा तैत्तिरीयः कश्चिन्मन्त्रं स्वयमेव व्याचष्टे ॥ अनृतात् सत्यमुपैमि
मानुषाद् दैव्यमुपैमि । देवीं वाचं यच्छामीति ॥ कण्वेनाप्ययमर्थ आम्नातः ॥ द्व-
यं वा इदं, न तृतीयमस्ति, सत्यं चैवानृतं च । सत्यं दैवादनृतं मनुष्यात् स उ-
पेयादिददमहमनृतात् सत्यमुपैमीति । तन्मनुष्येभ्यो देवानुपावर्तत इति ॥

अथवा लोकप्रसिद्धे एव सत्यानृते ग्रहीतव्ये । नानृतं वदेदित्यनृतवादिनिषेधस्य
कर्मकरणे श्रुतत्वात् । अनृतवदनोदुद्धृत्याऽहमिदं सत्यवदनं प्राप्नोमीति मन्त्रा-
ऽर्थः । अत एव कात्यायन, इदमहमिति वा सत्यवादीति व्रतोपायनं विधाय
एश्वदेवमाह ॥ अतः कर्माङ्गमुत्तरे सत्यवदनमिति ॥ यतः सत्यवादी व्रतमु-
पेतवान् अतः कारणात् तदुत्तरे कर्मकाले यत् सत्यवदनं तत् कर्माङ्गमि-
त्यर्थः ॥ १ ॥ उक्तप्रकारेण व्रतमुपेत्य ततो ब्रह्मसरणं कृत्वा तेन ब्रह्मणाऽनु-
ज्ञातो यज्ञपात्रप्रोक्षणार्थमपां प्रणयनं कुर्यात् ॥ तदाह कात्यायनः ॥ ब्रह्मन्नपः
प्रणेष्यामि यजमानवाचं यच्छेत्याहानुज्ञात उत्तरेणाहवनीयः सम्प्रति निदधा-
ति कस्त्वा युनक्तीति ॥ पाठस्तु ॥ कस्त्वा युनक्ति म त्वा युनक्ति कस्मै त्वा
युनक्ति तस्मै त्वा युनक्तीति ॥ अत्र मन्त्रं प्रयुज्जानोऽध्वर्युर्ध्वजस्यारम्भकर्मात्मनः
कर्तृत्वमपनीय प्रजापतेर्यज्ञकर्तृत्वं प्रश्नोत्तररूपाभ्यां मन्त्रवाक्याभ्यां प्रतिपा-
दयति । प्रणीतानामपां धारक हे पात्र ! त्वां कः पुरुषो युनक्ति । आहवनीय-
स्योत्तरभागं स्थापयतीति प्रश्नः । तच्छब्दः प्रसिद्धार्थवाची । सर्वेषु वेदेषु
जगन्निर्वाहकत्वेन प्रसिद्धो यः प्रजापतिरस्ति स एव परमेश्वरो, हे पात्र ! त्वां
युनक्तीत्युत्तरम् । पुनरपि कस्मै प्रयोजनाय त्वां युनक्तीति प्रश्नः । तस्मै प्रजा-
पतये तत्प्रीत्यर्थं त्वां युनक्तीत्युत्तरम् । सर्वकर्मणां परमेश्वरप्रीत्यर्थं भगवद्-

त्वायुनक्ति तस्मै त्वायुनक्ति ॥ कर्मणैवावेवायवां ॥ २ ॥ प्रत्युष्टः

गीतास्वर्जुनं प्रति भगवतोक्तम् । सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मय्यपाश्रयः * मत्पसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् * यत् करोषि यद्दृशसि यज्जुहोषि ददासि यत् * यत् तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणमिति च । ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् * ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिनेति च । तस्य मन्त्रस्य प्रजापतित्वेन व्याख्यानं कण्वेनाप्याम्नायते ॥ स प्रणयति । कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै त्वा युनक्ति तस्मै त्वा युनक्तीति । एताभिरनिरुक्ताभिर्व्याहृतिभिरनिरुक्तो वै प्रजापतिः । प्रजापतिर्यज्ञस्तत् प्रजापतिमेवैतद्यज्ञं युनक्तीति ॥ व्याहृतियुक्ताश्चतस्रो मन्त्रवाक्यरूपास्तासु किञ्चन्दत्तच्छब्दाभ्यां साधारणवाचिभ्यामेव देवता व्यवह्रियते । न त्वीदृगुणयुक्ता नामविशेषेणानेनोपेतेति विस्पष्टं निःशेषेणोच्यते । तस्मादेवासामनिरुक्तत्वम् । एताभिर्व्याहृतिभिः प्रणयतीत्यन्वयः । व्याहृतयो यद्वदनिरुक्तास्तद्वत् प्रजापतिरप्यनिरुक्तः । चतुर्मुखाद्यवतारस्वीकारात् पूर्वं सर्वजगत्कारणभूतः प्रजापतिरीदृश इति निर्वक्तुमशक्यत्वात् । अत एव बृहदारण्यके सृष्टेः पुरा प्रजापतिरूपस्यास्पष्टत्वमाम्नातम् । तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत् । तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियेतेति । यदा भूतभौतिकरूपसर्वजगद्विषयनामरूपाकारेण प्रजापतिस्वरूपं व्याकृतं विस्पष्टं भवति । तदानीं यज्ञरूपेणापि व्याक्रियते तत् । तथा सत्येतदेनेन मन्त्रेण प्रजापतिरूपमेव यज्ञं युनक्ति अनुतिष्ठति ॥ तित्तिरिणाऽप्येतदेवाम्नातम् ॥ कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्तीत्याह । प्रजापतिर्वैकः प्रजापतिनैवैनं युनक्तीति ॥ अनन्तरमात्री प्रयोगः कण्वेनैवाम्नातः ॥ परिस्तीर्य द्वन्द्वपात्राण्युपमादयत्यग्निहोत्रहवर्णी च शूर्पं च स्फथं च कपालानि च शम्यां च कृष्णाजिनं चोल्खलमुमले दृषदुपले तदश दशाक्षरा वै विराड् विराड् वै खलु वै यज्ञो विराजमेवैतद्यज्ञमभिसंपादयतीति ॥ तित्तिरिणाप्येवामात्राय, यज्ञायुधानि सम्भरति यज्ञो वै यज्ञायुधानि यज्ञमेवैतद्भरति यदेकमेकं सम्भरेभि त्रिदेवत्यानि स्युर्यत् सह सर्वाणि मानुषाणि द्वे द्वे सम्भरति । याज्यानुवाक्ययोरेवं रूपं करोत्यथो मिथुनमेव यो वै दशयज्ञायुधानि वेदमुखतोऽस्य यज्ञः कल्पते स्फथं च कपालानि चाग्निहोत्रहवणी च शूर्पं च कृष्णाजिनं च शम्यां चोल्खलं च मुसलं च दृषद्वोपला चैतानि वै दश यज्ञायुधानीति ॥ कात्यायनः ॥ कर्मणे

रक्षः । प्रत्युष्टाऽअरातयो निष्टम् रक्षो निष्टम्ताऽअरातयः ॥ उर्व-
तरिक्षमन्वेमि ॥ ३ ॥ धूरमि । धूर्वधूर्वतंधूर्वतंयोस्मान्धूर्वति ॥ धूर्व-

वामिति शूर्वाग्निहोत्रहवण्यादायेति ॥ पाठस्तु ॥ कर्मणे वां वेषाय वामिति ॥
हे अग्निहोत्रहवणि, हे शूर्प, वां युवां कर्मणे कर्मार्थमादद इति शेषः । विप्लु
व्याप्ताविति धातुः । वेपो व्याप्तिः । शूर्पोचितकर्मस्तु व्याप्त्यर्थं वां युवामहमा-
ददे । शकटेऽवस्थितानां व्रीहीणां हविरर्थं पृथक्करणं मोक्षणाद्युदकधारणमि-
त्येवमादयोऽग्निहोत्रहवण्यारचितव्यापाराः । व्रीहिनिर्वापधारणमुल्लखले व्रीहि-
प्रक्षेपः, पुनरुद्धरणं चेत्यादयः, शूर्पोचितव्यापाराः ॥ काण्वेनैतन्मन्त्रव्या-
ख्यानमास्नायते ॥ योऽग्निहोत्रहवणी च शूर्पं चादत्ते । कर्मणे वां वेषाय
वामिति । यज्ञो वै कर्म यज्ञाय वामित्येवैतदाह । वेषाय वामिति । वेनेष्टीव हिय-
ज्ञमिति ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ प्रतपनं प्रत्युष्टं निष्टमिति चेति ॥ पाठस्तु ॥
प्रत्युष्टः रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टम् रक्षो निष्टम्ता अरातय इति ॥ उप दा-
ह इति धातुः, रा दात इति धातुः । द्वित्रिषो दक्षिणाया वादानं रातिः । तस्याः
प्रतिपन्धका अरातयस्ते च प्रत्युष्टाः प्रत्येकं दग्धाः । तप सन्ताप इति धातुः ।
शूर्पादीर् निष्टम् रक्षो निष्टम् निःक्षेपेण मन्त्रमन्त्र, अरातयश्च निष्टम्ताः । अन-
योर्मन्त्रयोर्विकल्पः कृष्णेनास्नातः । न प्रतपति प्रत्युष्टः रक्षः प्रत्युष्टा अरा-
तय इति त्रयं, निष्टम् रक्षो निष्टम्ता अरातय इति त्रयं । पुनरपि, देवा ह वै यज्ञं
तन्वाना अगुरुरक्षपाशमद्वाद विभया अक्रुरित्यादिना मन्त्रतात्पर्यमास्नातय ॥
कात्यायनः ॥ मच्छत्युर्वन्तरिक्षमितीति ॥ अन्वेमीति मन्त्रशेषः । उरु विस्ती-
र्णमन्तरिक्षपात्रकाशमन्वेमि अनुष्ठित्य मच्छामि । मच्छतः पुरुषस्य पार्श्वयोग्ययो-
गमस्थितं रक्षो मच्छेमानेन निराक्रियते ॥ तमेतमिममायं कण्व आह ॥ उर्व-
न्तरिक्षमन्वेमीति मन्त्रन्तरिक्षं वा अनु रक्षश्चरति । यथाऽयं पुरुष उभयतः ।
परिच्छिन्नो ब्रह्मणैवैतदुभयमनाष्ट्रमन्तरिक्षं कुरुत इति ॥ ब्रह्मणैव=मन्त्रेणैव । ए-
तदुभयं दृश्यमानं पार्श्वद्वयगतमन्तरिक्षमनाष्ट्रं नाशकरक्षोरहितं कुरुत इत्य-
र्थः ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ श्रपणस्य पश्चादनाष्ट्रमिति, समाङ्ग धूरमीति धू-
रभिर्मन्त्रीतमिति ॥ श्रपणस्य पुरोडाशपाकहेतोर्गाहपत्यस्य पश्चादनः शक-
टं व्रीहिपुक्तं निष्ठति । तच्च समाङ्ग ममीचीनकृत्स्नाऽङ्गोपेतं, तस्य धूरं बली-
वर्दवहनयोग्यं युगप्रदेशं, धूरमीति मन्त्रेण स्पृशेदित्यर्थः । बोधायनोऽप्याह ॥

तयेत्यं धूर्वाभः ॥ ४ ॥ देवानामसि । सस्मितमं वह्नितमं पमितमं जुष्ट-

जघनेन गार्हपत्यमग्निष्टमनो भवति तस्यैवोत्तरां धुरमभिपृशति धूरमीति ॥ आपस्तम्बोऽप्याह ॥ उर्वन्तरिक्षमन्विहीति शकटायाभिप्रव्रजति अपरेण गार्हपत्यं प्राणीषमुदगीषं वाऽनइवाहयुम् शकटमवस्थितं भवति त्रीहिमद् यवमद्वा धूर-
सीति दक्षिणां युगधुरमभिपृशत्युत्तरां वेति ॥ पाठस्तु ॥ धूरसि धूर्व धूर्वन्तं
धूर्व तं योऽस्मान् धूर्वति । धूर्व तं यं वयं धूर्वाम इति ॥ त्रीहिरूपद्विवर्धकारक-
शकटसम्बन्धिनो युगस्य बलीवर्द्धनप्रदेशे कश्चिद्विमकोऽग्निः शास्त्रदृष्टो-
ऽस्ति । तं मार्ययते । तुर्वीं मुर्वीं दुर्वीं धूर्वीं हिंसार्था इति धातुः । हे वहे, त्वं
धूरसि हिंसकोऽसि तस्माद् धूर्वन्तं हिमन्तं पाप्मानं धूर्व विनाशय । यो रा-
क्षमादिर्यामविघ्नेनास्मान् धूर्वति हिमितुमुद्युक्तस्तमपि धूर्व विनाशय । यं वा
आलस्यादिरूपं वैरिणं वयमनुष्ठातारो धूर्वामो हिमितुमुद्युक्तास्तमपि धूर्व वि-
नाशय । पूर्वोक्तशकटमन्वन्ध्यम्यतिक्रमणनिमित्तमपराधमपह्नातुमग्न्याधारभूतस्य
शकटस्य धुरमनेन मन्त्रेण स्पृशेत् ॥ सोऽयमभिप्रायः कण्वेन मन्वावेनियोग-
पुरःसरमिन्धमाग्नायते ॥ स धुरमभिपृशति, धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं यो-
ऽस्मान् धूर्वति धूर्व तं यं वयं धूर्वाम इत्यग्निर्वा एतमतिक्रमिष्यत् भवति त-
स्मा एवैनन्निहुत इति ॥ तित्तिरिणाऽप्येवमाग्नातम् ॥ धूरमीत्याह । एष वै धु-
र्योऽग्निः, तं यदनुस्पृश्यातीयात् । अध्वर्युं यजमानं च प्रदेहेत् । उपस्पृश्या-
ऽत्येति, अध्वर्योश्च यजमानस्य चाऽप्रदाहाय । धूरसि धूर्व धूर्वन्तं धूर्व तं यो-
ऽस्मान् धूर्वति । धूर्व तं यं वयं धूर्वाम इत्याह । द्वावेव पुत्रयो पञ्चैव धूर्वति ।
यश्चैनं धूर्वति तावुभौ शुचार्थतीति ॥ शोकेन योजयतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

कात्यायनः ॥ देवानामित्युपस्तम्भनस्य पश्चादीषामिति ॥ स्पृशेदिति शे-
पः । शकटस्य दीर्घं काष्ठमीषा । तदग्रस्य भूमिस्पर्शा मा भूदित्याधारत्वेन
स्थापितं काष्ठमुपस्तम्भनम् । तस्य पाश्चात्यभागे तामीषां स्पृशेत् । बोधा-
यनः ॥ अनोऽयिमन्त्रयते त्वं देवानामिति ॥ आपस्तम्बः ॥ त्वं देवानामसि
यत् स्थितमित्युत्तरामीषामालभ्य जपतीति ॥ पाठस्तु ॥ देवानामसि सस्मितमं व-
ह्नितमं पमितमं जुष्टमं देवहृतमम् । अन्धृतमसि हविर्धानं दृढस्व मा हवामि ते
यज्ञपतिर्हवर्षीत् इति ॥ देवानामसि अग्न्यादीनां संवाग्धि भवामि । शकटं त्व-
मिति शेषः । तदेव शकटं सस्मितममित्यादिना विशिष्यते । ण्या शां च इति

तमदेवहूतमं ॥ अहूतमसिहविर्द्वीनेहृहस्वमाहामतिगृहपति-
ह्वीर्षीत् ॥ ५ ॥ विष्णुस्त्वा । क्रमतामुरुवातायापहतश्चोयछं-

धातुः । सस्नितममतिशयेन शुद्धम् । यद्वा, णै वेष्टन इति धातुः । दाक्यायि
चर्मादिभिरतिशयेन वेष्टितम् । वह प्रापण इति धातुः । वह्नितमं व्रीहिरूपस्य
हविषोऽतिशयेन प्रधानप्रापकम् । प्रा पृरण इति धातुः । पमितमं व्रीहिभिर-
तिशयेन पूरितम् । जुपी प्रीतिसेवनयोरिति धातुः । जुष्टतमं देवानामतिशयेन
प्रियतमम् । देव् स्पर्द्धायां शब्दे चेति धातुः । देवहूतमं देवानामतिशयेन हातारम् ।
व्रीहिभिः पूर्णं शकटं दृष्ट्वा देवा आहूता इव शीघ्रमागच्छन्ति । हू कौटिल्य इति धा-
तुः । तस्य च्छुद्वरेच्छन्दसीति सूत्रेणोकाररेफमहितहकारादेशः । अञ्हुतमकुटिल-
म् । अरोहणेऽपि भङ्गभीतिर्नास्तीत्यर्थः । डुवाञ् धारणपोषणयोरिति धातुः ।
हविर्धानं व्रीहिरूपस्य हविषो धारकं पोषकं वा । अमीत्येतत् सस्नितमादिभिः पदैः
प्रत्येकं संबध्यते । हृहस्वेत्यादिकं पूर्ववद्वाख्येयम् ॥ कण्वः । अथेषामभिमृशति
देवानामसि सस्नितमं वह्नितमं पमितमं जुष्टतमं देवहूतमम् अञ्हुतमसि हविर्धानं
हृहस्व मा हामां ते यज्ञपतिर्हवीर्षीदित्यत एवैतदुपस्तौतीति । मा ते यज्ञपतिर्हवीर्षीदि-
त्यह्वरामेवैतद् यजमानायाशास्त इति ॥ अह्वरामकौटिल्यामत्यर्थः ॥ ५ ॥ कात्यायनः
विष्णुस्वेत्यारोहणमिति ॥ पाठस्तु ॥ विष्णुस्त्वा क्रमतामिति ॥ हे शकटं विष्णुर्व्या-
पको यज्ञस्त्वा क्रमतां त्वां पादेनाक्रम्यारोहतु । अङ्गेषु प्रधानेषु च सर्वत्रानुगतत्वाद्
यज्ञेषु व्याप्तिः ॥ कण्वः ॥ अथाधिरोहति विष्णुस्त्वाक्रमतामिति ॥ यज्ञो वै
विष्णुः स इमां देवेभ्यो विक्रान्तिं विचक्रम इति । अग्न्यादिदेवार्थं शकटारो-
हणरूपामिमां विक्रान्तिं कृतवानित्यर्थः ॥ आपस्तम्बोऽपि विस्पष्टमाह ॥ विष्णु-
स्त्वाक्रस्त प्रेक्षतस्वेति सव्ये चक्रे दक्षिणं पादमभ्याघ्रायेति ॥ अक्रस्तेनिशा-
खान्नरपाठः ॥ कात्यायनः ॥ प्रेक्षत उरु वातायेति हविष्यानि ॥ पुरो-
डाशरूपहविर्योग्यान् व्रीहीनित्यर्थः । हे शकट, वाताय त्वदन्तर्गतव्रीहिषु वायु-
संचाराय उरु विस्तीर्णं, भवेति शेषः । शकटस्थव्रीहिणां तृणादिभिराच्छादित-
त्वेन गंकुचितस्थाने च वायुर्न प्रविशति । तस्मादाच्छादनमपनीय वायुर्यथा
प्रविशति । तथा तथास्थानस्य संकोचं परित्यजेत्यर्थः । अनेनैवाभिप्रायेणाप-
स्तम्बो मन्त्रमेवमन्यथा विनियुक्ते ॥ उरु वातायेति परीणाहपन्थायेति ॥ परी-
णाहमावरकं तृणादि यच्छकटं व्रीहीन् वहति तद्व्रीहिणामुपरि तृणादिभिराह-

तापंच ॥ देवस्यत्वात्सवितुःप्रसवेदिवनोर्बाहुभ्यां पूष्णोहस्ता-

तं भवति । तत्र वायुरूपस्य प्राणस्याप्रवेशात् प्राणरहितमिव तद् भवति । अतोऽनेन मन्त्रेण वायुरूपप्राणायाऽवकाशः क्रियते ॥ तदाह कण्वः ॥ उरु वातायेत्यनः प्रेक्षते प्राणो वै वातः परितृतमिव वा इदं यदनो ब्रह्मणैवेति उरुप्राणाय वाताय करोतीति ॥ किञ्च वायुप्रवेशरहितं वस्तु सर्वमपि आवरणरूपवरुणदेवताकं भवति । वरुणश्च बन्धकारित्वाद्यज्ञनिरोधकः । तस्मिष्टच्य-ऽर्थोऽयं मन्त्रः ॥ तदाह तित्तिरिः ॥ यद्वै किञ्च वातो नाऽभिवाति तत् सर्वं वरुणदेवत्यम् । उरु वातायेत्याह । वरुणमेवैतत् करोतीति ॥ कात्यायनः ॥ अपहृतमिति निरस्यत्यन्यदविद्यमानेऽभिमृशेदिति ॥ यदि व्रीहिभ्योऽन्यत् तृणपर्णादिकं तत्रावतिष्ठेत तदनेन मन्त्रेण निरस्येत । तृणादेरभावे मन्त्रेण व्रीहिन् स्पृशेत् ॥ पाठस्तु ॥ अपहतः रक्ष इति ॥ यज्ञावघातिनो रक्षसस्तृणादिषूपगृहत्वेनावस्थितिसम्भवात् तृणादिकमेव रक्ष इत्युच्यते । तच्चेनेन मन्त्रेणापहतं निराकृतम् ॥ तमेतमभिप्रायं कण्व आह ॥ अपहतः रक्ष इति । तृणं वा किञ्चिद्वा निरस्यति यज्ञदेवतज्जाष्टा रक्षाः स्यपहन्तीति ॥ कात्यायनः ॥ यच्छन्तामित्यालभत इति ॥ पञ्चेति मन्त्रशेषः । पञ्चसंख्याका अङ्गुलयो हविर्यच्छन्तां व्रीहिरूपं हविर्नियच्छन्तु । पञ्चशब्दस्याङ्गुलिविषयत्वं कण्वो दर्शयति ॥ यच्छन्तां पञ्चेत्यभिनिदधाति पाङ्क्तो वै यज्ञः पञ्चेमा अङ्गुलयो यज्ञमेवैतदवधानीति । पञ्चसंख्याकैर्हविर्भिरुपेतत्वाद्यज्ञस्य पाङ्क्तत्वम् ॥ अयमर्थः प्रश्नोत्तराभ्यामग्निष्टोमप्रकरणे तित्तिरणास्नातः ॥ ब्रह्मवादिनो भवन्ति नर्चा न यजुषा पङ्क्तिराप्यतेऽथ किं यज्ञस्य पाङ्क्तत्वमिति ध्यानाः परिवापः पुरोडाशः पयस्यानेन पङ्क्तिराप्यते तद् यज्ञस्य पाङ्क्तत्वमिति ॥ तस्मादत्रापि पञ्चसंख्याका इमा अङ्गुलयः पाङ्क्तत्वसंपादनेनेदं हविर्यज्ञमेव सम्पादयन्ति । पञ्चाङ्गुलियुक्तेन मुष्टिना व्रीहिन् गृहीयादित्ययमर्थ उक्तो भवति ॥ अत एव आपस्तम्ब आह ॥ यच्छन्तां पञ्चेति मुष्टिं गृहीत्वा मुविमुष्टिमोष्येति ॥ कात्यायनः ॥ देवस्य त्वेति गृह्णाम्याग्नेयं चतुरो मुष्टिनेवमग्नीषोमीयं यथादेवतमन्यदिति ॥ पाठस्तु ॥ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं हविर्गृह्णामीति ॥ सवितुर्देवस्य प्रेरकस्य परमेश्वरस्य प्रसवे प्रेरणे सति तेन प्रेरितोऽहमग्निदेवतायै जुष्टं मिषं व्रीहिरूपं हविर्गृह्णामि । ग्रहणसाधनयोः स्वकीयवाहोरभिववाहुभावना का-

भ्यां ॥ ६ ॥ अग्नये जुष्टं । गृह्णाम्यग्नीषोमाभ्यां जुष्टं गृह्णामि ॥ भू-

र्या । तयोस्तु पूषहस्तभावेत्यभिप्रेत्याऽश्विनोरित्यादिकमुक्तमेवमग्नीषोमा-
भ्यां व्यासक्तदेवाभ्यां जुष्टं हविर्युह्णामि ॥
तमेतं मन्त्रं कण्वो विनियोगपूर्वकं व्याचष्टे ॥ स गृह्णाति देवस्य त्वा सवितुः प्रसवे-
ऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यामग्नये जुष्टं गृह्णामीति वा यथादेवतं वेति ॥ सो-
ऽयं विनियोगः । सविता वै देवानां प्रसविता तस्मादाह देवस्य त्वा सवितुः प्रसव इती-
ति । तदिदं प्रथमभागव्याख्यानमायः सवितृशब्दाभिधेयोऽस्तु सोऽयं देवानां मध्ये
प्रसविता प्रेरको देवः । यद्वा । देवानामप्येष प्रेरकस्तस्मात् । सवितृप्रसवितृ-
प्रसव इत्युक्तिरुचितेत्यर्थः । अश्विनोर्बाहुभ्यामित्यश्विना उ वै देवानामध्वर्युं
तस्मादाहाऽश्विनोर्बाहुभ्यामितीति तद्वितीयभागव्याख्यानम् । देवकर्तृके यागे-
ऽश्विनोरध्वर्युत्वात्तदीयबाहुचिन्तनमस्याध्वर्योर्युक्तमित्यर्थः । पूष्णो हस्ता-
भ्यामिति । पूषा वै देवानां भाग उ भूषणं पाणिभ्यामभिनिदधाति तस्माद्
आह पूष्णो हस्ताभ्यामितीति । तदिदं तृतीयभागव्याख्यानम् । पूषाख्यो दे-
वः स्वकीयपाणिभ्यां देवानामाभरणं धारणोचिते तत्र तत्र शरीरभागे भूष-
णं स्थापयति । तस्मात्तदीयहस्तत्वचिन्तनमुचितमित्यर्थः । अंसमणिवन्धयो-
र्मध्यभागे दीर्घदण्डाकारो बाहुशब्दार्थः । पञ्चाङ्गुलिमुक्ताग्रभागो हस्तशब्दाऽर्थः
इति विवेकः । सत्यं देवाः, अनृतं मनुष्याः सत्येनैवैतद् गृह्णातीति । तदिदं पू-
र्वोक्तभागत्रये देवतास्मरणस्योपपादनं देवानां सत्परूपत्वात्तदनुस्मरणेन हवि-
र्ग्रहणरूपमनुष्ठानं फलपर्यवसायित्वात् सत्यं भवति । देवतास्मरणाभावे मनु-
ष्याणामनृतरूपत्वात्, तत्कर्तृकमनुष्ठानं फलशून्यत्वादनृतं भवतीत्यर्थः ॥ ६ ॥
अथ यदमुष्यै जुष्टं गृह्णाति देवतायै आदिशति सर्वा वै देवता अध्वर्युं हविर्गृह्ण-
न्तमुपतिष्ठन्ते मम नाम ग्रहीष्यसीति ताभ्य एवैतत् सर्वाभ्यः सहस्वतीभ्यः समदं
करोतीति । तदिदमग्नये त्वाजुष्टमित्यादेश्वतुर्धभागस्य तात्पर्यम् । अमुष्या इति
नामविशेष उपलभ्यते । अग्न्यादिनाम्ने देवतायै प्रियं हविर्यदादिशति
एतत् एतेनाऽऽदेशेन सहस्वतीभ्यो वा भवन्तीभ्यस्ताभ्य एवाऽग्न्यादिभ्यः
सर्वाभ्यो देवताभ्यः समदं सर्वासां देवतानां कलहभावं करोति मदेन
सह वर्तत इति समदः कलहस्तस्य भावः समदः । यदाऽध्वर्युर्हविर्गृह्णाति
तदानीं हे अध्वर्यो त्वं ममैव ग्रहीष्यसीति वदन्त्यः सर्वा देवतास्तमध्वर्युं सेवन्ते ।

तायत्वनारातयेस्वरभिविख्येष ॥ ७ ॥ हन्तांदुर्याः । पृथिव्या-

तदानीं नामविशेषमनुचार्य हविषि गृहीते सति मदमात्सर्ययुक्तानां परस्परं कलहो भवेत् । इदमन्यथमिदमपीषोमार्थमिति विशेषनामग्रहणे सति कलहो न भवतीत्यर्थः ॥ तदेतत् सर्वं मन्त्रव्याख्यानं संगृह्य तित्तिरिराह ॥ देवस्य त्वा सवितुः प्रसव इत्याह । प्रसूयै अश्विनोर्बाहुभ्यामित्याह । आश्विनौ हे देवानामध्वर्यु आस्तां पूषो हस्ताभ्यामित्याह । पत्ये अग्नये जुष्टं निर्वपामीत्याह अग्नय एवैतान् जुष्टं निर्वपतीति ॥ एतान् व्रीहीनित्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ भूताय त्वेति शेषाभिमर्शनमिति ॥ नारातय इति मन्त्रशेषः ॥ शकटेऽवस्थित इह व्रीहिशेषत्वां भूताय भवनाय यागान्तराणां ब्राह्मणभोजनस्य च पुनरपि सद्भावाय परिशेषयामीति शेषः । अरातये च कर्मण्यादानाय शेषयामि ॥ एतदेवाभिप्रेत्य कण्व आह ॥ स एतेन यजुषा यथापूर्वं गृहीत्वा प्रत्यभिमुखीभवति । भूताय त्वा नारातय इति । यत् एवेदं हविर्गृह्णन्ति तदेवैतेन पुनराप्याययति ॥ एतेन पूर्वोक्तेनाग्नये जुष्टमिन्वादिता यजुषाऽग्नेऽग्नीषोमयोश्च क्रममनुलङ्घ्य हविर्गृहीत्वा शकटस्थं मन्त्रेण प्रत्यभिमुखीभवति । यत् एव शकटस्थान् । देवतार्थं पृथक्कृत्वेदं हविर्गृहीतं तदेव शकटस्थमनेन प्रत्यभिमुखीभवेन पुनराप्याययति भूयोऽभिवर्धयतीत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ स्वरिति प्राग्भीक्षत इति ॥ अभिविख्येषमिति मन्त्रशेषः । स्वर्गहेतुर्यज्ञः स्वरित्यनेन पदेन विवक्ष्यते । ख्या प्रकथन इति धातुः । अभिविख्येषम् । अभितो विशेषेण ख्यापयेयं पश्येयमित्यर्थः । अनेन मन्त्रेण प्राङ्मुखो यज्ञभूमिं वीक्षते ॥ कण्वोऽप्याह ॥ स्वरभिविख्येषमिति प्राग्भीक्षते परिगृह्णामिव वा अस्येदं चक्षुर्भवति निरुद्धमिव यज्ञ उ वै स्वरहर्देवाः सूर्योऽग्निस्तस्मादाऽऽह स्वरभिविख्येषमिति ॥ शकटमारुढवत्तोऽस्याध्वर्योरिदं चक्षुः परितो वाष्टनामिव सर्वतो निरुद्धमेव भवति तत्परिहाराय यज्ञभूमिः सर्वा द्रष्टव्या । यज्ञ एव स्वरादिभिः पञ्चभिः शब्दैस्तत्र तत्र विवक्ष्यते । तस्माद्यज्ञदर्शनविवक्षया स्वरभिविख्येषमिति मन्त्रं प्राहेत्यर्थः ॥ आपस्तम्बस्तु मन्त्रद्वयेन विस्पष्टमाह ॥ स्वरभिविख्येषमिति प्राक् प्रेक्षते, सुवरभिविख्येषमिति सर्वविहारमनुवीक्षत इति ॥ तित्तिरिरप्याह ॥ तमसीव वा एषोऽन्तश्चरति । यच्च परिणाहि सुवरभिविख्येषं वैश्वानरं ज्योतिरित्याह । सुवरेवाभिविपश्यति वैश्वानरं ज्योतिरिति ॥ ७ ॥ कात्यायनः ॥ हन्तामित्यवरोहतीति ॥ दुर्याः पृथिव्यामिति मन्त्रशेषः । पृ-

सुर्वेतरिक्षमन्वेमि पृथिव्यास्त्वानाभौसादयाम्यदित्याऽउपस्थे ॥
अग्नेर्हव्यं रक्षस्व ॥ ८ ॥

पृथिव्रेस्थो । वैष्णव्यौ सवितुर्वैः प्रसवऽउत्पुनामि ॥ अछिद्रे-

थिव्यां वर्तमाना ये दुर्या दुरो द्वाराण्यर्हन्तीति दुर्याः गृहास्ते दृहन्तां दृढा भवन्तु । अनेन मन्त्रेण शकटादवरोहेत् । हविर्गृहीत्वोत्तरतोऽध्वर्योर्भरिण गृहणामऽदार्ढ्यशङ्का सम्भाव्यते । तामनेन मन्त्रेण तत्समाधानं कण्ठो दर्शयति ॥ दृहन्तां दुर्याः पृथिव्यामिति ॥ दृहन्ताम् ईश्वरा यजमानस्य गृहानविशोभन्त इति । गृहा एवाऽत्र दुर्यशब्देनाऽभिधीयन्ते । अस्य यजमानस्य योऽयमध्वर्युर्पेक्षमनुतिष्ठति । तमध्वर्युं हविर्गृहीत्वा गच्छन्तमनु त एते ग्रहाः प्रोदयोतुं समर्थाः । तस्यैव व्याख्यानं विवक्षोव्योरीश्वरा इति । तानेव विक्षोब्धुमुद्युक्तान् गृहान्, एतेन मन्त्रेण पृथिव्यां दृढीकरोति, यजमानस्य गृहाः क्षोभं न प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । हविर्ग्रहणस्याऽऽचारादावपि मंत्रादयमध्वर्युः किंकारण्यतीत्यविज्ञाय लोकद्वयस्य भीत्या कम्पः सम्भाव्यते, तन्निवारणार्थोऽयं मन्त्रः । तदाह तित्तिरिः ॥ आवापृथिवी हविषि गृहीत उदवपेताम् । दृहन्तां दुर्या आवापृथिव्योरित्याह गृहाणां आवापृथिव्योर्धृत्या इति ॥ अस्य मन्त्रस्य शकटावरोहणहेतुत्वमापस्तम्बोऽपि दर्शयति ॥ दृहन्तां दुर्या आवापृथिव्योरिति प्रत्यवरुद्धेति ॥ कात्यायनः ॥ गच्छत्युर्वन्तरिक्षमितीति ॥ अन्वेमीति मन्त्रशेषः । पूर्वमपि व्याख्यानोऽयं मन्त्रः ॥ कात्यायनः ॥ श्रपणस्य पश्चात् सादयति पृथिव्यास्वेतीति ॥ पाठस्तु ॥ पृथिव्यास्त्वा नाभौ सादयाम्यदित्या उपस्थेऽग्नेर्हव्यं रक्षस्वेति ॥ हे हविः, त्वां पृथिव्या नाभौ मध्ये सादयामि । तस्यैव व्याख्यानम् अदित्या इति । यथा सुप्तं बालं पुत्रं माता स्वाङ्गे स्थापयति एवम् अहमिदं हविर्गदित्या उपस्थे भूम्या अङ्गे सादयामीत्यनुवर्तते । हे अग्ने, तव ममीपे स्थापितमिदं हव्यं रक्षस्व । सुप्तं पुत्रमिव बाधकेभ्योऽमुरेभ्यः पालयस्व । सोऽयमर्थः सर्वोऽपि, मध्यं वै नाभिर्मध्यमभयमित्यादौ ब्राह्मणं द्रष्टव्यः ॥ तित्तिरिरपि व्याचष्टे ॥ अदित्यास्त्रोपस्थे सादयामीत्याह । इयं वा अदितिः अस्या एवैनम् उपस्थे सादयति अग्नेर्हव्यं रक्षस्वेत्याह गुप्त्या इति ॥ ८ ॥ इति प्रथमाऽध्याये तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

तृतीयेऽनुवाके हविर्ग्रहणाविषया मन्त्रा उक्ताः ॥ चतुर्थेऽनुवाके हविःप्रो-

णपवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ॥ १ ॥ देवीरापो ऽअग्नेगुत्रो ऽअग्नेपुत्रः ॥
अग्रं ऽइममग्रयज्ञं नयत सुधातुं यज्ञपतिदेवायुवं ॥ २ ॥ युष्मा ऽहं द्रो ।

क्षणविषया मन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ कुशौ समावप्रशीर्णाग्रावनन्तर्गधौ
कुशांश्छनन्ति पवित्रे स्थ इति त्रीन् वेति ॥ त्रिभिः कुशैः सहितेन छिन्यात् ॥ अ-
त एवापस्तम्बो विस्पष्टमाह ॥ तृणं काष्ठं शान्तर्द्धाय छिद्यत्ति, न नखेनेति ॥ वै-
ष्णव्याविति मन्त्रशेषः । नपुंसकस्य व्यत्ययेन स्त्रीलिङ्गत्वम् । हे पवित्रे शो-
धके कुशद्वयरूपे युवां वैष्णवे यज्ञमंबन्धिनी स्थः । यज्ञो वै विष्णुरिति
श्रुतेः ॥ तदेतदाह कण्वः ॥ स वै पवित्रे एव करोति पवित्रे स्थो वैष्णव्याविति
यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञिवे स्थ इत्येवैतदाहोति ॥

कात्यायनः ॥ हविर्ग्रहण्यामपः कृत्वा ताभ्यामुत्पुनाति सवितुर्वे इतीति ॥ हविः
पूर्वं सृहीते यथाग्निर्ग्रहवण्या सा हविर्ग्रहणी । तस्यामपः स्थापयित्वा पवित्रा-
भ्यामुत्पुनीयात् ॥ पाठस्तु ॥ सवितुर्वेः प्रमव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सू-
र्यस्य रश्मिभिरिति ॥ सवितुः प्रेरकस्य प्रमवे प्रेरणे मति हे आपो वो युष्मान्
उत्पुनाम्युत्कर्षेण शोभयामि । अच्छिद्रेण पवित्रेण छिद्राहितेन शोधकेन वायु-
स्वरूपेण । तथा सूर्यस्य रश्मिभिः शुद्धिहेतुभिरुत्पुनामीति पूर्वाज्ञाऽन्वयः ।
वायोः सूर्यरश्मीनां च पादप्रक्षालनाद्यपहतभूमिशुद्धिहेतुत्वं प्रसिद्धम् ॥ एतदेवा-
ऽऽभेत्य कण्वोऽप्याह ॥ अच्छिद्रेण पवित्रेणेन्वये पवित्रं योऽयं पवने तस्मादा-
हाऽच्छिद्रेण पवित्रेणेति ॥ सूर्यस्य रश्मिभिरित्येते पवित्राणो वै सूर्यस्य रश्मयस्त-
स्मादाह सूर्यस्य रश्मिभिरिति ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ पठ्ये कृत्वा दक्षिणेनो-
दिज्ञयति देवीरापो उदीति ॥ उत्पुनाभिराजिः पूरितं पात्रं गव्ये हस्ते स्था-
पयित्वा मन्त्रपुनरागम्य दक्षिणेन हस्तेन पात्रमूर्ध्वं जालयेत् । पाठस्तु ॥
देवीरापो अग्नेगुत्रो अग्नेपुत्रः । अग्रं इममग्रयज्ञं नयत सुधातुं यज्ञपति देवायुवं ।
युष्मा इन्द्रो वृणीत सप्तसूर्यं युयसिन्द्रावृणीध्वं वृक्षतूर्य इति ॥ देवीरापः, हे द्यो-
तनात्मिका आपो वृषम अयास्मिन् दिने इममिदानीं प्रार्तमाने यज्ञं कर्मणोत्तरे
अग्ने नयत पुरतः प्रवर्तयत । यथा विघ्नो न भवति तथा कुरुत । कथं भू-
ता आपः । अग्नेगुत्रः पुरतो निम्नदेशं प्रति गमनशीलाः । अग्नेपुत्रः पस्मिन्
पूर्वमागच्छन्ति तस्मिन्प्रवहतिनिवारणेन शोधनशीलाः । यज्ञप्रवर्तमानाय ऊर्ध्वं य-
ज्ञपति यजमानम् अग्ने नयतेत्यनुवर्तते । फलभोगाय प्रेरयत । कथंभूतं यज्ञपति

वृणीतवृक्षतूर्ध्वयुग्ममिद्रमवृणीध्वंवृक्षतूर्ध्वप्रोक्षितास्य ॥ अग्नयेत्वा जु-
ष्टंप्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यांत्वा जुष्टंप्रोक्षामि ॥ ३ ॥ दैव्यायुक्कर्मणे ।
शुधध्वंदेवयज्यायै ॥ यद्वोशुद्धः पराजघानेतद्वस्तुं धामि ॥ ४ ॥

सुधातुं सुष्ठु दक्षिणादिना यज्ञस्य पोषकम् । देवायुक्कर्म । यु मिश्रण इति
धातुः । देवान् यौनि यज्ञादिना मिश्रीकरोतीति देवायुः । यद्वा देवान् कामयत
इति देवायुः । इन्द्रविद्रं कामयमान इति यास्केनोक्तत्वात् । तं वा युवं नय-
त । युष्मा इति छान्दस आकारः । हे आपो युष्मानिन्द्रो देवः, वृक्षतूर्ध्वं वृक्षवधे
निमित्तभूते सांत्त अवृणीत सदकारित्वेन प्रार्थितवान् । युग्मापि वृक्षतूर्ध्वं नि-
मित्ते तमिन्द्रमवृणीध्वं सहकारित्वेन प्रार्थितवत्यः । सोऽयमर्थः सर्वोऽपि, तम, उ-
दिह्यति देवीराप इत्यादिना कण्ठो विस्पष्टमुवाच ॥ इन्द्रस्याऽपं च परस्परवरण-
प्रसिद्धिं निमित्तिर्दर्शयति ॥ वृक्षं हनिष्यन्निन्द्र आपो वर आपो इदं वरित्र इ-
ति ॥ कान्त्यायनः ॥ प्रोक्षिता स्येति तासां प्रोक्षणमिति ॥ हे आपो युग्मं म-
दीयमनोभावनया प्रोक्षिता भवत । प्रोक्षणं नाम प्रकर्षेण मेचनं, तच्चान्यद्व्य-
स्याऽद्भिः सम्भवति । अपां तु न केनाप्यन्येन द्रव्येणैतत्त्वम्भवोऽस्ति । तस्मा-
न्मानयोपचारेण तासां प्रोक्षणम् ॥ तमेतमभिप्रायं कण्ठो दर्शयति ॥ प्रोक्षि-
ता स्येति न यदेताभ्यो निन्दुत इति ॥ अपल्यात्युपचरतीत्यर्थः ॥ तित्तिरिस्तु
मन्त्रपाठेन तमुपचारे दर्शयति ॥ प्रोक्षिता स्येत्याह । तेनापः प्रोक्षिता इति ॥
कान्त्यायनः ॥ हविषश्चाग्नये त्वाग्नीषोमाभ्यां त्वेति । यथादेवतमन्यादौ ॥ ह-
विषश्चेन्मन्त्रे प्रोक्षयन्मन्यनुवर्तते । अत्र देवताद्वयसम्बन्धिनो हविषस्तत्तदेवता-
नां यथा प्रोक्षयन् पठन्मन्यदपि हविस्तत्तदेवतानामनतिक्रम्य प्रोक्षणीयम् ॥
पाठस्तु ॥ अग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षाम्यग्नीषोमाभ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति ॥ स्पष्टा-
र्थः ॥ २ ॥ ३ ॥ कान्त्यायनः ॥ पात्राणि दैव्यायेति ॥ कृष्णाजिनोत्ख-
लादीनि यज्ञपात्राणि दैव्यायेति मन्त्रेण प्रोक्षयेत् ॥ पाठस्तु ॥ दैव्याय क-
र्मणे शुन्धध्वं देवयज्यायै । यद्वाशुद्धः पराजघानेतद् वस्तुं चतुर्वापीति । दै-
व्यायाऽग्न्यादिदेवसम्बन्धने कर्मणे शुन्धध्वं, हे यज्ञपात्राणि शुद्धानि भवत ।
तदेव कर्म विशिष्यते । देवयज्यायै देवसम्बन्धिन्यै यामक्रियायै । किञ्च, वो
युष्माकं सम्बन्धि यद्वह्मशुद्धो नीचजातिस्तक्षादिः पराजघान पराहतां कृत-
वान् । छेदनतक्षणादिकाले स्वकीयहस्तस्पर्शरूपम् अशुचित्वं कृतवांस्तदेतद्

शर्मा । स्ववधून् रक्षोवधूनाऽअरातयः ॥ अदिन्यास्त्वगमि-
प्रतित्वादितिर्वेत्तु ॥१॥ अद्विरसि । वानस्पत्योऽग्रावांसिपृथुवृद्धः ॥

वो युष्माकमङ्गं शुन्धामि प्रोक्षामि प्रोक्षणेन शुद्धं करोमि ॥ तमिममर्थमथ पा-
त्राणि प्रोक्षति । दैव्यायेत्यादिना कण्वः प्रोक्तवान् ॥ ४॥ इति प्रथमऽध्याये
चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

चतुर्थेऽनुवाके प्रोक्षणमन्त्रा उक्ताः । पञ्चमे त्वव्याजमन्त्रा उच्यन्ते ॥
कात्यायनः ॥ शर्माऽपीति कृष्णाऽजिनादानमिति ॥ हे कृष्णाजिन, त्वम्
उल्लूखलस्य धारणार्थं शर्मं सुखहेतुरसि । अजिनस्य, चर्मैति मनुष्यनाम; शर्मैति
दैवं नाम । अतो मन्त्रे शकारः पठितः ॥ सोऽयमर्थः, तांस्ते शर्मापीति
कृष्णस्य वा एतच्चर्मैत्यादिना ब्राह्मणेन स्पष्टीकृतः ॥ कात्यायनः ॥ अपेक्ष्य पा-
त्रेभ्योऽवधुनोत्पवधूनामितीति ॥ तदेतदापस्तम्बोऽपि ॥ उल्लूखलादिपात्रेभ्यो-
ऽपमृत्वा दूरदेशे कृष्णाऽजिनमवधुनुयात् ॥

पाठस्तु ॥ अवधून् रक्षोवधूना अरातय इति ॥ धूञ् कम्पन इति धातुः । कृष्णा-
ऽजिने गूढं रक्षोऽवधूने कृष्णाजिनस्य कम्पनेन भूर्मा पानितम् । एवमेवारा-
तयोऽपि पानिताः ॥ कात्यायनः ॥ प्रत्यग्रविमास्तृण त्वदिन्यास्त्वगमितीति ॥
तदेतदापस्तम्बोऽपि स्पष्टमाह ॥ अदिन्यास्त्वगमीत्युत्तरेण गाहेत्यनुत्करदेशे
वा मीचीनग्रीवममुत्तरलोम्नोपस्तृणातीति ॥ पाठस्तु ॥ अदिन्यास्त्वगमि-
प्रति त्वादितिर्वेत्तिविति ॥ हे कृष्णाजिन त्वमदित्या भू मदवतायास्त्र कृत्वा-
मि । ततोऽदितिर्भूमिस्त्वां प्रतिपृष्ट मदीयेयं त्वमित्येवं वेत्तु जानातु ॥ एतस्या-
ऽभिप्रायं कण्वमन्त्रप्रत्यग्रविमुपस्तृणामीत्यादिना स्पष्टमुक्तवान् ॥ निक्षिप्तश्च
संमृष्टाह, इयं वा अदितिर्गिन्यादिना ॥ ननु चर्मन्तराणि पतित्यज्य कृष्णा-
ऽजिने कः पक्षपात इति चेत् । पक्षपुरुषमम्बान्वित्वमम्बान्व्यादिति वृषः । पुरा
कदाचिद्यज्ञपुरुषः केनापि निमित्तेन देवेभ्योऽपाक्तोऽन्वत्र जगाम । तदानीं स्व-
कीयवेषमच्छादनाय कृष्णमृगोऽभूत् । देवास्तु तदेतद्विज्ञाय तस्य मृगस्य त्व-
चमुत्क्षिप्य जघुः । तस्मात्तत्र पक्षपातो युक्तः ॥ सोऽयं मर्थः पर्वोऽप्यथ कृष्णा-
ऽजिनमादत्ते, यज्ञस्य सर्वत्वायेत्यादिना कण्वब्राह्मणेन प्रपञ्चितः ॥ तिचिरिश्चै-
तमर्थं सज्जमाह ॥ यज्ञे देवेभ्यो निलायत कृष्णरूपं कृत्वा यत्कृष्णाजिने हविर-
ध्यवहन्ति । यज्ञायज्ञादेवदत्तसंज्ञं मयुक्ते हविषोऽस्कन्दायेति ॥ कथञ्चिदुल्लूख-

प्रतित्वादित्यास्त्वग्वेत्तु ॥ २ ॥ अग्नेस्तनू । रसिवाचो विसर्जनं ॥
 देववीतये त्वा गृह्णामि ॥ ३ ॥ बृहन्ग्रावा । सितवानस्पत्यः स इदं दे-
 वेभ्यः ॥ हव्यं क्षमीष्वसुशमि क्षमीष्वहविष्कृदेहि ॥ ४ ॥ कुक्कुटो-

लादयः पतितेष्वपि व्रीहिषु कृष्णाजिनेनावरुद्धत्वेन भूमिस्पर्शाभावादस्कन्ध-
 मेव हविर्भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ निदधात्युलूखलमद्रिरसि ग्रावा-
 सीति वा प्रतित्वेन्युभयोरिति ॥ विकल्पितयोर्द्वयोर्मन्त्रयोः प्रतिशेषो योज-
 नीय इत्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ अद्रिरसि वानस्पत्यो ग्रावासि पृथुबुध्नः । प्रति
 त्वादित्यास्त्वग्वेत्तिवति ॥ हे उलूखल त्वं यद्यपि वानस्पत्यो दारुमयस्तथापि
 दृढत्वादाद्रिरसि पाषाणोऽसि पृथुबुध्नः स्थूलमूलः । मुमलघातोपद्वेण चा-
 श्रल्यराहित्याय मूलस्य स्थूलत्वम् । हे उलूखल तथाविधस्त्वं ग्रावासि दा-
 ङ्क्ष्येन पाषाणसदृशोऽसि । अदित्यास्त्वगधस्तादास्तीर्णा कृष्णाजिनरूपा भूमर्या
 त्वगस्ति मा त्वां प्रतिगृह्य वेत्तु स्वकीयत्वेन जानातु ॥ अत्र द्वयोर्मन्त्रयोः साधार-
 यवाक्यशेषं पृथग्योजयित्वा कण्ठो विस्पष्टं दर्शयति ॥ स प्रतिगृह्णात्वद्रिरसि
 वानस्पत्यः प्रति त्वादित्यास्त्वग्वेत्तिवति वा, ग्रावासि पृथुबुध्नः प्रति त्वादित्यास्त्व-
 ग्वेत्तिवति वेति ॥ दारुमयस्य पाषाणत्वाभिधानमुपचरति । तमेतं तिष्ठतिर्दर्श-
 यति ॥ अद्रिरसि वानस्पत्य इत्याह । ग्रावाणमेवेतत्करोतीति ॥ तमिममुपचारं
 यथा वा अदः सोमं ग्रावभिरित्यादिना कण्ठः प्रपञ्चयामास ॥ २ ॥ कात्या-
 यनः ॥ हविरावपत्यग्नेस्तनूरमीति ॥ पाठस्तु ॥ अग्नेस्तनूरसि वाचो विसर्ज-
 नम् । देववीतये त्वा गृह्णामीति ॥ हे हविस्त्वमग्नेराहवनीयस्य तनूः शरीरमसि ।
 यतस्तत्र शिष्टं हविरग्रिर्भवति । अतो हविर्ग्रेस्तनूः । किम्भूतं हविः । वाचो वि-
 सर्जनम् । अतो देववीतये देवानां तर्पणाय त्वा त्वां गृह्णामि आवपासीत्यर्थः ।
 देवताभिरैतन्ममर्ह्यनीति । अथवा पूर्वमपां प्रणयनकाले नियमिताया यजमान-
 वाचो हविरावधनकाले विमर्गो भवति तस्मादिदं हविर्ग्रहणं वाचो विसर्जनमित्यु-
 च्यते ॥ तद्वाह कण्ठः ॥ या वा अमुं वाचं यच्छति हविर्ग्रहीष्यन्नेतां विसृजते तस्मादाह
 वाचो विसर्जनमितीति ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ बृहन् ग्रावेति मुमलमादत्त इति ॥
 अनि वानस्पत्य इति मन्त्रशेषः । हे मुमल त्वं यद्यपि वानस्पत्यो दारुमयस्त-
 थापि ग्रावासि दाङ्क्ष्येन पाषाणसदृशोऽसि तथा दीर्घत्वेन महानसि ॥ का-
 त्यायनः ॥ स इदमत्यवदधातीति ॥ पाठस्तु ॥ स इदं देवेभ्यो हव्यं क्षमी-

सि । मधुजिह्वऽहमूर्जमावद ॥ वयःसंघातेसंघातेजेष्म ॥ ५ ॥

ष्व सुशमि शमीष्वेति ॥ हे मुसल स त्वं देवेभ्यः अग्न्यादिदेवोपकारार्थं च इदं हव्यं ब्रीहिरूपं शमीष्व शमय भक्षणाविरोध्युग्रतुषापनयनशान्तं कुरु । तस्यैव पदस्य व्याख्यानं— सुशमिशमीष्वेति । सुष्ठु शान्तं यथा भवति तथा शमय शान्तिर्द्विविधा । बाह्यतुषापनयनादेका । सेयं प्रथमावघातेन सम्पद्यते । अन्तःस्थितस्यैव पदव्यवर्णस्य मालिन्यस्यापनयनादपरा शान्तिः । सेयं फलीकरणेन सम्पद्यते । तमेतमुभयविधं तण्डुलसंस्कारं कुर्वित्यर्थः ॥ अत एव कण्वो व्याचष्टे ॥ हव्यं संस्कुरु साधु संस्कृतमित्येवैतदाहेति ॥ कात्यायनः ॥ हविष्कृदेहीति त्रिराहयतीति ॥ यजमानस्य पत्नीवान् यो वा यः कोऽपि देवानामर्थं भरत्या ब्रीहान्त्सम्यगवहन्ति तत्सम्बोधनेनाह्वानं कियते हविष्कृदेहि अत्राऽऽगच्छ ॥ तदेतत्तत्तिरिर्व्याचष्टे ॥ हविष्कृदेहीत्याह । य एव देवानां हविष्कृतः । तान् हवति त्रिहवति त्रिःसत्या हि देवा इति ॥ त्रिवारमुक्तमर्थं देवाः सत्यं मन्यन्त इत्यर्थः ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥ आहन्त्यन्यो हवदुपले कुक्कुटोऽमीति । त्रिः शम्यया द्विर्दृष्टं सकृदुपलामिति ॥ अन्यशब्देनाऽऽग्नीध्रो विवाक्षितः । पेपणमाधने द्वे शिले हवदुपले । शम्याशब्देनाऽऽग्निप्रमाणं दारुमयं यज्ञायुधमुच्यते । तथा शम्ययाऽऽग्नीध्रो हवदं द्विवारं समाहन्त्यात् । उपलां सकृन् समाहन्त्यात् । तमिमं प्रयोगं त्रिवारमावर्तयेत् । तदेतदापस्तम्बोऽपि विस्पष्टमाह ॥ हवदुपले समाहन्ति द्विर्दृष्टं सकृदुपलां, त्रिः संचारयन्नवकृत्वः सम्पादयतीति ॥ पाठस्तु ॥ कुक्कुटोऽसि मधुजिह्व इषमूर्जमावद । वयः संघाते संघाते जेष्मेति ॥ हे शम्भारूप यज्ञायुधविशेष, त्वं कुक्कुटो मधुजिह्वोऽसि । अमुराः क केष्वेवं तान् हंतुमान्विच्छन् यः पुमान् अटति सर्वत्र संञ्जयति सोऽयं कुक्कुटः । यद्वा । कुक्कुटाख्यपक्षिवद् ध्वनिविशेषम् अमुरभीत्यर्थं यः करोति सोऽयं कुक्कुट इत्युपचर्यते । मधुजिह्वनामकः कश्चिद्देवानां भृत्यः । मधुरभाषिणी जिह्वा यस्येति तद्व्युत्पत्तिः ॥ तन्नामकं देवताभृत्यं कण्वो दर्शयति ॥ मधुजिह्वो वै स देवेभ्य आसीदिति ॥ तद्रूपं हे यज्ञायुध त्वममुरान् पराभावयन् यजमानस्यैषमूर्जमावद अन्नं रसं च यथा समागच्छति तथा शब्दं कुरु भवदीयशब्देन अमुरेषु पराभूतेषु तदीयमन्नं रसं च यजमानः सर्वतः प्राप्नोति । ततो यजमानसम्बन्धिनो वयं संघाते संघाते अमुरैः सह क्रियमाणे तस्मिन्स्मिन् शुद्धे

वर्षवृद्धमसि । प्रतिष्ठावर्षवृद्धंवेत्तु ॥ परापृतःरक्षःप्रतिपूताऽअरा-
तयः ॥ ६ ॥ अपेहतःरक्षो । वायुर्वोविविनक्तु ॥ देवोवस्सविता
प्रतिगृह्णानृहिरण्यवः । गिरजिद्रेणपाणिना ॥ ७ ॥

जेष्म जितवन्तः । कदाचिदापि नास्माकं पराजय इत्यर्थः । सम्यगमुरा हन्यन्ते
यत्रेति संघातो युद्धम् ॥ यज्ञायुधशब्देनासुराणां पराभव इति तित्तिरिः संघ-
ह्य दर्शयति ॥ तपोः श्रद्धादेवस्य यजमानस्य वाऽसुराग्री वाक् यज्ञायुधेषु प्र-
विष्टमीव । तेऽमुरा यावन्तो यज्ञायुधानामुद्धतामुपाशृण्वंस्ते पराभवन्ति-
ति ॥ श्रद्धालुत्वेन यागं कुर्वतो मनोः प्रभावादिदं सम्पन्नम् ॥ इममेवार्थं, मनो ह
वा इत्याद्युपाख्यानेन कण्वः प्रपञ्चयामास ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥ वर्षवृद्ध-
मसीति शूर्पमादत्त इति ॥ आदानप्रकारं बौधायनः स्पष्टीचकार ॥ अवा-
न्यानुपान् कृत्वोत्तरेत् । शूर्पमुपगच्छतीति ॥ हे शूर्प वर्षवृद्धं दृष्टिमनजलेनाभि-
वृद्धमसि । वर्षवृद्धवेणुदलैरिषीकाग्रशलाकाभिर्नडाक्यतृणशलाकाभिर्वा शूर्प-
स्य निष्पन्नत्वात् ॥ तदेतत् कण्व आह ॥ वेणूनां वा नडानां वेपीकाणां वेति ॥
कात्यायनः ॥ प्रति त्वेति हविरुद्धपतीति ॥ वर्षवृद्धं वेत्तिवति मन्त्रशेषः । हे ह-
विः, वर्षवृद्धं त्वां प्रतिगृह्य वेत्तु स्वकीयत्वेन जानातु । अत्र ज्ञातृत्वं शूर्पस्य
द्रष्टव्यम् । हविर्हेतूनां व्रीहीणां यवानां वा वर्षवृद्धत्वं प्रमिद्धम् ॥ अत एवाऽत्र
कण्व आह ॥ व्रीहयो वा यवाश्चेति ॥ मन्त्रद्रष्टे वृद्धशब्देन समृद्धिर्वाच्येत इति
तित्तिरिराह ॥ वर्षवृद्धमसि प्रति त्वा वर्षवृद्धं वेत्तिवत्याह । वर्षवृद्धा वा औषधयः
वर्षवृद्धा इषीकाः समृद्ध्या इति ॥ कात्यायनः ॥ परापृतमिति निष्पुनाती-
ति ॥ रक्षः प्रतिपूता अरातय इति मन्त्रशेषः । तुषु निगूढं रक्षः परापृतं नि-
राकृतं शूर्पेण तुषेषु परापृतेषु तैः सह रक्षसो भूमौ पतनाद् अरातयो हविर्दान-
प्रतिकूला आलस्यादिशत्रवश्च प्रतिपूताः प्रतिकूलाः मन्नो निराकृताः ॥ ६ ॥
कात्यायनः ॥ अपेहतमिति तुषान्निरस्यतीति ॥ भूमौ पतितोऽस्तुपान् दूरे
निःसारयेत् । रक्ष इति मन्त्रशेषः । तुषेषु निगूढं यद्रक्षस्तदपेहतं दूरेऽपनीयमी-
रितम् ॥ कात्यायनः ॥ वायुर्व इति विविनक्तीति ॥ कण्वोऽपि विविनक्ति ॥
वायुर्वो विविनक्तीति ॥ हेतण्डुला वो युष्मान् शूर्पचालनेन निष्पन्नो वायुर्देवो
विविनक्तु । कण्वेभ्यः पृथक्करोतु ॥ तमेतं पृथक्कारम्, अयं वातः सूर्योऽयं पवत
इत्यादिना कण्वः स्पष्टीचकारः ॥ कात्यायनः ॥ देवो व इति पाज्यामोष्या-

धृष्टिः । स्यपाग्नेअग्निनामादंजहि ॥ निष्क्रव्यादं मेधोदं वय-
जं बह ॥ १ ॥ ध्रुवमसि । पृथिवीदं ह ॥ ब्रह्मवनि त्वाक्षत्रवनि स-

भिमन्त्रयत इति ॥ पाठस्तु ॥ देवो वः सविता प्रतिगृह्णातु हिरण्यपाणिरच्छिद्रेण
पाणिनेति ॥ हे तण्डुला वो युष्मान् हिरण्यपाणिः अङ्गुलीयकायाभरणयु-
क्तपाणिः सविता देवः, अच्छिद्रेण अङ्गुलीविश्लेषरहितेन स्वकीयेन पाणिना
प्रतिगृह्णातु स्वीकरोतु । पात्र्यां यदा प्रक्षिप्यते तदा भूमौ स्कन्दनं मा भूदि-
ति स्वकीयेन पाणिना पालयान्नत्यर्थः ॥ तमेतमभिप्रायं तित्तिरिराह ॥
अन्तर्गिज्ञादिव वा एते प्रस्कन्दन्ति ये श्रूयन्ति । देवो वः सविता हिरण्यपाणिः
प्रतिगृह्णाति नित्याह । प्रतिष्ठित्यै हविषोऽस्कन्दार्योति ॥ ७ ॥ इति प्रथमेऽध्याये
पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

पञ्चमे अवगतमन्त्रविषया उक्ताः ॥ पष्ठे कपालोपधानमन्त्रा उच्यन्ते ॥
कान्त्यायनः ॥ धृष्टिरसिन्धुपत्रेषमादायेति ॥ पलाशशङ्खाया मूलदेशे छिन्नः
काष्ठभाग उपवेषः ॥ तथाचापस्त्रम्बः ॥ मूलतः शाखां पश्चात्स्योपवेषं करोती-
ति ॥ अिधृणा प्रागल्भ्ये इति धातुः । हे उपवेष त्वं धृष्टिः प्रगल्भोऽसीति ।
तीक्ष्णान्तद्गारानितस्तनोऽपनेतुं प्रभुत्वादस्य प्रागल्भ्यम् ॥ तदाह कण्वः ॥
यद्वा एतेनाग्निं धृष्टोपचरति तस्माद्वा धृष्टिरिति ॥ कान्त्यायनः ॥ अपाश्रय इ-
त्यङ्गारान् प्राचः करोतीति ॥ उपवेषेणेति शेषः ॥ तच्च कण्वो दर्शयति ॥ तेना-
ङ्गारान् प्राच उपहन्यपाश्रेतिमामादं जहि निष्क्रव्यादं मेधेतीति ॥ आम-
मपकगन्तीन्यामादकोऽग्निर्लौकिकः । कव दाहे । क्रव्यं मांसमस्तीति क्रव्याद-
ऽपरोऽग्निः । तावुभौ यागयोग्यौ न भवतः । यः पुनराहुत्याधारः स यागयो-
ग्यः । तथाविधान्त्रीजङ्गारान् गार्हपत्यात्प्राग्भागे पृथक्कृत्वा तेषां मध्ये यागयो-
ग्यताग्रहितौ द्वौ वर्जयितुं गार्हपत्यं सम्बोध्योच्यते । हे अग्ने गार्हपत्य आमा-
दमग्निमपजहि पस्त्यज । तथा क्रव्यादमग्निं निःपेष निःशेषेण दूरे गमय ॥ का-
त्यायनः ॥ आदिवयजमिन्धुङ्गारमाहृत्येति ॥ बहेति मन्त्रशेषः । हे गार्हपत्य, दे-
वयजं देवानां यागयोग्यं तृतीयमङ्गारमावह स्वमपीषे समानय ॥ १ ॥ का-
त्यायनः ॥ कपालेनावच्छादयति ध्रुवमसीति ॥ देवयजमङ्गारं कपालेनावच्छा-
दयेत् ॥ पाठस्तु ॥ ध्रुवमसि पृथिवी दं ह । ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि मजातवन्तु-
पदधामि द्विषतो वधायेति ॥ हे कपाल त्वं ध्रुवं स्थिरमसि । अङ्गारस्योर्पर-

सभाष्यशुक्लयजुर्वेदकाण्वसंहितायाम् ।

जातवन्पुपदधामिद्विषतोवधाय ॥ २ ॥ अग्नेब्रह्म । गृष्णीष्वपु-
रुणमस्युतारिहृह ॥ ब्रह्मवनिन्वाक्षत्रवनिंसजातवन्पुपदधामि
द्विषतोवधाय ॥ धूर्जमसिदिहृह ॥ ब्रह्मवनिन्वाक्षत्रवनिंस-
जातवन्पुपदधामिद्विषतोवधाय ॥ ३ ॥ विश्वाभ्यस्त्वा । शाभ्य-
उप-

वर्तमानमपि इतस्ततो न पतमि पृथिवीं भूमीं दृह दृहीकुरु पुरोडाशकपाल-
वेलायां त्वया व्यवधाने सति भूमेरत्यन्तदाहकृतं शैथिल्यं न भविष्यति ।
किञ्च, ब्रह्मवनिन्वादिविशेषणैर्विशिष्टं त्वामुपदधामि देवयागहेतावद्भारे स्थाप-
यामि । किमर्थं द्विषतो यामविवानरूपं द्वेषं कुर्वतः अगुरस्य पाप्मनो वधाय हिं-
सार्थम् । वनं वणं मम्भक्ताविति धातुः । ब्रह्मणा ब्राह्मणेन वन्यते पुरोडाश-
निष्पत्त्यर्थं सम्भक् क्रियत इति ब्रह्मवनिः, तथा क्षत्रवनिः । सजातवनीति पद-
द्वयं योज्यम् । सजाताः समानकुले जाता यजमानस्याऽऽज्ञातयः ॥ २ ॥
कात्यायनः ॥ मन्वाऽङ्गुल्या शून्येऽङ्गारं निदधात्यग्रे ब्रह्मेतीति ॥ कपाल-
स्योपरि द्रव्यान्तरामावात्तदेशस्य शून्यत्वम् । गृष्णीष्वेति मन्त्रशेषः । निर्वीय-
मानाऽङ्गाररूपं हे अग्ने ब्रह्मवत् प्रोढकर्मेदानीमस्माभिरनुष्ठीयमानं गृष्णीष्व
गृहीष्व नाशकातो रक्षसां वधेनानुगृहीष्व ॥
अतएव कण आह ॥ अग्निर्हि नाष्ट्राणां रक्षसां हन्तेति ॥ कात्यायनः ॥ धरुणमिति
पश्चादिति ॥ पूर्वं स्थापितस्य कपालस्य पश्चिमभागे धरुणमिति पश्चादिति मन्त्रेण
कपालं स्थापयेत् ॥ पाठस्तु ॥ धरुणमस्यन्तरिक्षं दृह ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनिंसजात-
वन्पुपदधामि द्विषतो वधायेति ॥ हे द्वितीयकपालं धरुणं पुरोडाशस्य धारक-
मिति । अतस्तपन्तरिक्षं दृहीकुरु । पुरोडाशकपालवेलायामुत्पन्नया ज्वालायाऽन्तरि-
क्षलोक्तस्योपद्रवो यथा न भवति तथा कुरु । यद्यप्येतत्कपालं ज्वालान्तरिक्ष-
योगेभ्यो व्यवधायकं न भवति । यथाप्यन्तरिक्षदाढ्यार्थं कपालदेवता प्राञ्जले ।
अन्यत् पूर्ववत् ॥ कात्यायनः ॥ पुरस्ताद्धर्ममिति ॥ प्रथमकपालस्य पूर्वभागे
धर्ममिति मन्त्रेण कपालं स्थापयेत् ॥ पाठस्तु ॥ धर्ममसि दिवं दृह ब्रह्मवनि
त्वा क्षत्रवनिंसजातवन्पुपदधामि द्विषतो वधायेति ॥ पूर्ववद्भाष्येयं ज्वाला-
ऽग्रेण दाहाभावो शुलोकस्य दाढ्यम् ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ विश्वाभ्य इति
दक्षिणत इति ॥ मध्यकपालस्य दक्षिणभागे, विश्वाभ्य इति मन्त्रेण चतुर्थ क-
पालमुपदध्यात् ॥ पाठस्तु ॥ विश्वाभ्यस्त्वाभ्य उपदधामि द्विषतो वधायेति ॥

दधामिद्विषुतोव नार्य ॥ चितस्थोर्ध्वचितोभृगुणामंगिरसांतपसा-
तप्यध्वं ॥ ४ ॥

शमी । स्यवधुतः रक्षोवधूताऽभरातयः ॥ अदित्यास्त्वर्गमि-

हे चतुर्थकपाल, त्वां विद्वाभ्यः सर्वाभ्य आशाभ्यो दिग्भ्यः सर्वदिग्दाढ्या-
र्थं धुपदधामि । अन्यत्र पूर्ववत् ॥ आशाभ्य इति पदस्य तात्पर्यं कण्ठो दर्शयति ॥
चतुर्थमस्ति घातवा तन्मादाह विद्वाभ्यस्वाशाभ्य इति ॥ सर्वासु श्रुतिषु त्रय इमे
लोका इति श्रुत्वात् । पृथिव्यादिलोकत्रयं प्रसिद्धम् । कस्यांचिद्भूमौ भूलोकभुव-
लोकस्वलोकमहर्लोकजनेलोकतपोत्रोकपत्यलोकानामिति सप्तानां लोकानां स-
माहारः श्रूयते । अतो महर्लोकादयः किं स्वर्गलोकस्याऽवयवा उताऽन्यच्चतुर्थे
स्थानमिति विशेषनिश्चयाल्लोकविशेषनामधेयमनुच्चार्य साधारण्येनाशाभ्य इति
श्रुतमिन्यर्थः ॥ कान्वायनः ॥ नमं विषज्य द्वे दक्षिणत एवमुत्तरतश्चित् स्थेती-
ति ॥ अष्टकपालानि, पुरोडाशार्थं कपालचतुष्टयस्य स्थापितत्वादवशिष्टं यत्
कपालचतुष्टयं तद्वद्वे । विषज्य दक्षिणतन्मयोर्दिशोश्चित् स्थेति मन्त्रेणोपध्या-
त् । ऊर्ध्वचित इति मन्त्रशेषः । चिज् चयन इति पाठः । द्विस्तस्य बहुवच-
नः । हे कपालविज्ञान, कपालं योः चितः ॥ प्रथमकपालस्योपचयकारिणो
भवथ । तथैव ऊर्ध्वचित् । अन्तरकपालोपहितानां द्वितीयादिकपालानामप्युपका-
रिणो भवत ॥ कान्वायनः ॥ भृगुणामन्यद्भिरैरभ्युहनीति ॥ कपालान्यद्भ्या-
रैराज्यादयेदित्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ कण्ठ्यानाङ्गिरसां तपसा तप्यध्वमिति ॥ हे
कपालानि यथं भृगुणा कान्वायनद्विरोचामका तां च देवर्षीणां तपोरूपेणाऽनेना-
ऽमिता तप्यध्वं तपसा अभ्युहन्तु । अस्मिन्नेव नदीपतपोरूपत्वं भावयेदित्यर्थः ॥ एत-
देतन्मिमेन्व विवित्पद ॥ भृगुणानाङ्गिरसां तपसा तप्यध्वमित्याह । देवताना-
मेनेवमिति तपसा तप्यति ॥ ४ ॥ इति प्रथमध्याये पष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥

पठे कपालोपशान्दवकापन्था उक्ताः ॥ सप्तमे पेशणशिया मन्त्रा उच्यन्ते ॥
कान्वायनः ॥ कृष्णाजिनमादत्ते पूर्वदिदिदि ॥ पूर्वं यथावधातार्थं कृष्णाजिन-
प्रयोगस्तद्वदपि पेशणार्थं तत्प्रयोगस्तदर्थानां त्रयाणां मन्त्राणाम् ॥ पाठ-
स्तु ॥ शमीस्यावधुतः रक्षोवधूता अरातयः । अदित्यास्त्वर्गमि प्राति त्वादि-
तिर्वेचित्विति ॥ पूर्ववद्भ्याख्येयम् ॥ कथंस्तु मन्त्रत्रयविनियोगं स्पष्टमुदाजहार ॥
स कृष्णाजिनमादत्ते शमीमीति । तदवधुनोत्पन्नधूतः रक्षोऽवधूता अरातय इति ।

प्रतित्वादिनिर्वेत्तु ॥ १ ॥ ध्रिषणांसि । पर्वतीप्रतित्वादित्यास्त्व-
ज्वेत्तु ॥ दिवस्के ह्यन्यसिध्रिषणांसिपार्वतेयीप्रतित्वापर्वतीवेत्तु ॥ २ ॥
धान्यमसि । विष्नुहिदेवांभिनुहियज्ञंभिनुहियज्ञपतिं ॥ विष्नुहिमा

तत्प्रत्यग्रवीवसुपस्तृणात्वादित्यास्त्वगमीति ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ तस्मिन् दृष-
दं ध्रिषणासीति ॥ तस्मिन् कृष्णाजिने पेषणाधारभूतां शिलां स्थापयेत् ॥
पाठस्तु ॥ ध्रिषणांसि पर्वती प्रतित्वादित्यास्त्वमेवेत्तु इति ॥ पेषणाधारभूते हे शिले
त्वं पर्वती पर्वतामिका । कृष्णाजिनरूपा भूमस्त्वगियं प्रति वेत्तु प्रतिगृह्य त्व-
दवस्थानमुज्जानतु ॥ वेत्त्वियस्य पदस्याभिप्रायं कण्वो दर्शयति ॥ प्रति त्वा-
दित्यास्यवशेति । संज्ञामेवैतद् दृषदे च कृष्णाजिनाय च वदति नेदन्यो-
ऽन्यं हिनसाते इतीति ॥ एतदेतेन मन्त्रेण दृषदश्च कृष्णाजिनस्य च संज्ञामेव
वदति । संज्ञातिशोऽस्ते ॥ किमर्थं, दृषत्कृष्णाजिने परस्परं न हिनसाते वैव हिं-
सां कुर्वतामितीत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ पश्चाच्छम्यामुपोहस्तुदीर्चीदिव इतीति ॥
दृषदः पश्चिमपापस्यैतस्यायावस्तादुशग्रं शम्यां स्थापयेत् ॥ पाठस्तु ॥ दि-
वस्कम्भन्यमीति ॥ काण्वरूपे हे शम्ये त्वं दिवो बृलोकस्य स्वम्भन्यमि । अ-
धःपतनवारकाय स्वम्भनकारिणी भवसि ॥ शम्यायां बृलोकस्तम्भनहेतुत्वं
नित्तिभिर्दर्शयति ॥ आवापृथिवी महास्तां ते शम्यामात्रमेकपठनीयाः शम्यामा-
त्रमेकपठति ॥ अथमर्थः ॥ पुरा प्रजापतिना सृष्टे आवापृथिवी जतुकाष्टवत्
परस्परं संश्लेषे अभूवत् । ते पश्चादेकस्मिन् दिने शम्याप्रमाणेन परस्परं विद्युक्ते
अभूवत् । प्रतिदिनं तमेति विवक्षया वीधनोक्ता । तयोः पुनः संश्लेषे याग-
स्थावकाभ्यो न स्यात् । ततो विश्लेषाय, दिवस्कम्भन्यमीति मन्त्र इति ॥ का-
त्यायनः ॥ दृषदृषदां ध्रिषणासीति ॥ पेषणे तु मृताय उपरितनशिलां दृषदप्रस्तन-
शिलायां स्थापयेत् ॥ पाठस्तु ॥ ध्रिषणांसि पर्वतेयी प्रतित्वा पर्वती वेत्त्विति ॥
उपरिधानवर्तिनि हे उपले, त्वं पार्वतेयी पर्वत्यामिधाना अवस्तनशिलायाः
सम्बन्धिनी पुत्री शालस्वरूपा ध्रिषणांसि । पेषणव्यापारस्य धारिका भवसि ।
अतस्त्वां मातृमसानां पर्वती प्रतित्वेत्तु ॥

पार्वतेयीवाद्भ्यः यथोक्तमभिप्रायं कण्वो दर्शयति ॥ कनियसीव होपा तस्मादा-
ह पार्वतेयीतीति ॥ प्रति त्वेति पदस्याभिप्रायः, संज्ञामेवेत्यादिना पूर्ववदभि-
हितः ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ धान्यमसीति तण्डुलानोप्येति ॥ आप्य दृषदि स्या-

यज्ञन्यं ॥ ३ ॥ प्राणायत्वा । दानायत्वान्यानायत्वा ॥ दीर्घामनु-
प्रसितिमायुषेधां ॥ देवो वः सविता प्रतिगृह्णातु हिरण्यपाणिरञ्छि-
द्रेणपाणिनां ॥ चक्षुषेत्वामहीनां पयोसि ॥ ४ ॥ वेदांसि । वेदयेन्-

पयित्वा ॥ पाठस्तु ॥ धान्यमसि धिनुहि देवान् धिनुहि यज्ञं धिनुहि यज्ञपति-
म् । धिनुहि मां यज्ञन्यमिति ॥ धिनोतिधातोः प्रीणनार्थस्य धान्यमिति रू-
पम् । हे हविस्त्वं धान्यमसि प्रीणयितुं भवसि यतो देवानन्यदीन् धिनुहि
प्रीणय । तथा यज्ञं यज्ञाभिमानिनं देवं धिनुहि । तथा यज्ञपतिं यज्ञस्वामिनं यज-
मानं धिनुहि । तथा यज्ञन्यं यज्ञस्य नेतारं मामध्वर्युं धिनुहि । आहुतिद्रव्यस्य स्व-
ल्पत्वेऽपि मन्त्रनामर्थेन देवप्रीतिहेतुत्वं युक्तम् ॥ तदाह तित्तिरिः ॥ धान्यम-
सि धिनुहि देवानित्याह । एतस्य यजुषो वीर्येण यावदेकां देवतां कामयते या-
वदेका तावदाहुतिः प्रथते । न हि तदस्ति यत्तावदेतस्या यावज्जुहोतीति ॥ ३ ॥
कात्यायनः ॥ पिनष्टि प्राणाय त्वेति प्रतिमन्त्रमिति ॥ पाठस्तु ॥ प्राणाय
त्वोदानाय त्वा व्यानाय त्वेति ॥ प्रकर्षेण अनिति मुखे सर्वदा चेष्टत इति स्वास-
रूपो वायुः प्राणः । उदाऽऽनिति ऊर्ध्वं चेष्टत इत्युत्क्रान्तिजनको वायुरुदानः ।
व्यानिति व्याप्य चेष्टत इति शरीरव्यापको वायुर्बलहेतुव्यानः । हे तण्डुल, हे
हविस्त्वां प्राणाय प्राणरसार्थं पिनष्पीति शेषः । एवमुत्तरमन्त्रयोर्यज्यम् ॥
कात्यायनः ॥ दीर्घामिति कृष्णाजिने मोहतीति ॥ पिष्टमक्षिस्कन्दयेत् ॥ पाठ-
स्तु ॥ दीर्घामनु प्रसितिमायुषेऽध्याम् । देवो वः सविता प्रतिगृह्णातु हिरण्यपा-
णिरञ्छिद्रेण पाणिनंति ॥ पिबू बन्धने इति धातुः । प्रभितः प्रबन्धः कर्म-
सन्ततिः । आहुषं यजमानस्यायुराभिवृद्ध्यर्थम् । दीर्घामिञ्छिच्छां प्रसितिमनु
कर्मसन्ततिमनुलक्ष्य त्वां कृष्णाजिने पिष्टं धारितयानसि । तस्यां यजमानस्यायु-
र्वृद्धौ कर्मसन्ततिः प्रवर्तते, न त्वन्यथा ॥ एतदेवाभिप्रेत्य तित्तिरिराह ॥ दीर्घा-
मनुप्रसितिमायुषेऽध्यामित्याह । आयुरेवास्मिन् दधानीति ॥ देवो व इत्यादि
मन्त्रशेषः पूर्वमध्याख्येयः ॥ कात्यायनः ॥ पिब्यप्राणेषु निर्वपन्मन्त्रो महीना-
मित्याज्यमिति ॥ असीति मन्त्रशेषः । यदाध्वर्युस्तण्डुलान् पिनष्टि तदानी-
माग्नीध्र आज्यं निर्वपेत् । हे आज्य त्वं महीनां गवां पयोऽसि क्षीरमसि क्षी-
रेणोत्पादितमसीत्वर्थः ॥ महीशब्दस्य गोवाचकत्वं कण्ठो दर्शयति ॥ गवो वा
एता एतेनास्तायाद्वाव इति ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥ पत्रो वेदं प्रमुञ्चात । वेदा-

त्वं देववेददेवेभ्यो विदो भवः ॥ तेन मम वेदो भव ॥ ५ ॥

देवस्य त्वा । सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां ।
संवंपासि समापऽओषधीभिः समोषधयो रसेन ॥ स रेवतीर्जगती-
भिः समधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तां ॥ जन्मयत्यैत्वा संपौमि ॥ १ ॥

ऽसीति ॥ पाठस्तु ॥ वेदोऽसि वेद येन त्वं देववेद देवेभ्यो वेदो भवः । तेन
मम वेदो भवेति ॥ अयं मन्त्रः प्रयोगानुसारेणान्यत्रोत्कर्षणीयः । समार्जनार्थं
दर्भमुष्टिना निर्मितः पदार्थो वेदः । तं पदार्थम् ऋगादिवेदात्मना स्तौतीति । द-
र्भमुष्टिनिर्मित हे पदार्थ त्वं वेदोऽसि ऋगाद्यात्मकोऽसि । यद्वा, विद ज्ञान इति
धातोरुत्पन्नत्वाद्देवितासीत्यर्थः । येन कारणेन त्वं देवोऽसि, अतो हे देववेद
द्योतनात्मकवेदनाख्यपदार्थं देवेभ्यो देवोपकारार्थं वेदो ज्ञापकस्त्वमभवः पूर्वमे-
वाऽभूः । तेन कारणेन मम मदनुग्रहार्थं वेदो भव ज्ञापको भूयाः ॥ ५ ॥ इति
प्रथमेऽध्याये सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥

सप्तमे पेपणमन्त्रा उक्ताः । अष्टमे श्रपणमन्त्राः पुगेडाशविषया उच्यन्ते ॥
कात्यायनः ॥ पाज्यां सपवित्रायां पिष्टान्यावपति देवस्य त्वेति ॥ पाठस्तु ॥
देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां संवंपामीति ॥
हस्ताभ्यामिषेतदन्तं पूर्ववद्वाख्येयम् । संवंपामि एतानि पिष्टानि पाज्यां स-
म्पक्व मक्षिपामि ॥ कात्यायनः ॥ उपसर्जनीरानयत्वन्यः पवित्राभ्यां प्रति-
गृह्णाति समाप इतीति ॥ पिष्टेषु मेचनीया आप उपसर्जन्यः । आग्नीध्रस्ता आ-
नयेत् । तदानीमध्वर्युः पवित्राभ्यां साहितो मन्त्रेण ताः प्रतिगृह्णीयात् ॥ पाठस्तु ॥
समाप ओषधीभिः समोषधयो रसेन । स रेवतीर्जगतीभिः समधुमतीर्मधु-
मतीभिः पृच्यन्तामिति ॥ पृची सम्पर्क इति धातुः । ओषधीभिः पिष्टरूपाभिराप
इदानीं प्रतिगृहीतान्युदकानि संपृच्यन्तां सम्प्यगेकीभवन्तु । तथा पिष्टाख्या
ओषधयोऽपि रसेन यथोक्तोदकरमेन संपृच्यन्ताम् । रेवतीः रेवत्य आपो, ज-
गतीभिः पिष्टाख्याभिः संपृच्यन्ताम् ॥ रेवत्य आपो जगत्य ओषधय इति
हि कण्वेनास्त्रातम् । मधुमतीर्माधुर्योपेता आपो, मधुमतीभिर्माधुर्योपेताभिः पि-
ष्टरूपाभिरौषधीभिः संपृच्यन्ताम् । अपामोषधीनां च परस्परप्रीतिहेतुत्वात्
संपर्को युक्तः ॥ तदाह तित्तिरिः ॥ आपो वा ओषधीर्जिन्वन्ति ओषधयो-
ऽपो जिन्वन्ति । अन्या वा एतासामन्या जिन्वन्ति तस्मादेवमाहेति ॥ जिन्वन्ति

इदमग्ने । रिदमग्नीषोमयोरिवेत्वा ॥ घर्मोऽसि विद्वायुर्ह्रस्वप्रथा
ऽउरुप्रथस्वोरुनेयज्ञपतिः प्रथतां ॥ २ ॥ अग्निष्टे । त्वच्छमाहिंसी-

प्रीणयन्तीत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ संयौति जनयत्यै त्वेतीति ॥ संयवनमपां पि-
ष्टानां च मिश्रीकरणम् ॥ पाठस्तु ॥ जनयत्यै त्वा सय्यौमीति ॥ जलपिष्टरूप
हे पदार्थद्वय, त्वां जनयत्यै यजमानस्य प्रजोत्पादनार्थं संयौमि सम्यक् मि-
श्रीकरोमि । यु मिश्रणामिश्रणयोरिति धातुः । अनयोर्द्रव्ययोर्यथा मिश्रणं तथा
युक्तशोणितमिश्रणेन यजमानस्य प्रजोत्पत्तिर्भवति ॥ एतदेव तित्तिरिविशदयति ॥
जनयत्यै त्वा संयौमीत्याह । प्रजा एवैतेन दधारेति ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ सर्वं
विभज्यामंहरिष्यन्नालभत इदमग्निरिदमग्नीषोमयोरिवेत्तीति ॥ मिश्रीकृतं पिष्ट-
समूहं सर्वं यथा भवति तथा द्वेधा विभज्य भागद्वयं पुनरेवमेव पिष्टान् पृथगेन
स्पृशेत् । इदं पिष्टस्य प्रथमार्द्धमग्निरमिमम्बन्धि भवत्विति शेषः । इदं द्विती-
यार्धमग्नीषोमयोर्भवतु ॥ कात्यायनः ॥ इषे त्वेत्याज्यमधिश्रयतीति ॥ आज्यस्य
प्रविलापनार्थं तत्पात्रस्याग्नौ स्थापनमधिश्रयणम् । हे आज्य त्वाम् । इषे इष्य-
माणवृष्ट्यर्थमधिश्रयतीति शेषः ॥ तदेतत् कण्ठो विस्पष्टयति ॥ स इषे त्वेत्य-
धिश्रयति वृष्ट्ये तदाह यदिषे त्वेतीति ॥ कात्यायनः ॥ घर्मोऽसि पुरोडा-
शमिति ॥ अधिश्रयतीत्यनुवर्तते । विश्वायुरिति मन्त्रशेषः । घृ क्षरणदीप्त्यो-
रिति धातुः । अतो घर्मशब्दो दीप्यमानं प्रवर्ग्य ब्रूते । हे पुरोडाश, त्वं श्रप्य-
माणतया घर्मोऽसि दीप्यमानत्वात् प्रवर्ग्योऽसि । तथा विश्वायुः विश्वं कृ-
त्स्नं यजमानसम्बन्धायुर्यस्य पुरोशरूपस्य तत्रास्ति स त्वं विश्वायुः ॥ एत-
मभिप्रायं तित्तिरिर्दर्शयति ॥ घर्मोऽसि विश्वायुरित्याह । विश्वमेवायुर्यजमाने
दधातीति ॥ प्रवर्ग्योपरूपत्वोपचारप्रयोजनं कण्ठो दर्शयति ॥ अथायमधिवृण-
क्ति पुरोडाशं घर्मोऽसि विश्वायुरिति यज्ञमेवैनं तत्करोति । यथा घर्मं प्रवृज्या-
देनं प्रवृणक्तीति ॥ कात्यायनः ॥ उरु प्रथा इति प्रथयति यावत्कपालमिति ॥
कपालेष्वाधिश्रितं पुरोडाशं कपालपरिमाणमनतिक्रम्य सर्वेषु कपालेषु संश्ले-
षयितुं प्रसारयेत् ॥ पाठस्तु ॥ उरु प्रथा उरु प्रथस्वोरु ते यज्ञपतिः प्रथतामि-
ति ॥ प्रथ प्रख्यान इति धातुः । हे पुरोडाश, त्वं स्वभावत उरु प्रथा उरु
विस्तीर्णं यथा भवति तथा प्रथस्व । तथा ते यज्ञपतिः उरु प्रथतां प्रख्यातो
भवतु ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ अग्निष्टमित्यद्भिरभिमृशतीति ॥ पाठस्तु ॥

हेतरितं रश्मिं तरिताऽअरातयः ॥ देवस्त्वामविता श्रपयतु बर्षि-
ष्ठे धिनाकं ॥ ३ ॥ मा भे । मांसं विक्थ्वाऽअतमे कुर्यज्ञातं मर्क्यजमान-

अग्निं त्वत्त्वं मा हिंसीदिति ॥ हे पुरोडाश, श्रपणाय प्रवृत्तोऽग्निस्ते त्वत्त्वं
त्वदीयां, त्वक्मदृशमुपरितनभागं मा हिंसीन्मा विनाशयतु । अतिदाहेन मपी-
भावो विनाशः । सोऽत्र मा भवत्वित्यर्थः । पूर्वमवघातपेषणाभ्यां हविषो य
उपद्रव आसीद्, यः श्रपणेन भविष्यति । तत् सर्वमुदकस्पर्शेन शाम्यति । त-
मिममर्थं यदेवास्यावध्नतो वा पिबतो वेसादिना कण्वः स्पष्टीचकार ॥ कात्या-
यनः ॥ पर्यग्निं करोत्यन्तरितमिति महाज्यमिति ॥ पाठस्तु ॥ अन्तरितं र-
क्षोऽन्तरिता अरातय इति ॥ अन्तरितं विनाशितम् । व्याख्यातमन्यत् । उव-
ल्लिङ्गिर्द्वैः परितो रक्षमां शोधनं पर्यग्निकरणम् । एतस्य पर्यग्निकरणस्य पशौ
विहितत्वादत्रापि पर्यग्निकरणेन पुरोडाशः पशुत्वेनोपचर्यते ॥ तदेतदाह
तित्तिरिः ॥ घर्मो वा एषोऽशान्तः । अर्थमासेऽर्धमासे प्रवक्ष्यते यत्पुरोडाशः
ईश्वरो यजमानः शुचाऽप्रदहः पर्यग्निं करोति पशुमेवैनमेकः शान्त्याः
अपदादायेति ॥ अयमर्थः । पुरोडाशो योऽस्ति स एव दीप्यमानोऽग्निर्भूत्वा न
कदाचिदपि शाम्यति मातृपक्षं तप्तकपालैः सन्तप्यमानत्वात् । स च तापेन
यजमानं प्रदग्धुं समर्थः । तत्र पशूपचारेण पर्यग्निकरणेन पुरोडाशे पशुकृते सति
प्रदीप्ताग्निरूपपरित्यागेन यजमानं न प्रदहतीति ॥ किञ्च, पर्यग्निकरणेन रक्षमा-
मत्र प्रवेष्टुं यच्छिद्रं सभावितं तस्मिन्नार्यते ॥ तदेतदाह कण्वः ॥ अयं पर्यग्निं
करोत्यच्छिद्रमेवैनमेतत्समन्तमग्निना परिगृह्णाति नेदेनं नाष्ट्रा रक्षांस्मि प्रवृत्ता-
नित्यग्निर्हि नाष्ट्राणां रक्षसामपहन्तेति ॥ कात्यायनः ॥ देवस्त्विति श्रपण-
मिति ॥ कुर्यादिति शेषः ॥ पाठस्तु ॥ देवस्त्वामविता श्रपयतु बर्षिष्ठेऽधि-
नाक इति ॥ हे पुरोडाश, बर्षिष्ठे अत्यन्तप्रवृद्धे नाके श्रुत्योक्तवृत्तिना नाकना-
म्यगर्ता त्वामधिभ्रित्य सविता देवः श्रपयतु पक्वं करोतु । स च मनुष्य-
स्य श्रपणकर्तृत्वं मा भूदित्यभिप्रेत्य, देवस्त्वेत्युच्यते ॥ तदाह कण्वः ॥ न
वा एतस्य मनुष्यः श्रपयिता तदेनं देव एव सविता श्रपयत्विति ॥ नाकना-
मकेनाग्निना रक्षांसि हन्यन्ते ॥ तदाह तित्तिरिः ॥ पुरोडाशं वा अभिश्रितं रक्षां-
स्यजिघांसत । दिवि नाको नामाग्निः रक्षोहा स एवास्माद्रक्षास्यपाहन्ति-
ति ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ मा भेरित्यालभते इति ॥ पाठस्तु ॥ मा भर्मा संविक्थ्वा

स्यप्रजाभूयात् ॥ त्रितायस्वाधितायस्वैकृतायत्वा ॥ ४ ॥

इति ॥ हे पुरोडाश मा भेर्भयं मा कार्षीः । मा संविकथाः, चलनं मा कार्षीः । जिभी भये । आत्रिजी भयचलनयोरिति च धातुद्वयम् । योऽयं पुरोडाशो मनुष्ये-
णाध्वर्युणा कृतस्तमिमं मनुष्य एव स्पृशति । ततो भयचलनयोरभावः ॥ त-
मेतमभिप्रायं कण्ठो दर्शयति ॥ सोऽभिमृशति मा भेर्मा संविकथा इति । मा
भैषीर्मा संविकथा यं त्वा मानुषः सन्तं मानुषोऽभिमृशामीत्येवैतदाहेति ॥ का-
त्यायनः ॥ अतमेरुरिति श्रुतावभिवामयति भस्मना वेदेन वोपवेपेण वेति ॥
श्रुतिः पाकः । तस्मिन्निमित्तभूते सति सम्यक्पाकसिद्ध्यर्थमाच्छादयेत् ॥ पा-
ठस्तु ॥ अतमेरुर्यज्ञोऽतमेरुर्यजमानस्य प्रजा भूयादिति ॥ तमु ग्लान इति
धातुः । अतमेरुर्लानिरहितः । यज्ञो यागहेतुः पुरोडाशः । तस्मादेतदभिवामनेन
यजमानस्य प्रजा पुत्रपौत्रादिः । अतमेरुर्लानिरहितो भूयात् । अस्याभि-
वासनस्य प्रयोजनं तित्तिरिः स्पष्टमाह ॥ मस्तिष्को वै पुरोडाशः । तं यत्रा-
भिवामयेत् । आविमस्तिष्कः स्यात् । अभिवामयति तस्माद्गुहा मस्तिष्कः ।
तस्मात्त्राभिवामयति । तस्मान्माश्मेन रमेनास्थिच्छन्नं वेदेनाभिवामयति । तस्मा-
त्केशैः शिरश्छन्नमिति । शिरस्यवस्थितो मेदमः खण्डो मस्तिष्कः, गुहा गूढ
आच्छन्नः । मेदः स्थानीयस्य मस्तिष्कस्य माश्मस्थानीयं तस्यः छादकम् ।
तस्यापि केशस्थानीया वेदगतदर्भा आच्छादका इत्यर्थः ॥ पाण्डुलिपिप्रक्षालन-
माप्त्येभ्यो निनयत्याभितप्य प्रसगमस्स्पन्दमानं त्रिताय त्वेति प्रतिमन्त्रमिति ॥
तमेतं विनियोगं बोधायनः स्पष्टमाह ॥ अत्रैतत्पात्रीप्रक्षालनं गार्हपत्यादङ्गारे-
णाभितप्य हत्वाऽन्तर्वेदिप्रतीचीनं तिसृषु लोत्रासु निनयतीति ॥ आपस्तम्बो-
ऽप्याह ॥ अङ्गुलिप्रक्षालनं पात्रीनिर्णेजनं चोलमुकेनाभितप्य स्फुरेनान्तर्वेदि
तिस्रां लोत्रां लिखति प्राचीरुदीचीर्वा ताः सस्स्पन्दयश्चिन्निनयति । प्रस-
गपवर्गमिति ॥ पठस्तु ॥ त्रिताय त्वा द्विताय त्वैकताय त्वेति ॥ हे पाण्डु-
ऽङ्गुलिप्रक्षालनोदक, त्वां त्रितनाम्ने देवाय निनयामि तथा त्वां द्वितनाम्ने निन-
यामि तथा त्वामेकतनाम्ने निनयामि ॥ एतेषां त्रयाणां देवानामुत्पत्तिप्रकार-
स्तित्तिरिणा समाह्वतः ॥ देवान् वै हविर्भूत्वाऽब्रुवन् कस्मिन्निदं प्रक्ष्यामह
इति । सोऽग्निरब्रवीत् । मयि तनूः संनिधयम् । अहं वस्तं जनयिष्यामीति ।
ते देवा अग्नौ तनूः संन्यदधत् । तस्मादाहुः अग्निः सर्वा देवता इति । सो-

देवस्यैत्वा । सवितुः प्रसवेद्विनोर्वाहुभ्यांपूष्णोहस्ताभ्यां ॥
आददेध्वरकृतं देवेभ्यः ॥ इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणः सहस्रभृष्टिः
शततेजाः ॥ वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वधः ॥ १ ॥ पृथिव्यैव-

ऽङ्गारेणापः अभ्यपालयत् । तत एकतोऽजायत । स द्वितीयमभ्यपालयत् ।
ततो द्विनोऽजायत । स तृतीयमभ्यपालयत् । ततस्त्रितोऽजायत । यदग्नोऽजा-
यन्न तदाप्स्यानामाप्त्यस्त्वम् । तदेव अप्येषु मृक्षतेति । देवाः पूर्वं व्रीह्यवघाता-
दिना हविः सम्पाद्य बीजवधादिपापलेपः कस्मिन् पुरुषे मार्जनीय इति वि-
चार्याऽग्निवचनेन स्ववीर्यमग्नौ स्थापितवन्तः । ततः सोऽग्निः सर्ववीर्यधारिणा-
ऽङ्गारेणाब्देवनामभिलक्ष्य तद्वीर्यमपातयत् । तस्मादुत्पन्नानामेकतादिनामकानां
देवावशेषाणाम्, आपो मातरो देवनात्मानः पितर इत्याप्त्यनामकत्वं च
युक्तम् ॥ कण्वोऽपि, चतुर्थ्यो विहितो ह वा अयमग्र आसेत्यादिनां बहुधा
प्रपञ्चयामास ॥ ४ ॥ इति प्रथमाध्यायेऽष्टसोऽनुवाकः ॥ ८ ॥

अष्टमे पुरोडाशमन्त्रा उक्ताः । नवमे वेदिमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥
देवस्य त्वेति स्फयमादयेति ॥ स्फयशब्देन दास्यमयोऽरतिप्रमाणः खनन-
हेतुर्यज्ञायुपनिशेष उच्यते ॥ कण्वोऽपि गत्स्वीकारं विधत्ते ॥ तमादत्ते देवस्य
त्वा सवितुः प्रसवेद्विनोर्वाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददेध्वरकृतं दे-
वेभ्यः ॥ तदेव देवस्य त्वेत्यादिकं, हस्ताभ्यामित्येतदन्तं पूर्वमेव व्याख्यातम् ।
देवेभ्यो देवोपकारार्थम् । अध्वरकृतं वेदिजननादिद्वारेण अध्वरं यज्ञं करोतीत्य-
ध्वरकृतम् ॥ अत एव कण्व आह ॥ यज्ञो वा अध्वरो यज्ञकृदेभ्य इति वा
वै तदाहेति ॥ तादृशं स्फयमाददे स्वीकरोमि । स्फयस्य वज्रांशत्वात् । ख-
ननादिभ्यस्तर्पणमस्ति ॥ तस्य वज्रांशत्वं नित्तिरिगाह ॥ इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्रा-
हृत्य । स वेत्रा व्यभजत् । स्फयस्तृतीयः रथस्तृतीयः युपस्तृतीयमिति ॥
कण्वस्त्विन्द्रो वृत्रोपेत्यादृता स्फयस्य वेत्रे चतुर्थ्यंशत्वं प्रपञ्चयामास ॥ का-
त्यायनः ॥ सवृणं गव्ये कृत्वा दक्षिणेतालभ्य जपतीन्द्रस्य बाहुरसि इति ॥
सप्तृणं केनचित्पृष्ठेन सहितं स्फयमित्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ इन्द्रस्य बाहुरसि द-
क्षिणः सहस्रभृष्टिः शततेजाः । वायुरसि तिग्मतेजा द्विषतो वध इति ॥ वज्रां-
शरूप स्फय त्वम् इन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरसि । तेन बाहुना धृतत्वात् तत्समान-
वीर्योपेतत्वाद वा तद्रूपत्वोपचारः ॥ अनेनोपचारेण तद्बाहुसमानवीर्यत्वं कण्वो

मौ । मि पृथिविदेवयजनि ॥ ओषध्यास्तेमूलं मा हिंस्रिषं ॥ २ ॥
 ब्रजं गच्छ । गोष्ठानं वर्षं तु ते यौ र्षधानं देवसवितः परमस्यां पृथिव्याऽश्वा-

दर्शयति ॥ एष वै वीर्यवत्तमो यदिन्द्रस्य बाहुर्दक्षिणस्तद्वीर्यमेवास्मिन्
 दधानि । यदाहेन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिण इतीति ॥ कथम्भूतः स्फथः । सहस्रभृ-
 ष्टिः । भर्जनं पाको मारणमित्यर्थः । सहस्रसंख्यानां शत्रूणां भृष्टिर्यस्याऽसौ
 सहस्रभृष्टिः । यथा वज्रोऽदुराणां मारकस्तथा स्फथोऽपि पाप्मनां विनाश-
 कः । शततेजाः । यथा वज्रस्य शतसंख्याका धारा भवन्ति दीप्यमानास्तथा
 स्फथस्यापि वज्रांशत्वाच्छततेजस्त्वोपचारः । वायुरसि तिग्मतेजाः । न केव-
 लमिन्द्रमहेशः, किन्तु वायुमहशोऽप्यसि । यथा वायुस्तीक्ष्णामग्निज्वालासु-
 त्पादयैस्तिग्मतेजास्तथा स्फथोऽपि वक्ष्यमाणस्तम्बच्छेदरूपं तीव्रं कर्म कुर्व-
 स्तिग्मतेजा इत्युच्यते । द्विपतो वधः । अनुष्ठानद्वेपिणोऽसुरदेवैर्वधेतुः ॥ १ ॥
 कात्यायनः ॥ तेन स्तम्बयजुर्हरिष्यन् वेद्यां तृणं निदभात्युदकपृथिव्यै वर्मा-
 सीति ॥ हे तृण, त्वं पृथिव्यै वेदिस्थानरूपाया भूमेर्वर्मासि कवचस्थानमसि ।
 यथा कवचेन शस्त्रपदारोपद्रवः परिह्रियते । तथा स्फथेन वेदिखननावसरे भू-
 म्युपद्रवस्तृणेन परिह्रियते ॥ कात्यायनः ॥ पृथिवि देवयजनीति तृणेऽन्तर्हिते
 प्रहरतीति ॥ ओषध्यास्ते मूलं मा हिंस्रिषमिति मन्त्रशेषः । हे देवयजनि,
 देवयागाश्रयभूते पृथिवि ते त्वदीयाया ओषध्यास्तृणरूपाया मूलं मा हिंस्रि-
 षं मा विनाशयामि । अत्र देवयजनीति विशेषणेन चातिलोहिताभ्यामापादि-
 तमशुचित्वं निवार्यते ॥ तदाह तित्तिरिः—

विषाद्वै नामाऽसुर आसीत् । सोऽबिभेत् । यज्ञेन मा देवा अभिभाविष्यन्तीति ।
 स पृथिवीमभ्यवपीत् । अमेध्योऽभवत् । अथो यदिन्द्रो वृत्रमहनत् । तस्य लोहितं
 पृथिवीमनुधावत् । अमेध्याऽभवत् । पृथिवि देवयजनीत्याह । मेध्यामेनां दे-
 वयजनीं करोति । ओषध्यास्ते मूलं मा हिंस्रिषमित्याह । ओषधी-
 नामहिंसाया इति ॥ विषमत्तिं भक्षयतीति विषात् । अत एवाऽयमसुर ए-
 तन्नामकः ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ व्रजं गच्छेति पुरीषमादत्त इति ॥ स्फथस्य
 प्रहारेण निष्पन्ना इयं धूलिः, सा पुरीषमित्युच्यते । गोष्ठानमिति मन्त्रशेषः ।
 हे पुरीष, त्वं व्रजं गच्छ । व्रजन्ति गच्छन्ति गावोऽवस्थातुं यस्मिन् देशे स
 देशो व्रजः । तं व्रजं प्रति गच्छ, गोष्ठानं गवां स्थानम् । इदानीमवस्थितिर्यस्य

तेनपाशैः ॥ योस्माद्वेष्टिगंचव्यं द्विष्मस्तमतोमामौक् ॥ ३ ॥ अ-
पारकं वध्यासं पृथिव्यै देवयजनात् ॥ ब्रजंगच्छगोष्ठानं वर्षतु ते द्यौ-
र्बिधानं देवसवितः परमस्यां पृथिव्यां शतेनपाशैः ॥ योस्माद्वेष्टि-
गंचव्यं द्विष्मस्तमतोमामौक् ॥ अररोदिवं मापमोद्विष्मस्तेषांमा-

ब्रजस्य स ब्रजो गोष्ठान एव वर्तमानः । गोभिरुपेतं तदीयदेशं गच्छ ॥ का-
त्यायनः ॥ वर्षतु त इति वेदिं प्रक्षत इति ॥ द्यौरिति मन्त्रशेषः । हे वेदि, ते
त्वदर्थं द्यौर्गुल्लोकाभिमानि देवो वर्षतु जलसेचनं करोतु । वृष सेचन इति धा-
तुः । खननोपद्रवपरिहारो वर्षणस्य प्रयोजनम् ॥ तदाह कण्वः ॥ यत् खनति
तदसंरोहयति तदशमयतीति ॥ कात्यायनः ॥ ब्रधानेत्युत्करे करोतीति ॥
उत्करो नाम वेदेरुत्तरभागे तृणधान्यादिपरित्यागप्रदेशः । खननसमानीतां
धूर्लं तस्मिन्नुत्करे परिज्यजेत् ॥ पाठस्तु ॥ ब्रधान देव सवितः परमस्यां
पृथिव्यां शतेन पाशैः । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च व्यं द्विष्मस्तमतो मा मौक्
इति ॥ हे सवितः, मेरक, देव, परमस्यामन्तिमायां पृथिव्यां शतेन पाशैः शत-
संख्याभिर्बन्धनरज्जुभिर्बिधान । अस्मद्विरोधिनाऽसुरस्याऽऽनीतायां धृत्यां नि-
गृहस्य बन्धनं कुरु भूमेरन्तिप्रदेशे योऽन्धतामिस्रो नरकांऽस्तीति तस्मिन्
वा ब्रधानेत्यर्थः ॥ तथाह कण्वः ॥ एवंमेवैतत् सवितारमाहाऽन्ये तमसि ब्रधानेति ।
यदाह परमस्यां पृथिव्यामिति ॥ अत्र बन्धनीयो यः शत्रुरस्मान् द्वेष्टि, यं च
बन्धनीयं शत्रुं व्यं द्विष्मः । तमेतमुभयविधमपि अतोऽस्मादन्धतामिस्रनरका-
न्मा मौक् कदाचिदपि मा मुञ्च ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ अपारकमिति द्वितीयं
प्रहरतीति ॥ पाठस्तु ॥ अपारकं वध्यासं पृथिव्यै देवयजनादिति ॥ अररुना-
मको योऽसुरः पृथिव्यां वेदिस्थाने गृहाशये वृत्तस्तमेतमरकं पृथिव्यै देवयजनात्
पृथिव्याः संवन्धिने देवयजनाख्यात् वेदिस्थानाद् अपवध्यासम् । अपनीय
यथा इतो भवति तथा करदशणि । अनेन मन्त्रेण द्वितीयवारं पूर्ववत् प्रहरेत् ॥
तदेतद् अररुभयं नित्तिरिदर्शयति ॥ अररुर्वै नामासुर आसीत् । संपृथिव्यामुप-
प्लुप्तोऽशयत् । तं देवा अपह्नोररुः पृथिव्या इति पृथिव्या अपाप्रक्षिति ॥ क-
ण्वोऽप्यररुर्वै नामेत्यादिना दर्शयति ॥ ब्रजमित्यादिमन्त्रत्रयप्रयोगः पूर्ववत् ॥
पाठस्तु ॥ ब्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बिधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्यां
शतेन पाशैः । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च व्यं द्विष्मस्तमतो मा मौगिति ॥ पूर्ववद्वा-

स्कन् ॥ व्रजंगच्छगोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याः शतेन पाशैः ॥ योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मामौक् ॥ ४ ॥ गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि ॥ मुक्षमाचासिं शिवाचा-

कथेयम् ॥ कात्यायनः ॥ प्रहरणाद्यभिन्नस्य त्वग्नीदुत्करमररो दिवमतीति ॥ प्रहरणेन निष्पन्नां शत्रूणां धूलिमाधीधः, उत्करदेशे परित्यजेत् । मापस इति मन्त्रशेषः । हे अररो, दिवं पागफलरूपं द्युलोकमाप्तः प्राप्तो मा भूत् ॥ कात्यायनः ॥ द्रप्सस्त इति तृतीयमिति ॥ प्रहरतीत्यनुवर्तते । द्या मास्कन्निति मन्त्रशेषः । हे वेदिदेव, ते पृथिवीरूपायास्तव द्रप्स उपजीव्यो रसो द्या द्युलोकं मा स्कन् मा स्कन्दतु मा गच्छतु । स्कन्दिर्गतिशोषणयोरिति धातुः । उत्तरमन्त्रत्रयपाठस्तु ॥ व्रजं गच्छ गोष्ठानं वर्षतु ते द्यौर्बधान देव सवितः परमस्यां पृथिव्याः शतेन पाशैः । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मस्तमतो मा मौगिति ॥ त्रिनियोगोपव्याख्यानं पूर्ववत् ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥ पूर्वं परिग्राहं परिगृह्णाति दक्षिणतः पश्चादुत्तरतश्च स्फयेन गायत्रेणेति प्रतिमन्त्रमिति ॥ यस्माद् भूपदेशादररुर्निष्कासितस्तस्मिन् प्रदेशे वेदेरियत्तां निश्चेतुं दक्षिणादिदिक्त्रये स्फवेण रेखात्रयं कुर्यात् । सोऽयं पूर्वः परिग्राहः ॥ पाठस्तु ॥ गायत्रेण त्वा छन्दसा परिगृह्णामि त्रैष्टुभेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामि जागतेन त्वा छन्दसा परिगृह्णामीति ॥ हे वेदि त्वा गायत्र्यादिच्छन्दस्वरूपतया भावितेन स्फयेन दिक्त्रये परिगृह्णामि । ततश्छन्दोदेवता दिक्त्रये त्वामसुरेभ्यः पालयिष्यन्ति । पूर्वस्यां दिश्याहवनीयाग्निरेव पालकोऽस्तीत्यभिप्रायः । पुरा कदाचिदसुराणां विजये सत्येषा पृथिवी कृत्स्नाऽपि तेषामेव स्वभूतासीत् । देवानां तु भूम्यंशकोऽपि स्वभूतो नाऽभूत् । किन्तु यो देवो यत्र यदोपविष्टो यावद्दूरं पश्यति तत्र तावान् देशस्तस्य देवस्य तदा स्वाधीनोऽभवत् । ततो देवा असुरानयाचन्त । युष्मदधीनायामस्यां पृथिव्यां कोऽप्यंशो नियतोपेक्षितः । तत्र तत्र कियत् स्थानमस्मभ्यं दास्यथेति । ततोऽसुरा यावद्भवद्भिः परिगृहीतं तावद् दास्याम इत्यवोचन् । तस्मादयं वेदिपरिग्राहः ॥ तमिममर्थं तित्तिरिराह ॥ असुराणां वा इयमग्र आसीत् । यावदासीनः परापश्यति तावद्देवानाम् । ते देवा अब्रुवन् कस्त्वेव नोऽस्यामपीति कियत्सेयं स्वांशोऽन्यो दास्यथे

सिस्थोनाचासिसुषदाचासि ॥ ऊर्जस्वतीचासिपयस्वतीच ॥ ५ ॥
पुराक्रूरस्यविष्टपोविरशिन्नुदादाय पृथिवीजीवदानुं ॥ यामैरयं
श्चन्द्रमसिस्वधाभिस्तांधीरांसोअनुदिश्यजन्ते ॥ द्विषतोवधो-

ति । यावत् स्वयंपरिगृह्णीयेतीति ॥ कण्वस्तु, देवाश्च वा असुराश्चोभये माजापत्या
अस्पृक्षन्तेत्यादिना वेदिपरिग्राहतात्पर्यं प्रपञ्चयामास ॥ कात्यायनस्तु, उत्तरं
परिग्राहं परिगृह्णातीति, सुक्ष्मा-स्योनोर्जस्वतीति प्रतिमन्त्रं पूर्ववादिति ॥ वेदिखन-
नात्पुरा क्रियमाणः पूर्वपरिग्राहः । पश्चात्क्रियमाण उत्तरपरिग्राहः । तस्मिन्नुत्त-
रपरिग्राहे पूर्वपरिग्राहवहाक्षिणादिदिक्त्रये स्फुट्येन रेखात्रयं कुर्यात् ॥ मन्त्रत्र-
यपाठस्तु ॥ सुक्ष्मा चामि शिवा चासि । स्योना चासि सुषदा चामि । उर्ज-
स्वती चासि पयस्वती चेति ॥ हे वेदि त्वं खननेन संपादिता सती सुक्ष्मा
शिवेष्टेवं विधगुणयुक्ता भवामि । क्ष्मा भूमिः शोभना क्ष्मा सुक्ष्मा । खननेन
पाषाणादिदोषराहित्यसम्पादनं पृथिव्याः शोभनत्वम् । उग्रस्य भूमौ निगूढ-
स्यामुरस्य निष्कासनेन शान्तत्वम् । गुणद्वयस्यान्योन्यममुच्यथार्थौ चकारौ ।
सोऽयं प्रथमो मन्त्रः । स्योना सुखरूपा । स्योनशब्दस्य सुखनामसु पाठात् ।
सुषदा । सम्पगुपवेशनयोग्या । सुष्ठु सीदन्ति देवा अस्यामिति व्युत्प-
त्तेः । चकारौ पूर्ववत् । सोऽयं द्वितीयो मन्त्रः । ऊर्जशब्दो माधुर्यादिरमवा-
ची । पयःशब्दो रमदेतोर्जस्य क्षीरस्य च वाचकः । तदुभययुक्ताऽसिम् ।
चकारौ पूर्ववत् । सोऽयं द्वितीयो मन्त्रः । अन्तेऽप्यमीत्यनुवर्त्तते । पूर्वपरिग्रा-
हेण वेदिरूपां पृथ्वीं लब्ध्वात्तरपरिग्राहेण यथोक्तगुणयुक्तां देवा अकुर्वन् ॥
सोऽयमर्थः, इमावैतत्पृथिवीं संविद्य सुक्ष्मां शिवामकुर्वन्तेत्यादिना विस्पष्टं क-
ण्वेनोदाहृतः ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥ पुरा क्रूरस्येत्यनुमाष्टीति ॥ वेदेरुपरीत्य-
र्थः ॥ पाठस्तु ॥ पुरा क्रूरस्य विष्टपो विरशिशिन्नुदादाय पृथिवीं जीवदानुं या-
मैरयं चन्द्रमसि स्वधाभिस्तांधीरांसोअनुदिश्य यजन्त इति ॥ अत्रेयमाख्या-
यिका मन्त्रेणाभिधेता । कदाचित् किल देवानामगुरैः सह संग्रामः प्राप्तः ।
तत्र ब्रह्मादयो देवा इत्थं संमन्त्रेयं चक्रुः । देवामुरमंग्रामे सति तेषां हाथरा-
दिभिरियं भूर्दूषिता देवयजनानर्हा भविष्यति । अतो भुवः सूक्ष्मरूपं सारभुत-
मादाय चन्द्रमण्डले स्थापयिष्याम इति ॥ तामिमामाख्यायिकां, देवा ह वा
अमुरैः संग्रामं संनिधास्यत इत्यादिना कण्वो दर्शयामास ॥ अस्मिन्मन्त्रे क्रूरश-

सि ॥६॥ ॥ प्रत्युष्टः रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टेष्टः रक्षो निष्टेष्टा

ब्दः संग्रामवाची ॥ तत्र कण्वेनैवमाप्नातम् ॥ संग्रामो वै क्रूरं संग्रामे हि क्रूर-
मिव क्रियते । हतोऽश्वो हतः पुरुषः श्वेत इति ॥ क्रूरशब्दस्य विस्फ इति विशेष-
णम् । विविधं सर्पन्ति योधा अस्मिन्निति विस्फ संग्रामः । विस्फः क्रूरस्येति पञ्च-
म्यर्थे षष्ठ्यौ । तथा सति विस्फः क्रूरस्य पुरेत्युक्ते युद्धात् पूर्वमित्युक्तं भवति ॥
तदुक्तं कण्वेन पुरा संग्रामादित्येवैतदाहेति ॥ विरपूशिनिति महतः परमेश्वरस्य
संबोधनं, महन्नामसु पाठात् । विरपूशिनद्रुत इति पठितत्वात् । जीवदानुं जीवस्य
दात्रीं यां पृथिवीमुदादाय अत्यन्तसारभूतां पृथिवीं मंसिप्योदधृत्यादाय चन्द्र-
मस्यैरयत् चन्द्रमण्डले देवाः प्रसिप्तवन्तः । केन साधनेन प्रसिप्तवन्त इति त-
दुच्यते । स्वधाभिः । यद्यपि स्वधाशब्दोऽन्नामसु पठितः । तथापि तेन शब्देन
तत्साधनभूता वेदत्रयगता मन्त्रविद्या उच्यन्ते ॥ पृथिव्याः सारांशस्य वेदत्रय-
रूपेण साधनेन यत् स्थापनं तत् कण्वेनैव व्याख्यातम् ॥ उदादाय पृथिवीं जी-
वदानुमिति ॥ यद्वा, अस्मा जीवमप्यन्यन्त तच्चन्द्रमसि न्यदधत् । यामैरयश्चन्द्र-
मसि स्वधाभिरिति । या मधुश्चन्द्रमसि ब्रह्मणेत्येवैतदाहेति ॥ चन्द्रमण्डले मृगरूपः
कृष्णवर्णो यः कलङ्को दृश्यते सोऽयं भूमेः सारांशः । पुराद्यावापृथिव्यौ सहै-
वावस्थिते सत्यौ यदा परस्परं वियुज्यन्ते स्म तदानीमन्योन्यमारांशं यज्ञयोग्य-
मन्योन्यस्वरूपेण स्थापितवत्यौ । तत्र भूमेः सारांशश्चन्द्रमसि दृश्यमानः कृष्ण-
रूपमिश्रं तिष्ठिरिराह ॥ द्यावापृथिवीमहास्यां ते वियती अभूताम् । अस्तेपनौ
सहयज्ञियमिति । यदमुष्या यज्ञियमासीत् । तस्यामदधात् । तदूषा अभवत् ।
यदस्या यज्ञियमासीत् । तदमुष्यामदधात् । तच्चन्द्रमसि कृष्णमिति ॥ धी-
रामो धीरा बुद्धिमन्तो यजमानास्तां चन्द्रमःस्थितां कृष्णवर्णां भूमिमुद्दिश्य
वेद्यामस्यां विद्यत इति कथयित्वा यजन्ते यामं कुर्वन्ति । अनेन, पुरा क्रूरस्येति
मन्त्रेण स्वात्पायां वेद्यामस्यां लोष्टकृतवैषम्यपरिहाराय समीकरणरूपं संमार्जनं
कुर्यात् । हे विरपूशिन्नित्यस्य परमेश्वरस्य सम्बोधनस्य तु गृहाणेति पदमध्याहृत्य
तेन महान्वयः कर्त्तव्यः ॥ कात्पायनः ॥ द्विषतो वध इति स्फद्यमुदञ्चं प्रहर-
तीति ॥ पारित्यजदित्यर्थः ॥ तथाचाऽऽपस्तम्बः ॥ उत्करे स्फद्यमुदस्यति द्वेष्ट्यं
मनसाऽऽध्याय इति ॥ असीति मन्त्रशेषः । हे स्फद्य, त्वं द्विषतः शत्रोर्विधो-
ऽसि हिंसकोऽसि । यं द्विष्यात् । यं द्वेष्ट्यं प्रहरामीत्येवं प्रहरणकाले मनसा भा-

अरातयः ॥ अनिशितोसिसपत्नक्षिद्राजिनंत्वावाजेध्यायैसंमार्ज्मि ॥ प्रत्युष्टुरक्षः प्रत्युष्टाअरातयोनिष्टपक्षरक्षोनिष्टप्ताअरातयः ॥ अनिशितासिसपत्नक्षिद्राजिर्नीत्वावाजेध्यायैसंमार्ज्मि-

वयेत् ॥ तदेतत् कण्व आह । अथोदञ्च स्फुर्यं प्रहरत्यङ्गुष्ठौ त्वा वज्र प्रहरामेति । यं द्विष्यात् । वज्रो वै संस्तुणुते हेवैतानिति ॥ ६ ॥ इति प्रथमाध्याये नवमोऽनुवाकः ॥ ९ ॥

नवमे वेदिविषयमन्त्रा उक्ताः ॥ दशमे जुहादिष्वाज्यग्रहणार्था मन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ आहूतं स्तुवं प्रतप्य पूर्ववदिति ॥ यथाग्निहोत्रहवण्याः, प्रत्युष्टमिति मन्त्रेण प्रतापः पूर्वमुक्तस्तथा स्तुवस्यापि प्रत्युष्टमिति प्रतापः कार्य इत्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ प्रत्युष्टक रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टपक्ष रक्षो निष्टप्ता अरातय इति ॥ पूर्ववद्वाक्येयम् ॥ अनेन मन्त्रेण स्तुवस्य प्रतपनं कण्वोऽपि दर्शयति ॥ स स्तुवमादाय प्रतपति प्रत्युष्टमितीति ॥ कात्यायनः ॥ वेदाऽग्रेरन्तरतः प्राक् संमार्ज्मिनिशित इतीति ॥ प्रतप्तं स्तुवं वामहस्ते धृत्वा दक्षिणहस्तेन वेदाग्रेः प्रागवसानं यथा भवति तथा संमृज्यात् ॥ पाठस्तु ॥ अनिशितोऽसि सपत्नक्षिद्राजिनं त्वा वाजेध्यायै संमार्ज्मीति ॥ हे स्तुव त्वम अनिशितोऽसि । शो तनूकरण इति धातुः । निशितो नितरां तीक्ष्णः । कुतः । अस्मद्विषये अनिशितः उपद्रवकारी न भवमीत्यर्थः । सपत्नक्षित् सपत्नानामस्मच्छत्रूणां क्षयहेतुः । क्षिणु हिमायामिति धातुः । वाजिनं यज्ञद्वाराऽऽग्रे तुत्वादन्नवन्तं त्वां स्तुवं संमार्ज्मि सम्यक् शोधयामि । मृजुष् शुद्धाविति धातुः । किमर्थं, वाजेध्यायै । जिह्वी दीप्ताविति धातुः । वाजस्यान्नस्य इध्यायै दीप्स्यै प्रकाशनार्थम् । अग्निनेन स्तुवेणाज्ये हुने सत्यग्निर्दीप्यते । तथा दीप्या तदाहुतिफलभूतमन्नं प्रकाशितं भवतीत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ प्रतप्य प्रतप्य प्रयच्छत्यनिशितेति स्तुच इति ॥ जुहूपभृद्भुवास्तिस्रः स्तुचः । ताः प्रत्येकं प्रत्युष्टमिति मन्त्रेण प्रतप्य वेशां स्थापनार्थम् अन्यस्य हस्ते प्रयच्छेत् ।

जुहादीनां स्त्रीलिङ्गत्वात् तद्विशेषणस्याप्यऽनिशितेति पदस्य स्त्रीलिङ्गत्वम् ॥ पाठस्तु ॥ प्रत्युष्ट रक्षः प्रत्युष्टा अरातयो निष्टपक्ष रक्षो निष्टप्ता अरातयः । अनिशितासि सपत्नक्षिद्राजिर्नीत्वा वाजेध्यायै संमार्ज्मीति ॥ पूर्ववद्वाक्येयम् । स्तुवस्य पुरुषरूपत्वात् प्रथमतः संमार्जनम् । स्तुचां स्त्रीरूपत्वात् पश्चात्,

हिम् ॥ १ ॥ अदित्यै रास्नासीन्द्राण्यै सन्नहनं ॥ विष्णोर्विष्णोःस्यूजै-
त्वादब्धेन स्वाचक्षुषा वपश्यामि ॥ २ ॥ अग्नेर्जिह्वासि सुभूर्देवेभ्यः ॥
धाम्ने धाम्ने भवयजुषेयजुषे ॥ सवितुस्त्वा प्रसव उत्पुनाम्य छिद्रे-

संमार्जनम् ॥ तदिदं कण्व आह ॥ स वै स्तुवमग्रे संमार्ष्टि वृषा वै स्तुवो योषा
स्तुव इति ॥ शित्तिरिरप्याह ॥ स्तुवः संमार्ष्टि सुसमग्रे सपुमाश्ममेवाभ्यः
संश्यति मिथुनस्वाय अथ जुहूम् अथोपभृतं धुवामिति ॥ आभ्यो जुहादिपोष-
रूपपोषार्थं संश्यति । सम्यक् तीक्ष्णी करोति ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ पत्नी-
संनहति प्रत्यग्दक्षिणत उपविष्टां गार्हपत्यस्य मुञ्जयोक्त्रेण त्रिवृता परिहरत्य-
धिवासोऽदित्यै रास्नासीति ॥ प्रत्यग्दक्षिणतो नैर्ऋत्यां दिशि अधिवासो व-
स्त्रस्योपरि परिहरति । परितो वेष्टयेत् ॥ पाठस्तु ॥ अदित्यै रास्नासीन्द्राण्यै
संनहनम् इति ॥ हे रज्जो त्वम् । अदित्यै भूम्यां रास्नासि रशना भवसि ।
अथवेन्द्राण्यै इन्द्रपत्न्याः संनहनं वस्त्रस्योपरि सम्यग्वन्धनहेतुमौर्वर्णदामस्था-
नीयम् अमीत्यनुवर्त्तते ॥ तमेतं मन्त्रं तित्तिरिः सम्यग्व्याचष्टे ॥ अदित्यै रा-
स्नासीत्याह । इयं वा अदितिः अस्मा एवैतद्रास्नां करोति । इन्द्राण्यै सन्नह-
नमित्याह । इन्द्राणी वा अग्रे देवतानां समनहन् आध्नोदिति ॥ कात्याय-
नः ॥ दक्षिणं पाशमुत्तरे प्रतिमुच्योर्ध्वमुदगृहति विष्णोर्वेष्ण इति न ग्रन्थि क-
रोतीति ॥ अमीति मन्त्रशेषः । रज्जोरुत्तरपाशे प्रतिमुच्योर्ध्वमुत्पुण्यमाण हे
दक्षिणपाश, त्वं विष्णोर्व्यापकस्य यज्ञस्य वेष्पोऽसि । विष्टु व्याप्ताविति धातुः ।
यद्वा, वेष्टनरूपोऽसि । वेष्ट वेष्टन इति धातुः । छान्दसः पकारादेशः ॥ कात्या-
यनः ॥ ऊर्जे त्वेत्याज्यमुद्रास्येति ॥ हे आज्य, त्वा विलापनाय पूर्व बह्वावधि-
श्रितं त्वामिदानीम्, ऊर्जे अधिकपाकाभावेन स्वादुतपरसलाभाय बहिप्रदेशा-
द् बहिरुद्रामयामीति शेषः ॥ कात्यायनः ॥ पत्नीमवेक्षयत्यदब्धेनेति ॥
पाठस्तु ॥ अदब्धेन त्वा चक्षुषा वपश्याम्यग्रेर्जुह्वासि सुभूर्देवेभ्यः । धाम्ने धाम्ने
भव यजुषे यजुषे इति ॥ दम्नातिधातुर्हिंसाऽर्थः । हे आज्य, अदब्धेन हिंसा-
रहितेन चक्षुषा त्वाम् अवपश्यामि । अवाचीनं यथा भवति तथाऽधोमुखः सन्
पश्यामि । किञ्चाज्यमग्नौ यदा जुहति तदाग्नेर्जिह्वेव ज्वालोत्पद्यते । अत-
स्तन्निमित्तत्वादग्नेर्जिह्वा त्वमसि । सा च जिह्वा सुष्टु भवतीति सुभूः । तच्च सुष्टु-
भवत्वं देवेभ्यो देवेपकारार्थम् । एवंविधं त्वं धाम्ने धाम्ने तच्च ग्रामफलोपभोग-

णपवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ॥ सवितुर्वैः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण प-
वित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः ॥ ३ ॥ तेजोऽसि शुक्रमस्य मृतमसि धामनामा-
सि ॥ प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनं ॥ ४ ॥ यस्ते प्राणः पशुषु प्र-

स्थानमिच्छत्यर्थं यजुषे यजुषे भव तत्तद्यागसिद्धये योग्यं भव । फलेन पुज्यत
इति व्युत्पत्त्या यजुःशब्दो यागवाची ॥ तदेतदभिप्रेत्य कण्व आह ॥ भव
यजुषे यजुषे इति । सर्वस्मै यज्ञाय देवेभ्य एधीत्येवैतदाहेति ॥ कात्यायनः ॥
सवितुस्त्वेत्याज्यमुत्पुनाति प्रोक्षणीश्च पूर्ववदिति ॥ पाठस्तु ॥ सवितुस्त्वा
प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिरिति ॥ हे आज्य सवितुः
प्रसवे वर्तमान त्वामुत्पुनामि । अच्छिद्रेणेत्यादिविशेषः, पवित्रे स्थ इत्यनुवाके
व्याख्यातः । तस्मात् सुज्ञः । सोऽयमाज्योत्पवनमन्त्रः । सवितुर्वै इत्यादिकस्तु
प्रोक्षणीनामपाम् उत्पवनार्थो मन्त्रः । स च, पवित्रे स्थ इत्यनुवाके एव गतः ।
तस्मात् सूत्रकारेण, प्रोक्षणीश्च पूर्ववदित्युक्तं ॥ २ ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥
आज्यमवेक्षते तेजोऽसीतीति ॥ पाठस्तु ॥ तेजोऽसि शुक्रमस्य मृतमसीति ॥ हे
आज्य, त्वं तेजोऽसि, त्वमविनाशशरीरकान्तिहेतुत्वात्तेजः, त्वं शुक्रमसि दीप्त-
मसि । स्निग्धस्वरूपत्वादीप्तिमन्त्रम् । अमृतमसि विनाशरहितमसि । बहुदिना-
ऽवस्थानेऽप्योदनादिवत् पर्युषितत्वादिदोषाभावादविनाशित्वम् ॥ कात्यायनः ॥
स्त्रेणाज्यग्रहणं चतुर्जुह्वां धामनामेति सकृन्मन्त्र इति ॥ पाठस्तु ॥ धामना-
मसि प्रियं देवानामनाधृष्टं देवयजनमिति ॥ हे आज्य त्वं धाम स्थानमसि
धीयते स्थाप्यते देवैश्चित्तवृत्तिरत्रेति धामशब्दव्युत्पत्तिः । तदेव पुनर्नामादि-
भिश्चतुर्भिर्विशेषणैर्विशिष्यते । नामयति सर्वाणि भूतानि आत्मानं प्रति प्रणतानि
करोतीत्याज्यस्य नामत्वम् । एतच्चाज्योपेक्षणम् । सर्वेषु मनुष्येषु प्रसिद्धम् । त-
थैतदाज्यं देवानां प्रियम् ॥ तस्मिन् यत्त्वं च तित्तिरिः स्पष्टीचकार ॥ प्रजापति-
देवेभ्यो यज्ञान्यदिशत् । स आत्मन्नाज्यमश्नत् । तं देवा अब्रुवन् । एष वा व
यज्ञो यदाज्यमप्येव नो चास्त्वितीति ॥ यदा प्रजापतिर्यज्ञहवींषि देवेभ्यो वि-
भज्य ददौ तदानीमाज्यं स्वकीयत्वेन स्वीचकार । तद् दृष्ट्वा देवा यज्ञे सारभूतं
हविराज्यमेवेति वदन्तोऽस्माकमप्याज्ये भागोऽस्त्वित्यपेक्षितवन्त इत्यर्थः ।
तच्चेदमाज्यमनाधृष्टं गतसारत्वदोषेण कदाचिदप्यतिरस्कृतम् ॥ एतदपि प्रश्नो-
चराभ्यां तित्तिरर्दर्शयति ॥ ब्रह्मनादितो वत् ॥ अस्मात्स्त्वया यातयामान्य-

विष्टो देवानां विष्टामनु यो वितस्थे ॥ आत्मन्वान्तसोमघृतवान्हि भू-
त्वाग्निगच्छस्वर्यजमानाय विद ॥ ५ ॥

इषे त्वा तिस्रः ॥ ३ ॥ यौरसि चतस्रः ॥ ४ ॥ अग्ने व्रतपते अष्ट ॥ ८ ॥

पवित्रे स्थ चतस्रः ॥ ४ ॥ शर्मासि सप्त ॥ ७ ॥ धृष्टिरसि चतस्रः ॥ ४ ॥

शर्मासि पुनः पञ्च ॥ ५ ॥ देवस्य त्वा चतस्रः ॥ ४ ॥ देवस्य त्वा पुनः ष-

ट् ॥ ६ ॥ प्रत्युष्टं षष्ठं ॥ ५ ॥ दशानुवाकेषु पञ्चाशत् ॥ ५० ॥ इ-

षे देवस्य समाः पञ्चाशत् ॥ ५० ॥

इति प्रथमशाखायां प्रथमदशके संहितायां प्रथमोऽध्यायः ॥

न्यानि हवींष्ययातयामाज्यमिति प्राजापत्यमिति ब्रूयादयातयामो हि देवानां
प्रजापतिरिति ॥ चरुपुरोडाशादीनि चिरावस्थानेन यातयामानि गतसारा-
णि । आज्यं तु न तथा । तत्र हेतुः । प्रजापतिदेवताकत्वमित्यर्थः ॥ अथवा
वज्ररूपत्वादानाघृष्टं रक्षोभिरतिस्कृतम् ॥ तदाह कण्वः ॥ वज्रो वा आज्यं
तस्मादाहानाघृष्टमिति ॥ तित्तिरिरप्याह ॥ घृतं वै देवा वज्रं कृत्वा सोम मघव-
क्षिति तथेदमाज्यं देवयजनं देवानुद्दिश्य यागमाधनम् । तच्च प्रसिद्धमेव ॥ ४ ॥
अनन्तरमन्त्रस्तु— यस्ते प्राण इत्यादिकः प्रयोगानुऽसारिणोपरिष्ठादुत्कर्षणी-
यः ॥ अत एव कात्यायनस्तद्विनियोगमुत्तरत्रैवमुवाच ॥ पुरोडाशावभिघार्यो-
द्वास्योपस्तीर्णे निघायानक्ति यस्ते प्राण इतीति ॥ पाठस्तु ॥ यस्ते प्राणः
पशुषु पविष्टो देवानां विष्टामनु यो वितस्थे । आत्मन्वान्तसोम घृतवान् हि भू-
त्वाग्निं गच्छ स्वर्यजमानाय विन्देति ॥ हे सोम श्रेष्ठतया सोमसमान, हे पुरोडा-
क्ष ते त्वं प्राणो जीवनहेतुप्राणसदृशो य आज्यपदार्थः, पशुषु गवादिषु प्र-
विष्टः क्षीरमध्ये प्रविष्ट इव निगूढः । किञ्च य आज्यपदार्थो देवानामिन्द्रा-
दीनां विष्टामनु विशेषेण यागभूमौ स्थितिमनुष्ठित्य वितस्थे स्वयमपि वेद्यामा-
ऽऽवादितं सद्विशेषेण निष्ठति । तेनेत्यध्याहारः । तादृशेनाज्यपदार्थेन त्वयि प्र-
सिप्तेन घृतवान् घृतयुक्त आत्मवान् भूत्वा जीवात्मयुक्त इव श्रेष्ठो भूत्वाग्निं
गच्छ आहुतिप्रक्षेपवेलायामाहवनीयार्थं प्राप्नुहि । यद्वा उद्देश्यमग्निदेवतां प्रा-
प्नुहि । प्राप्य च यजमानाय यजमानोपकारार्थं स्वर्गे लभस्व । हि-
शब्दो घृताक्तपुरोडाशस्य यथोक्तफलसाधनत्वमासिद्धिं द्योतयति ॥ उपरिष्ठा-
दधस्ताच्च घृतोपेतस्य पुरोडाशस्य स्वर्गप्राप्तिहेतुत्वं तित्तिरिराह ॥ उपरिष्ठा-

णपवित्रेण सूर्यस्पर्दिमभिः ॥ सवितुर्वैः प्रसवउत्पुनाम्यच्छिद्रेण प-
वित्रेण सूर्यस्पर्दिमभिः ॥३॥ तेजोऽसि शुक्रमस्य मृतमसि धामनामा-
सि ॥ प्रियं देवानां मनाधृष्टं देव्यजनं ॥ ४ ॥ यस्ते प्राणः पशुषु प्र-

स्थानसिद्ध्यर्थं यजुषे यजुषे भव तत्तद्यागसिद्धये योग्यं भव । फलेन युज्यत
इति व्युत्पत्त्या यजुःशब्दो यागवाची ॥ तदेतदभिप्रेत्य कण्व आह ॥ भव
यजुषे यजुषे इति । सर्वस्मै यज्ञाय देवेभ्य एधीत्येवैतदाहोति ॥ कात्यायनः ॥
सवितुस्त्वेत्याज्यमुत्पुनाति प्रोक्षणीश्च पूर्ववदिति ॥ पाठस्तु ॥ सवितुस्त्वा
प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिरिति ॥ हे आज्य सार्धतुः
प्रमवे वर्तमान त्वामुत्पुनामि । अच्छिद्रेणेत्यादिविशेषः, पवित्रे स्थ इत्यनुवाके
व्याख्यातः । तस्मात् मुञ्जः । सोऽयमाज्योत्पवनमन्त्रः । सवितुर्वै इत्यादिकस्तु
प्रोक्षणीनामपाम उत्पवनार्थो मन्त्रः । स च, पवित्रे स्थ इत्यनुवाके एव गतः ।
तस्मात् सूत्रकारेण, प्रोक्षणीश्चपूर्ववदित्युक्तं ॥ २ ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥
आज्यमवेक्षते तेजोऽसीतीति ॥ पाठस्तु ॥ तेजोऽसि शुक्रमस्यऽमृतमसीति ॥ हे
आज्य, त्वं तेजोऽसि, त्वमविनाशशरीरकान्तिहेतुत्वात्तेजः, त्वं शुक्रमसि दीप्त-
मसि । स्निग्धस्वरूपत्वादीप्तिमश्वम् । अमृतमसि विनाशरहितमसि । बहुदिना-
ऽवस्थानेऽप्योदनादिवत् पशुपितृत्वादिदोषाभावादविनाशित्वम् ॥ कात्यायनः ॥
रुत्रेणाज्यग्रहणं चतुर्जुह्वां धामनामेति सकृन्मन्त्र इति ॥ पाठस्तु ॥ धामना-
मसि प्रियं देवानां मनाधृष्टं देव्यजनमिति ॥ हे आज्य त्वं धाम स्थानमसि
धीयते स्थाप्यते देवैश्चतुर्त्तरित्रेति धामशब्दव्युत्पत्तिः । तदेव पुनर्नामाद-
भिश्चतुर्भिर्विशेषणैर्विशिष्यते । नामयति सर्वाणि भूतानि आत्मानं प्रति प्रणतानि
करोतीत्याज्यस्य नामत्वम् । एतच्चाज्योपेक्षणम् । सर्वेषु मनुष्येषु मसिद्धम् । त-
थैतदाज्यं देवानां प्रियम् ॥ तत्प्रियत्वं च तित्तिरिः स्पष्टीचकार ॥ प्रजापति-
देवेभ्यो यज्ञान्यदिशत् । स आत्मन्नाज्यमधत्त । तं देवा अब्रुवन् । एष वा व
यज्ञो यदाज्यमप्येव नो चास्त्वितीति ॥ यदा प्रजापतिर्यज्ञहवींषि देवेभ्यो वि-
भज्य ददौ तदानीमाज्यं स्वकीयत्वेन स्वीचकार । तद् दृष्ट्वा देवा यज्ञे सारभूतं
हविराज्यमेवेति वदन्तोऽस्माकमप्याज्ये भागोऽस्त्वित्यपेक्षितवन्त इत्यर्थः ।
तच्चेदमाज्यमनाधृष्टं गतसारत्वदोषेण कदाचिदप्यतिरस्कृतम् ॥ एतदपि प्रज्जनो-
चराभ्यां तित्तिरर्दशीयति ॥ ब्रह्मवादिनो वदन्ति ॥ अस्मात्स्त्वित्या यातयामान्य-

विष्टोदेवानां विष्टामनु यो वितस्थे ॥ आत्मन्वान्सोमघृतवान्हि भू-
त्वाग्निगच्छ स्वर्गजमानाय विन्द ॥ ५ ॥

इषे त्वा तिस्रः ॥ ३ ॥ यौरसि चतस्रः ॥ ४ ॥ अग्ने व्रतपते अष्ट ॥ ८ ॥

पवित्रे स्थ चतस्रः ॥ ४ ॥ शर्मासि सप्त ॥ ७ ॥ घृष्टिरसि चतस्रः ॥ ४ ॥

शर्मासि पुनः पञ्च ॥ ५ ॥ देवस्य त्वा चतस्रः ॥ ४ ॥ देवस्य त्वा पुनः ष-

ट् ॥ ६ ॥ प्रत्युष्टं पञ्च ॥ ५ ॥ दशानुवाकेषु पञ्चाशत् ॥ ५० ॥ इ-

षे देवस्य समाः पञ्चाशत् ॥ ५० ॥

इति प्रथमशाखायां प्रथमदशके संहितायां प्रथमोऽध्यायः ॥

न्यानि हवींष्यपातयाममाज्यमिति प्राजापत्यमिति ब्रूयादयातयामो हि देवानां
प्राजापतिरितीति ॥ चरुपुरोडाशादीनि चिरावस्थानेन यातयामानि गतसारा-
णि । आज्यं तु न तथा । तच्च हेतुः । प्राजापतिदेवताकत्वमित्यर्थः ॥ अथवा
षष्ठ्यपत्वादानाघृष्टं रसोभिरतिस्कृतम् ॥ तदाह कण्वः ॥ वज्रो वा आज्यं
तस्मादाहानाघृष्टमिति ॥ तित्तिरिरप्याह ॥ घृतं वै देवा वज्रं कृत्वा सोम मयव-
क्षिति तथेदमाज्यं देवषजनं देवानुद्दिश्य यागमाधनम् । तच्च प्रसिद्धमेव ॥ ४ ॥
अनन्तरमन्त्रस्तु— यस्ते प्राण इत्यादिकः प्रयोगानुसरिणोपरिष्ठादुत्कर्षणी-
यः ॥ अत्र एव कात्यायनस्तद्विनियोगमुत्तरत्रैवमुवाच ॥ पुरोडाशावभिघार्यो-
द्वास्योपस्तीर्णे निघायानक्ति यस्ते प्राण इतीति ॥ पाठस्तु ॥ यस्ते प्राणः
पशुषु प्रविष्टो देवानां विष्टामनु यो वितस्थे । आत्मन्वान्सोम घृतवान् हि भू-
त्वामग्निगच्छ स्वर्गजमानाय विन्देति ॥ हे सोम श्रेष्ठतया सोमसमान, हे पुरोडा-
श ते तव प्राणो जीवनहेतुप्राणमदृशो य आज्यपदार्थः, पशुषु गवादिषु प्र-
विष्टः क्षीरमध्ये प्रविष्ट इव निगूढः । किञ्च य आज्यपदार्थो देवानामिन्द्रा-
दीनां विष्टामनु विशेषेण यागभूमौ स्थितिमनुसृत्य वितस्थे स्वयमपि वेद्यामा-
ऽऽमादितं सद्विशेषेण निष्ठति । तेनेत्यध्याहारः । तादृशेनाज्यपदार्थेन त्वयि प्र-
क्षिप्तेन घृतवान् घृतयुक्त आत्मवान् भूत्वा जीवात्मयुक्त इव श्रेष्ठो भूत्वामग्नि-
गच्छ आहुतिप्रक्षेपवेलायामाहवनीयाम्नि प्राप्नुहि । यद्वा उद्देश्यमग्निदेवतां प्रा-
प्नुहि । प्राप्य च यजमानाय यजमानोपकारार्थं स्वविन्द स्वर्गं लभस्व । हि-
शब्दो घृताक्तपुरोडाशस्य यथोक्तफलसाधनत्वप्रसिद्धिं द्योतयति ॥ उपरिष्ठा-
दधस्ताच्च घृतोपेतस्य पुरोडाशस्य स्वर्गप्राप्तिहेतुत्वं तित्तिरिराह ॥ उपरिष्ठा-

दध्यज्याधस्तादुपानक्ति सुवर्गस्य लोकस्य समष्ट्या इतीति ॥ ५ ॥ ॥ इति
प्रथमाध्याये दशमोऽनुवाकः ॥ १० ॥

अथ विनियोगसङ्ग्रहः ॥

आद्यो दशानुवाकाख्यस्तेषामर्थो विविच्यते ॥

शाखापवित्रनिष्पत्तिर्दोहनग्रहणेक्षणे ॥ १ ॥

अवघातः कपालानि पेषणं श्रपणं तथा ॥

वेदिराज्यग्रहश्चैतदनुवाकार्थाः प्रकीर्तिताः ॥ २ ॥

इषे शाखां छिनत्पूजे माष्टि वायेति व्रतमकव ॥

स्पृष्ट्वा देवः स्पृशेद् गां च यज्ञशाखोपगृह्णन् ॥

वसोः शाखां पवित्रं स्यात् पण्यन्त्रा अनुवाकगाः ॥ ३ ॥

द्यौः स्थालीं समुपाधाय बह्वी मा तेष्वधिश्रयेत् ॥

वसोः पवित्रमाधाने देवस्त्वामेवने जपेत् ॥ ४ ॥

कामेति पृच्छेत् मा विश्वा त्रिभिस्तत्रोत्तरं वदेत् ॥

इन्द्रातश्चति दध्यात्तद्विष्णोर्देस समीहिताः ॥ ५ ॥

अग्रे ब्रूतेऽमित्येतौ विकल्पेन व्रतग्रहे ॥

कस्त्वोदपात्रमादध्यात् कर्म शून्याभ्यपो ग्रहः ॥ ६ ॥

प्रतपेत् प्रत्युष्टेति धुम्रं प्राति धुर्धुम् ॥

स्पृशेद्देवाः स्पृशेदीपां विष्णुरागृह्य वीक्षते ॥ ७ ॥

उर्विति त्यजेदन्यान् पच्छतां च स्पृशेद्दधिः ॥

देव बृह्नाति शेषं तं शुभं स्पृष्ट्वा स्वस्तिीक्षते ॥ ८ ॥

हंहावाग्नाऽऽज्ञागच्छेत् पृथिव्याः स्थानमङ्गुलि ॥

अनुवाके तृतीयेऽस्मिन्नुक्ता एकोनविंशतिः ॥ ९ ॥

दर्भो छिनत्वात् पक्षिभ्यः स्य उपुनाति मवीत्यतः ॥

हस्तेन चालयेद्देवीः गोक्षयपां प्रोक्षणं भवेत् ॥ १० ॥

अग्रये त्वा हविः प्रोक्ष्य देव्या पात्रेक्षणं भवेत् ॥

अनुवाके चतुर्थेऽस्मिन् पण्यन्त्रा उदिताः खलु ॥ ११ ॥

शर्मन्याजिनमादाय अवधूनोत्पथेति तत् ॥

अदिन्यास्तृणादिचर्मोलखले च विकल्पितौ ॥ १२ ॥

तास्मिन् हविः क्षिपेदग्नेर्मुशलाग्रहणं बृहन् ॥

स इत्यवदधात्येतद्भविः पत्रीमिहाहवेत् ॥ १३ ॥
 आह्न्याद् दृषदे कुक्कु वर्ष शूर्पपरिश्रहः ॥
 मति त्वा हविरुद्वापो निष्पुनाति परेत्यतः ॥ १४ ॥
 तुषाभिरस्येदपह वायुर्वस्नद्विवेचनम् ॥
 देवः पाश्यां हविः स्थाप्यं मन्त्राः षोडश निर्मिताः ॥ १५ ॥
 उपवेशग्रहो घृष्टिरपाङ्गारवियोजनम् ॥
 पुनः स्वीकार आदेव कपालं स्थापयेद् ध्रुवम् ॥ १६ ॥
 अग्नेऽङ्गारं समारोप्य धरु धर्त्रमिति द्वयात् ॥
 प्रत्यक्माची कपाले द्वे विड्वा दक्षिणनस्तथा ॥ १७ ॥
 चिन उत्तरतोऽङ्गारैरभ्युहन्त्यूहति त्रिषु ॥
 अनुवाके तु षष्ठेऽस्मिन् दश मन्त्रा उदीरिताः ॥ १८ ॥
 शर्मावधुनादित्यास्त्वगित्येते पूर्ववत् त्रयः ॥
 विषेति इषदं तत्र स्थापयेदिव इत्यतः ॥ १९ ॥
 शम्यामधः स्थापयित्वा स्थापयेद्विषणोपलाम् ॥
 समोप्य तण्डुला धान्यं पिप्यात् प्राणेति तन्निभ्रमिः ॥ २० ॥
 दीर्घा कृष्णाजिनं मोहेच्चक्षुषे पिष्टमीक्षते ॥
 महीनामाज्यनिर्वापो वेदो वेदं प्रमुञ्चति ॥
 अनुवाके सप्तमेऽस्मिन् मन्त्राः प्रोक्ताश्चतुर्दश ॥ २१ ॥
 पिष्टावापो देव पाश्यां समापो जलमानयेत् ॥
 जन संयौति तद् द्वेधा स्पृशेदिदमिदं द्वयात् ॥ २२ ॥
 इषे त्वाज्यर्माधिश्रितं पुरोडाशं श्रपेत्यतः ॥
 उरु तं प्रथयेदग्निरद्विस्तस्याभिमर्शनम् ॥ २३ ॥
 अन्नः पर्याग्निकरणं देवस्त्वाश्रपयेद्भविः ॥
 मा मे सृष्ट्वा तं संभस्म नीत्वाप्त्यापस्त्रितात्रयात् ॥
 निलये क्षातजलं मन्त्राः षोडश वर्णिताः ॥ २४ ॥
 देवस्य स्फथं समादत्ते इडां लभ्यजपेदमुम् ॥
 तृणं पृथिव्यै संस्थाप्य पृथिवि प्रहरेदिदम् ॥ २५ ॥
 व्रजं पुरीषमादत्ते वर्ष वेदिमनेक्षते ॥
 वधोत्करे न्यसेत् पांसुर्द्वितीयमहतिस्त्वया ॥ २६ ॥

व्रजं व्रयः पूर्ववत् स्युरररोऽग्नीध्रः पुनर्न्यसेत् ॥
 तृतीयप्रवृत्तिर्द्रष्टुः पूर्ववत् स्युर्व्रजं व्रयः ॥ २७ ॥
 वेदेः पूर्वपरिग्राहो गायत्रेण त्रिभिर्भवेत् ॥
 उत्तरस्तु परिग्राहः सुक्ष्म चेत्यादिभिस्त्रिभिः ॥ २८ ॥
 अनुमार्ष्टिं पुरा वेदिं द्विपक्षः स्फुर्यं परित्यजेत् ॥
 नवमेऽप्यनुवाकेस्मिंश्चतुर्विंशतिरीरिताः ॥ २९ ॥
 स्तुवं तपेत् प्रत्यु निष्टु संमृज्यादनिशीत्यतः ॥
 पुनः प्रत्युस्त्रिभिस्तापो मार्जनं च स्तुचीष्यते ॥ ३० ॥
 आदित्यै नहाते पत्नीं विष्णोस्तत्प्रांशुमूहनम् ॥
 ऊर्जे त्वाज्यमुद्रास्यादब्धे पत्नीमवेक्षयेत् ॥ ३१ ॥
 सवितुस्त्वाज्यमुत्पृथ्य प्रोक्षणीः शोधयेत् सवि ॥
 तेजोऽस्याज्यमवेक्षयाथ जुहां वृद्धीत धमना ॥
 यस्तेऽनक्ति पुरोडाशं मन्त्राः पञ्चदशोरिताः ॥ ३२ ॥
 वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निरोधयेत् ॥
 पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ ३३ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकबुक्कमार्गप्रवर्तकश्रीवीरभृपालमाम्नाज्य-
 धुरन्धरेण सायणाऽऽचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे काण्वसंहितायां
 प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥ ॥

अथ सभाष्यशुक्लयजुर्वेदकाण्वसंहितायां द्वितीयोऽध्यायः ॥

ॐ कृष्णोसीमोवेदिर्बर्हिर्लिङ्गोक्तैर्अदित्याऽआपं विष्णोः प्रास्तरं
मूर्ध्न्यद्भदसं वेदिर्भूपतये श्रीण्याग्नेयानिगंधर्वस्त्रयाणां परिधयां वी-
तिहोत्रं विश्वावसुराग्नेयीं गायत्रीं । समिदाग्नेयं सूर्यस्त्वलिङ्गो-
क्तं सवितुर्विधृतीर्जगद्भदसमात्वा प्रास्तरं धृताच्यसिन्ध्रयाणां जुष्टप-
भृद्भुवाः क्रमेण प्रियेण हविर्धृवाऽअसदन्पाहिमां वैष्णवं ऽग्नेवाज-
जिदाग्नेयं नमोदैव स्वधापित्र्यं सुयमेस्तुचां वघ्निणा वैष्णवं वभुमती-
माग्नेयं मित ऽर्घ्यं संज्योतिषाज्यमत्रामीमदन्तपित्र्यं उपहृताया-
वापृथिव्यं मयीदमाशीः प्रतिग्रहणमग्नेवाजजिदाग्नेयं ब्रह्मत्वं पति-
ष्टांतं बृहस्पतिरांगिरसोपश्यद्देवसवितरेतमित्यादीनि सर्वाणि य-
जूंषिलिङ्गोक्तदेवत्यानि बृहस्पतिर्देवानां बार्हस्पत्यं निरस्तः पाप्मा-
राक्षोघ्नमिदमहं बार्हस्पत्यं मित्रस्य त्वामैव मग्नेष्ट्वा प्राशित्रं याऽअ-
प्सु नाभ्यं प्रजापते र्भागो न्वाहार्यं मेषाते ऽनुष्टुबाग्नेयेत्येतत्तैवैश्वदेवं-
मग्नीषोमयांश्च त्वारिलिङ्गोक्तानि वसुभ्यस्त्रयाणां परिधयः संजा-
नाथां व्यंतु प्रास्तरं मरुतां कपिर्बर्हितं प्रास्तरं च क्षुष्पाऽआग्नेयं यं परि-
धिंदवलऽआग्नेयं मग्नेः प्रियं च सः स्वभागाः सोमशुष्मं वैश्वदेवं धृ-
ताचीं स्तुचां वग्नेदध्वायोगार्हपत्योऽग्नेयेदक्षिणाग्निः सरस्वत्यै लिङ्गो-
क्तमुत्खले हविराप्यायतां प्रौवाज्यं देवागानुविदो मनसस्पतिर्वात-
देवत्यां विराजः संबर्हिर्लिङ्गोक्तदेवत्यं त्रिष्टुब्धिराङ्गूरुपं कस्त्वा प्रा-
जापत्यं रक्षसाः रक्षसं वैषोसि जुहोम्युपवेषोऽथ याजमानं संवर्च-
सा त्वाष्ट्री त्रिष्टुब्धयज्ञशः शूर्पो यवमान् कृषिरुक्तालवांधानांतर्वा नि-
तिपञ्चार्षेयां यज्ञदेवत्यो दिवि विष्णुर्ब्रह्मणि वैष्णवान्यस्मादज्ञाज्ञा-
गोऽस्यैभूमिरगन्मस्वदैवः संज्योतिषा हवनीयः स्वयं भूः सूर्यस्य द्वे-
सौरे अग्नेश्च पतेगार्हपत्यः सूर्यस्य सौरं मुखविष्णो वैष्णव्यनुष्टुप्ततो-
सीति यजुरंतं मे पौत्रमग्नेऽहदमाग्नेयं पितृयज्ञः प्रजापतेरार्षमग्ने-
ये सोमाय द्वेदैवं स्वाहाकारश्रुतेरपहताऽआसुरं यैरूपाणि कव्यवाह-
नोऽग्निस्त्रिष्टुब्धमो वः षड्लिङ्गोक्तानि परेऽपित्र्ये उदायुषाऽमृतदे-
वत्यं माधत्तपित्र्यागार्यं यूर्जमापीविराट् ॥ २ ॥

ॐ कृष्णोऽस्या । स्वरेष्टोऽग्नयेऽस्वा जुष्टं प्रोक्षामि । वेदिरसि बर्हिषे-
स्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥ बर्हिरसि सुगन्धस्वा जुष्टं प्रोक्षामि ॥ १ ॥ अदि-

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽस्त्रिलं जगत् ॥

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

प्रथमेऽध्याये हविःसंपादनोपयुक्ता मन्त्रा उक्ताः । द्वितीये तेन हविषा
भजनायोपयुक्ता मन्त्रा उच्यन्ते । तत्र प्रथमेऽनुवाके संस्कृतायां वेद्यां श्रुचा-
मासादनमुच्यते । तत्रादौ तावदिध्मादीनां प्रोक्षणमुच्यते ॥ कात्यायनः ॥
इध्मं प्रोक्षति विस्त्रःस्प वेदिं च बर्हिः प्रतिगृह्य वेद्यां कृत्वा पुरस्ताद्विध्मि कृष्णो-
ऽसीति प्रतिमन्त्रमिति ॥ योऽयमिध्मः पूर्वं दर्भैर्बद्धस्तं विस्त्रःस्प प्रोक्षयेत् ॥
बर्हिस्तु प्रतिगृह्य तदीयग्रथि पूर्वस्यां दिशि यथा भवति तथा वेद्यान्निधाय
प्रोक्षयेत् ॥ पाठस्तु ॥ कृष्णोऽस्यास्त्ररेष्ठोऽग्नये त्वा जुष्टं प्रोक्षामि । वेदिरसि बर्हिषे
त्वा जुष्टं प्रोक्षामि । बर्हिरसि सुगन्धस्वा जुष्टं प्रोक्षामीति ॥ हे इध्म त्वं कृ-
ष्णोऽसि । अन्तोदात्तः कृष्णशब्दो वर्णवाची । अत एव कृष्णं वासः कृष्ण-
रूपमित्यादावन्तोदात्त आह्नातः । अयं कृष्णशब्द आद्युदात्तत्वात् नृगवाची ।
तस्मादत्र कृष्णमृगोऽसीत्यर्थः । यज्ञात्मको देवः कदाचिदपि केनापि निमित्तेन
स्वशरीरगोपनाय कृष्णमृगस्य रूपं कृत्वा देवेभ्योऽपसृत्य निगूहोऽभवत् ।
ततो वने गत्वा वनस्पतीन् यज्ञयोग्यान् प्राविशत् । प्रविश्य स्वरे कठिने वृक्षे
सर्वत्रावतस्थौ । तदेतदभिप्रेत्य, कृष्ण इत्यास्त्ररेष्ठ इति च द्वयमुच्यते ॥
तदेतत्तित्तिरिदर्शयति ॥ यज्ञो देवेभ्यो निलीयन् कृष्णं रूपं कृत्वा स वनस्प-
तीन् प्राविशत् । कृष्णोऽस्यास्त्ररेष्ठोऽग्नये त्वेति ॥ अतो वनस्पतिजन्य इध्मोऽग्नेः
प्रियो भवति । तस्मादग्नये जुष्टं प्रियं त्वा शुक्लार्थं जलेन प्रोक्षामि । सोऽय-
माद्यो मन्त्रः ॥ हे वेदे त्वम् अनुरसकाशाद् देवैर्लब्धत्वाद्देदिरसि । लाभवाचि-
विदधातूपन्नत्वात् त्वं वेदिनामयुक्ताऽसि ॥ एतच्च नाम तित्तिरिदर्शयति ॥
यदिमाम् विन्दन्ति तद्वै वेदित्वमिति ॥ अतस्तादृशीं त्वां बर्हिषे जुष्टं बर्हि-
र्धारणोपयोगितया प्रियां प्रोक्षामि बर्हिषः प्रजारूपत्वाद् वेदेश्च पृथ्वीरूपत्वाद्
बर्हिर्धारकत्वं युक्तम् ॥ तदाह तित्तिरिः ॥ प्रजा वै बर्हिः पृथिवी वेदिः । प्रजा एव
पृथिव्यां प्रतिष्ठापयतीति ॥ सोऽयं द्वितीयो मन्त्रः ॥ हे दर्भ, त्वं बर्हिरसि प्र-
भूतत्वाद् वेदिर्बृंहणसमर्थमसि ॥ अतस्सुगन्धो जुष्टं श्रुचां धारणोपयोगित्वेन

तैर्व्युन्दन । मन्त्रिबिष्णोः स्तुपोऽसि ॥ ऊर्णम्रदसंत्वास्तृणामिस्वा- २
मस्थां देवेभ्यः ॥ २ ॥ भूपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूतानां पतये-

प्रियं त्वां प्रोक्षामि स्तुचां यजमानसदृशत्वाद्यजमानस्य प्रजानां मध्येऽवस्थातुं
युक्तत्वात् प्रजारूपे बर्हिषि यजमानस्यावस्थानमुचितम् ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ शेषं
मूलेषूपसिञ्चत्यदित्यै व्युन्दनमितीति ॥ असीति मन्त्रशेषः । हे प्रोक्षणशेषोदक
त्वम् अदित्यै भूम्या व्युन्दनममि विशेषेण क्लेदनसाधनमसि ॥ दर्भमूलसेचनं कण्व
उपपादयति ॥ अथ याः परिशिष्टाः प्रोक्षिष्यो भवन्ति ताभिर्बर्हिषो मूलान्युपनि-
नयत्यदित्यै व्युन्दनमसीति । इयं वा अदितिरोषधयो यैर्वरस्या एवैतदृथिव्या
ओषधीनां मूलान्युपानक्ति तस्मादिमा आर्द्धमूला ओषधय इति ॥ कात्यायनः ॥
बर्हिर्विस्त्रस्य पुरस्तात् प्रस्तरग्रहणं विष्णोरिति ॥ स्तुपोऽसीति मन्त्रशेषः ॥
दर्भमुष्टिरूप हे प्रस्तर, त्वं विष्णोर्ध्यापकस्य यज्ञस्य स्तुपोऽसि । केशसंघात-
रूपदर्भशिखेव दर्भसंघातरूपोऽसि । ष्यै स्तयै शब्दसंघातयोरिति घातुः ।
औणादिको दुप्रत्ययः ॥ तदाह कण्वः ॥ अथ विस्त्रस्य पुरस्तात् प्रस्तरं गृ-
ह्णाति । विष्णोस्तुपोऽसीति । यज्ञो वै विष्णुरयमु वै स्तुपो यच्छिखा तमेवैतद्यज्ञ
दधातीति ॥ कात्यायनः ॥ वेदिस् तृणात्यूर्णम्रदममितीति ॥ पाठस्तु ॥ ऊर्ण-
म्रदसं त्वा स्तृणामि स्वासस्थां देवेभ्य इति ॥ हे वेदे त्वां स्तृणामि दर्भैरा-
च्छादयामि । कथंभूतां त्वाम् ऊर्णम्रदसम् ऊर्णमिव मृद्रीम् । यथा प्रभोरुपवेष्टुं
कम्बले बहुपुटयुक्तत्वेन संकोच्य भूमावास्तृणन्ति । सा च भूः काठिन्यं परि-
त्यज्य ऋजुर्भवति । तथा दर्भैराच्छादिता वेदिर्मृदुः सम्पद्यते । देवेभ्यः स्वासस्थां
देवोपकारार्थं सुखेनासितुं स्थानभूताम् ॥ एतदेव कण्व आह ॥ स्वासने देवे-
भ्य इत्येवैतदाहेति ॥ २ ॥ भूपतये स्वाहेत्यादीनां त्रयाणां मन्त्राणां प्रयोगानुसारे-
णान्यत्र उक्तेर्षः कर्तव्यः ॥ अत एव अन्वत्र, कात्यायन आह ॥ स्कन्नम-
भिमृशति भूपतये स्वाहेतीति ॥ तमेतं विनियोगं कण्वो विस्पष्टं प्रपञ्चयामा-
स ॥ तदभिमृशति भूपतये स्वाहेति ॥ तमेतं विनियोगं कण्वो विस्पष्टं प्रपञ्च-
यामास ॥ तदभिमृशति भूपतये स्वाहा भुवनपतये स्वाहा भूतानां पतये स्वा-
इत्येतानि वै तेषामग्नीनां नामानि भूपतिर्भुवनपतिर्भूतानां पतिरिति ॥ भू-
पत्वादयस्त्रयोऽग्नेर्भ्रातरः । (स्वाहाशब्दो देवान् प्रति दानवाची निपातितः ।)
अत एव बृहदारण्यके श्रूयते । (देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं च वषट्कारं

स्वाहा ॥ गन्धर्वस्त्वाविश्वार्वमुःपरिदधातुविश्वस्यारिष्ट्यै ॥ ३ ॥
 यजमानस्यपरिधिरस्यग्निरिच्छ ईळितः ॥ इन्द्रस्यबाहुरसिदक्षिणो
 विश्वस्यारिष्ट्यै ॥ यजमानस्यपरिधिरस्यग्निरिच्छ ईळितः ॥ मि-
 त्रावरुणौत्वोत्तरतःपरिधत्तांभुवेणधर्मणाविश्वस्यारिष्ट्यै ॥ यज-

चेति) हविषो ग्रहणकाले परिधिभ्यो बहिर्यद्धविः स्कन्नं तद्धविर्भुपत्यादिनामेके-
 भ्योऽग्निभ्रातृभ्यो दत्तमिति मन्त्राणामर्थः । एतेऽग्निभ्रातरौ देवेभ्यो हव्यं
 वहन्तो यदा मृतास्तदानीमग्निः स्कन्नं हविर्भ्रातृभ्यो भवत्विति वरं वृतवान् ॥ तमि-
 ममर्थे तित्तिरिग्नेस्त्रयो ज्यायासौ भ्रातरा आसन् । देवेभ्यो हव्यं वहन्तः प्रमी-
 यन्तेत्यारभ्यान्ते स्पष्टमुवाच ॥ सोऽब्रवीद्वरं वृणोः यदेवागृहीतं स्यादुतस्य बहिः
 परिधिः स्कन्दात्तन्म भ्रातृणां भागधेयमसादिति तस्माद् यद् गृहीतं स्यात् त-
 न्नुतस्यै बाहःपरिधिः स्कन्दति तेषां तद्भागधेयं तानेव तेन प्रीणातीति ॥ ३ ॥
 कात्यायनः ॥ परिधीन् परिदधाति मध्यमदक्षिणोत्तरान् गन्धर्व इति प्रति-
 मन्त्रमिति ॥ प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ गन्धर्वस्त्वा विश्वावमुः परिदधातु विश्व-
 स्याऽरिष्ट्यै यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिच्छ ईळित इति घृलोकावस्थितं सोमं
 रक्षितुं सोमस्य पाद्वे विश्वस्मिन् सर्वस्मिन् प्रदेशे वसतीति विश्वावमुः एत-
 न्नामको गन्धर्वः ॥ तथाच श्रुत्यन्तरं, विश्वावमुः सोमगन्धर्वमिति ॥ त्वा प्रादेशत्र-
 यपरिमितां समिधं त्वां परिदधातु आहवनीयस्य पश्चिमभागे सर्वतः स्थापयतु ।
 किमर्थे, विश्वस्यारिष्ट्यै । रिपतिर्हिमार्थः ॥ आहवनीयस्थानरूपस्य विश्वस्य
 हिमाराहत्याय । पारिधेरभावे सति अमुराः पवित्र्य हिमां कुर्वन्ति ॥ किञ्च,
 यजमानस्य परिधिरसि यजमानमग्रेभ्यो रक्षितुं पश्चिमदिशि सर्वतः स्थापि-
 तामि । किञ्चाग्निरिच्छ ईळितः ॥ अमीन्यनुवर्त्तने ॥ आहवनीयस्याग्नेः प्रथमो
 ज्येष्ठभ्राता मृपतिनामधेयोऽग्निस्तद्रूपोऽमि । स चाग्निरिच्छ ईळितः स्तुतियोग्यस्तस्मा-
 दील्लिख्यो होत्रादिभिस्तुतः । ईड स्तुताविति धातुः ॥ द्वितीयमन्त्रपाठस्तु ॥
 इन्द्रस्य बाहुरसि दक्षिणो विश्वस्यारिष्ट्यै । यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिच्छ ईळित
 इति ॥ हे द्वितीयपरिधे त्वम् इन्द्रस्य दक्षिणो बाहुरसि । रक्षायां समर्थत्वाद्
 इन्द्रबाहुत्वोपचारः । विश्वस्येत्यादि व्याख्यातम् । अत्राग्निशब्देन द्वितीय भ्राता
 भुवनपतिनामको विवक्षितः ॥ तृतीयमन्त्रपाठस्तु ॥ मित्रावरुणौ त्वोत्तरतः
 पारिधत्तां भुवेण धर्मणा विश्वस्यारिष्ट्यै । यजमानस्य परिधिरस्यग्निरिच्छ

मानस्यपरिधिरस्यग्निर्विद्धीकृतः ॥४॥ वीतिहोत्रं त्वा कवेष्टुमं- २
तः समिधीमहि ॥ अग्नेर्बृहन्तं मध्वरे ॥ ५ ॥ समिदं सिं सूर्यस्त्वापु- २
रस्तात्पातुकस्याश्चिदभिशास्त्यै ॥ सवितुर्वाहस्थः ॥ ६ ॥ ऊर्ण-
मदसं त्वास्तृणामिस्त्वामस्थं देवेभ्यः ॥ आत्वावसवो व्रातां वित्याः

ईळि१ इति ॥ हे तृतीयपरिधे, त्वां मित्रावरुणावेतन्नामकौ देवौ ध्रुवेण स्थि-
रेण धर्मभा धारणेन पोषणेन वा उत्तरत्र उत्तरस्यां दिशि परिधत्तां परितः
स्थापयताम् ॥ विश्वस्येत्यादिपूर्ववत् । अत्राग्निशब्देन भूतानां पतिरित्येतन्ना-
मकस्तृतीयो भ्राता विवक्षितः ॥ ३ ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥ प्रथमं परिधिं समि-
धोपस्पृश्य वीतिहोत्रमिस्यादधतीति ॥ पाठस्तु ॥ वीतिहोत्रं त्वा कवेष्टुमन्तः
समिधीमहि । अग्रे बृहन्नमध्वर इति ॥ कविः क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ इत्यर्थः । त-
थाविध हे अग्ने त्वाम् अध्वरे यागे निमित्तभूते सति समिधीमहि अनेना-
धारमभिध ऊर्ध्वस्थापनेन सम्पद्यीष्यामि । कथम्भूतं त्वां, वीतिहोत्रम् । इष
यताविति धातुः । इतिर्गतिः, विविधा इतिव्याप्तिः समृद्धिरित्यर्थः । वीतये
होत्रं होमो यस्याग्रेरिति विग्रहः ॥ एतेमवार्थं तित्तिरिर्दीक्षयति ॥ वीतिहोत्रं त्वा
कव इत्याह । अग्निमेव होत्रेण समर्द्धयतीति ॥ षुमन्तं स्वत एव द्योतनोपे-
तं बृहन्नं बृहयागवर्तित्वेन ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥ अनुपस्पृश्य द्वितीयां समिद-
सीति ॥ द्वितीयां समिधमादधातीत्यनुवर्त्तते । हे आधारसमिदग्रेः पूर्वभागे स्था-
पयमाना भवसि ॥ कात्यायनः ॥ सूर्यस्त्वेति जपत्याहवनीयमीक्षमाण इति ॥ पाठस्तु ॥
सूर्यस्त्वापुरस्तात् पातुकस्याश्चिदभिशास्त्यै ॥ हे आहवनीय त्वां पुरस्तात्
पूर्वस्यां दिशि सूर्यः कस्याश्चिदभिशास्त्यै सर्वस्या अपि हिंसायाः पातु रक्षतु ।
या काचिद्धिना प्रमक्ता तां सर्वां परिहरत्वित्यर्थः । चतुर्थी पञ्चम्यर्थे द्रष्टव्या ।
इतरस्मिन् दिक्त्रये परिधित्रयेण रक्षा भवति । पूर्वस्यां तु परिध्यभावेऽपि सूर्यो
रक्षकः ॥ इमेमवार्थं कण्व आह ॥ परिषय इमं अभितो गुप्तये परिहिता भवन्ति ।
सूर्यमेवास्येतत्पुरस्तात्पुरोगां करोतीति ॥ कात्यायनः ॥ वर्हिषस्तृणे तिरश्चीनि
दधाति सवितुरीति ॥ वाहस्थ इति मन्त्रशेषः ॥ वेद्यामास्तीर्णस्य प्रागग्रस्य
दर्भस्योपरि पुनरास्तीर्यमाणस्य प्रस्तरस्य सांक्यपरिहाराय तृणद्वयं तिर्यङ्क-
निदध्यात् । हे तृणे युवामुभे सवितुः प्रेरकस्य देवस्य वाहस्थः दक्षिणोत्तर-
बाहुस्थानीये भवथः ॥ ६ ॥ कात्यायनः ॥ तयोः प्रस्तरं स्तृणात्पूर्णमदसमि-

संदंतु ॥ ७ ॥ घृताच्यमिषं जुहूर्नाम सेदं प्रियेण धाम्ना प्रिये सदसि सीद ॥
 घृताच्यस्युपभृक्षाम सेदं प्रियेण धाम्ना प्रिये सदसि सीद ॥ घृताच्य-
 सिध्रुवानाम सेदं प्रियेण धाम्ना प्रिये सदसि सीद ॥ प्रियेण धाम्ना
 प्रिये सदसि सीद ॥ ८ ॥ ध्रुवाऽअसद । नृतस्य यो नौ ता विष्णो पाहि ॥

तीति ॥ पाठस्तु ॥ ऊर्णमदसं त्वा स्तृणामि स्वामस्थं देवेभ्य इति ॥ पूर्ववद्
 व्याख्यानम् ॥ कात्यायनः ॥ अभिनिदधात्या त्वा वसव इति । सव्याङ्गुल्या
 शुन्य इति ॥ प्रस्तरमित्यनुवर्त्तते ॥ आस्तीर्णं प्रस्तरं तद्गद् रहिते शून्यस्थाने वा-
 माङ्गुल्या प्रसारयेत् ॥ पाठस्तु ॥ आ त्वा वसवो रुद्रा आदित्याः सदन्विति ॥
 प्रस्तरस्य सवनत्रयाभिपानिनस्त्रयो वस्वाद्यो देवगणास्त्वामामादयन्तु सर्वतः
 प्रसारयन्तु ॥ ७ ॥ कात्यायनः ॥ जुहूं प्रतिशृणु निदधाति घृताचीत्येवमितरे
 उत्तराभ्यां प्रतिमन्त्रमिति ॥ प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ घृताच्यमिषं जुहूर्नाम सेदं
 प्रियेण धाम्ना प्रिये सदसि सीदेति ॥ हे जुहू त्वं घृतमञ्जरीति घृताची घृतपूर्णा-
 सि भवमि ॥ जुहूर्नाम जुहुरित्येव तत्र नामधेयम् । हूयते अनयेति व्युत्पत्तेः । सा
 त्वमिदं प्रस्तरस्योर्ध्वं स्थानमभिनिष्ठेति शेषः । उक्तस्यैव व्याख्यानं प्रियेणेत्या-
 दिकम् । प्रियेण देवानां प्रीतिहेतुना धाम्ना आज्यरूपेण तेजसा महेति शेषः ॥
 तद्वै देवानां प्रियं धाम यदाज्यामिति हि श्रुतिः । प्रिये सदामं प्रस्तरस्योपरि
 प्रियस्थाने सीद प्राप्तुहि उपविशेत्यर्थः ॥ द्वितीयमन्त्रपाठस्तु ॥ घृताच्यस्युप-
 भृक्षाम सेदं प्रियेण धाम्ना प्रिये सदसि सीदेति ॥ उप जुहाः समीपे स्थित्वा
 बिभर्त्यजिषं धारयतीत्युपभृत् । व्याख्यानमन्यत् ॥ तृतीयमन्त्रपाठस्तु ॥ घृ-
 ताच्यमिषं ध्रुवा नाम सेदं प्रियेण धाम्ना प्रिये सदसि सीदेति ॥ ध्रुव मतिस्थै-
 र्ययोरिति धातुः । यथा होमार्थं जुहूपभृतोस्तदा चलनं तद्गदस्याश्चलनाऽभावेन
 स्थिरत्वाद् ध्रुवोति नाम । व्याख्यानमन्यत् ॥ कात्यायनः ॥ प्रियेण धाम्नाति
 हवींश्चि वेद्यां कृन्वेति ॥ कण्ठोऽप्याह ॥ प्रियेण धाम्ना प्रिये सदसि सी-
 दान्यानि हवींश्चामादयतीति ॥ आग्नेयः पुरोडाश इत्यादीन्यन्यानि, मन्त्रस्त-
 त्पूर्ववदेकैकं हविः संवाध्य व्याख्येयः ॥ ८ ॥ कात्यायनः ॥ ध्रुवा असद-
 न्निति सर्वाण्यालभते ॥ पाठस्तु ॥ ध्रुवा असदन्तस्य योनौ ता विष्णो पाहि ।
 पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिमिति ॥ ऋतस्य अवश्यम्भाविफलोपेतत्वेन सत्यस्य
 यज्ञस्य योनौ स्थाने सर्वे हविर्विशेषा ध्रुवा असदन् आवश्यकत्वेन स्थिराः

वाहियज्ञं वाहियज्ञं प्रतिवाहिमायं ज्ञान्यं ॥१॥ ॥ अग्ने वाजजि । वाजं- २
त्वा सरिष्यन्तं वाजजित् संमार्जिम ॥ नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः
सुयमे मे भूयास्तं ॥१॥ अस्कं नमन्वा । ज्येदेवेभ्यः संभ्रियासं ॥ अंघ्रिणा-

अतिष्ठन् । हे विष्णो व्यापक यज्ञपुरुष तान् पाहि तान् हविर्विशेषान् रक्ष ।
अन्यन् पुरैव व्याख्यातम् ॥ कात्यायनः ॥ पाहि मामित्यात्मानमिति ॥ आलभत
इति सूत्रशेषः । यज्ञन्यमिति मन्त्रशेषः । स च मन्त्रः पूर्वमेव व्याख्यातः ॥१॥
इति द्वितीयेऽध्याये प्रथमो नुवाकः ॥ १ ॥

प्रथमेऽनुवाके इधमप्रोक्षणमारभ्य स्रुगासादनोपयुक्ता मन्त्रा उक्ताः ।
द्वितीये स्तुत्याधारविषया मन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ इधमन्नहनमनुप-
रिधि संपाष्टर्घने वाजजिदिति त्रिस्त्रिः परिक्राममिति ॥ पाठस्तु ॥ अग्ने वाज-
जिद् वाजं त्वा सरिष्यन्तं वाजजित् संमार्जिमीति ॥ हे वाजजिदग्ने वाजमन्नं ज-
पमीति वाजजित् । तथाविध हे अग्ने त्वां समार्जिम शोभयामि । कथंभूतं त्वां,
वाजं सरिष्यन्तम् अन्नमुद्दिश्य गमिष्यन्तम्, अन्नसम्पादनोपयुक्तम् । वाजजि-
तम्, अन्नमुद्दिश्य जयोपेतम् । अन्नप्रतिबन्धनिवारकमित्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥
अपरमाहवनीयादञ्जलिं करोति नमो देवेभ्य इति ॥ ये देवा अनुष्ठानमनुयु-
हन्ति तेभ्यो नमस्कारोऽस्तु ॥ स्वधा पितृभ्य इति दक्षिण उत्तानमिति ॥
पुरा प्राङ्मुखो देवनमस्कारार्थमञ्जलिं कृतवान् ॥ इदानीं पितृनमस्कारार्थं
दक्षिणामुख उत्ताने पाणिद्वयं कुर्यात् ॥ ये पितरः पालकाः सन्ति तेभ्यः स्वधा-
स्तु ॥ (स्वधाशब्दो निपातितः । स च पितृनुद्दिश्य देयद्रव्यस्य पिण्डादेर्दाने
वर्तते) । अतो यद्देयं तदास्याम इत्यर्थः ॥ अनेन मन्त्रद्वयेन देवाश्च पितरश्चो-
पचर्यन्ते ॥ तदाह कण्वः ॥ अथ स्रुचाधारकृष्णक्रमेण स्रुचोरञ्जलिं निदधाति
नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्य इति । देवेभ्यश्चैवैतत् पितृभ्यश्च निन्दुते आ-
र्त्विज्यं करिष्यन्निति ॥ निन्दुते अपलपति उपचरतीत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥
सुयमे मे इति जुहुपभृतावादायेति ॥ पाठस्तु ॥ सुयमे मे भूयास्तमस्कन्नमयाज्यं
देवेभ्यः संभ्रियासमिति ॥ हे जुहुपभृता, मे मदर्थं सुयमे सुष्ठु नियते भूयास्तं
भवतम् । यथा युवयोः स्थितमाज्यं न स्कन्दति तथा धारयतमित्यर्थः । तथा मत्पह-
मथाऽस्मिन् कर्मानुष्ठानदिने देवेभ्यो देवतोपकारार्थम् । आज्यं युवयोः स्थितं
धृतम् । अस्कन्नं मूमौ यथा न स्कन्दति तथा संभ्रियासं सम्यक्पोषणं कर-

विष्णोमात्वावंक्रमिषं ॥ २ ॥ वसुमतीमग्ने । ते छायासु रस्थेऽं विष्णोः
स्थानमसि ॥ इत इन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वरऽआस्थानम् ॥ अग्नेवे ।

वाणि ॥ अस्कन्नामित्यादेरभिप्रायं कण्वो दर्शयति ॥ अविश्रुव्यमग्नें यज्ञं
देवेभ्यस्तनवा इत्येवैतदाहेति ॥ कात्यायनः ॥ दक्षिणातिक्रामन्त्यङ्घ्रिणा विष्ण-
वित्तीति ॥ पाठस्तु ॥ अङ्घ्रिणा विष्णो मा त्वावक्रमिषमिति ॥ हे विष्णो व्या-
पक यज्ञपुरुष त्वाम् अङ्घ्रिणा पादेन मावक्रमिषम् अवक्रमणं मा कार्षम् ।
पादेनातिक्रमणदोषो मे मा भूदित्यर्थः ॥ एतमेवाभिप्रायं कण्वो दर्शयति ॥
यज्ञो वै विष्णुस्तमेतदतिक्रमिष्यन् प्रभवति तस्मा एवैतन्निन्दुते मा त्वावक्रामि-
षमितीति ॥ १ ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ परिधीनप्यपरेण सञ्चरो होष्यतः स-
ञ्च्येनेतो दक्षिणेनामुतो वसुमतीमित्यवस्थायेति ॥ परिधीनां पश्चिमभागः सञ्चा-
रदेशस्ततो होमायोद्युक्तस्य सञ्च्येन पादेनेतः परिषेः पश्चिमादिश्यवस्थानं
दक्षिणेन पादेनायुतः पूर्वस्यां दिश्यवस्थानमित्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ वसुमतीमग्ने
ते छायासु रस्थेऽं विष्णोः स्थानमसीति ॥ हे अग्ने, ते तव छायां वसुमतीं यथा
पुरुषस्य छाया समीपवर्त्तिनी तद्वत्तत्र समीपवर्त्तिनी भूमिषः उपस्थेपम् उप-
तिष्ठेयं सेवेय । उपपूर्वस्तिष्ठतिः सेवार्थं वर्त्तते । स एव वाचिकः सेवाप्रकारः
स्पष्टीक्रियते । विष्णोः स्थानमसि । हे वसुमति, त्वं यज्ञस्य स्थानं भवामि ।
अत्र स्थित्वा यागं कर्तुं शक्यत इत्यर्थः ॥ आहवनीयसमीपवर्त्तित्वादस्या भूमेर्यज्ञ-
स्थानत्वं युक्तम् ॥ तदाह कण्वः ॥ यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञस्य वा एतदन्तिकं ति-
ष्ठति तस्मादाह विष्णोः स्थानमसीति ॥ कात्यायनः ॥ इत इन्द्र इति जुहो-
तीति ॥ पाठस्तु ॥ इत इन्द्रो वीर्यमकृणोदूर्ध्वोऽध्वरऽआस्थानम् । अग्रर्वे-
होत्रं वेदित्यम् । अत्रतां त्वा यावापृथिवी अत्र त्वं यावापृथिवी । स्थिष्ठकृदे-
वेभ्य इन्द्र आज्येन हविषा भूत् स्वाहेति ॥ पूर्वस्मिन्मन्त्रे यज्ञमस्वान्धि यत्र स्था-
नमुक्तं तदेव देवानां विजयहेतुत्वाद् दिक्शब्देन परामृश्यते । देवयजनव्य-
तिरिक्तभूमेरमुराधीनतया तत्र देवानां पराजयेऽपि यज्ञप्रदेशः पराजयरहितः ॥
अत एव तित्तिरिराह ॥ विष्णोः स्थानमसीन्वाह । यज्ञो वै विष्णुः । एतत्
खलु वै देवानामपराजितमायतनं यद्यज्ञः देवानामेवापराजित आयतने ति-
ष्ठतीति तथाविधादितोऽस्माद्देवयजनस्थानात् स्वकीयभूवल्लोपेताद्युद्धार्थमु-
द्युक्त इन्द्रो वीर्यमकृणोत् । वीरस्य कर्म शत्रुवधरूपमकरोत् । इन्द्रेण वीर्ये

होत्रं वेदूत्यं ॥ अवतांत्वाद्यावापृथिवीऽअवत्वंद्यावापृथिवी ॥ ४ ॥
स्विष्टकृद्देवेभ्यः । इन्द्रऽआज्येन हविषा भूत्स्वाहा ॥ संज्योतिषा
ज्योतिः ॥ ५ ॥ अत्र पितरो । मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वं ॥ अ-

कृते सति शत्रुनयुक्तविघ्नाभावाद् अश्वरो यज्ञ ऊर्ध्व आस्थादुसतावस्थितः । य-
स्मादश्वरो निर्विघ्नेऽवस्थितस्तस्मान् कारणाद्, हे अग्ने, त्वं चेद् होतुः कर्मवेदो वि-
जानीहि । तथा, दूत्यं देवसम्बन्धि दूतकर्म वेदो विजि । होतृत्वदेवदूतत्वयोरग्निसम्ब-
न्धित्वं कण्ठो दर्शयति ॥ अग्नेर्वेदोत्रं वेदूत्यमित्युभयं ह वा एतदग्निर्देवानां होता
तद्गन्ध, तदुभयं विजि यदेवानामसीत्येवैतदाहेति ॥ ईदृशं त्वामग्निमुपे ष्यावः पृथिवी
देवते अवतां पाळयताम् । हे अग्ने त्वमपि ष्यावापृथिवी लोकद्वयदैवते अव
पाळय इत्यमन्योन्यपालने सति देवेभ्यो देवोपकारार्थम्, इन्द्रः आज्येन हविषा-
ऽस्माभिर्दत्तेन स्विष्टकृद् भूत् सुष्ठु इष्टं करोतीति स्विष्टकृद् तादृशो भवतु ॥
यद्यदस्माभिरिज्यते तत्तदिष्टं सर्वं वैकल्यरहितं करोतु । स्वाहा । इन्द्रं देवमु-
दिश्येदमाज्यं दत्तम् ॥ कात्यायनः ॥ उत्तराधारमाघार्यासंस्पर्शयन् स्तृचा-
वेत्य जुहा ध्रुवाः समनक्ति संज्योतिषेतीति ॥ ज्योतिरिति मन्त्रशेषः ॥ अत्रा-
गच्छतामित्यध्याहर्णव्यम् ॥ ध्रुवायां स्थितमाज्यरूपं यज्ज्योतिस्तेन ज्योतिषा
सह जुहा सिच्यमानमाज्यरूपं ज्योतिः संगच्छताम् ॥ आघास्त्रोषाज्यस्य
ध्रौवाज्यस्य च संगमनं तिष्ठतिरूपपादयति ॥ शिरो वा एतद्यज्ञस्य आत्मा
ध्रुवा आधारमाघार्य ध्रुवाः समनक्ति आत्मनेव यज्ञस्य शिरः प्रतिदधानीति ॥
आत्मशब्देनात्र गलादधस्तनो देहभागो विवक्षितः ॥ कण्ठोऽपि, तद्ध्रुवाः
समनक्ति शिरो वा एतदित्यादिना तथैवावोचत् ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ अथो-
त्तरस्य प्रयोगस्यायं क्रमः ॥ प्रयाजा आज्यभागौ प्रधानयागस्तच्छेषप्राशनं
चेति ॥ तत्र प्राशनार्थं हविश्चतुर्द्धा कृत्वेदं ब्रह्मण इदं होतुरिदमध्वर्योरिद-
मग्नीध इत्यृतिगम्य आदिशेत् । तदानीं यजमानो मन्त्रं जपेत् ॥ तदाह
कात्यायनः ॥ अत्र पितर इति यजमानो जपतीति ॥ पाठस्तु ॥ अत्र पितरो
मादयध्वं यथाभागमावृषायध्वमिति ॥ हे पितरो, यूयम् अत्राऽस्मिंश्चतुर्द्धा-
विभज्यादिश्यमाने मादयध्वं हृष्टा भवत । ततो हविषि यथाभागं स्वं स्वं भा-
गमनतिक्रम्य आवृषायध्वं समन्ताद् वृषवदाचरध्वम् । यथा वृषो घासं स्वाभी-
ष्टं प्राप्य वृषिपर्यन्तं स्वीकरोति तद्वत् स्वीकुरुत ॥ यद्यप्येतान् भागान् ऋत्विजो

मीमदंतपितरो यथाभागमावृषायिषत ॥ ६ ॥ उपहूता पृथिवी । मा-
तोपमां पृथिवीमाता हयतां ॥ अग्निराग्नीध्रात्स्वाहा ॥ ७ ॥ उप-
हूतो यौ । ष्वितोपमां यौ ष्विता हयतां ॥ अग्निराग्नीध्रात्स्वाहा ॥ ८ ॥
मयीद । मिद्रं ऽहं द्विषंदधात्वस्मान्नायो मघवानः सचन्तां ॥ अस्मा-

भक्षयन्ति, न तु पितरस्तथापि दर्शनेन पितॄणां तृप्तिर्भवति ॥ न वै देवा अ-
श्नन्ति न पिबन्त्येतदेवा अमृतं दृष्ट्वा तृप्यन्तीति श्रुत्यन्तरात् ॥ कात्यायनः ॥
विष्टज्यामीमदन्तेति ॥ जपतीत्यनुवर्त्तते ॥ पाठस्तु ॥ अमीमदन्त पितरो यथा-
भागमावृषायिषतेति ॥ यान् पितॄन् प्रति स्वीकुरुतेत्युक्तं ते पितरः, अमीमदन्त
भृशं दृष्टवन्तः । यथाभागमावृषायिषत स्वं स्वं भागम् अनतिक्रम्य स्वीकृत-
वन्तः ॥ पूर्वमन्त्रेण भागान् स्पृष्ट्वा जपेत् ॥ इमं तु विष्टज्य जपतीति विशे-
षः ॥ ६ ॥ कात्यायनः ॥ एकैकमाहरति द्यावापृथिव्योरुपह्वानेऽग्नीध्रे षडव-
त्तं प्राश्नात्युपहृता पृथिवीतीति ॥ यदा होता द्यावा पृथिव्योरुपह्वानं करोति
तदानीमाग्नेयपुरोडाशमग्नीषोमीयपुरोडाशं चैकैकमाग्नीध्राय षडवत्तं सम्पा-
द्याहरेत् । स चोपहूतेति मन्त्रेण माश्रीयान् ॥ पाठस्तु ॥ उपहूता पृथिवी
मातोपमां पृथिवीमाता हयताम् ॥ अग्निराग्नीध्रात् स्वाहा ॥ उपहूतो यौष्वितो-
पमां यौष्विता हयताम् । अग्निराग्नीध्रात् स्वाहेति ॥ येयं पृथिवी दश्यते सेयं
जगतो माता उपहूता अभ्यनुज्ञाता मातृत्वेनास्माभिर्भाविता । सा च माता
पृथिवी मां हविःशेषभक्षणायोग्यतम् । उपहयतामभ्यनुजानातु । आग्नीध्रादेत-
न्नामकादात्विज्यात् कर्मणो हेतोरग्निरहं वह्निस्वरूपः सन् भक्षयामीति शेषः ।
तस्मात् स्वाहा मदीयमुखाम्नाविदं हविः स्वाहा सुहुतमस्तु । प्रथमपुरोडाशभक्षणे
मन्त्रः ॥ ७ ॥ उपहूतो यौरित्यादिकस्तु द्वितीयपुरोडाशशेषभक्षणमन्त्रः ॥
द्यौः द्युलोकाभिमानि देवता पिता सर्वस्य जगतः पालकत्वात् पिता उपहूतो-
ऽस्माभिश्च पितृत्वेनाभ्यनुज्ञातो द्यौः पिता द्युलोकरूपः स पिता मां भक्षणाय
उच्यतम् उपहयतामभ्यनुजानातु ॥ अग्निरित्यादिकं पूर्ववत् ॥ ८ ॥ कात्या-
यनः ॥ आशाप्तानि मयीदमिति यजमानो जपतीति ॥ यदा होता मन्त्रमाशीर्वि-
षयं प्रयुक्ते तदा यजमानो जपेत् ॥ पाठस्तु ॥ मयीदमिन्द्र इन्द्रियं दधात्व-
स्मान् रायो मघवानः सचन्ताम् । अस्माकं सन्त्वाशिषः सत्या नः सन्त्वा-
शिष इति ॥ इन्द्रः परमेश्वर इदमस्मदपेक्षितमिन्द्रियम् इन्द्रवद् वीर्यं मयि यज-

कःसंस्वाशिषःसत्यानःसंस्वाशिषः॥ अग्नेर्वाजजिह्वाजंस्वाससृ-
वाःसंस्वाजजितुःसंमार्गिम् ॥१॥ देवसवित । रेतंत्वावृणतेबृहस्प- २-१२
तिंब्रह्माणं ॥ तदहं मनमेप्रब्रवीमि ॥ १ ॥ मनो गायत्र्यै । गायत्री
त्रिष्टुभे त्रिष्टुब्जगत्यै जगत्यनुष्टुभे ॥ अनुष्टुप्प्रजापतये प्रजापति-
विश्वेभ्यो देवेभ्यः ॥ २ ॥ बृहस्पतिर्देवानां । ब्रह्माहं मनुष्याणां ॥

माने दधातु स्थापयतु । किञ्च, रायो धनानि दैवमानुषभेदेन द्विविधानि मघ-
वानो धनवन्तथास्मान् यजमानान् सचन्तां समयन्तु सेवन्ताम् । किञ्चास्माकं
यजमानानामाशिषोऽभीष्टार्थस्याशं मनानि मन्तु विद्यन्ताम् । किञ्च, नोऽस्माक-
माशिषः पूर्वोक्ताः सत्याः सन्तु अविनथा भवन्तु ॥ कात्यायनः ॥ संमार्ष्टि
पूर्ववदुपरिक्रामः सकृत्सकृत्ससृवाः समितीति ॥ पूर्वमिध्ममनहने यथाऽग्ने वाजजि-
दिति मन्त्रेण संमार्गः कृतस्तत्परिक्रम्य त्रिः संमार्जनम् । अत्र तु परिक्रमणं विना
संमार्जनमिति शेषः ॥ तथा मन्त्रपाठेऽपि पूर्वत्र, सरिष्यन्तमिति ॥ अत्रतु, ससृ-
वाः समिति विशेष इत्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ अग्ने वाजजिह्वाजं त्वा ससृवाः सं वाज-
जितुः समार्जितीति ॥ वाजः ससृवाः सम् अन्नमुद्दिश्य गतवन्तं सम्पादितवन्तमि-
त्यर्थः ॥ अन्यन् पूर्ववत् ॥ १ ॥ इति द्वितीयेऽध्याये द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

द्वितीये स्तुचाधारविषया मन्त्रा उक्ताः ॥ तृतीये, देवमवितरित्यादयो
मन्त्रा ब्रह्मसम्बन्धिप्रयोगे उक्ताः ॥ तत्र कात्यायनो, ब्रह्माणं वृणीत इत्यारभ्य
प्रयोगं ब्रुवन् देवसवितरित्युक्तं युदाजहार ॥ पाठस्तु ॥ देवमवितरेतं त्वा वृणते
बृहस्पतिं ब्रह्माणम् । तदहं मनमे प्रब्रवीमि । मनो गायत्र्यै गायत्री त्रिष्टुभे
त्रिष्टुब्जगत्यै जगत्यनुष्टुभे । अनुष्टुप्प्रजापतये प्रजापतिर्विश्वेभ्यो देवेभ्यः ॥ बृह-
स्पतिर्देवानां ब्रह्माऽहं मनुष्याणाम् । भूर्भुवः स्वरिति ॥ हे सवितर्देव एतं त्वा
सवितृरूपं त्वां बृहस्पतिं ब्रह्माणं बृहस्पतिरूपं ब्रह्मनामकमृत्विजं वृणते याज्ञिका
वरणं कुर्वन्ति । सवितृशब्दाभिधः परमेश्वर एव बृहस्पतिरूपेणावतारं कृत्वाऽस्म-
द्भागे ब्रह्मेति भावयन्तीत्यर्थः । तत्सर्वमहं मनुष्याणां मनसे मनोऽभिमानिदे-
वाय प्रब्रवीमि प्रकर्षेण कथयामि । तच्च मनो गायत्र्यै गायत्रीदेवतायै प्र-
ब्रवीमीति शेषः । स चोत्तरेष्वपि पञ्चसु वाक्येषु द्रष्टव्यः । गायत्रीत्रिष्टुब्ज-
गत्यनुष्टुप्प्रजापतिविश्वेदेवमुखेभ्यो ब्रह्मा प्रख्यातः । स च ब्रह्मा देवानां
नामे बृहस्पतिरभूत् ॥ मनुष्याणां नामे त्वहं ब्रह्मा भवामि । इत्थं भूर्भुवः-

भूर्भुवः स्वर्निरस्तः प्राप्तेदमृहं बृहस्पतेः सदसि सीदामि ॥ ३ ॥ मि-
त्रस्य त्वा । चक्षुषा प्रतीक्षे ॥ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो-
हस्ताभ्यां ॥ प्रतिगृह्णामि पृथिव्यास्त्वानाभौ सादयाम्यदि-
त्याऽऽपस्थे ॥ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो-
हस्ताभ्यां ॥ ४ ॥ आददे । गनेद्वास्येन प्राशनामि बृहस्पतेर्मुखेन ॥

स्वराख्येषु त्रिषु लोकेषु ब्रह्ममसिद्धिर्द्रव्या । सोऽयं मन्त्रो वृतेन ब्रह्मणा
जापतव्यः ॥ कात्यायनः ॥ ब्रह्मसदनात् तृणं निरस्य निरस्तः पाप्मेतीति ॥
योऽयं पाप्मा यज्ञविघातायाऽमुरूपेण निगूढः सोऽयं निरस्तो निराकृतः
कात्यायनः ॥ इदमहं बृहस्पतेः सदसि सीदामीति ॥ इदमित्यङ्कुल्या निर्दिशन्
ब्रह्मत्वं ब्रूत । अहं मनुष्याणां ब्रह्मा बृहस्पतेर्देवसम्बन्धित्रक्षणः सदसि
स्थाने सीदाम्युपविशामि ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ मित्रस्य त्वेति रा-
शित्रं प्रतीक्षत इति ॥ चक्षुषा प्रतीक्षत इति मन्त्रशेषः । हे प्राशिन्नभाग, त्वां
मित्रस्य एतन्नामकस्यानुग्राहकस्य देवस्य चक्षुषा प्रतीक्षे सम्पक् पश्यामि ॥
कात्यायनः ॥ देवस्य त्वेति प्रतिगृह्णातीति ॥ पाठस्तु ॥ देवस्य त्वा सवितुः
प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ॥ प्रतिगृह्णामि स्वीकरोमीत्यर्थः ।
व्याख्यातमन्यत् ॥ कात्यायनः ॥ पृथिव्यास्त्वेति सादयतीति ॥ पृथिव्या-
स्त्वा नाभौ सादयाम्यदित्या उपस्थ इति ॥ सोऽयं मन्त्रोऽग्रे व्रतपत इत्यनु-
वाके व्याख्यातः ॥ कात्यायनः ॥ पुनरादाय, देवस्य त्वेत्यनामिकाङ्कुष्टाभ्या-
मिति ॥ पाठस्तु ॥ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्या-
माददे इति ॥ अमावस्यमकृद् व्याख्यातो मन्त्रः ॥ कात्यायनः ॥ अग्रेष्टेति
प्राशनाति दन्तैरनुपस्पृशामिति ॥ पाठस्तु ॥ अग्रेष्ट्वास्येन प्राशनामि बृहस्प-
तेर्मुखेनेति ॥ हे प्राशिन्न त्वाम् अग्रेष्ट्वास्येन बहिर्देवतासम्बन्धिना मुखेन, त-
था बृहस्पतिर्मन्त्रेण मुखेन च प्राशनामि भक्षयामि । अतो मदीयमुख-
स्योपद्रवो नास्तीत्यभिप्रायः ॥ पुरा कदाचिद्देवानां यागे बृहस्पतिः प्राशिन्नं
प्रतिगृह्णन् भक्षयैश्च मा हिंसिष्यतीति भीतः सन् हिमापरिहाराय, देवस्य त्वे-
ति मन्त्रेण प्रतिगृह्णाग्रेष्टेति मन्त्रेण प्राशितवानित्येतादृशमन्त्रद्वयाभिप्रायं ति-
त्तिरिरेत्यमाह ॥ सोऽविभेदं प्रतिगृह्णंस्तं मा हिंसिष्यतीति । देवस्य त्वा
सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां प्रतिगृह्णामीत्यब्रवीत् । सवितु-

याऽअप्स्वन्तर्देवतास्ताऽइदंशमयन्तु ॥ ५ ॥ स्वाहाकृतं जठर । मि-
न्द्रस्यगच्छ ॥ घृमिनामिमासंपृक्थाऽउर्ध्वं मेनाभेःसीद ॥ ६ ॥ इन्द्र-
स्यत्वाजठरंसादयामि ॥ प्रजापंतर्भागोस्यूर्जस्वान्पयस्वान् ॥ ७ ॥
प्राणापानौमे । पाहि समानव्यानौमेपाण्डानव्यानौमेपाहि ॥ उर्ग-

प्रभूत एवैनं ब्रह्मणा देवताभिः प्रत्यगृह्णात् । सोऽविभेत्प्राप्तैस्तं मां हि सिष्यती-
त्यथेष्टास्येन प्राप्नोमीत्यब्रवीन्न शम्भेरास्यं किञ्चन हिनस्तीति ॥ कात्यायनः ॥
नाभिमात्रभते या अप्स्वन्तरिति ॥ पाठस्तु ॥ या अप्स्वन्तर्देवतास्ता इदं
शमयन्तु । स्वाहाकृतं जठरमिन्द्रस्य गच्छ । घमिना मे मा संपृक्था उर्ध्वं मे
नाभेः सीद । इन्द्रस्य त्वा जठरे सादयामीति ॥ अप्स्वन्तर्जलेषु मध्ये या
देवताः सन्ति ता देवता इदं प्राशित्रं शमयन्तु । शान्तं कुर्वन्तु । भक्षितं
सन्ममोदरे कमप्युपद्रवं यथा न करोति तथा कुर्वन्तु ॥ हे प्राशित्र
स्वाहाकृतं त्वां मया स्वाहाकारपूर्वकम् इन्द्राय समर्पितं भूत्वा तस्येन्द्रस्य
जठरं गच्छ । अतो ममोपद्रवो न भविष्यति । घस्तु अदन इति धातुः । मे
घमिना मदीयेनादनेन भक्षणेन मा संपृक्थाः संपर्कं मा कुरु । दन्तसंस्पर्शं मा
कुर्वित्यर्थः । मे मदीयाया नाभेरूर्ध्वं सीद उपरिभागे तिष्ठ । इन्द्रस्य परमेश्वर-
स्य जठरे त्वां सादयामि स्थापयामि ॥ कात्यायनः ॥ अन्वाहार्याभिघार्योद्वा-
स्यान्तरा ब्रह्मयजमानौ हृत्वा वेद्याभिधायालभते, प्रजापतेर्भाग इति ॥ पाठस्तु ॥
प्रजापतेर्भागोऽस्यूर्जस्वान् पयस्वान् । प्राणापानौ मे पाहि समानव्यानौ मे
पाण्डानव्यानौ मे पाहि । उर्गस्यूर्जं मयि धेक्ष्यक्षितिरामि मा मे श्रेष्ठा अमुज्जामु-
ष्मिञ्छोक इह चेति ॥ हे अन्वाहार्य, त्वं प्रजापतेः प्रजापालकस्य देवस्य भा-
गोऽसि । कथम्भूतो भागः । उर्जस्वान् रमयुक्तः । पयस्वान् क्षीरसारेणाज्येन
उपेतः । तथाविधं त्वं मे यजमानस्य प्राणापानौ पाहि । उर्ध्वाधोवृत्ती वायु-
विशेषौ रक्ष । भुक्तस्यान्नस्य सर्वेष्ववयवेषु समत्वेन नयनहेतुर्वायुः समानः ।
शरीरं व्याप्य वर्तमानो वायुर्व्यानः । तौ समानव्यानौ मे मदीयौ पाहि ॥ उ-
त्क्रान्तिहेतुरुदानः । उदानव्यानौ मे मदीयौ पाहि । समानोदानाभ्यां सह
व्यानस्य द्विरभिधानं शरीरव्याप्तिदर्शनार्थम् । किञ्च, त्वम् उर्गसि रसरूपो-
ऽसि । अतो मयि यजमाने उर्जं धेहि । रसं स्थापय । किञ्च, त्वम् अक्षितिर-
सि । क्षयरहितोऽसि । अतो मे मदर्थम् । अमुत्रेह च परलोके तल्लोकयो-

स्यूर्जमयिष्टिवाक्षितिरसिमामंक्षेष्टाऽमुत्रामुष्मिल्लोकऽहर्च ॥८॥
 एषामं । ऽअग्नेसमिच्छयावर्धस्वचार्यप्यायस्व । वर्धिषीमहि च वय-
 मार्यप्यामिषीमहि ॥९॥ एतत्ते देवसवितर्युजं प्राहुर्वृहस्पतये ब्रह्मणे ॥
 तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतितेन मामव ॥१०॥ मनोज्योतिर्जुषतामा-
 ज्यस्य बृहस्पतिर्युजसिमितं नोतु ॥ अरिष्टं यज्ञसमिमं दधातु विश्वेदेव-

मं क्षेष्टाः क्षयं मा प्राप्नुहि । अमुत्रेत्यस्यैव व्याख्यानम्—अमुष्मिल्लोक इति ॥
 मा मे क्षेष्टा अमुत्रेत्यस्य मन्त्रभागस्य तात्पर्यं निश्चिरिदर्शयति ॥ क्षीयते वा
 अमुष्मिल्लोकेऽन्नमितः प्रदा इहामुष्मिल्लोके प्रजा उपजीवन्ति । यदेवमभिमृश-
 त्यऽन्नितं भवेत्तद्वमयति, नास्यामुष्मिल्लोकेऽन्नं क्षीयत इति ॥ स्वर्गलोके भु-
 ज्यमानमन्नं भोगे क्षीयते । पुनः सम्पादनहेतोः कृपिक्रियादेस्तत्राभावाद-
 ऽस्मिन्नेव भूलोके द्विवस्वरूपेण देवेभ्यो यदन्नं दीयते तदेव फलरूपेण स्वर्गे
 लब्ध्वा प्रजा उपजीवन्ति । यदप्यत्र ब्राह्मणेभ्यो दीयते तदप्यमुत्रोपजीव-
 ति । एवं सति मन्त्रेणान्नाहार्यमभिमृशति चेत् तदानीमेतदन्नमक्षितिं प्रापयति
 तस्य पुरुषस्य स्वर्गे क्षयो नास्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ ८ ॥ का-
 त्यायनः ॥ एषा त इति होतानुमन्त्रयत इति ॥ पाठस्तु ॥ एषा ते अग्ने समिध
 तया वर्धस्व चार्यप्यायस्व । वर्धिषीमहि च वयमार्यप्यामिषीमहि ॥ हे
 अग्ने ते तव समिधेया इत्यनेहेतुः काष्ठविशेषो यः प्रक्षिप्यते तया समिधा त्वं
 वर्धस्व वृद्धिं गच्छ । आप्यायस्व चास्मानपि सर्वतो वृद्धिं प्रापय । तथाच
 सति त्वत्प्रसादाद् वयं वृद्धिं भीमहि वृद्धिं प्राप्नुयामः । आप्यामिषीमहि चास्म-
 दीयपुत्रपश्वादीन् सर्वतोऽभिवृद्धान् करवामः ॥ ९ ॥ कात्यायनः ॥ एतत्त
 इति समिदामन्वितः प्रस्तौति ॥ समिधमाधानुपनुज्ञापदानाय संबोधितो ब्रह्मा
 मन्त्रेणानुजानीयान् ॥ पाठस्तु ॥ एतत्ते देव सवितर्युजं प्राहुर्वृहस्पतये ब्र-
 ह्मणे । तेन यज्ञमव तेन यज्ञपतिं तेन मामव । मनोज्योतिर्जुषतामाज्यस्य बृह-
 स्पतिर्युजमिमं नोतु । अरिष्टं यज्ञसमिमं दधातु विश्वेदेवास इह याव्य-
 न्ताम् ॐ इ प्रतप्रेति ॥ हे सवितर्देव ते तुभ्यमेतदेवमिदानीं क्रियमाणं यज्ञं
 प्राहुर्विजमानाः कथयन्ति । अनुज्ञापयन्तीत्यर्थः । किञ्च, त्वया प्रेरिता देवानां
 यज्ञे यो ब्रह्मा तस्मै ब्रह्मणे बृहस्पतये प्राहुः । तेन कारणेन त्वं यज्ञमव पालय ।
 तथा तेनैव कारणेन यज्ञपतिं यजमानमवत्यनुवर्त्तते । तथा तेनैव कारणेन मा-

वासऽहमादयन्तामोऽप्रतिष्ठ ॥ ११ ॥ अग्नीषोमयोऽहज्जात । मनु-
ज्जेष्ववाजस्यमा प्रसवेन प्रोहामि ॥ अग्नीषोमां तमपनुदतां योऽस्माद्वे-
ष्टि यं च वयोऽद्विष्मो वाजस्यै न प्रसवेनापोऽहामि ॥ इन्द्राग्न्योऽहज्जिति म-
नूज्जेष्ववाजस्यमा प्रसवेन प्रोहामि ॥ इन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्माद्वेष्टि-

मवाऽध्वर्युं पालय । किञ्च, ते नमः । आद्यसम्बन्धि ज्योतिर्जुषतां दीप्यमानं
रूपं सेवताम् । यज्ञसम्बन्धिन्याज्ये त्वदीयं चित्तं स्थापयेत्यर्थः । किञ्च बृहस्पतिर्य-
ज्ञमिमं तनोतु विस्वारयतु । किञ्च, विश्वेदेवासः सर्वे देवा इह यज्ञकर्मणि
मादयन्तां हर्षं कुर्वन्ताम् । एवं प्रार्थितः सविता देवः, ॐ३ प्रतिष्ठेत्यनुज्ञां प्रयच्छ-
ति । ॐ३मित्यङ्गीकारार्थः । तथाऽस्तु । प्रतिष्ठु प्रणवं कुरु । समिदाधानकाले
यजमानस्याऽभिषेत् प्रयाणमवगत्य सविता देवोऽङ्गीकृत्य प्रयातुं प्रेरयती-
त्यर्थः ॥ १० ॥ ११ ॥ द्वितीयेऽध्याये तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

तृतीये ब्रह्मसम्बन्धिमन्त्रा उक्ताः । चतुर्थे तु व्यूहादिमन्त्रा उच्यन्ते ॥ का-
त्यायनः ॥ जुहूपभृतौ व्यूहस्यग्नीषोमयोरिति जुहूं प्रार्चीं दक्षिणेनोत्तानेनाग्नी-
षोमीयमितीतरणोत्तरां नीचां प्रतीचीं यथादेवतमन्यदिति ॥ जुहूपभृतोर्व्यूहनं
नाम परस्परविपरीतत्वेनापोदानम् । तत्रोत्तानेन दक्षिणहस्तेन जुहूं प्रार्चीं प्रथ-
ममन्त्रमुच्चारयन्नप उदेत । वामहस्तेनान्यग्भूतेनोपभृतं प्रतीचीं द्वितीयमन्त्र-
मुच्चारयन्नप उदेत ॥ तृतीयचतुर्थमन्त्राभ्यामेन्द्राग्नयज्ञं पूर्वोक्ताग्नीषोमीय-
यामवज्जुहूपभृतोर्व्यूहनं कुर्यात् ॥ प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ अग्नीषोमयोऽहज्जि-
तिमनूज्जेष्ववाजस्य मा प्रसवेन प्रोहामीति ॥ अग्नीषोमयोऽद्वितीयपुरोडाशदेव-
तयोऽहज्जितिमनु अवित्रेन हविःस्वीकाररूपमुत्कृष्टं जयमनुसृत्योज्ज्वलं यजमानो-
ऽहमुत्कृष्टजयं प्राप्तवानस्मि । वाजस्यान्नस्य पुरोडाशदेः प्रसवेनाभ्यनुज्ञ-
या मा प्रोहामि मां यजमानं जुहूपधारिणं प्रोत्साहयामि । यद्यप्युहतिधातुर्वि-
तर्कार्थस्तथाप्युपसर्गवशाद् उत्साहवाची भवति ॥ द्वितीयमन्त्रपाठस्तु ॥
अग्नीषोमौ तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मो वाजस्यै न प्रसवेना-
पोहामि ॥ यः शत्रुसुरादिरस्मान् द्वेष्टि अस्मदीष्यन्नविनाशनाय द्वेषं करोति ।
यं चान्यमालस्यादिरूपमस्मदीयानुभावविरोधिनां शत्रुं वयं द्विष्मः । विनाशनो-
द्योगं कुर्मः । उपसर्गविधेः तं शत्रुप अग्नीषोमदेवौ अपनुदतां निराकुर्वताम् ।
अहमप्येनं द्विविधं शत्रुमुपभृदूपवाजस्य प्रसवेन पुरोडाशदेवताया अभ्यनु-

येष्वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामि ॥ १ ॥ वसुभ्यस्त्वा । रु-
द्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वा ॥ संजानाथां द्यावापृथिवीमित्रावरुणौ त्वा-
वृष्ट्यावतां ॥ २ ॥ ~~वसुभ्यस्~~ । रिप्सोरिहाणा मरुतां पृषतीं गच्छ ॥ व-
शापृश्निर्भूत्वादिवंगच्छततो नो वृष्टिमावहे ॥ ३ ॥ वक्षुष्पाऽअस्मि ।

ज्ञया अपोहामि निराकरोमि ॥ तृतीयतुरीयमन्त्रद्वयपाठस्तु ॥ इन्द्राग्न्योरुज्जि-
तिमनुज्जेषं वाजस्य मा प्रसवेन पोहामि इन्द्राग्नी तमपनुदतां योऽस्मान् द्वेष्टि यं
च वयं द्विष्मो वाजस्यैनं प्रसवेनापोहामीनि ॥ अग्नीषोममन्त्रवचनौ व्याख्या-
तौ ॥ ऐन्द्राग्नपुरोडाशानुष्ठाने तावेतौ स्तुग्व्यूहनमन्त्रौ ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥
जुहा परिधीननक्ति यथापूर्वं वसुभ्य इति प्रतिमन्त्रमिति ॥ पाठस्तु ॥ वसुभ्यस्त्वा
रुद्रेभ्यस्त्वादित्येभ्यस्त्वेति ॥ हे मध्यमपरिधे वसुभ्यो वसुदेवताप्रोक्तं त्वा त्वां
मध्यमपरिधिरूपमनक्मतीति शेषः । एवं दक्षिणोत्तरपरिधिमन्त्रौ व्याख्यातौ ।
परिधित्रयाञ्जनेन सवनत्रयदेवताः प्रीयन्त इत्यभिप्रायः ॥ कात्यायनः ॥ स-
ंजानाथामिति प्रस्तरादानमिति ॥ पाठस्तु ॥ संजानाथां द्यावापृथिवी मित्रा-
वरुणौ त्वा वृष्ट्यावतामिति ॥ द्यावापृथिवी द्युलोकदेव्यौ संजानाथामादीय-
मानमिमं प्रस्तरं सम्यमवगच्छताम् । हे प्रस्तर त्वां मित्रावरुणावेतन्नामकौ
देवौ वृष्ट्याऽवतां जलवर्षणेन पावयताम् ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ अनत्येनं
व्यन्तु वय इत्युग्रं जुहामुपभृति मध्यं मूलमितरस्यामिति ॥ इतरा ध्रुवा त-
स्यामित्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ व्यन्तु वयो रिप्सो रिहाणा इति ॥ वयः पक्षिणः,
रिप्सः व्यत्ययेन लकारस्य रेफः । लिप्समित्यर्थः । रिहाणाः प्रस्तरगतमाज्य-
लेपं लिहाना व्यन्तु गच्छन्तु । वी गतिप्रजनकान्त्यसनखादनेषुति धातुः ॥
कात्यायनः ॥ मरुतामिति नीचैर्हत्वा तृणमादायानुप्रहरतीति ॥ एकं तृणं प्र-
स्तरात् पृथक् कृत्वा तं च प्रस्तरं नीचैरौक्षत्यं यथा न भवति तथा धृत्वा व-
ह्नौ प्रहरेत् ॥ पाठस्तु ॥ मरुतां पृषतीं गच्छ । वशा पृश्निर्भूत्वा दिवं ग-
च्छ । ततो नो वृष्टिमावहेति ॥ हे प्रस्तर त्वं मरुतां मरुन्नामकानां देवानां स-
वन्धिनीं पृषतीं नाहनरूपामश्वानां चित्रवर्णां गच्छ प्राप्नुहि । वायुवाहनवद्वेगेन
गच्छेत्यर्थः । वशा पृश्निर्भूत्वा वशा स्वाधीना पृश्निरल्पतनुर्गौस्तद्रूपत्वं प्रा-
प्य दिवं गच्छ द्युलोके प्राप्नुहि । कामधेनुवत् तृप्तिकरी भूत्वा स्वर्गं गच्छेत्य-
र्थः । ततः स्वर्गप्राप्तेरुर्ध्वं नोऽस्मदर्थं वृष्टिमावह भूलोके समानय ॥ ३ ॥ का-

चक्षुर्मपाहि ॥ यंपरिधिपर्यधत्थाऽअग्नेदेवपणिभिर्गुह्यमानः ॥४॥
तंत । ऽएतमनुजोषं भराभ्येषनेत्वदपचेतयाति ॥ अग्नेःप्रियं पाथोऽपी-
तं ॥ ५ ॥ सःस्रवभागास्थे । षाबृहंतः प्रस्तरेष्ठाः परिधयश्च देवाः ॥
इमां वाचमभिविश्वे गृणंत आसद्यास्मिन्बर्हिषि मादयध्वः स्वाहावा-

त्यनः ॥ चक्षुष्वा इत्यात्मनमालभत इति ॥ पाठस्तु ॥ चक्षुष्वा असि
चक्षुर्मे पाहीति ॥ हे अग्ने त्वं चक्षुष्वा असि त्वदीयज्वालयान्धकारं नि-
वर्त्य चक्षुष्वाः पालकोऽसि । अतो मे मदीयं चक्षुः पाहि । प्रस्तरप्रहरणेन
प्रसक्तं चक्षुष उपद्रवं परिहरेत्यर्थः ॥ तमेतमभिप्रायं निश्चिरिदर्शयति ॥ याव-
द्वा अध्वर्युः प्रस्तरं प्रहरति तावदस्य चक्षुर्मयिते । चक्षुष्वा अग्नेऽसि चक्षुर्मे
पाहीत्याह चक्षुरेवात्मं धत्त इति ॥ कात्यायनः ॥ परिशीननुप्रहरति यं परिधि-
मिति प्रथममिति ॥ पाठस्तु ॥ यं परिधि पर्यधत्था अग्ने देवपणिभिर्गुह्यमा-
नः । तं त एतमनुजोषं भराभ्येष नेत्वदपचेतयाता इति ॥ हे आहवनीयाग्ने
त्वं पणिभिः प्राणिभिश्चेतनात्मकैरमुर्गुह्यमानः । गुह्य संवरणे इति धातुः ।
संनियमाणः संरुध्यमानः सन् यं परिधिं पश्चिमदिशि पर्यधत्था असुरोपद्रवनि-
वारणाय परिस्थापितवानसि ते तव जोषं प्रियं तमेतं परिधिम अनुभरामि
अनुक्रमेण हरामि । बहौ प्रक्षिपामि । एष परिधिस्त्वत्तः सकाशादपगतः सन्
अपचेतयातै नैव चेतयतु । चिती संज्ञान इति धातुः । त्वत्तोऽपगन्तुं मा जाना-
त्वित्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ इतरौ च युगपदग्नेः प्रियमितीति ॥ दक्षिणोत्तर-
परिधी मन्त्रेण युगपत् प्रहरेत् ॥ पाठस्तु ॥ अग्नेः प्रियं पाथोऽपीतमिति ॥ हे
दक्षिणोत्तरपरिधी युवामग्नेराहवनीयस्य प्रियमभिप्रेतं पाथोऽन्नम् अपीतमपि-
गतम् ॥ अन्नमपि पाथ उच्यते इति हि यास्कः ॥ अग्नेरन्नं भवज्यां प्राप्यतामि-
त्यर्थः ॥ ४ ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥ सःस्रवभागा इति सःस्रवाञ्जुहोति ॥ पा-
ठस्तु ॥ सःस्रवभागा स्थेषा बृहन्तः प्रस्तरेष्ठाः परिधयश्च देवाः । इमां वाच-
मभिविश्वे गृणन्त आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वः स्वाहावाडिति ॥ हे विश्वे-
देवा एतन्नामकाः सर्वे देवा यूयं सःस्रवभागाः स्थं विलीनमाज्यं सम्यक्
स्रवतीति व्युत्पत्त्या सःस्रव इत्युच्यते । स एव भागो येषां विश्वेषां देवानां
ते सःस्रवभागाः । तथाविधा भवत । इषा इष्यमाणेन सःस्रवलक्षणेनाक्षेन
बृहन्तो महान्तः स्थ । किञ्च, प्रस्तरेष्ठाः प्रस्तरस्थायिनो ये देवाः परिध-

द ॥ घृताचीस्थो धुर्यौ पातः सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तं ॥६॥ ॥ अग्नेदब्धा-
यो । शीतमपाहिमादित्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ठ्यै पाहि दुरण-

यश्च परिधिभावापन्नाश्च देवाः सन्ति ते विश्वे सर्वे देवा इमां मदीयां वाच-
म् अभिगृणन्तः सर्वत्र वर्णयन्तः । अयं यजमानः सम्यग्यजतीत्येवं सर्वेषां
देवानामग्रे कथयन्तो यूपमासद्यात्रोपाविश्यास्मिन् बर्हिषि एतस्मिन्मदीये
यज्ञे मादयध्वं हृष्टा भवत । स्वाहेति वादित्येतौ शब्दौ हविर्दानार्थौ । स-
र्वथा दत्तमित्येवमादरं दर्शयितुं शब्दद्वयप्रयोगः ॥ ननु बृहदारण्यके, स्वाहा
वषडिति शब्दद्वयं दैविकहविर्दानमाप्नातम् ॥ देवा उपजीवन्ति स्वाहाकारं
च वषट्कारं चेति श्रुतेः । न तु वादित्ययं शब्दो दानार्थे श्रुतः । नैव दोषः ।
वषडित्यस्यैव प्रत्यक्षत्वपरिहाराय वादित्येवं शब्दान्तरेण प्रयुज्यमानत्वात् ॥
तदेव तित्तिरिणा विस्पष्टमुक्तम्— यद् वषट् कुर्याद् यातयामा वषट्कारः स्याद्
यन्न वषट् कुर्याद्रक्षांसि यज्ञः इत्युर्वषडित्याह परोक्षमेव वषट् करोति नान्य-
स्य यातयामा वषट्कारो भवति । न यज्ञः रक्षांसि घ्नन्तीति ॥ ननु विश्वेषां
देवानां नास्ति सःस्त्रवभागत्वं, किन्तु वस्वादीनामेव ॥ तथा तित्तिरिणोक्तम् ॥
वमवो वै रुद्रा आदित्याः सःस्त्रवभागा इति ॥ नायं दोषः । विश्वशब्देन
वस्वादीनामपि विवक्षितत्वात् । वस्वादीन् प्रकृत्य विश्वशब्दवाच्यत्वमपि ति-
त्तिरिणैवोक्तम् ॥ एते हि विश्वेदेवा इति ॥ कात्यायनः ॥ घृताची इति धुरि
निदधाति ॥ शकटस्य या धूस्तस्यां जुहूपभृतौ निदध्यात् ॥ पाठस्तु ॥ घृता-
चीस्थो धुर्यौ पातः सुम्ने स्थः सुम्ने मा धत्तमिति ॥ हे जुहूपभृतौ युवां घृता-
ची घृतमञ्जनः प्राप्नुत इति घृतच्यौ स्थो भवतः । तथाविधे युवां धुर्यावन-
द्वाहौ धुरमर्हत इति तद्व्युत्पत्तेः । पातं रक्षतम् । किञ्च युवां सुम्ने स्थः सुख-
रूपे भवथः । तस्मात् सुखमाधत्तमास्थापयतम् ॥ ३ ॥ इति द्वितीयेऽध्याये तु-
रीयोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

तुरीये स्तृक्स्त्वृहनादिमन्त्रा उक्ताः । पञ्चमे स्तृक्स्त्वृवमग्रहादिमन्त्रा उ-
च्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ स्तृक्स्त्वं प्रगृह्णात्यग्नेऽदब्धायाविति ॥ पाठस्तु ॥ अ-
ग्नेऽदब्धायोशीतम पाहि मा दित्योः पाहि प्रसित्यै पाहि दुरिष्ठ्यै पाहि दुरण-
न्यै । आविषन्नः पितुं कृणु सुपदायोनौ स्वाहावाद् इति ॥ दम्नोतिर्हि साक-
र्मा । आयुरिति मनुष्यनाम । अदब्धमायुरर्हितो मनुष्यो यजमानरूपो य-

न्यै ॥ अविर्षनः पितृकृणुमुषदायोनौ स्वाहावाद् ॥ १ ॥ अग्नये
संवेशपतये स्वाहा सरस्वत्यै यशो भगिन्यै स्वाहा ॥ उलूखले मुसले-
पच्छशूर्प आशिश्लेष दृषदि यत्कपाले ॥ २ ॥ उत्पुषो विपुषः । संजु-
होमि सत्याः संतु यजमानस्य कामाः स्वाहा ॥ आप्यायतां ध्रुवाद्दवि-
षा घृतेन यज्ञं यज्ञं प्रति देवयज्यः ॥ सूर्यायाऽऊधोऽअदित्याऽउपस्थऽउ-

स्याग्नेः सोऽयमदन्वायुः । अश भोजन इति धातुः । अशितम भोक्तृत्वं ।
यद्वा, अशूङ् व्याप्ताविति धातुः । व्यापकतम । उक्तविशेषणद्वययुक्त हे अग्ने
दिद्युरिति वज्रनाम । तस्माच्छत्रुप्रयुक्ता द्वजसमादयुधान् मां पाहि । प्रसित्यै ।
बन्धनहेतुज्वालाविशेषः प्रसितिः । तस्याः शत्रुप्रयुक्त्या मां पाहि । दुरिष्टिरशस्त्री-
यो यागस्ततो मां पाहि । दुरक्षणी दूर्भोजनं तस्मान् मां पाहि । पितुरित्यन्ननाम,
नोऽभ्यर्चयितुं विपरहितं कुरु । योनिरिति गृहनाम, सुषदा सुष्ठुमदने सम्पगव-
स्थानयोग्ये योनौ गृहे मां स्थापयेति शेषः । स्वाहा वाडित्येतदुभयं पूर्ववद्
व्याख्येयम् ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ दक्षिणाग्नौ जुहोत्यग्नये इति, सरस्वत्या इति
चेति ॥ प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ अग्नये संवेशपतये स्वाहेति ॥

स्त्रीपुंसयोरभिलाषपूर्वकम् एकत्र शयनं संवेशः । तस्य पतियौऽग्निस्तस्मै
स्वाहा हविर्दत्तम् ॥ द्वितीयमन्त्रपाठस्तु ॥ सरस्वत्यै यशो भगिन्यै स्वाहेति ।
जीवतः पुरुषस्य प्रशंसा यशस्तस्य यशसो भगिनी वायूपा सरस्वती तथा-
विधायै हविर्दत्तम् ॥ कात्यायनः ॥ उलूखले इति पिष्टलेऽपां जुहोतीति ॥
पाठस्तु ॥ उलूखले मुसले यच्च शूर्प आशिश्लेष दृषदि यत्कपाले । उत्पुषो
विपुषः संजुहोमि सत्याः सन्तु यजमानस्य कामाः स्वाहेति ॥ उलूखादिपञ्च-
सु तत्तद्व्यापारकाले यद्यदीपद्धविराशिश्लेष मर्वतः श्लिष्टमभूत् । किञ्च । उ-
त्पुषः शूर्पपाता विपुषो हविर्द्रव्यस्य विन्दवो ये मन्ति तत्सर्वं जुहोमि यथा
नावशिष्यते तथा सम्पग् जुहोमि । तेन होमेन यजमानस्य कामाः सत्याः
सन्तु । यत्कामितं तत्सर्वं लभताम् ॥ कात्यायनः ॥ अवदायावदाय ध्रुवाम-
भिधारयत्याप्यायतामिति ॥ ध्रुवायामवस्थितं घृतं यदा यदा होतुमव्यति
तदा तदा तां ध्रुवामभिधारयति । पुनर्घृतेन पूरयेत् ॥ पाठस्तु ॥ आप्याय-
तां ध्रुवा हविषा घृतेन यज्ञं यज्ञं प्रति देवयज्यः । सूर्यायाः ऊधो अदित्या
उपस्थ उरुधारा पृथिवी यज्ञे अस्मिन् इति ॥ देवयज्यः देवानग्न्यादीन् यन्ति

रुधारापृथिवीयज्ञेऽस्मिन् ॥ ३ ॥ देवांगातुविदो । गातुमित्वा-
गातुमित ॥ मनसस्पत इमं देवयज्ञं स्वाहावातेधाः ॥ ४ ॥ संभ-

प्राप्नुवन्ति यष्टुमित्येवं विग्रहे सति देवयन्तो यजमानास्तेभ्यस्तदुपकारार्थं यज्ञं
यज्ञं प्रति यदा यदा यजमानमुपस्थितं तदा तदा हविषा घृतेन हविष्टुमिच्छ्य-
र्थं संस्कारयुक्तेनाज्येन ध्रुवास्थितेन स्थापिता स्तूक् आप्यायतां सर्वतः पू-
र्यताम् ॥ अदित्या उपस्थे । पृथिव्या उत्तङ्गे या सूर्या धेनुरस्ति सुष्ठु ईरणं
वृणभक्षणार्थं गमनं पुनरपि दोहनार्थं गृहगमनं यस्या धेनोरस्ति सा धेनुः
सूर्या । तस्या ऊथस्तनानां मूलभागः क्षीरपूर्णं पयः, आप्यायतामित्यनुवर्तते ।
सर्वतो वर्धतामित्यर्थः । अस्मिन् यज्ञे अस्माभिरनुष्ठीयमाने पृथिवी या देव-
यजनरूपा विद्यते । मेयमुकधारा बहुविधधारोपेता भवत्विति शेषः । तथा मति
न कदाचिदियं ध्रुवा रिक्ता भवति ॥ तदेतद् ध्रुवाया आप्यायनमन्वयव्यति-
रेकाभ्यां तित्तिरिदर्शयति । ध्रुवां वे रिच्यमानं यज्ञोऽनुरिच्यते । यज्ञं यजमानो
यजमानं प्रजा ध्रुवामाप्यायमानां यज्ञोऽन्वाप्यायते यज्ञे यजमानो यजमानं प्रजा
इति ॥ २ ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ ममिष्टयत्तुर्जुशेति देवा गातुविद इतीति ॥ पाठस्तु ॥
देवा गातुविदो गातुमित्वा गातुमित । मनसस्पत इमं देव यज्ञं स्वाहा वाते
धा इति ॥ कै गै शब्द इति धातुः । गीयते नानाविधैर्वैदिकशब्दैः प्रतिपाद्य-
त इति गातुर्यज्ञः । तं विदन्ति जानन्तीति गातुविदः । तादृशा हे देवा गातु-
मित्रा अस्मदीयो यज्ञः प्रवृत्त इति विदित्वा । एतिथानोर्गत्पर्यस्य ज्ञानार्थत्वमु-
पचयेते । गातुमित तं यज्ञं गच्छत । यद्वा गातुं गन्तव्यो मार्गः । अस्मदीयेन
यज्ञेन तुष्टाः सन्तः स्वकीयं मार्गं गच्छत । हे मनसस्पते देवान् यष्टुमस्मदी-
यस्य मनसः प्रेरणेन पालत परमेश्वर, इममनुष्ठितं यज्ञं स्वाहा त्वद्धस्तं ददा-
मि । देव-वाते वायुरूपे देवे धाः स्थापय । यज्ञोपक्रमे, वाताद् यज्ञः प्रयुज्यता-
मिति मन्त्रेण वातस्य यज्ञववर्त्तकत्वमुक्तम् । अतः समाप्तावपि वाते यज्ञस्था-
पनमुचितम् । तदेतत्तित्तिरिदर्शयति ॥ ब्रह्मवादिनो वदन्ति सत्त्वा अध्वर्युः स्या-
त् । योऽय पवने यज्ञं प्रयुङ्क्ते तदेनं प्रतिष्ठापयतीति । वाताद्वाध्वर्युर्यज्ञं प्रयुङ्क्ते
देवा गातुविदो गातुमित्वा गातुमितेत्याह । यत एव यज्ञं प्रयुङ्क्ते तदेनं प्र-
तिष्ठापयतीति ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥ बहिः संबर्हिरितीति ॥ जुहोनीत्य-
नुवर्त्तते ॥ पाठस्तु ॥ सम्बर्हिरङ्गाः हविषा घृतेन समादित्यैर्वसुभिः संमर्हद्भः

हिरंक्ताः ऋषिषाघृतेन समोदित्यैर्वसुभिः समरुद्धिः॥समिन्द्रोविश्व-
देवोभिरक्तां दिव्यं नभोगच्छतु यत्स्वाहा ॥ ५ ॥ कस्त्वा । विमुञ्च-
तिसत्त्वाविमुञ्चतिसस्मैत्वाविमुञ्चतिसस्मैत्वाविमुञ्चति ॥ पोषाय
रक्षसांभ्रागोसि ॥ ६ ॥ वेषो । स्युपवेषोद्विषतो ग्रीवाऽउपवेषि-

समिन्द्रो विश्वदेवेभिरक्तां दिव्यं नभो गच्छत यत्स्वाहेति ॥ इन्द्रो देवः
इविःसंस्कारयुक्तेन घृतेन बर्हिर्दिव्यं समक्तां सम्यगञ्जनोपेतं करोतु । स चेन्द्रः
केवलो न भवति, किन्त्वादित्यैर्वसुभिश्च द्विविधगणदेवैः सहितः समक्तामित्य-
नुवर्तते । तथा मरुद्भिर्गणदेवैः सहितः समरुक्ताम् । तथा विश्वदेवेभिर्विश्वनाम-
कैश्च गणदेवैः सहितः समक्ताम् । एतद्भिरेव देवैरुक्तं तदित्यध्याहारः । नभ
इत्यादित्यनामसु पठ्यते । तदुक्तं बर्हिर्दिव्यं द्युलोके वर्तमानं नभो गच्छतु ।
आदित्यं प्राप्नोतु स्वाहा । इदं बर्हिर्देवोद्देशेन दत्तम् ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥
षेत्रां प्रणीता निनयति परीत्य कस्वेतीति ॥ परीत्य होमस्थानात् प्रत्यावृत्त्ये-
त्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ कस्त्वा विमुञ्चति स त्वा विमुञ्चति कस्मै त्वा विमुञ्चति तस्मै
त्वा विमुञ्चति । पोषायेति ॥ पूर्वाध्याये, अग्रे व्रतपत इत्यनुवाके, कस्त्वा
युनक्तीत्ययं यज्ञयोगमन्त्रः प्रजापतिदैवत्यो यथा व्याख्यातस्तथैवायं यज्ञवि-
मोक्तमन्त्रो व्याख्येयः । किमर्थोऽयं यज्ञविमोक्तः? पोषाय, यजमानं पोषयितुम् ।
एतस्य विमोक्तस्याभावे यजमानोऽप्रतिष्ठितः स्यात् । विमोक्ते त्वसौ प्रति-
तिष्ठति । तदुभयं तित्तिरिर्दर्शयति ॥ यां वै यज्ञं प्रयुज्य न विमुञ्चत्यप्रतिष्ठानो
वै स भवति । कस्त्वा युनक्ति स त्वा विमुञ्चतीत्याह । प्रजापतिर्वै-
कः प्रतिनैवैनं युनक्ति प्रजापतिना विमुञ्चति प्रतिष्ठित्या इति ॥ का-
त्यायनः ॥ पुरोडाशकपालेन कणानपास्पत्यधः कृष्णाजिनः रक्षसा-
मिनीति ॥ भागोऽमीति मन्त्रशेषः । हे कणममूह त्वं रक्षसामपेक्षितो भागो-
ऽसि । तेषां नीचजातित्वाभिरुष्टकणरूपो भागो युक्तः ॥ ६ ॥ कात्यायनः ॥
मूलादुपवेषं करोति वेषोऽमीति ॥ यदा पलाशशाखां छित्वा, यजमानस्य
पशून् पाहीति व्यूहति ॥ पाठस्तु ॥ वेषोऽस्युपवेषो द्विषतो ग्रीवा उपवेषि-
वृहीति ॥ वेष इति कर्मनाम । हे शाखामूल, त्वं वेषोऽसि कर्मत्मको भवसि
तथा उपवेषोऽसि वेषस्य समीपगत उपकारी भवसि । द्विषतो द्वेषं कुर्वतो
राक्षसादेर्ग्रीवा गलप्रदेशानुपवेषिद्वि समीपमागत्यातिशयेन प्रविश । उत्तर

हि ॥ वेशां ऽअग्नेस्तु भगधारयेह ॥ ७ ॥ ऋद्धाः कर्मण्या । ऽअनपा-
यिनो यथा सन् ॥ जुहोमि त्वास्तु भगसौ भगाय पुरुतमं पुरुहूतश्रव-
स्यन् ॥ ८ ॥ ॥ संवर्चसा । पर्यसासन्त नृभिरगन्महि मनसा सः शि-
वेन ॥ त्वष्टा सुदध्रो विदधातु रायो नुमापर्दु तन्वो यद्विलिष्टं ॥ १ ॥
यज्ञशं । चन्तु ऽर्षेण ॥ शिवे मे संतिष्ठस्वारिष्टे मे संतिष्ठस्वस्विष्टे मे

मन्त्रद्वयं लिङ्गानुसारेणापि यथास्थानं विनियोज्यम् । तत्राद्येन मन्त्रेणार्चि-
नो यथेत्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ वेशान् अग्ने सुभग धारयेहेति ॥ सुभग शोभनभाग्यसं-
पन्न, हे अग्ने, इहास्मिन् कर्मणि वेशान् धारय हविषां प्रवेशान् पोषय ॥ ७ ॥
द्वितीयमन्त्रेण पयोलक्षणं हविः स्तुवन् जुहोति ॥ पाठस्तु ॥ रुद्धाः कर्मण्या
अनपायिनो यथा सन् । जुहोमि त्वा सुभग सौभगाय पुरुतमं पुरुहूतश्र-
वस्यन् इति ॥ रुद्धाः अधिनमावृत्य स्थिताः कर्मण्याः । कर्मणि पूजार्हा देवा
अनपायिनः कदाचिदप्यगताः । तथा सन् येन प्रकारेण भवन् भवन्तीत्यर्थः ।
तथा हे सुभग शोभनभाग्योपेन पुरुहूत बहुभिर्यजमानैराहूत बहे त्वां श्रव-
स्यन् स्तुवन् सौभगाय यजमानस्य सौभाग्यमिच्छत्यर्थः, पुरुतमम् अतिशयेन
प्रभूतं हविर्जुहोमि ॥ ८ ॥ इति द्वितीयेऽध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥
पञ्चमे स्तुक्स्तुवपश्चाद् मन्त्रा उक्ताः ॥ षष्ठे यजमानमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥
पूर्वपात्रं निनयति परित्य सन्तनं यजमानोऽञ्जलिना प्रतिशृङ्गाति संवर्चसे-
ति मुखं विमृष्टे इति ॥ पाठस्तु ॥ संवर्चसा पयसा मन्त नृभिरगन्महि मनसा
सः शिवेन । त्वष्टा सुदध्रो विदधातु रायोऽनुमापर्दु तन्वो यद्विलिष्टमिति ॥ वर्चसा
ब्रह्मवर्चमेन समगन्महि वयं सङ्गता भवामः । तथा पयसा क्षीरादिरसेन समगन्म-
हीत्यनुवर्तते । तनूभिरनुष्ठानक्षमैः शरीरावयवैः समगन्महि । शिवेन समीचीनेन
कर्मणा श्रद्धायुक्तेन मनसा समगन्महि । किञ्च सुदध्रः त्वष्टा शोभनदानोपेतः
त्वष्टानामको देवो रायो धनानि विदधातु मंपादयतु । तन्वः शरीरस्यास्मदी-
यस्य यद्विलिष्टं विशेषेण न्यूनमङ्गं यदस्ति तदतिशयेन वः अनुमापर्दु न्यूनत्व-
परिहारेणानुकूलं कृत्वा शोधयतु ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ यज्ञं च त इति वेदिमा-
लभत इति ॥ पाठस्तु ॥ यज्ञं वां च त उप च शिवे मे संतिष्ठस्वारिष्टे मे संतिष्ठस्व
स्विष्टे मे संतिष्ठस्वेति ॥ श्रमिति सुखम्, उपेत्युपचयोऽभिष्टुष्टिः । यकारावन्मोन्म-
समुच्चयार्थो । अस्त्वित्यध्याहारः । हे यज्ञ ते तव सुखमस्तु । अभिष्टुष्टिरप्यस्तु ।

संतिष्ठस्व ॥ २ ॥ दिवि विष्णु । व्यक्रस्त जागतेन छन्दसा ततो निर्भक्तः ॥ योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ अन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा ततो निर्भक्तः ॥ योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रस्त गायत्रेण छन्दसा ततो निर्भक्तः ॥ योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥ अस्मादन्नादस्यै प्रतिष्ठायाऽअगन्मस्वः ॥ संज्योतिषाभूम ॥ ४ ॥ स्वयंभूरसि । अष्टारक्षि मर्षि चोदाऽअस्मि वची मेदे-

किञ्च मे यजमानस्य शिवे शान्तिनिमित्तं संतिष्ठस्व, हे यज्ञ शान्तो भव । अरिष्टे मे हिंसा तन्निमित्तं मे मम एतत्सिद्ध्यर्थं संतिष्ठस्व । तथा स्विष्टेऽभीष्टे सन्तिष्ठस्व ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ विष्णुक्रमानुक्रमते दिवि विष्णुरिति प्रतिमन्त्रमिति । विष्णुपादत्वबुद्ध्या स्वकीयपादस्य भूमौ प्रक्षेपा विष्णुक्रमाः ॥ प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ दिवि विष्णुर्व्यक्रस्त जागतेन छन्दसा ततो निर्भक्तः । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति ॥ विष्णुशब्दाभिधो यज्ञपुरुषः, जागतेन छन्दसा जगती छन्दोरूपेण स्वकीयपादेन दिवि द्युलोके व्यक्रस्त विशेषेण क्रमणं कृतवान् । तथा सति ततो द्युलोकान् निर्भक्तं भागरहितं कृत्वा, शत्रुनिःसारितः । कोऽसौ शत्रुः । योऽस्मान् द्वेष्टि यश्चास्माभिर्द्विष्यते द्विविधोऽप्यसौ शत्रुः ॥ द्वितीयवृत्तीययोर्मन्त्रपाठस्तु ॥ अन्तरिक्षे विष्णुर्व्यक्रस्त त्रैष्टुभेन छन्दसा ततो निर्भक्तः । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति ॥ पृथिव्यां विष्णुर्व्यक्रस्त गायत्रेण छन्दसा ततो निर्भक्तः । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म इति च ॥ एतौ द्वौ मन्त्रौ प्रथममन्त्रवद् व्याख्येयौ ॥ ३ ॥ ॥ ॥ कात्यायनः ॥ अस्मादन्नादिति भागमवेक्षत इति ॥ यो यजमानस्य हिविर्भागस्तमवेक्षते । अस्मात्पुरतो वर्तितादन्नाद्यजमानसंबन्धितविर्भागाभिर्भक्त इत्यादिको वाक्यशेषोऽनुवर्त्तनीयः ॥ कात्यायनः ॥ अस्यै प्रतिष्ठाया इति भूमिमिति । इत आरभ्य षष्ठ्यु विनियोगेष्ववेक्षत इति पदमनुवर्तते । अस्यै पुरतो हव्यमानायै प्रतिष्ठित्यै प्रतिष्ठाहेतोर्देवभूमौ निर्भक्त इत्यादिकं पूर्ववदनुवर्त्तनीयम् ॥ कात्यायनः ॥ अगन्म स्वरिति प्रागिति ॥ पूर्वस्यां दिव्यवास्थितः स्वर्गलोकः स्वरित्यभिधीयते । तं लोकमगन्म यज्ञऽनुष्ठानेन वयं प्राप्तवन्तः ॥ कात्यायनः ॥ संज्योतिषेत्याहवनीयमिति ॥ अभुमेति मन्त्रशेषः । ज्योतिषा आहवनीयलक्षणैः समभूम वयं संगता अभूम ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥ स्वयंभूरिति स्वयंभूमिति ॥

हि ॥ सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्ते ॥ ५ ॥ अग्नेगृहपते सुगृहपतिरहं त्वया
गृहपत्याभूयासं ॥ सुगृहपतिस्त्वं मया गृहपत्याभूयाः ॥ ६ ॥ अ-
स्थुरिणो गार्हपत्यानि संतु शत॒हिमाः तिग्मेन न स्तेजसा सः शिश-
वि सूर्यस्यावृतमन्वावर्त्ते ॥ ७ ॥ उरुविष्णो । विक्रमस्त्रोरुक्षयाय न-
स्कृधि ॥ घृतं घृतयोने पिष्टप्रप्रं गृहपतितिर ॥ ८ ॥ ततोऽसि । तनु-

असि श्रेष्ठो रश्मिरिति मन्त्रशेषः । हे सूर्य त्वं स्वयंभूः स्वतः सिद्धः श्रेष्ठो-
ऽत्यन्तप्रशस्तः रश्मिरसि दीप्तिरूपाऽसि ॥ कात्यायनः ॥ वर्चोदायं कामं
कामयत इति ॥ काममुद्दिश्य सूर्यमवेक्षेतेति शेषः ॥ पाठस्तु ॥ वर्चोदा अमि
वर्चो मे देहीति । तेजोवाचिना वर्चःशब्देनापेक्षितः कामः सर्वोऽप्युपलक्ष्यते ।
हे सूर्य त्वं वर्चोदा अपेक्षितफलदोऽसि । अतो मे मह्यं वर्चो देहि अपेक्षितं
प्रयच्छ सूर्यस्येत्यनुवर्त्तते ॥ प्रदक्षिणमिति ॥ आवृतमन्वावर्त्ते इति मन्त्रशेषः ।
सूर्यस्य संबन्धि आवृतं यदावर्त्तमानमस्ति तदनुष्ठायैव आवर्त्ते प्रदक्षिण्येना-
वर्त्तनं करोमि ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥ गार्हपत्यमुपतिष्ठतेऽग्रे गृहपत इतीति ॥ पाठ-
स्तु ॥ अग्रे गृहपते सुगृहपतिरहं त्वया गृहपत्या भूयासम । सुगृहपतिस्त्व मया गृह-
पत्याभूयाः । अस्थुरिणो गार्हपत्यानि सन्तु इति । गृहपतेऽस्मदीयगृहस्य पालक हे
अग्रे गृहपत्या गृहपालकेन त्वया त्वत्पसः देनेत्यर्थः । अहमपि सुगृहपतिः सुष्ठु गृहस्य
पालको भूयासमा तथा त्वमपि गृहपत्या मया प्रदीयमेवयेत्यर्थः । गृहपतिर्भूया गृह-
पालको भव । एवं सति नोऽस्माकं गार्हपत्यानि गृहपतिभ्यां स्त्रीपुरुषाभ्यां निष्पा-
द्यानि कर्माणि । अस्थुरिशब्देन स्थूलत्वमनुष्ठानाभ्यामलक्षणमभिधीयते । तद्रहितं
यथा भवति तथा सम्पगनुष्ठितानि भवन्तिवत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ शत॒हिमा
इति ब्रूयादिति ॥ पाठस्तु ॥ शत॒हिमाः तिग्मेन न स्तेजसा सः शिशषाधी-
ति ॥ हे सूर्य शत॒हिमाः । शतमंरुषाकानि वर्षाणि । हिमशब्दो हेमन्त-
ऋतुमाचष्टे ॥ तथाच निक्षिप्रिर्व्याचष्टे ॥ शत॒हिमा इत्याह शतंता हेमन्तानि-
ष्विवायेति वैतदाहेति ॥ हिमशब्दमूर्चिर्नैर्हमन्तैस्तद्युक्ताः संवत्सरा लक्ष्यन्ते ।
शतसंवत्सरेषु निरन्तरं नः अस्मान् तिग्मेन तीक्ष्णेन तेजसा अनुष्ठानादिप्रका-
शनेन संशाधि सम्यक् शिक्षय ॥ कात्यायनः ॥ सूर्यस्येत्यावर्त्तते प्रदक्षिणमिति ।
आवृतमन्वावर्त्ते इति मन्त्रशेषः पूर्ववद्धारुषेयः ॥ ६ ॥ ७ ॥ कात्यायनः ॥
गच्छति प्राङ्मुह विष्ण इति ॥ पाठस्तु ॥ उरु विष्णो विक्रमस्त्रोरु क्षयाय नस्कृधि ।

इत्यनुमातनुहि ॥ अस्मिन् यज्ञे स्यात्साधुकृत्यायामस्मिन्नज्ञेऽस्मिन्नल्लो-
के ॥ ९ ॥ इदं मे । कर्मदं वीर्यं पुत्रोऽनुसन्तनोतु ॥ अग्ने ब्रतपते ब्रतमन्त्रा-
रिषं तदशक्तं तन्मेराधि ॥ इदमहं य एवास्मि स एवास्मि ॥ १० ॥ ॥

घृतं घृतयोने पिब प्रथमयज्ञपतिं तिर । ततोऽसि तन्तुरस्यनुमातनुहि । अस्मिन्
यज्ञेऽस्यात्साधुकृत्यायामस्मिन्नज्ञेऽस्मिन्नल्लोक इति ॥ विष्णो उरुक्रमस्व महद्यथा
भवति तथा यज्ञविघातकामुरविनाशेन पराक्रमं कुरु । नोऽस्माकं क्षयाय नि-
वासार्थम् । उरु कृधि विस्तीर्णं स्थानं कुरु । हे घृतयोने घृतमन्त्रं योनिज्वालो-
त्पत्तिकारणं यस्यासौ घृतयोनिरग्निः । तथाच मन्त्रान्तरमन्त्राभ्यामात्म ॥ घृत-
प्रतीको घृतयोनिरग्नि इति ॥ अतोऽग्निरूप हे विष्णो, घृतं पिब । पीत्वा च यज्ञपतिं
यजमानं प्रप्रतिर प्रकर्षेण वर्धय । तिरतिधातुर्वृद्ध्यर्थः । ततोऽसि हे विष्णो त्वं वि-
स्तृतोऽसि । तथा तन्तुरसि । ब्रह्मादिसंततिरूपोऽसि अनुमातनुहि । विस्तृतं त्वदू-
पमनुसृत्य मामप्यभीष्टप्रदानेन विस्तारय कस्मिन् विषय इत्याकाङ्क्षायामु-
च्यते । अस्मिन्ननुष्ठीयमाने यज्ञे तथास्यां शिष्टैरनुष्ठीयमानायां साधुकृत्यायां
विद्याविनयादिरूपाक्रियायां तथाऽस्मिन्नज्ञे दृश्यमाने भोज्यवस्तुनि तथाऽस्मि-
न्नल्लोके इदानीं वर्तमाने बन्धुभृत्यादियुक्ते मनुष्यलोके एतेषु सर्वेषु विषयेषु
मां वर्धयेत्यर्थः ॥ ८ ॥ ९ ॥ कात्यायनः ॥ पुत्रस्य नाम गृह्णातीदं मे इत्या-
त्मन इति ॥ स्वस्य यः पुत्रस्तन्नामोच्चारयेत् ॥ पाठस्तु ॥ इदं मे कर्मदं वीर्यं
पुत्रोऽनुसन्तनोत्विति ॥ इदमिदानीमनुष्ठीयमानं मे मदीयं कर्म यदस्ति य-
दपीदं वीर्यमेतत्कर्मफलमस्ति तदुभयं पुत्रोऽस्मदीयो देवदत्ताख्यः, अनुसं-
तनोतु अनुक्रमेण सन्ततं करोतु ॥ कात्यायनः ॥ ब्रतं विमृजने येनोपेयादि-
ति ॥ आदौ ब्रतोपायनकाले येन विकल्पितेनाग्ने ब्रतपते इदमहमिति ब्रतं स्वी-
कृतं समाप्तावपि तदनुमारेण द्वयोरन्यतरेण ब्रतं विमृजेत् ॥ अत्राऽयं प्रथम-
मन्त्रे पाठविशेषः ॥ अग्ने ब्रतपते ब्रतमचारिषं तदशक्तं तन्मेऽराधीति ॥ ब्रतपते
ब्रतस्य कर्षणः पालक हे अग्ने, ब्रतमचारिषं कर्मानुष्ठितवानस्मि, तदशक्तं त्वद-
नुग्रहात् कर्मशक्तोऽभवत्, त्वया च मे मदीयं तत्कर्मफलमराधि साधितम् ॥ द्वितीय-
मन्त्रपाठस्तु ॥ इदमहं य एवास्मि स एवास्मीति ॥ उपक्रमवेलायामिदं ब्रतमहं करिष्य
इति सङ्कल्प्य यः स्थितोऽस्मि स एवाहमिदानीं त्वत्प्रसादात् सङ्कल्पितकर्म-
समाप्तिं कृत्वा स्थितोऽस्मि ॥ १० ॥ इति द्वितीयेऽध्याये षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥

अग्नयेकव्यवाहनाय । स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहा ॥ अपहता-
ऽअमुरारक्षाः सिवेदिषदः ॥ १ ॥ ये रूपाणि । प्रतिमुखमानाऽअमुरा-
राः सन्तः स्वधया चरन्ति ॥ परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टान्छोका-
त्प्रणुदात्यस्मात् ॥ २ ॥ अत्र पितरो । मादयध्वं यथाभागमावृषायिषत् ॥
३ ॥ अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायिषत् ॥ ३ ॥ नमोऽयः ।

पष्ठे याजमानमन्त्रा उक्ताः ॥ तावता दर्शपूर्णमासेष्टिः समाना ॥ अथ
सप्तमे पिण्डपितृयज्ञमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ पारतन्त्र्यमुत्तमपूर्णं अथ-
यित्वाऽभिघार्योद्वास्य मेक्षणेन जुहोत्यग्नयं इति सोमायेति चेति ॥ पाठस्तु ॥
अग्नये कव्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते स्वाहेति ॥ पितृणां पतिः कव्य-
वाहनामकः । तथाच तित्तिरिणः समानातम् ॥ त्रयो वा अग्रे हव्यवाहनो
देवानां, कव्यवाहनः पितृणां, सहरक्षा अमुराणामिति ॥ कवयः क्रान्तदर्-
शिनः पितरस्तेषां संबन्धि कव्यं इति । तद्वोढुमधिकारो यस्यास्ति स कव्य-
वाहनस्तस्मात् । अग्नये स्वाहा इविर्दत्तम् । पितृमान पितृसंयुक्तः । तस्मै सोम-
नामकाय देवाय स्वाहा इविर्दत्तम् ॥ कात्यायनः ॥ दक्षिणेनोद्धिष्यत्यपहता-
इतीति ॥ पाठस्तु ॥ अपहता अमुरा रक्षाः सिवेदिषद इति ॥ वेद्यां सीद-
न्तीति वेदिषदः । तथाविधा अपहता वेदेः सकाशादपनीय वारिताः, वेद्या
रक्षास्यपहतानि । अमुरत्वं रक्षस्त्वं चेत्येतौ देवविरोधिजातिविशेषौ ॥ १ ॥
कात्यायनः ॥ उत्सुकं पुरस्तात् करोति ये रूपाणीतीति ॥ पाठस्तु ॥ ये रू-
पाणि प्रतिमुखमाना अमुराः सन्तः स्वधया चरन्ति । परापुरो निपुरो ये भ-
रन्त्यग्निष्टान्छोकात् प्रणुदात्यस्मादिनि ॥ अमुरा देवविरोधिनः सन्तो ये स्वध-
या पैतृकनिमित्तेन रूपाणि प्रतिमुखमानाः पितृसमानरूपाणि स्वीकुर्वन्तः च-
रन्ति पितृयज्ञस्थाने संचरन्ति । परापुरः पराक्रान्तात् देहान् स्थूलशरीराणी-
त्यर्थः । निपुरः न्यग्भूतान् देहान् सूक्ष्मशरीराणीत्यर्थः । ये स्वधममुरास्त-
न्तोऽपि स्वकीयममुरत्वं प्रच्छाद्य तानि द्विविधानि शरीराणि भरन्ति धारय-
न्ति । तानमुरानागिरुत्सुकरूपोऽस्माँल्लोकात् पितृयज्ञस्थानात् प्रणुदाति प्र-
कर्षेणापसारयति ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ अत्र पितर इत्युक्तोदङ्कास्त आतमना-
दाहृत्वापीमदन्तेति जपतीति ॥ आतमनाद् म्लानिपर्वन्तम् ॥ पाठस्तु ॥ अत्र
पितरो मादयध्वं यथाभागमावृषायिषत् । अमीमदन्त पितरो यथाभागमा-

पितरः शुष्मायुनमोवःपितरस्तपसे ॥ नमोवःपितरोयज्जीवंत-
स्त्रैनमोवःपितरोरसाय ॥ नमोवःपितरोघोरायमन्यवेस्वधायैवः
पितरोनमः ॥ एतद्दःपितरोवासोऽगृहान्नःपितरोदत्त ॥ ४ ॥ उदा-
युषास्त्रायुषोत्पर्जन्यस्यधामभिः ॥ उदस्थाममृतान्ऽअनु ॥ ५ ॥ आ-
धत्तपितरोगर्भकुमारं पुष्करजम् ॥ यथेह पुरुषो सत् ॥ ६ ॥ ऊर्ज्ज्वह-

दृष्टायिषतेति ॥ तदिदं मन्त्रद्वयम्, अग्रे बाजजिदित्यनुवाके यथा व्याख्या-
तं तथैवात्रापि व्याख्यातव्यम् ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ नमो व इत्यञ्जलिं क-
रोतीति ॥ पाठस्तु ॥ नमो वः पितरः शुष्माय नमो वः पितरस्तपसे । नमो वः
पितरो यज्जीवं तस्मै नमो वः पितरो रसाय । नमो वः पितरो घोराय मन्यवे
स्वधायै वः पितरो नम इति ॥ हे पितरो युष्मन्मन्त्रान्धिने शुष्माय बलाय
वैर्यभिभवसामर्थ्याय नमो नमस्कारोऽस्तु । उत्तरेष्वपि पञ्चसु मन्त्रेषु नमो वः
पितर इति पदं पूर्ववद् भोज्यम् । तपसे वैरिषु प्रयुक्ताय सन्तापाय । यज्जीव-
मस्मदीयजीवनं भवन्निरनुगृहीतमस्ति तस्मै जीवनाय । रसाय भवत्त-
मसादल्लभाय पयोघृतादेरुपाय । शत्रुवधेऽतुल्येन तीव्राय मन्यवे क्रोधाय ।
स्वधायै भवदीयाभ्याय । स्वधायै पितृणामभ्युपगमिणि श्रुतेः । शुष्मादीनां नमस्का-
रेण स्वस्यानुग्रहाय तत्सम्पत्तिः प्रार्थिता भवति ॥ कात्यायनः ॥ एतद् इत्यु-
पास्यति सूत्राणि प्रतिपिण्डमूर्णार्दशावावयस्युत्तरे यजमानलोमानि वेति ॥
पाठस्तु ॥ एतद्दः पितरो वासो गृहाक्षः पितरो दत्तेति ॥ हे पितरो, वो यु-
ष्माकमेतद्वासो मया दीयमानमिदं सूत्रमेव वस्त्रं, हे पितरस्तुष्टा यूयं नोऽस्म-
भ्यं गृहान् सर्वोपकरणसहितान् दत्तं प्रयच्छत ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥ उदा-
युषेत्युत्पानमिति ॥ पाठस्तु ॥ उदायुषा स्वायुषोत्पर्जन्यस्य धामभिः । उद-
स्थाममृतान् अन्विति । प्रथम आयुःशब्दोऽन्नवाची, द्वितीया जीवनवाची ।
स्वायुषा शोभनम् आयुर्जीवनं येन भवति तत् स्वायुः । तथाविधेन स्वायु-
षाऽन्नेन युक्तोऽहम् । उदस्थाम् । उत्पिनोऽस्मि । तथा पर्जन्यस्य दृष्टि-
हेतोर्मध्यस्य सम्बन्धिभिर्धामभिः स्थानविशेषैर्युक्तोऽहमुदस्थाम् । अमृतान्
मरणरहितान् पितृन् अनुसृत्य तत्सर्वार्थमस्थाम् ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥
आधत्त इति मध्यमपिण्डं पत्नी माह्नाति पुत्रकामेतीति ॥ पाठस्तु ॥
आधत्त पितरो गर्भं कुमारं पुष्करजम् । यथेह पुरुषो सत् इति ॥ हे

ती । स्मृतं घृतं पयः कीलालं परिस्नुतं ॥ स्वधाः स्थतुर्पयं तमे पितृन् ॥ ७ ॥

कृष्णासि नव ॥ ९ ॥ अग्ने वाजजिह्व ॥ ९ ॥ देवसवित-
रेकादश ॥ ११ ॥ अग्नीषोमयोः षट् ॥ ६ ॥ अग्नेऽदब्धायोऽअष्ट ॥ ८ ॥
संवर्चसादश ॥ १० ॥ अग्नये कव्यवाहनाय सप्त ॥ ७ ॥

सप्तानुवाकेषु षष्टि ॥ कृष्णइमे षष्टि ॥ ६० ॥

इति प्रथमदशके संहितायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

पितरः । पुष्करस्रजमशिरभ्यां देवाभ्यां समानम् । अश्विनौ देवौ पुष्करस्रजौ
पञ्चमालिनौ देवानां भिषजौ । तत्पाम्यकथनेन रोगरहितमित्युक्तं भवति ।
तथैविषं कुमारं पुरुषरूपं गर्भमाधत्त संपादयन् । इहास्मिन्नेव ऋतौ
पुरुषो देवपितृमनुष्याणामपेक्षितार्थस्य पूरयिता यथा स येन प्रकारेण
भूयात् तथाऽऽधत्तेति पूर्वत्र संबन्धः ॥ ६ ॥ कात्यायनः ॥ ऊर्जमित्यपो-
निषिञ्चतीति ॥ पाठस्तु ॥ ऊर्जं वहन्तीरमृतं घनं पयः कीलालं परिस्नुतम् ।
स्वधास्य तर्पयन् मे पितृनिति । हे आपो यूयं स्वधा पित्र्यहविःस्वरूपा भवथ ।
अनो मे पितृस्तर्पयन् । कथंभूता आपः । परिस्नुतं वहन्त्यः । तच्च सारं त्रि-
विधम् ऊर्जशब्देन, घृतशब्देन, पयःशब्देन चाभिधेयम् । तत्रोर्जशब्दो बलगतं
स्वादुत्वमभिधत्ते । घृतपयसी प्रसिद्धे । तच्च घृतं मधुरं पयोऽपि कीलालम् । कील-
बन्धे । कीलनं कीलो बन्धः, तम् अलति वारयति तत्कीलालम् । अलञ् वारणपर्या-
प्त्योरिति धातुः । सर्वबन्धनिवर्तकम् । ईदृशस्य त्रिविधस्य सारस्य वहनादर्थां
पितृर्नर्पकत्वमुपपन्नम् ॥ ७ ॥ इति द्वितीयेऽध्याये सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥

अत्र विनियोगसंग्रहः ।

सप्तानुवाकाध्यायेऽस्मिन् द्वितीयेऽर्थस्तु वर्ण्यते ॥

स्कृगामादनस्कृत्याघारो ब्रह्मार्पमन्त्रकाः ॥

स्कृग्व्यूहाद्या स्कृग्रहाश्च याजमानश्च पैतृकाः ॥ १ ॥

कृष्ण इध्मं वेदि वेदि वह्निं वह्निः समुक्षति ॥

अभिविज्ञेदर्थमूले विष्णोः प्रस्तरधारणम् ॥ २ ॥

ऊर्णेति स्तृणुते वेदिं भुविभिः स्कन्धमर्शनम् ॥

गन्धेन्द्रमित्रत्रयतः परिधीन् दिक्त्रये क्षिपेत् ॥ ३ ॥

आधारममिषौ बीति समिदाभ्यां क्षिपेत्पुरः ॥

सूर्यो जपेत् सवि स्थाप्य निरश्चीनं तथा द्वयम् ॥ ४ ॥
प्रस्तरास्तरणं तूर्णं मात्रा तस्य प्रसारणम् ॥
घृतं त्रिभिर्ध्रुवा स्थाप्याः प्रियेऽन्यद्विषा स्थितिः ॥
हविः स्तुचे ध्रुवा पाहि म चतुर्विंशतिः खलु ॥ ५ ॥
अग्ने परिधिसंमार्गो ह्यजली द्वौ नमः स्वधा ॥
स्तुवस्तुचौ समादायाऽहिघ्नणा दक्षिणदिग्भातिः ॥ ६ ॥
वसु स्थित्वेत इन्द्रेति होमः मत्सो ध्रुवाजनम् ॥
अत्रामी स्वामिजपावुषाग्नेऽग्नीध्रदत्तद्रुपात् ॥
मयि स्वामि जपोयाऽग्ने मार्ष्टु मन्त्राश्चतुर्दश ॥ ७ ॥
देव ब्रह्मा वेदेः स्थाने तृणानि च निरस्यति ॥
इन्द्रब्रह्मोपविष्टः स्यान्मित्र प्राशित्रमीक्षते ॥ ८ ॥
देवस्य प्रतिगृह्णाति पृथिव्यास्त्वेति सादयेत् ॥
देवस्य पुनरादद्यादग्नेष्ट्रा भक्षयेदिदम् ॥ ९ ॥
पात्रं प्रक्षाल्य तेनाभिमन्त्राहार्यं स्पृशेत् मन्त्रा ॥
एषा होतामन्त्रयेत् ब्रह्मानुजैर्नदित्यतः ॥
अनुवाके तृतीयेऽस्मिन् मन्त्रा द्वादशवर्णिताः ॥ १० ॥
अग्नीद्वयात् स्तुचौ व्यूहेदिन्द्राग्नीद्वयतोऽपि च ॥
वसुत्रयेण परिधीनञ्ज्यात् सं प्रस्तरग्रहः ॥ ११ ॥
तमन्त्याश्चन्तु मरुतां महरेष्वश्रुरित्यतः ॥
संसृशेदार्घ्यं परिधि मध्यमं महरेदथ ॥ १२ ॥
इतरौ महरेदग्नेः संस्त्रवं स्तुचहोमकः ॥
धृता धृतिः स्तुचौ दध्यान्मन्त्राः पञ्चदशोर्णिताः ॥ १३ ॥
स्तुकस्तुवप्रग्रहस्त्वग्नेर्होमो ह्यग्निरद्रुपात् ॥
लेपान् खलु जुहोत्याप्या ध्रुवामाप्याययेत् सदा ॥ १४ ॥
समिष्ट होमो देवेति संवर्हिताहुतिर्भवेत् ॥
मणीता निनयेत् कस्त्वा कणाग्रक्षः परित्यजेत् ॥ १५ ॥
उपनेषकृतिर्वेषो वेशानग्निं कचिज्जजेत् ॥
षणो होमः कचिद्वृद्धा मन्त्रा द्वादश वर्णिताः ॥ १६ ॥
मुखं संवर्चं विष्टे यज्ञ वेदि स्पृशेत् क्रमात् ॥

क्रमादिवित्रयेणास्मादन्नाङ्गागमवेक्षते ॥ १७ ॥
 अस्यै भूमिमवेक्षतागन्म प्रागीक्षते तथा ॥
 संज्यां पूर्वाग्निमीक्षित्वा स्वयं सूर्यमवेक्षते ॥ १८ ॥
 बर्चः पश्येद्रविं कामी सूर्यावृत्तः प्रदक्षिणा ॥
 अग्रे दक्षेत्र पश्चिमाग्निं शनं ब्रूयात् तथा पुनः ॥ १९ ॥
 सूर्यप्रदक्षिणावृत्तिरुह गच्छेद्दिदं त्विति ॥
 स्वपुत्रनामग्रहणं पश्चादग्र इदं द्वयोः ॥
 एकोन व्रतसंस्त्यागो मन्त्रा एकोनविंशतिः ॥ २० ॥
 अग्रे सोमद्वयाद्धोमोऽपहता दक्षिणोल्लिखेत् ॥
 ये रूपोल्लुमुकमाधाय अत्रामीति द्वयं जपेत् ॥ २१ ॥
 पट्टभिर्नमोऽञ्जलिं कुर्यादेतत् सूत्रमुपास्यति ॥
 उदोत्तिष्ठेन्मध्यपिण्डमथ प्राश्नाति तद्रघुः ॥
 निञ्जदूर्जमपो मन्त्राः षोडशऽत्रो पवर्णिताः ॥ २२ ॥
 वेदार्थस्य प्रकाशेन तपो हार्दं निवारयन् ॥
 पुमर्थाश्चतुरो देयाद् विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ २३ ॥

इति श्रीमद्राजाऽधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्त्तक-

श्रीवीरबुक्कभूषालमाम्नाज्यधुरन्धरेण

सायणाचार्येण विरचिते

माधवीये काण्ववेदार्थप्रकाशे

काण्वसंहिताया भाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ शुक्लयजुर्वेदकाण्वसंहिताभाष्ये
तृतीयोऽध्यायः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽग्निलं जगत् ॥

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

प्रथमद्वितीययोरध्याययोर्दर्शपूर्णमासोष्ठविषया मन्त्रा उक्ताः ॥ अथ तृ-
तीयऽध्याये आधानविषया मन्त्रा उच्यन्ते ॥ तत्र कात्यायनोऽमावास्याया-
मग्न्याधेयम् इत्यादिना कालविशेषादीनि ब्रह्मौदनपाकपर्यन्तान्यनुष्ठेयान्यु-
क्तानि पश्चादिदमाह ॥ तं चातुण्यादयं पचत्युद्गाम्यामेचनं मध्ये कृत्वा सर्पि-
रामिच्याश्वत्थीः निम्नः समिधो घृताक्ता आदधाति, समिधाग्निमिति प्रत्युच-
मिति ॥ अस्पार्थः ॥ चतुर्भिर्ऋत्विग्भिः प्राशितुं योग्यमोदनं पक्त्वा बहिरुद्गा-
म्य तस्योदनस्य मध्ये घृतमेचनाय स्थानं निम्नं कृत्वा ॥ कण्वोऽपि तमर्थं
दर्शयति ॥ तस्य सर्पिरामेचनं कृत्वा सर्पिरामिच्याश्वत्थीस्तिष्ठः समिधो
घृतेनान्वज्य समिद्वनीभिर्नृतवनीभिर्ऋग्भिरादधानीति ॥ तत्र प्रथमाया ऋचः
पाठस्तु ॥ समिधाग्निं दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आस्मिन् हव्या जुहो-
तनेति ॥ सम्यगिन्ध्यते दीप्यते बहिर्यया काष्ठरूपया सा समित् । तथा स-
मिधाऽग्निं पुरोवर्त्तिनं दुवस्यत परिचरत । दुवस्यतिः परिचरणार्थत्वेन पाठितः ।
अतिथिमातिथ्यकर्मणा पूजनीयमग्निं घृतैर्होप्यमाणैर्बोधयत प्रज्ज्वालयेत्तेत्यर्थः ।
अस्मिन् प्रज्ज्वालितेऽग्ने हव्या नानाविधानि हवींषि जुहोतन । हे अनुष्ठा-
तारः सर्वतो जुहूत ॥ १ ॥ द्वितीयस्या ऋचः पाठस्तु ॥ सुममिद्धाय शोचिषे
घृतं तीव्रं जुहोतन । अग्नये जातवेदम् इति ॥ सुममिद्धाय शोभनतया सम्य-
ग्दीप्ताय । अत एव शोचिषे शुचिष्मने दीप्तिमने जातवेदमे जातं वेत्ति वेद-
यतीति वा जातवेदाः । तथाविधायाम्नये तीव्रं घृतं स्वादुतमं समग्रं चाज्यं
जुहोतन जुहूत ॥ २ ॥ तृतीयस्या ऋचः पाठस्तु ॥ तं त्वा समिद्धिराङ्गिरो
घृतेन वर्षयामसि । बृहच्छोचा यविप्रयेति ॥ हे अङ्गिरः । अङ्गतिर्गत्यर्थः ।
रमत्ययो मन्वर्थायः । तत्तन्नामेषु गतिमश्मने तं त्वा तथाविधं त्वां समिद्धिर्य-
ज्ञमम्बन्धिकाष्टुर्घृतेन संस्कृताभिः तत्र वर्षयामसि प्रवृद्धं कुर्मः । हे यविप्रय
अतिशयेन युवा तत्र साधुर्यविप्रयः । कदाचिदपि स्थविरस्वरहित इत्यर्थः ।
तथाविध हे अग्ने बृहच्छोचा प्रवृद्धं यथा भवति तथा दीप्यस्व ॥ ३ ॥ का-

त्यायनः ॥ उपत्वेति जपतीति ॥ पाठस्तु ॥ (उपत्वाऽग्ने हविष्मतीर्धृताचीर्यन्तु
 हर्यत । जुषस्व समिधो ममेति ॥ हे अग्ने, हविष्मतीः हविष्मत्सो हविर्युक्ताः
 घृताचीर्धृतः स्यो घृतेनाक्ता एताः समिधः त्वा उपयन्तु त्वां प्रत्युपगच्छन्तु ।
 हर्यत हे कान्तिमभित्यर्थः । हर्यतः आचक इति कान्तिकर्मसु पठितत्वात् ।
 तथाविध हे अग्ने, मे मदीयाः समिधो जुषस्व सेवस्व ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥
 दारुभिर्ज्वलन्तमादधाति भूर्भुव इति सम्भारेण्विति ॥ भूर्भुवः स्वरिति पूर्वव-
 दिति च ॥ अस्यायमर्थः । अपो हिरण्यमित्यादीनि पञ्च सम्भारान्तसम्प्राप्य
 स्फुगेनोल्लिखितायां शुद्धायां भूमौ तान् सम्भारानवस्थाप्य तेषु सम्भारेषु
 शुष्ककाष्ठैर्ज्वलन्तमग्निं भूर्भुव इत्यक्षरत्रयमुच्चारयन्नादध्यात् । तदिदं गार्हपत्या-
 धानम् । तस्मात् प्राच्यां तथैव सम्भारेषु भूर्भुवः स्वरिति पञ्चाक्षराण्युच्चा-
 रयन्नादध्यात् । तदिदमाहवनीयाधानम् । सोऽयमर्थस्तिष्ठिरिणा दर्शितः ॥
 त्रिभिरक्षरैर्गार्हपत्यमादधाति पञ्चभिराहवनीयम् । अष्टौ सम्पद्यन्ते । अष्टा-
 ऽक्षरा गायत्री । गायत्रोऽग्निः । यावानेनाग्निस्तमाधत्त इति ॥ अग्नेर्गा-
 यत्र्या मह प्रजापतिमुवादुत्पन्नत्वाद् गायत्रत्वं द्रष्टव्यम् । एतेष्वाधान-
 मन्त्रेषु भृगिति प्रथमा व्याहृतिः । भुवः इति द्वितीया । सुवरिति तृती-
 या । एतास्तिष्ठो व्याहृतयः पृथिव्यादिलोकत्रयनामानि । एतदुच्चारणपुरः-
 सरं पतिना लोकत्रयस्य सृष्टन्वान् । अत एवाभिरनुष्ठितलोकत्रयमर्थनेन स्म-
 रेत् । एतासां व्याहृतीनां महि भूयात् ॥ तं च कण्वस्तदाहुर्न वा न षजुषा न
 साम्नाग्निगदीयने केनाग्निरित्यादिना बहुधा प्रपञ्चयामास ॥ कात्यायनः ॥
 इध्मपूर्वार्धे गृहीत्वा, द्यौरिव भुम्नेत्याहोति ॥ पाठस्तु ॥ द्यौरिव भुम्ना भू-
 मिग्वि वरिम्णा । तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाग्रायादध
 इति ॥ देवा इज्यन्ते यस्यां पृथिव्यां सा देवयजनी तथाविधे हे पृथिवि त-
 स्यास्ते पृष्ठे देवयजनयोग्यायास्तवापि चाग्निं गार्हपत्यादिरूपमादध स्थाप-
 यामि किमर्थमन्नाग्राय अन्तु योग्यस्तस्यान्नस्य मिच्छार्थम् । कथम्भृतमग्निं द्यौ-
 रिव भुम्ना बहुर्भावा भूमा । यथा द्यौर्नेक्षत्रादिबहुत्वेन युक्ता तथा ज्वालाब-
 हुत्वेन युक्तम् । किञ्च भूमिरिव वारिम्णा । तस्य भावां वरिमा । यथा भूमिः
 सर्वपाण्याश्रयरूपेण श्रेष्ठत्वेनोपेता तथा सर्ववस्तुक्षोभकत्वरूपेण श्रेष्ठत्वेनोपेत-
 म् । अत एवान्यत्र कर्त्तारिधिवाक्येऽग्नये पावकायेति पावकत्वविशेषणमु-
 क्तम् । मन्त्रान्तरे चाग्निः शुचित्रयतम् इत्याम्नातम् ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥

आयं गौरिति चोपतिष्ठते सारिप्राज्ञीभिर्दक्षिणाग्निमादधातीति ॥ आयं गौ-
रित्यादीनां तिसृणाम् ऋचां सारिप्राज्ञीति नामधेयम् । ताभिर्ऋग्भिर्ग्राहनीय-
मुपतिष्ठते । दक्षिणाग्निमपि नाभिरेवादध्यात् । तत्र प्रथमाया ऋचः पाठस्तु ॥
आयङ्गौः पृथिनरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन् स्वारिति ॥ गच्छती-
ति गौः । यज्ञनिष्पत्तये तत्तयजमानगृहेषु गन्ता पृथिनश्चित्रवर्णः लोहितधु-
ह्लादिबहुविधज्वालैरुपेतः । तथाविधोऽयं दृश्यमानोऽग्निः अक्रमीत् सर्वत
आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणाग्निस्थानेषु सर्वतः क्रमणं पादविशेषं कृतवान् । य-
स्मादेवं तस्मात् पुरः प्राच्यां दिशि मातरं पृथिवीम् असदत् । आसीदत् ।
आहवनीयरूपेण प्राप्तवान् । तथा स्वः प्रयन् आदित्यरूपेण स्वर्गे सञ्चरन्
पितरं च द्योलोकमपि असदत् । प्राप्तवान् । भुलोकद्युलोकयोर्मातापितृरूप-
त्वे अन्यत्रापि श्रूयेते । द्यौः पिता पृथिवी मातेति ॥ ६ ॥ द्वितीयस्या ऋचः
पाठस्तु ॥ अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपाननी व्यस्यन्महिषां दिवमिति ॥
अस्याग्ने रोचना काचिद्दीप्तिरन्तश्चरति जाठराग्निरूपेण प्राणिनामुदरेषु च-
रति । किं कुर्वती । प्राणादपाननी प्राणाद् व्यापाराद्भ्रमपानव्यापारं कु-
र्वती । प्राणापानयोर्बायुविशेषयोः प्रेरिकेत्यर्थः । सति हि जाठराग्नौ जीवन-
हेतोरौष्ण्यस्य शरीरे सञ्जावात् प्राणापानौ प्रवर्तेते । शरीरस्यौष्ण्यस्य पुरुष-
जीवनत्वमन्यत्र श्रुतम् । उष्ण एव जीविष्यज्जान्तो मरिष्यन्निति ॥ महिमा
माहात्म्यं यागकर्तृस्वरूपं मनान्ति ददातीति महिषोऽग्निः । स च दिवं द्युलोकं
भोगस्थानं व्यस्यत् । अनुष्ठातृभ्यो विशेषेण प्रकाशितवान् ॥ ७ ॥ तृतीय-
स्या ऋचः पाठस्तु ॥ त्रिंशद्दाम विराजति वाक्पतङ्गाम धीयते । प्रतिवस्तो-
रह्युभिरिति ॥ धाम स्थानं, तच्च त्रिंशत् । मामगतदिनभेदेन त्रिंशत्सं-
ख्याकम् । तदेतद्विराजति विशेषेण दीप्यते । आलस्यरहितानां यजमानानाम-
नुष्ठानेनाहवनीयाद्यग्नीनां स्थानं मासगनेषु त्रिंशत्संख्याकेषु दिनेषु विशेषेण
शोभत इत्यर्थः । पतङ्गाय पक्षिमहसोऽग्निः पतङ्गः । यथा पक्षी कश्चिद्वह-
स्मात् स्थानादपरं स्थानं गच्छति तद्वदग्निरपि गार्हपत्यस्थानादाहवनीयस्था-
नं गच्छतीत्यग्नेः पक्षिमादृश्यम् । तथाविधामिप्रीत्यर्थं च धीयते स्तुतिरूप-
वागुच्चार्यते । अहेति निपातः पूर्वोक्तनिषेधार्थः । अस्या ऋचः पूर्वार्धेऽग्नि-
माहात्म्यरूपापनाय यद्वाक्यद्वयेनार्थद्वयमुक्तं तावदेव न भवति, किन्त्वन्यद-
पि माहात्म्यमुख्यत इत्यर्थः । वस्तोरित्यहर्नामस्तु पठितम् । प्रतिवस्तोः प्रत्यहं

त्यायनः ॥ उपत्वेति जपतीति ॥ पाठस्तु ॥ (उपत्वाऽग्ने हविष्मतीर्धृताचीर्यन्तु
 हर्यत । जुषस्व ममिधो ममेति ॥ हे अग्ने, हविष्मतीः हविष्मत्यो हविर्धुक्ताः
 धृताचीर्धृताः च्यो धृतेनाक्ता एताः ममिधः स्वा उपयस्तु त्वां प्रत्युपगच्छन्तु ।
 हर्यत हे कान्तिमक्षित्यर्थः । हर्यतः आचक इति कान्तिकर्मसु पठितत्वात् ।
 तथाविध हे अग्ने, मे मदीयाः ममिधो जुषस्व सेवस्व ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥
 दारुभिर्ज्वलन्तमादधानि भूर्भुव इति सम्भारेष्विति ॥ भूर्भुवः स्वरिति पूर्वव-
 दिति च ॥ अस्यायमर्थः । अपो हिरण्यमित्यादीनि पञ्च सम्भारान्तसम्पाद्य
 स्फुट्येनोल्लिखितार्या शुद्धायां भूमौ तान् सम्भारानवस्थाप्य तेषु सम्भारेषु
 शुष्ककाष्ठैर्ज्वलन्तमग्निं भूर्भुव इत्यक्षरत्रयमुच्चारयन्नादध्यात् । तदिदं गार्हपत्या-
 धानम् । तस्मात् प्राच्यां तथैव सम्भारेषु भूर्भुवः स्वरिति पञ्चाक्षराण्युच्चा-
 रयन्नादध्यात् । तदिदमाहवनीयाधानम् । सोऽयमर्थस्तिरिणा दर्शितः ॥
 त्रिभिरक्षरैर्गार्हपत्यमादधानि पञ्चभिराहवनीयम् । अष्टौ सम्पद्यन्ते । अष्टा-
 ऽक्षरा गायत्री । गायत्रोऽग्निः । यावानेनाग्निस्तमाधत्त इति ॥ अग्नेर्गा-
 यत्या मह प्रजापतिमुवादुत्पन्नत्वाद् गायत्रत्वं द्रष्टव्यम् । एतेष्वाधान-
 मन्त्रेषु, भूरिति प्रथमा व्याहृतिः । भुवः इति द्वितीया । सुवरिति तृती-
 या । एतास्मिन्नो व्याहृतयः पृथिव्यादिलोकत्रयनामानि । एतदुच्चारणपुरः-
 सरं पतिना लोकत्रयस्य सृष्टत्वात् । अत एवाभिर्नुष्ठितलोकत्रयमर्थनेन स्म-
 रेत् । एतासां व्याहृतीनां महि भूयात् ॥ तं च कण्ठस्नदाहुर्न वा न पजुषा न
 साम्नाग्निगदीयते केनाग्निरित्यादिना बहुधा प्रपञ्चयामास ॥ कात्यायनः ॥
 इधमपूर्वार्धं गृहीत्वा, द्यौरिव भूर्मेत्याहोति ॥ पाठस्तु ॥ द्यौरिव भूम्ना भू-
 मिर्गिव वरिष्णा । तस्यास्ते पृथिवि देवयजनि पृष्ठेऽग्निमन्नादमन्नाद्यायादध
 इति ॥ देवा इज्यन्ते यस्यां पृथिव्यां सा देवयजनी तथाविधे हे पृथिवि त-
 स्यास्ते पृष्ठे देवयजनयोग्यास्तत्रोपाग्निं चाग्निं गार्हपत्यादिरूपमादधे स्थाप-
 यामि किमर्थमन्नाद्याय अन्तु योग्यस्तस्यान्नस्य सिद्ध्यर्थम् । कथम्भूतमग्निं द्यौ-
 रिव भूम्ना वहोर्भावो भूमा । यथा द्यौर्निक्षत्रादिबहुत्वेन युक्ता तथा ज्वालाब-
 हुत्वेन युक्तम् । किञ्च भूमिरिव वारिष्णा । तस्य भावो वरिष्मा । यथा भूमिः
 सर्वप्राण्याश्रयरूपेण श्रेष्ठत्वेनोपेता तथा सर्ववस्तुशोधकत्वरूपेण श्रेष्ठत्वेनोपेता-
 म् । अत एवान्यत्र क्वचिद्विधाक्येऽग्नये पावकायेति पावकत्वविशेषणमु-
 क्तम् । मन्त्रान्तरे चाग्निः शुचिप्रतप्त इत्याम्नातम् ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥

आयं गौरिति चोपतिष्ठते सार्षराङ्गीभिर्दक्षिणाग्निमादधातीति ॥ आयं गौ-
रित्यादीनां तिसृणाम ऋचां सार्षराङ्गीति नामधेयम् । तामिर्ऋरग्निराहवनीय-
मुपतिष्ठते । दक्षिणाग्निमपि तामिरेवादध्यात् । तत्र प्रथमाया ऋचः पाठस्तु ॥
आयङ्गौः पृथिनरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन् स्वरिति ॥ गच्छती-
ति गौः । यज्ञनिष्पत्तये तत्तत्रजमानगृहेषु गन्ता पृथिनश्चतुर्वर्णः लोहितधु-
क्कादिबहुविधज्वालैरुपेतः । तथाविधोऽयं दृश्यमानोऽग्निः अक्रमीत् सर्वत
आहवनीयगार्हपत्यदक्षिणामिस्थानेषु सर्वतः क्रमणं पादविशेषं कृतवान् । य-
स्मादेवं तस्मात् पुरः प्राच्यां दिशि मातरं पृथिवीम् असदत् । आसीदत् ।
आहवनीयरूपेण प्राप्तवान् । तथा स्वः प्रयन् आदित्यरूपेण स्वर्गे सञ्चरन्
पितरं च द्योलोकमपि असदत् । प्राप्तवान् । भूलोकद्युलोकयोर्मातापितृरूप-
त्वे अन्यत्रापि श्रूयेते । द्यौः पिता पृथिवी मातेति ॥ ६ ॥ द्वितीयस्या ऋचः
पाठस्तु ॥ अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती व्यस्यन्माहृषो दिवमिति ॥
अस्याग्ने रोचना काचिद्दीप्तिरन्तश्चरति जाठराग्निरूपेण प्राणिनामुदरेषु च-
रति । किं कुर्वती । प्राणादपानती प्राणाद् व्यापारादूर्ध्वमपानव्यापारं कु-
र्वती । प्राणापानयोर्वायुविशेषयोः प्रेरिकेत्यर्थः । मति हि जाठराग्नौ जीवन-
हेतोरौष्ण्यस्य शरीरे सद्भावात् प्राणापानौ प्रवर्तते । शरीरस्यौष्ण्यस्य पुरुष-
जीवनत्वमन्यत्र श्रुतम् । उष्ण एव जीविष्यज्जान्तो मरिष्यन्निति ॥ महिमा
माहात्म्यं वागकर्तृस्वरूपं मनानि ददातीति महिषोऽग्निः । स च दिनं द्युलोकं
भोगस्थानं व्यस्यत् । अनुष्ठातृभ्यो विशेषेण प्रकाशितवान् ॥ ७ ॥ तृतीय-
स्या ऋचः पाठस्तु ॥ त्रिशङ्खाम विराजति वाक्पतङ्गाय शीयते । प्रतिवस्तो-
रहद्युभिरिति ॥ धाम स्थानं, तच्च त्रिशत् । मामगतादिनभेदेन त्रिशत्सं-
ख्याकम् । तदेताद्विराजति विशेषेण दीप्यते । आलस्यरहितानां यजमानानाम-
नुष्ठानेनाहवनीयाद्यग्नीनां स्थानं मामगनेषु त्रिशत्संख्याकेषु दिनेषु विशेषेण
शोभत इत्यर्थः । पतङ्गाय पक्षिमहशोऽग्निः पतङ्गः । यथा पक्षी कश्चिदेक-
स्मात् स्थानादपरं स्थानं गच्छति तद्वदग्निरपि गार्हपत्यस्थानादाहवनीयस्था-
नं गच्छतीत्यग्नेः पक्षिमाह्वयम् । तथाविधामिमीत्यर्थं च शीयते स्तुतिरूपं
वागुच्चार्यते । अहेति निपातः पूर्वोक्तनिषेधार्थः । अस्या ऋचः पूर्वार्धेऽग्नि-
माहात्म्यरूपापनाय यद्वाक्यद्वयेनार्थद्वयमुक्तं तावदेव न भवति, किन्त्वन्यद-
पि माहात्म्यमुच्यत इत्यर्थः । वस्तोरित्यहर्नामसु पठितम् । प्रतिवस्तोः प्रत्यहं

द्युभिः क्रीडाविशेषैर्योतनैर्वा । दीव्यतिधातोस्तदर्थवाचित्वात् । अयमाग्निः । श्रोत्रं त इत्यव्याहारः ॥ ८ ॥ इति तृतीयेऽध्याये प्रथमोऽनुवाकः ॥ ३ ॥ १ ॥

प्रथमेऽनुवाकेऽग्न्याधानमन्त्रा उक्ताः ॥ द्वितीये त्वग्निहोत्रमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ उपविश्य समिधमादधात्यग्निज्योतिषमिति ॥ पाठस्तु ॥ अग्निज्योतिषं त्वा वायुमतीं प्राणवतीं स्वर्ग्याः स्वर्गायोपदधामि भास्वतीमिति ॥ हे समित् । स्वर्गाय स्वर्गमिद्व्यर्थं त्वा नानाविधविशेषणयुक्तां त्वाम् । उपदधामि बहौ प्रक्षिपामि । कथम्भूतां त्वाम्, अग्निज्योतिषं त्वा वायुमतीम् । अग्निमम्बन्धिज्योतिर्यस्यां समिधमिव्यज्यते तादृशीम् । शुष्कायाः समिधोऽग्निज्वालाहेतुत्वं प्रसिद्धम् । वायुमतीं वायुमहायोपेताम् । सति हि वायुसाहाय्ये काष्ठेषु ज्वाला पटूरी भवति । प्राणवतीं बलवतीम् । प्राणा वै बलमिति श्रुत्यन्तरम् । शुष्कतृणपर्णादिष्विवाग्निज्वाला समिधि सहमा न शाम्यतीत्यर्थः । स्वर्ग्यम् । अनुष्ठातृणां स्वर्गहेतुं भास्वतीम् । अग्नेः समिन्धनेन सूर्यवत्प्रकाशोपेताम् ॥ कात्यायनः ॥ प्रदीप्तामभिजुहोत्यग्निज्योतिरिति ॥ या समित् प्रदीप्ता तामभिलक्ष्य जुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥ अग्निज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति ॥ योऽयमग्निर्देवः स एव ज्योतिर्दृश्यमानं ज्योतिःस्वरूपं यच्चेदं दृश्यमानं ज्योतिस्तदेवाग्निर्देवः देवस्य ज्योतिषश्च कदाचिदपि अवियोगादेकत्वेन प्रतिपादितम् । (स्वाहा ज्योतीरूपायाग्नये हविः प्रदत्तम् ३ सोऽयं सायङ्कालीनाग्निहोत्रहोमः ॥ १ ॥ अतयेव गीत्या प्रातःकालेऽपि समिदाधानं होमं च मन्त्रद्वयेन कुर्यादिति कात्यायनेनाभिप्रेतम् । तयोस्तुभयोर्मन्त्रपाठस्तु ॥ सूर्यज्योतिषं त्वा वायुमतीं प्राणवतीम् । स्वर्ग्याः स्वर्गायोपदधामि भास्वतीम् । सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति ॥ पूर्वोक्ताग्निविषयमन्त्रद्वयवाच्यं सूर्यविषयं मन्त्रद्वयं व्याख्येयम् ॥ कालद्वये मन्त्रद्वयव्यवस्थां कर्त्वा विस्पष्टं दर्शयति ॥ स जुहोत्यग्निज्योतिर्ज्योतिरग्निः स्वाहेति सायं सूर्यो ज्योतिर्ज्योतिः सूर्यः स्वाहेति प्रातरिति । सूर्यमम्बन्धि यत्तेजोऽस्ति तन्मवे रज्ज्वावर्तिनं प्रविशति । तस्मात् सायं होमेऽग्निज्योतिरिति मन्त्रो युक्तः । उदयकालेऽप्यग्निमम्बन्धि ज्योतिः सूर्यं प्रविशति तस्मात् प्रातः सूर्यो ज्योतिरिति मन्त्रो युक्तः ॥ तमेतमर्थं निश्चितः संशुद्धं दर्शयति ॥ अग्निं चादित्यः सायं प्रविशति तस्मादग्निर्दूराभक्तं ददृशे उभे हि तेजसी सम्पद्येते । उद्यन्तं च बादित्यमग्निरनुसमारोहति तस्माद् धूम एवाग्नेर्देवा ददृशे इति ॥ २ ॥

कात्यायनः ॥ सजूरिति चेति ॥ जुहोतीत्यनुवर्त्तते । पूर्वोक्ताभ्यामग्निर्ज्योतिः
सूर्यो ज्योतिरिति मन्त्राभ्यां सजूरित्यादिकं मन्त्रद्वयं होमे विकल्पितमित्यर्थः ।
तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ सजूर्देवेन सवित्रा सजूराभ्येन्द्रवत्या । जुषाणोऽअ-
ग्निर्वेतु स्वाहेति ॥ सवित्रा देवेन प्रेरकेण परमेश्वरेण सह सजूः । जृषी प्रीति-
सेवनयोरिति धातुः । समाना जूः प्रीतिर्यस्यासौ सजूः । तथा इन्द्रवत्या रा-
श्या इन्द्रेण देवेनोपेतया रात्रिदेवतया सजूः समानप्रीतिः । उक्तगुणद्वयवानग्नि-
देवः जुषाणोऽस्मात् प्रीतियुक्तः सन् वेतु अस्मदीयं कर्म प्राप्नोतु । वी गति-
प्रजनकान्त्यमनस्वादनेष्विति धातुः । स्वाहा तथाविधायाम्नये हूयमानमिदं
द्रव्यं दत्तम् ॥ ३ ॥ द्वितीयमन्त्रपाठस्तु ॥ सजूर्देवेन सवित्रा सजूराभ्येन्द्रवत्या
जुषाणः सूर्यो वेतु स्वाहेति ॥ अग्निमन्त्रवदयं सूर्यमन्त्रो व्याख्येयः । अत्रो-
षादेवता पूर्वोक्ता रात्रिदेवतायाः स्थाने योजनीया । अत्राग्निमन्त्रस्य त्रीन्
कामान् काण्वो व्याचष्टे ॥ सजूर्देवेन सवित्रेति ॥ सवितृमत्प्रसवाय सजूरा-
भ्येन्द्रवत्येति राश्या मिथुनीकरोतीन्द्रो यज्ञस्य देवता मेन्द्रं देवता करोति जुषाणो
अग्निर्वेतु स्वाहेति । प्रत्यक्षं तस्यै देवतायै जुहति यस्याग्निहोत्रमिति ॥ सूर्य-
मन्त्रोऽपि तथैव, सजूर्देवेन सवित्रेत्येव प्रातरित्यादिना व्याख्यातः ॥ ४ ॥
कात्यायनः ॥ पुष्टिकामः स्थाल्या स्तुवेह पुष्टिमिति गार्हपत्ये इति ॥ जुहोती-
त्यनुवर्त्तते । स च होमः स्थालीरूपेण स्तुवेण कार्यः ॥ पाठस्तु ॥ इह पुष्टिं
पुष्टिपतिर्दधात्विह प्रजाः, रमयतु प्रजापतिः । अग्नये गृहपतये रयिमने पुष्टि-
पतये स्वाहेति ॥ पुष्टिपतिः पुष्टिपालको देवः इह कर्मणि पुष्टिं दधातु पो-
षणं सम्पूतिं करोतु । इहास्मद्गृहे प्रजां पुत्रादिरूपां प्रजापतिः प्रजापालको
देवः, रमयतु क्रीडयतु । गृहपतये गृहस्य पालकाय रयिमने धनवने । पुष्टिप-
तये पुष्टिपालकायाम्नये गार्हपत्यदेवाय स्वाहा हविर्दत्तम् ॥ कात्यायनः ॥ अ-
ग्नयेऽन्नादायेति दक्षिणाग्नाविति । जुहोतीत्यनुवर्त्तते ॥ पाठस्तु ॥ अग्नयेन्ना-
दायान्नपतये स्वाहेति ॥ अन्नं पुरतः प्राप्तं सर्वमप्तीत्यन्नादः । तथान्नपतिरस्म-
दीयान्नस्य पालकः । तथाविधायाम्नये स्वाहा हविर्दत्तम् ॥ ५ ॥ अनमित्रं
म इन्द्रः पश्चादिति द्वौ मन्त्रौ जपार्थौ द्रष्टव्यौ । तयोः पाठस्तु ॥ अनमित्रं मे
अभरागनमित्रमुदक्कृधि । इन्द्रानमित्रं पश्चान्मेनमित्रं पुरस्कृधि ॥ इन्द्रः प-
श्चादिन्द्रः पुरस्कारिन्द्रो अस्मांऽअभिपातु विञ्चतः । इन्द्रो जिघांसतां मनांसि
विणूचीना व्यस्यताव इति ॥ हे इन्द्र परमैश्वर्ययुक्ताऽग्ने मे ममाधराग्दक्षिण-

तः, अनमित्रम् । अनस्य प्राणस्य मित्रं रक्षकं कृधि कुरु । यद्वा अनमित्रं शत्रु-
रहितं स्थानं कुरु । तथा मे उदक् मे उत्तरतः अनमित्रं कृधि । मे मम पश्चात्
पश्चिमतः अनमित्रं कृधीति वर्त्तते । मे मम पुरः पूर्वस्यां दिशि अनमित्रं कृ-
धि । अयमिन्द्रः पश्चात् पश्चिमदिशि अस्मानभिपातु सर्वतः पालयतु । तथेन्द्रः
पुरस्तात् पूर्वस्यां दिश्यस्मानभिपातु तथेन्द्रो विज्वतः सर्वासु दिक्षु अस्मान-
भिपातु । अयमिन्द्रो जिघ्रामताम् अस्मान् हन्तुमिच्छतां शङ्कणां मनांसि वि-
षूचीना विष्वग्गमनानि, उदिष्टं स्थानं विहायान्यगमनयुक्तानि यथा भवति
तथा व्यस्यतात् । असु क्षेपण इति धातुः । विशेषेण क्षिपतात् ॥ ६ ॥ का-
त्यायनः ॥ समिध आदधाति सर्वेषु यथापर्युक्षितं समिदसीतीति ॥ पाठस्तु ॥
समिदमि समिदो मेऽग्ने दीदिहि । समेद्धा तेऽग्ने दीद्यामिति ॥
हे अग्ने त्वं समिदमि अम्पदीयकाप्रक्षेपेण सम्यगिध्यमानो दीप्यमानो भ-
वामि । समिदोऽस्माभिर्दीपितः सन्मे मदनुग्रहार्थं दीदिहि अनिशयेन दीप्य-
स्व । दीधीद् दीप्तिदेवनयोरिति धातुः । हे अग्ने ते तव समेद्धा सम्यग्दीपयि-
ताऽहं दीद्यामं त्वन्पसादादतिशयेन दीप्तो भूयामम् ॥ ८ ॥ इति तृतीये-
ऽध्याये द्वितीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥ २ ॥

द्वितीयेऽग्निहोत्रमन्त्रा उक्ताः । तृतीयेऽन्युपस्थानमन्त्रा उच्यन्ते ॥ तस्योप-
स्थानकर्तव्यतामग्ना उ ह देवाः सर्वान् पशून् संनिदधिर इत्यादिना कण्वो ब-
हुधा प्रपञ्चयामास ॥ कात्यायनः ॥ सायमाहुत्याहुतायां यजमानोऽग्नी उप-
तिष्ठते । उपप्रयन्त इति ॥ अस्मिन्ननुवाके बहव उपस्थानमन्त्राः । तत्रायं
प्रथमो मन्त्रः ॥ उपप्रयन्तोऽध्वरं मन्त्रं वोचेमाऽग्नये । आरे अस्मे च शृण्वत
इति ॥ अध्वरं यज्ञम् उपप्रयन्तः उपगच्छन्तो वयमनुप्रातारोऽग्नयेऽग्निमी-
त्यर्थं मन्त्रं मननेन त्रातारं शब्दममुहं वोचेम अब्रूयाम । कथम्भूतायाऽग्नये,
आरे दूरे, अस्मे अस्माकं समीप इति शेषः । शृण्वते दूरे समीपे चास्मदीयं
वाक्यं श्रोतुमुद्युक्ताय । अस्य मन्त्रस्य प्राथम्यं कण्वो दर्शयति ॥ स उपवृ-
त्या प्रथमं योपतिष्ठत इति ॥ १ ॥ अथ द्वितीयः ॥ अग्निर्मूर्द्धा दिवःककुत्प-
त्तः पृथिव्याऽअयम् । अपाः रेताः सि जिन्वतीति ॥ अयं दृश्यमानोऽग्नि-
दिवो घुलोकस्य मूर्ध्ना शिरःसमानः । यथा शिरः शरीरस्योपरि वर्तते तथा-
ऽयमग्निरहनि स्वतेजसा आदित्यं प्रविष्टत्वादादित्यरूपेण घुलोकस्योपरि
वर्तते । ककुच्छब्दो गवां पृष्ठं गलप्रदेशतः पश्चादवस्थितमुक्षतावयवमाचष्टे ।

तद्द्वयमादित्यरूपोऽग्निः । सर्वेषामुपरि वर्तमानत्वात् ककुदित्युच्यते । तथा पृथिव्याः (१) पतिः पालकः । दाहपाकप्रकाशैर्भूलेकवर्तिनाम् उपकारत्वात् तादृशोऽग्निरादित्यरूपः । अथां द्युलोकाद् दृष्टिरूपेण पतनीनां रेतामि साराणि, ब्रीहियवादिरूपेण परिणतानि जिन्वति प्रीणयति वर्षयतीत्यर्थः । अस्य मन्त्रस्य पियोक्तौ तात्पर्यं कण्वो, यथा वाचं कल्पानीं वदेदित्यादिना दर्शयामास ॥ २ ॥ अथ तृतीयः ॥ उभा वामिन्द्राग्नी आहुवध्या उभाराधसः सह मादयध्वे उभा दाताम इषां रयीणामुभावाजस्य मातये हुवे वाम ॥ इन्द्रशब्देनात्राहवनीयो विवक्षितस्तस्य सर्वयज्ञमाधकन्वपरमैश्वर्योपेतत्वादग्निशब्देन गार्हपत्यः । अग्नं नयनात् तस्य ह्याधानं प्रथमतो भवति । तथाविधो हे इन्द्राग्नी वामुभौ युवाम उभौ आहुवध्वे आह्रातुमिच्छामीनि शेषः । किञ्च उभौ युवामुभौ राधमोऽन्नाद् हविःस्वरूपान सह मादयध्वे युगपदेककर्माणि हर्षायतुमिच्छामीनि शेषः । उभा युवामुभौ इषामिष्यमाणानां रयीणां धनानां दातारौ । अतो वामुभा युवामुभौ वाजस्य मातयेऽस्मभ्यमन्नस्य दानाय हुवे आहुयामि । अस्यापि तात्पर्यं कण्व इत्थं दर्शयति । उभौ मे दातारौ मन्त्रं दत्तमित्येवैतदाहेति ॥ ३ ॥ अथ तुरीयः ॥ अयं ते योनिर्ऋत्विगो यतो जातोऽअरोचथाः । तं जानन्नग्न आरोहाथानो वर्षयारयिमिति ॥ हे आहवनीय ते तत्रा यं गार्हपत्यो योनिरूपतिस्थानम् । अत एवाऽयम् । ऋत्विगः । उन्पादनयोग्यः काल ऋतुकाल इत्युच्यते । मायम्प्रातरादौ तत्रोत्पादकत्वेन तथाविधकालोपेतः । यतो यस्माद् ऋतुकालोपेताद्गार्हपत्याज्जात उत्पन्नस्त्वम् । अरोचथाः कर्मकाले दीप्तिमानभूः । हे अग्ने आहवनीय जानन् यथोक्तवृत्त नमवगतं गार्हपत्यं स्वजनकम् । आरोह कर्मावसाने प्रविश । अथानन्तरं नो रयिम । अस्मदर्थं धनं पुनःपुनर्यजमानकारणं वर्षय समृद्धं कुरु । एतस्य तात्पर्यं कण्व इत्थं दर्शयति । पुष्टं वै रयिर्यदस्माकं पुष्टं तन्नो भूयो भूय एव कुरु तं नो वर्षयत्येवैतदाहेति ॥ ४ ॥ अथ पञ्चमः ॥ अयमिह प्रथमोऽध्यायः धातुभिर्होता यजिष्ठोऽअध्वरेष्ठीड्यः । यमवमानो भृगवो विरुरुचुर्वनेषु चित्रं विभ्रं विशे विश इति ॥ अयमाहवनीय इह कर्माऽनुष्ठाने प्रथमो मुख्यः सन् धातुभिरध्यायि । आधानकर्तृभिराहितोऽभवत् ।

(१) प्रधने । प्रथ प्रख्याने । पृथुनाऽवतारिता पृथिवी । प्रथे. सं-प्रसारणं किञ्च ।

कथम्भूतोऽयं होता देवानामाहानाय यजिष्ठः अतिशयेन यागोपयुक्तः । अध्वरेषु सोमयागादिषु ईड्यः ऋत्विग्भिः स्तुत्यः । अग्रशब्दः अपत्यनामसु पठितः । अग्रवानः पुत्रवन्तः, अतो भृगवो भृगुवंशोत्पन्नाः सर्वे महर्षयो विशेषे विशेषे यजमानरूपाय तस्मै तस्मै मनुष्याय तदुपकारार्थं वनेषु ग्रामाह्व-
हिर्यजनाख्येषु अरण्यप्रदेशेषु यमाहवनीयाख्यमग्निं विरुरुचुर्विशेषेण दीपि-
तवन्तः । कथम्भूतमग्निम् । चित्रं विविधकर्मोपयोगित्वेन विचित्रम् । अत एव
विभवं विभुत्वशक्तियुक्तं यं विरुरुचुः । अयमिह प्रथम इति पूर्वत्वान्वयः ।
अस्य पूर्ववद् यथावाचमित्यादिना प्रयोक्त्रे परत्वं कण्वो दर्शयामास । प्रथम-
शब्दस्य मुख्यत्वार्थपरत्वं नित्तिरिदर्शयति । अयमिह प्रथमोऽध्यायि धातुभि-
रित्याह मुख्यमेवैनं करोतीति ॥ ५ ॥ अथ षष्ठः ॥ अस्य प्रक्रमनुद्युतः शुक्रं
दुदुहे अह्वयः । पयः महस्रमामृषिमिति ॥ अस्याग्नेः सम्बन्धिनां प्रक्रां चि-
रन्तनकालोपेतां द्युतमनु दीप्तिमनुसृत्य अह्वयः ह्री लज्जायामिति धातुः ।
लज्जारहिता दोग्धारः । ऋषिम् । ऋषी गताविति धातुः । अर्षति दोहनस्थाने
गच्छतीत्यृषिः गौः । तां गां शुक्रं पयः श्वेतवर्णं दुदुहे अग्निहोत्रहोमार्थं दुग्धव-
न्तः । मायं दोहनकाले अग्निमम्बन्धिप्रकाशाभावे दुग्धमानं क्षीरं भूमौ प-
तिप्यतीत्येवं दोग्धृणां लज्जा भवति । सत्यां त्वदीप्तौ स्कन्दनशङ्काऽनुदयाल्ल-
ज्जादोषो नास्तीत्यर्थः । तत्र महस्रमामित्येतद् गोर्विशेषणम् । षोऽन्तकर्मणीति
धातुः । महस्रमंख्याकानि कर्माणि क्षीरदध्याज्यरूपहविःप्रदानेन स्यति स-
मापयतीति महस्रमा तादृशीं गां दुग्धवन्त इत्यर्थः । तत्र महस्रमामित्येत-
त्पदतात्पर्यं कण्वो व्याचष्टे ॥ एषा वै परमा सानिर्यन् महस्रानिरिति ॥ ६ ॥
अथ सप्तमः ॥ तनूपा अग्नेऽमि तन्वं मे पाह्यार्युदा अग्नेऽस्यायुर्मे देहि ।
वर्चोदा अग्नेऽमि वर्चो मे देहीति ॥ हे अग्ने त्वं तनूपा अमि शरीराणां
पालकोऽमि ममि ह्युदराग्नौ भुक्ते जीर्णे ममि शरीराणि पालयन्ते । अतो मे
मम तन्वं शरीरं पाहि पालय ॥ अथाष्टमः ॥ आयुर्दा अग्नेऽस्यायुर्मे देहीति ॥
हे अग्ने त्वम् आयुर्दा अमि । आयुषो दाता भवमि । यावन्तं कालं वपु-
ष्युदराग्नेरौष्ण्यमुपलभ्यते तावन्तं कालं न म्रियते इति हि प्रसिद्धम् । अतो
मे ममऽपमृत्युपरिहारेणायुर्देहि ॥ अथ नवमः ॥ वर्चोदा अग्नेऽमि वर्चो मे
देहीति ॥ हे अग्ने त्वं वर्चोदा अमि वर्चमो वैदिकानुष्ठानप्रयुक्तेजसो दाता-
ऽमि । अतो मे तद्वर्चो देहि तत्तेज आहिताग्नेर्लोकं प्रसिद्धम् ॥ ७ ॥ अथ

दशमः ॥ अग्ने यन्मे तन्वा ऊने तन्मऽआपृणेति ॥ हे अग्ने, मे तन्वाः मदीय-
शरीरस्य यदङ्गं चक्षुरादिरूपं यदूनं दृष्टिपाटवादिरहितं मे तदङ्गमापृण सर्वतः
पूरय ॥ चक्षुषा इत्यादिमन्त्रचतुष्टयतात्पर्यं कण्वो, यदेवेह वाचा कर्म वायुपो
वेत्यादिना विस्पष्टमुवाच ॥ अथैकादशः ॥ इन्धानास्त्वा शतं हिमा शुमन्तः
समिधीमहि । वयस्वन्तो वयस्कृतः सहस्वन्तः सहस्कृतम् । अग्ने सपत्रद-
म्भनमदन्धामो अदाभ्यमिति ॥ हे अग्ने, त्वां शतं हिमाः अस्मदायुपि वि-
द्यमानान् शतमंख्याकान् संवत्सरान् समिधीमहि वयं नेरन्तर्येण दीपयामः
सम्यक् । कथम्भूता वयम् । इन्धानास्त्वदनुग्रहेण दीप्यमानाः, वयस्वन्तो-
ऽन्नवन्तः सहस्वन्तो बलवन्तः । अदन्धासः केनाप्यऽहिमिताः । कथम्भूतं त्वा-
म् । शुमन्तं दीप्तिमन्तम् । वयस्कृतं वयोऽन्नं करोतीति वयस्कृतं तम् । सह-
स्कृतं सहो बलं करोतीति सहस्कृतं तम् । सपत्रदम्भनं सपत्रानां शत्रूणां हिं-
मितारम् । अदाभ्यं केनापि हिमितुमयोग्यम् । अत्र हिमा इत्येतस्य पदस्य
संवत्सरवाचित्वं कण्वो व्याचष्टे ॥ शतं वर्षाणि जीव्यासमित्येवैतदाह यदा
शतं हिमा इतीति ॥ ८ ॥ ९ ॥

अथ द्वादशः ॥ चित्रावमो स्वस्ति ने पारमशीयेति ॥ हे चित्रावमो रात्रे चि-
त्राणि विविधानि चन्द्रनक्षत्रान्धकाररूपाणि वसन्ति यस्यां रात्रौ सा चित्रा-
वमुः । अत एव तित्तिरिराह ॥ रात्रिर्वै चित्रावसुरिति ॥ कण्वोऽपि विस्पष्ट-
माह ॥ रात्रिर्ह वा चित्रावसुरेषा द्वीमानि चित्राणि संगृह्यैव वसति तस्मान्नक्तं
तारकश्चित्रं दृष्टं इति । हे रात्रे ते तव पारं समाप्तिं स्वस्ति क्षेमो यथा
भवति तथा अशीय व्यासवान् । इह लोके हि रात्रौ मनुष्येषु निद्राणेषु
तस्करा गृहं प्रविशन्ति, तद्दत्तं देवयजने रक्षांसि प्रविशन्तीति शङ्कया तन्नि-
वारणार्थं रात्रिदेवतां प्रार्थयन् ॥ अथ त्रयोदशे मन्त्रे कश्चिद्विनियोगाविशेष-
माह ॥ कान्त्यायनः ॥ सं त्वमित्युपविश्येति ॥ पूर्वोक्तैर्मन्त्रैरुत्थायोपस्थानम् ।
अत्र तूपविश्येति विशेषः ॥ पाठस्तु ॥ सं त्वमग्ने सूर्यस्य वर्चमागथाः समृष्टी-
णाः स्तुतेन । सम्प्रयेण धाम्ना समहमायुषा संवर्चसा सम्प्रजया सः प्राय-
स्पोषेण गमिषीयेति ॥ हे अग्ने त्वं सूर्यस्य वर्चसा सूर्यसम्बन्धिना तेजसा
समगथाः रात्रौ सङ्गतोऽसि । अग्निं चादित्यः सायं प्रविशतीति हि श्रुत्य-
न्तरं पूर्वमुदाहृतम् । कण्वोऽप्येतदुदाहराह ॥ स जपति सं त्वमग्ने सूर्य-
स्य वर्चमागथा इति यदैतं सूर्यः प्रविशतीति ॥ किञ्च, ऋषीणां मन्त्राणां स-

सम्बन्धिना स्तुतेन स्तोत्रेण समगथाः । बहवो हि मन्त्रा अग्निं स्तुवन्ति मि-
 येण व्रीतिविषयेण धाम्ना स्थानेन नाम्ना जन्मना च समगथाः । निरुक्त-
 कारो हि धामानीति शब्दस्य यथोक्तपर्थञ्चयं दर्शयति । स्थानानि नामानि
 जन्मान्नीति चेति । यथा त्वमुक्तैर्गुणैः सङ्गतोऽपि एवमहमपि स्वल्पसादादा-
 युषा अपमृत्युदोषरहितेन संगमिषीय सङ्गतो भूषासम । तथा वर्चसा विद्यै-
 स्वर्यादिप्रयुक्ततेजसा संगमिषीय । तथा यजया पुत्रादिकया संगमिषीय तथा
 रायस्पोषेण धनस्य पुष्ट्या संगमिषीय ॥ अथ चतुर्दशे विशेषः ॥ कात्यायन
 आह ॥ गां गच्छत्यन्ध स्येति ॥ कण्वोऽप्येतदाह ॥ अथ गामुपैत्यन्धस्ये-
 ति ॥ पाठस्तु ॥ अन्ध स्थान्धो वो भक्षीय मह स्थ महो वो भक्षीय ऊर्ज
 स्योर्ज वो भक्षीय रायस्पोषस्थ रायस्पोषं वो भक्षीयेति ॥ हे गावो यूयम् ।
 अन्ध स्थ अन्नभूताः स्थ । क्षीराज्यादिरूपस्यान्नस्य जनकत्वादन्नत्वोपचारः ।
 अतो भवत्प्रमादाद्गो युष्मत्सम्बन्धि अन्धः क्षीराज्यादिरूपमन्नं भक्षीय सेवेय ।
 भज सेवायामिति धातुः । तथा महः स्थ पूज्यरूपाः स्थ । मह पूज्यामामिति
 धातुः । वो युष्माकं पूज्यानां प्रमादादहमपि महो भक्षीय पूज्यत्वं सेवेय ।
 गौर्न यदा स्पष्टव्येत्यादिस्मृतेर्गवां पूज्यत्वप्रसिद्धिः । तामेतां प्रसिद्धिं हिषा-
 ब्देन तिङ्गिरिः सूचयति ॥ महसा महो वो भक्षीयेत्याह महो होता इति ॥
 १० ॥ ११ ॥ तथा ऊर्जः स्थ बलरूपा स्थ । गोः सम्बन्धिर्क्षीरादेर्बलहेतु-
 त्वाद् बलरूपत्वोपचारः । ऊर्ज बलप्राणनयोरिति धातुः । वो युष्माकं प्रमा-
 दादूर्जं भक्षीय बलं सेवेय । तथा रायस्पोषः स्थ । धनपुष्टिरूपाः स्थ । वैश्या
 हि क्षीराज्यादिविक्रयेण धनं पुण्णन्ति । अतो धनपुष्टित्वोपचारः । वो यु-
 ष्माकं प्रमादाद् रायस्पोषं धनपुष्टिं भक्षीय सेवेय ॥ अथ यश्चदन्नाः ॥ रेवती
 रमध्वमस्मिन् योना अस्मिन् गोष्ठेऽस्मिन् क्षयेऽस्मिँल्लोके । इहैव स्थेतो मा-
 ऽपगतेति ॥ हे रेवतीः । धनहेतुत्वेन रेवत्यो गावः । अस्मिन् योनां वृद्धमाने-
 ऽग्निहोत्रहविर्दोहनस्थाने रमध्वं क्रीडध्वम् । दोहनादध्वम् । अस्मिन् गोष्ठे
 यजमानमम्बन्धिनि गोवाटे रमध्वं ततो रात्रावस्मिन् क्षये यजमानमम्ब-
 न्धिगृहे रमध्वम् । गोवाटशब्देन गृहाद् बहिर्ध्वश्रम्भेण सञ्चारदेवोऽभि-
 हितः । गर्वदाऽस्मिँल्लोके । लोके दर्शन इति धातुः ।
 यजमानमम्बन्धिदृष्टिविषये रमध्वम् । किं बहुना । इहैव एतस्मिन् यजमान-
 मम्बन्धिदृष्टिविषये रमध्वम् । स्थान एव स्थ यूयं भवत । इतोऽस्मद्गुणज-

मानस्थानान्माऽपगत अपेत्यान्यत्र मा गच्छत । अत्र रेवतीशब्दस्य गो-
वाचित्वं कण्वो दर्शयति ॥ पशवो वै रेवतस्तस्मादाह रेवती रमध्वमितीति ॥ नित्ति-
रिश्चैतद्दर्शयति ॥ रेवतीरमध्वमित्याह । (पशवो वै रेवतीरिति) ॥ पौडशे वि-
शेषमाह ॥ कात्यायनः ॥ (मंहितेत्यालम्बने इति) ॥ गामित्यनुवर्तने ॥ कण्वो
विस्पष्टमेतदाह ॥ अथ गामाभिष्टुतिं संहितामीति ॥ पाठस्तु ॥ संहितासि
विश्वरूपयूर्जामाविश गोपत्येनेति ॥ हे गौः त्वं संहिताभि क्षीराज्यरूपहवि-
र्दानाय यज्ञकर्मभिः संयुक्तासि । विश्वरूपी शुक्रकृष्णादिभिर्वहुभिः रूपैर्युक्ता
सती ऊर्जा क्षीरादिरसैः मे गोपत्येन बहुविधगोस्वामित्वेन मा विश मां सर्वतः
प्रविश । स्वत्पमादानमप बहुविधो रसो बहुविधगोस्वामित्वं च सम्पाद्यताम्
॥ १२ ॥ १३ ॥ मसदश्वे विशेषमाह ॥ कात्यायनः ॥ गार्हपत्यं गत्वेपातिष्ठ-
त उपत्वेतीति ॥ कण्वोऽप्याह ॥ अथ गार्हपत्यमुपैत्युप त्वेतीति ॥ पाठस्तु ॥
उपत्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तधिया वयम् । नमो भरन्त एममीति ॥ हे दोषावस्त-
ऽग्ने दोषा रात्रिस्तस्यामपि वममि अजस्रं धार्यमाणत्वाश्लेषशाम्यतीति दोषा-
वस्ता । तथाविध हे गार्हपत्य दिवे दिवे प्रातिदिनम् । वयं यजमाना धिया
श्रद्धायुक्तया बुद्ध्या नमो भरन्तो नमस्कारं सम्पादयन्तः । उप मपीये त्वा
एममि त्वां प्रत्यागच्छामः ॥ १४ ॥ अथाऽष्टादशः ॥ राजन्तमध्वराणां गो-
पायनस्य दीदिषिम् । वर्षमानं स्वेद मे इति ॥ राजन्तं दीप्यमानम् । अध्वरा-
णां गोपां गोप्तारम् । ऋतस्य सत्यवचनलक्षणस्य व्रतस्य दीदिविं दीपयितारं
स्वे दमे अस्मदीये घृहे वर्षमानं घातुर्मास्यमोमपश्वादिभिरभिष्टुतिं मञ्जन्तं,
त्वामुपेत्यनुवर्तते । अत्र वर्षमानशब्दस्य तात्पर्यं कण्वो दर्शयति ॥ यदास्मा-
कमिष्टत्वं नो भूयो भूय एव कुरु तन्नो वर्षयेत्येवैतदाहेति ॥ १५ ॥ अग्नौ-
कोनविंशः ॥ स नः पिनेव सूनवेऽग्ने मृपायनो भव । सचस्वा नः स्वस्तय
इति ॥ हे अग्ने गार्हपत्य, पूर्वोक्तगुणयुक्तत्वं नोऽस्माकं मृपायनो भव सु-
ष्टूपायं प्राप्नुं शक्यो भव । तत्र दृष्टान्तः— सूनवे पिनेव । यथा पुत्राय पिता
भयं विना मुखेन प्राप्नुं शक्तस्तद्वन्नोऽस्माकं स्वस्तये क्षेमाय सचस्व । अनेत्र
कर्मणा समवेतो भव । सच समवाय इति घातुः । अत्र दृष्टान्तात्पर्यं कण्वो
दर्शयति । यथा पिता पुत्राय सूपचर एवं नः मृपायन एधीत्येवैतदाहेति ॥ १६ ॥
अथ विंशः ॥ अग्ने त्वं नोऽअन्तमऽउत छाता शिवो भवा वरुध्य इति ॥
हे गार्हपत्याग्ने त्वं नोऽस्माकम् अन्तमः अन्तिकतमः सर्वदा समीपवर्ती

भवेत्यन्वयः । उताऽपि च द्याता पालयिता । शिवः शान्तः । वरूध्यः । पुत्रपौत्रा-
 दिसमूहो वरूध्यं तस्मै हितो वरूध्यो भव । इमं मन्त्रमारभ्य चतस्रं ऋचो द्वि-
 पदाः । तासां पुरुषरूपाणां ऋचां याचने तात्पर्यं कण्वो दर्शयति ॥ पुरुषछन्दसं
 वै द्विपदां द्विपाद्व्ययं पुरुषः पुरुषान् वा एतद्याचत इति ॥ अथैकविंशः ॥
 वसुरभिर्वसुश्रवाऽअलानक्षि द्युमत्तमरर्यि दा इति ॥ हे गार्हपत्याख्यामे वसु-
 र्जनानां वामयिता वसुश्रवा वसुना धनेन श्रवः कीर्तिर्यस्याऽमौ वसुश्रवा
 धनप्रदोऽयमित्येवमस्य कीर्तिर्महती । अच्छ निर्मलस्वभाव हे अग्ने, नक्षि अ-
 स्मदीयं होमस्थानं गच्छ । नक्ष गताविति धातुः । यदा यदा वयं होष्याम-
 स्नदा तदा समागच्छेत्यर्थः । द्युमत्तमं दीप्तिमन्तं वर्णविशेषयुक्तं रर्यि धनं दाः
 देहि ॥ १७ ॥ अथ द्वाविंशः ॥ तं त्वा शोचिष्ठ दीदिवः सुम्नाय नूनमी-
 महे सखिभ्य इति ॥ हे शोचिष्ठ दीप्तिमन् दीदिवः सर्वस्य दीपयतः तं त्वा
 पूर्वोक्तगुणयुक्तं त्वामग्निं सुम्नाय सुखार्थं सखिभ्यः अस्मदीयानां मन्वीना-
 मुपकाराय च नूनं निश्चयेन ईमहे याचामहे ॥ अथ त्रयोविंशः ॥ स नो
 बोधि श्रुयी हवमुह्य्याणोऽअघायतः समस्मादिति ॥ हे अग्ने स त्वं नो-
 ऽस्मान् भवत्सेवकान् बोधि बुध्यस्व । हवमस्मदीयमाह्वानं श्रुधि शृणु । सम-
 शब्दः सर्वशब्दपर्यायः । अत्र पापम् अस्मानिच्छनीत्यघायत शत्रुः । सम-
 मस्मादघायतः सर्वास्मदीयशत्रोर्नोऽस्मानुरुष्य पालय । उरुप्यतिस्तु रक्षणक-
 र्मा ॥ १८ ॥ चतुर्विंशो विशेषमाह ॥ कात्यायनः ॥ गां गच्छतीळ एहीति ॥
 हे इळे एहि । हे अदिने एहि आगच्छ । होमस्थानमिति शेषः । इळा मनोर्दु-
 हिता अदिनिर्देवमाता । इळां मनुग्वास्मान् । अदितिरादित्यानिव । अनास्मि-
 स्तच्छब्दस्तद्धर्मनिर्देशार्थः ॥ कात्यायनः ॥ काम्य एहीत्यालभत इति ॥
 पाठस्तु ॥ काम्य एहि मयि वः कामधरणं भूयादिति ॥ हे काम्ये सर्वैः काम-
 यितव्ये धेनो एहि अस्मद्धोमीयमागच्छ । वो युष्माकं गवां कामधरणम् ।
 अपेक्षितफलधारकत्वं यदस्ति तन्मयपनुष्ठानरि भूयात् अस्तु । युष्मत्पमादाद-
 हमभीष्टफलस्य धारयिता भूयामामित्यर्थः । अत्र मयि व इत्यस्य तात्पर्यं कण्वो
 दर्शयति ॥ मयि वः कामधरणमित्यहं वः प्रियो भूयां भूयामामित्येवैतदाहोति ॥
 १९ ॥ अथ षड्विंशः ॥ सोमानः स्वरणं कृणुहि ब्रह्मणस्पते । कक्षीवन्तं य
 औशिज इति ॥ पुञ् अभिषवन इति इति धातुस्तस्मान्मनिन् प्रत्यये नका-
 रान्तः । सोमानमभिषोतारम् । स्ठ शब्दोपतापयोरिति धातुः । स्वरणं श-

श्रुतितारम् । हे ब्रह्मणस्पते वेदपालकाग्ने, सोमयागकर्तारं स्तुतिरूपशब्दयुक्तं च मामित्यध्याहारः । कृणुहि कुरु । तत्रोपमानमुच्यते । कक्षीवन्तं कक्षीव-
न्नामकमृषिं यथा सोमयागयुक्तं स्तुतियुक्तं च कृतवानसि तथा मां कुरु ।
उपमानद्योतनाय इवशब्दोऽत्र लुप्तो दृष्टः । कोऽसौ कक्षीवानिति ? सोऽभि-
धीयते । यः पुमानौशिजः । (उशिजः पुत्रः तं कक्षीवन्तामिति योजनीयम्) ।
सोऽयमर्थो यास्केन स्पष्टीकृतः ॥ सोमानं सोतारं प्रकाशनवन्तं कुरु । ब्रह्मण-
स्पते कक्षीवन्तमिव य औशिजः कक्षीवान् कक्ष्यावानौशिजः उशिजः पुत्र
इति ॥ सोमानमित्येतस्य तात्पर्यं तित्तिरिरपि सूचयति ॥ सोमानं स्वरणं
सोमपीथमेवात्ररुन्ध इति ॥ अत्र सोमानमित्यादेस्तृचस्य लोकत्रयोपस्थानभा-
वनायां तात्पर्यमाह कण्वः ॥ यदाहवनीयमुपतिष्ठते दिवं तदुपतिष्ठते यद्गार्ह-
पत्यं पृथिवीं तथैतदन्तरिक्षमुपतिष्ठते तद्ब्राह्मणस्पत्येनोपतिष्ठते इति ॥ २० ॥
अथ सप्तविंशः ॥ यो रेवान् यो अमीवहा वसुवित् पुष्टिवर्धनः । स नः
मिषवतु यस्तुर इति ॥ यः पुत्रो रेवान् धनवान् पुनरपि यः पुत्रः अमीवस्य
रोगस्य हन्ता, वसुविद् वसुनो धनस्य मारत्वं वेत्तीति वसुवित्, पुष्टिवर्धनः
पोषणस्य वर्द्धयिता । पुनरपि यः पुत्रः तुरस्वरायुक्तः शीघ्रकारी स सदृशः
पुत्रोऽग्नेः प्रसादाप्नोऽस्मान् मिषवतु सेवताम् । तथाच यास्केन व्याख्या-
तम् । स नः सेवतां यस्तुर इति ॥ २१ ॥ अथाष्टाविंशः ॥ मा नः शशसो
अररुषो धूर्तिः प्रणञ्जत्यस्य । रक्षाणो ब्रह्मणस्पत इति । रा दान इति धा-
तोः कमुञ्जन्तस्य पञ्च्येकवचनं ररुष इति, दानं कृतवत इत्युक्तं भवति ।
तस्य निषेधादररुष इत्युक्तम् । कदाचिदपि हविर्दानमकृतवत इत्यर्थः सम्पद्यते ।
तादृशस्य मर्त्यस्य मनुष्यस्य शंसः प्रशंसिता । धूर्तिः कर्मानुष्ठानप्रशंसारूपेण
धौत्येन युक्तः पुत्रोऽस्मान् मा प्रणक् प्रकर्षेण मा व्याप्नोतु । नशिरयं व्या-
प्यर्थः । यद्वा, नश अदर्शन इति धातुः । मा प्रणक् मा प्रकर्षेण विनाशयति-
त्यर्थः । हे ब्रह्मणस्पते, नोऽस्मान् रक्ष । नास्तिकः पुत्रो यथा नोत्पद्यते
तथा पालय ॥ २२ ॥ अथैकोनविंशः ॥ महित्रीणामत्रोऽस्तु शुशं मित्रस्या-
ऽर्यम्णः दुराधर्षं वरुणस्येति योऽयं मित्रः, यश्चार्थमा योऽपि वरुणः । एत-
न्नामकानां त्रीणां त्रयाणां देवानां सम्बन्धि अवः पालनम् । अस्तु भवतु ।
कथम्भूतमवनं महि महत्सर्वापद्रिनाशकम् । शुशं शुमन्ति सुवर्णादिद्रव्याणि
क्षिपन्ति निवसन्ति यस्मिन् पालने तथाविधं दुराधर्षम् । अन्यैराधर्षयितुं तिर-

स्कर्तुमशक्यम् । अत्र महित्रीणामित्यादितृचस्य मध्ये, नाध्वसु वारणेऽपि वि-
 युक्तं यदुक्तं तस्य द्युलोकभूलोकगतसर्वमार्गाभिप्रायं कण्ठो दर्शयति ॥ इमे
 वा अध्वानो वातुरुणायेतरा द्यावापृथिव्योस्तानेवैतदुपातिष्ठन् इति ॥ २३ ॥
 अथत्रिंशः ॥ न हि तेषाममाचन नाध्वसु वारणेषु । ईशे रिपुरग्रशस्म इति ।
 अमाशब्दो गृहनामसु पठितः । अपीयस्मिन्नर्थे चन शब्दो वर्तते । अमा चन
 गृहेऽपि वर्तमानानां तेषां मित्रार्यमवरुणैस्त्रिभिर्देवैः पालितानां यजमानाना-
 मुपद्रवार्थेति शेषः । अग्रशस्मः सर्वदा पापस्य प्रशंसको रिपुः । न ईशे, न
 समर्थो भवति खलु । तथा वारणेषु चोरव्याघ्रादिषु भयवशाच्चिनारितेष्वपि अ-
 ध्वसु मार्गेषु रिपुर्नेशे बाधितुं न समर्थः । मित्रादिभिः पालितानामस्माकं गृहे-
 ऽरण्ये वा नास्ति चोरादिबाधा इत्यर्थः ॥ २४ ॥ अथैकात्रिंशः ॥ ते हि
 पुत्रामो अदितेः प्रजीवमे मर्त्याय । उयोतिर्यच्छन्त्यजस्वामिति ॥ अदितेरस्त्र-
 ण्ढिनशक्तेर्देवमातुः पुत्रावः पुत्रास्ते पूर्वोक्ता मित्रार्यमवरुणा मर्त्याय मनुष्याय
 यजमानाय अजस्वं निरन्तरम् । अनुपक्षीणं तेजः प्रयच्छन्ति । किमर्थम् ?
 जीवमे जीवितुम् । यथा चिरं जीवनं भवति तथा तदुपायज्ञानं प्रयच्छ-
 न्ति ॥ २५ ॥ अथ द्वात्रिंशः ॥ कदाचनस्तरीरसि नेन्द्र मश्रामि दाशुषे ।
 उपोषेन्नु मयन्न भूय इन्नु ते दानं देवस्य पृच्छत इति ॥ हे इन्द्र परमैश्वर्य-
 युक्त कदाचन अस्माभिः पुनः पुनर्याच्यमानः सन् कदाचिदपि स्तरीर्ना-
 ऽमि हिमको न भवामि । न कुप्यमीत्यर्थः । किञ्च हे मयन्न दाशुषे हविर्द-
 क्षवते त्वदनुग्रहार्थम्, उपोष अत्यन्तममीये, इन्नु क्षिप्रमेव । इच्छन्द एवका-
 रार्थः । नुशब्दः क्षिप्रवचनः । मश्रामि मेवसे । अत्यन्ताऽनुग्रहेण सेवकवत्
 क्षिप्रमेवानिममीपमागच्छमीत्यर्थः । देवस्य ते प्रकाशमानस्य तव भूयो दानं
 बहुतरफलदानं पृच्छते यजमानेन संयुज्यते । अत्रेन्द्रशब्दस्य तात्पर्यं कण्ठो
 दर्शयति । इन्द्रो यज्ञस्य देवता, सेन्द्रमेवैतदभ्युपस्थानं करोतीति ॥ २६ ॥
 अथ त्रयस्त्रिंशः ॥ तत्प्रवितुर्वरेणियं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः
 प्रचोदयादिति ॥ तदिति पप्रच्छर्थे । तस्य देवस्य द्योतनाऽऽत्मकस्य स-
 वितुः प्रेरकस्याऽन्तर्धामिणो विज्ञानाऽऽनन्दस्वभावस्य हिरण्यगर्भोपाध्यव-
 च्छिन्नस्य वा ब्रह्मणो भर्गः (१) सर्वपापानां सर्वसंसारमागरस्य च भर्जनमर्थं

१ भर्गःशब्दो वीर्यवचनः । वरुणाच्च धा अभिपिञ्जानाद्भर्गोऽपचक्राम । वीर्यं
 वै भर्ग इति श्रुतं । तेन हि पाप्मानं भृञ्जति दहति । भृजी भर्जनं । अस्य वा
 भर्गस्तेजोवचनः । यद्वा मण्डलं पुरुषो रश्मय इत्येतत् त्रयमभिप्रेयते ॥

तेजः सत्यज्ञानादिवेदान्तमतिपाद्यं वरेणियं वरणीयं सर्वैः प्रार्थनीयं यदस्ति
तद्धीमहि तादृशं तेजो वयं ध्यायामः । छान्दमं संप्रसारणम् । धियो यो नः ।
धीशब्दो बुद्धिवचनः, कर्मवचनो वा । बुद्धीः कर्माणि वा । यः सविता नः
अस्माकं प्रचोदयात् । शुद्ध संचोदने । प्रकर्षेण चोदयति प्रेरयति सत्कर्मा-
ऽनुष्ठानायेति । सवितृपदस्य तात्पर्यं कण्ठो दर्शयति ॥ सविता वै देवानां प्र-
सविता तथोहास्मा एते सवितृप्रसूताः सर्वे कामाः समृद्ध्यन्त इति ॥ २७ ॥
अथ चतुस्त्रिंशः ॥ परि ते दृळभोरथोऽस्माऽअभ्रोतु विश्वतः । येन रक्षसि २-
दाशुषे । समिद्धो मा समर्धय प्रजया च धनेन चेति ॥ हे अग्ने ते तव रथो-
ऽस्मान् यजमानान् विश्वतः सर्वासु दिक्षु पर्यञ्जोतु परितो व्याप्नोतु । क-
स्याञ्चिदपि दिशि अल्पमपि स्थानमपरित्यज्यास्पद्रक्षणाय व्याप्नोतु । कथम्भू-
तो रथः । दृळभः दुर्दभः । छान्दमो वर्णव्यत्ययः । दम्नोतिर्वधकर्मा । दुः-
स्वेन दभ्यते, केनापि सहसा हिंसितुमशक्य इत्यर्थः । येन रथेन दाशुषे दत्त-
वते यजमानाय तदुपकारार्थं, रक्षसि रक्षां करोषि । स रथः छान्दमा पर्यञ्जा-
स्वित्यन्वयः । समिद्धो मया सम्यक्पदीपितस्त्वं प्रजया च पुत्रादिकया धनेन
च सुवर्णादिना मां समर्द्धय । मां यजमानं समृद्धं कुरु । दाशुष इति पदं
कण्ठो व्याचष्टे । यजमानो वै दाश्वाम इति ॥ २७ ॥ इति तृतीयाध्याये
तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥ ३ ॥

तृतीयेऽनुवाके विस्तरेणाऽग्न्युपस्थानमन्त्रा उक्ताः । चतुर्थे मंशेपेणा-
ऽग्न्युपस्थानमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ भूर्भुवः सुवरिति ॥ वाशब्दो
विकल्पार्थः । पूर्वोक्तनोपप्रयन्त इत्यादिना वा, वक्ष्यमाणेन भूर्भुवः स्वरित्या-
दिना वा द्वयोरन्यतरेणाऽनुवाकेनोपस्थानं कुर्यादित्यर्थः ॥ प्रथममन्त्रः, कण्ठो
ऽप्येतदुपस्थानं दर्शयति ॥ स वा अग्निहोत्रः हुत्वा मायमुपनिष्ठते भूर्भु-
वः स्वरितीति ॥ पाठस्तु ॥ भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजया भूयासम् । सुवीरो
धीरैः सुपोषः पोषैरिति ॥

अग्ने भूर्भुवः स्वः भूरादिव्याहृतित्रयाऽऽत्मकस्तदर्थभूतलोकत्रयात्मको वा त्वम्,
अतस्त्वत्प्रसादाद् अहं यदा प्रजया बन्धुभृत्यादिरूपया युज्येयं तदानीं
सुप्रजाः अनुकूलत्वेन शोभमानाः प्रजा यस्य मम तादृशो भूयासम् । तथा
धीरैः स्वस्वकार्येषु शूरैर्यदा युज्येयं तदानीं सुवीरः शास्त्रीयमार्गवतिशोभन-
पुत्रो भूयासम् । यदा च पोषैः पुष्टैः संपर्जन्युज्येयं तदानीं सुपोषः बहुमन्यार्ह

हिरण्यादियुक्तो भूयासम् ॥ १ ॥ द्वितीयतृतीयमन्त्रयोर्विशेषमाह ॥ कात्या-
यनः ॥ प्रवत्स्यन्नुभौ नर्येति प्रतिमन्त्रमिति ॥ कण्वोऽप्याह ॥ अथ खलु
प्रवत्स्यन् गार्हपत्यमेवाग्र उपतिष्ठते । आहवनीयमिति ॥ यदा यजमानो
ग्रामान्तरं गन्तुमिच्छति तदानीमुभावाहवनीयगार्हपत्याग्नी मन्त्रद्वयेनो-
पतिष्ठेत ॥ तयोः पाठस्तु ॥ नर्यं प्रजां मे पाहि शस्स्य पशून् मे पाहीति ॥
हे नर्यं नरेभ्यो यजमानेभ्यो हिन गार्हपत्य मे प्रजां पाहि । हे शस्स्याऽनुष्ठा-
तृभिः शंसितुं योग्याहवनीय, मे पशून् पाहि ॥ तुरीयपञ्चमयोर्विशेषमाह ॥
कात्यायनः ॥ उपतिष्ठत आहवनीयगार्हपत्यावागन्मेति प्रतिमन्त्रमिति ॥
ग्रामान्तरं गत्वा प्रज्ञागतो यजमानो मन्त्राभ्यामाहवनीयगार्हपत्यानुपतिष्ठेत ।
कण्वोऽप्येतदुभयं दर्शयति ॥ स आहवनीयमुपतिष्ठते आगन्मेति । स गार्ह-
पत्यमुपतिष्ठते । अधमग्निरिति ॥ आहवनीयार्थमन्त्रपाठस्तु ॥ आगन्म विश्व-
वेदसमस्मभ्यं वसुवित्तमम् । अग्ने सम्राज्यभिद्युम्नमभिमह आयच्छस्वेति ॥
विश्वं वेत्ति वेदयतीति वा विश्ववेदाः । तं सर्वज्ञम्, अस्मभ्यम् । अस्मदर्थं, वसु-
वित्तमम् अनिशयेन वसुनो धनस्य वेदिनारं लब्धारं तथाविधमाहवनीयमु-
द्दिश्यागन्म वयं ग्रामान्तरात् प्रत्यागताः । सम्यग्राजने दीप्यते इति सम्राट् ।
तथाविधाऽग्ने हे आहवनीय अभिद्युम्नं सर्वतोऽवस्थितं धनम् । अभिमहः
शक्नुनभिभवितुं बलम् आयच्छस्व । दाण दान इति धातोर्यच्छादेशः । धनं
बलं जानीयास्मभ्यं देहि ॥ गार्हपत्यार्थमन्त्रपाठस्तु ॥ अयमग्निर्यदुपतिगार्ह-
पत्यः प्रजावान् वसुवित्तमः । अग्ने गृहपतेऽभिद्युम्नमभिमह आयच्छ-
स्वेति ॥ अयं पुरोऽवस्थितो गार्हपत्य एतन्नामकोऽग्निः गृहपतिः गृहस्य
पालकः प्रजावान् अस्मदीयपुत्रपौत्रादिस्वामी । वसुवित्तमः प्रजाऽनुग्रह-
स्यातिशयेन धनस्य लब्ध्वा । अन्यन् पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ पष्ठे विशे-
षमाह ॥ कात्यायनः ॥ गृहा मा विभीनेति गृहानुर्पेतीति ॥ ग्रामान्तरादागतः
स्वगृहान् प्राप्नुयात् ॥ कण्वस्त्वेवमाह ॥ स उपतिष्ठते गृहा मा विभेतीति ॥
पाठस्तु ॥ गृहा मा विभीत मा वेपथ्वमूर्जं विश्रत एमसि । ऊर्जं विश्रद्गः सु-
मनाः सुमेधा गृहानैमि मनसा मोदमान इति ॥ मा गृहा विभीत भयं मा कार्षिष्ठ
मा वेपथ्वम् । यः कोऽपि शत्रुरागत्य विनाशयिष्यतीति बुद्ध्या मनसि क-
म्पनं मा कार्षिष्ठ । यतो वयम् ऊर्जं विश्रतः अन्नं संपूर्णं धारयमाणान् यु-
ष्मान् पति एमसि आगतोऽस्मि । यथा यूयम् ऊर्जं विश्रतस्तथाऽहमप्यूर्जं

विभ्रद्धारयन् सुमनाः शोभनमनस्कः सुमेधाः शोभनधारणप्रज्ञोपेतः, मनसा
दुःस्वरहितेन मोदमानो हृष्यन् गृहरूपान् युष्मान् प्रति एमि आगच्छामि ॥
अथ सप्तमः ॥ येषामध्येति प्रवमन् येषु सौमनसो बहुः । गृहानुप- ७-
ह्वयामहे ते नो जानन्तु जानत इति ॥ प्रवमन् देशान्तरं गच्छन् यजमानो
येषामध्येति । द्वितीयार्थे षष्ठी । इक् स्मरण इति धातुः । तथाविधान् गृहान्
यथा भवति तथा स्मरति गृहविषयं क्षेमं सर्वदा चिन्तयतीत्यर्थः । तथा येषु
गृहेषु यजमानस्य सौमनसो बहुः । सुमनसो भावः सौमनसः प्रतीत्यतिशयः
स च भूयान् । गृहानुपह्वयामहे । तान् प्रीतिविषयान् । गृहाभिमानां देवोऽस्म-
त्समीपे समागच्छत्विति । सर्वदा यजमानः ते च गृहदेवा जानत उपकारा-
भिज्ञानान्नोऽस्मान् जानन्तु, एते कृतघ्ना न भवन्तीत्यवगच्छन्तु ॥ अथाष्टमः । ८-
उपहृता इह गाव उपहृता अजावयः । अथोऽअन्नस्य कीलाल उपहृतो गृहेषु
न इति ॥ इह गृहेषु गाव उपहृताः । धेनवो बलीवर्दाश्च सुखेन तिष्ठन्तिव-
त्येवम् अनुज्ञाताः । तथा इह गृहेषु अजावयः अजात्वाऽवित्वजातिद्वययुक्ताः
पशव उपहृताः सुखेन वर्तन्तामित्यस्माभिरनुज्ञाताः । अथो अपिच अन्नस्य
कीलालः । अन्नसंवन्धी रमविशेषो नः अस्मदीयेषु गृहेषु उपहृतः ससृद्धो
भवन्वित्येवमस्माभिरनुज्ञातः ॥ नवमे विशेषमाह ॥ कात्यायनः ॥ क्षेमाय व
इति प्रविशतीति ॥ पाठस्तु ॥ क्षेमाय वः शान्त्यै प्रपद्ये शिवः शम्भुः शंयोः
शंयोरिति ॥ हे गावो युष्मान् प्रपद्ये प्राप्नोमि । किमर्थं, क्षेमाय विद्यमानवसुनो
रक्षणं क्षेमस्तदर्थम् । तथा शान्त्यै मम सर्वाऽनिष्टशमनाय । शंयोः शमिति
सुखनाम, तत्कामयमान इति शंयुः । शंयुरिदं कामयमान इति यास्केनोक्तत्वा-
त् । तादृशस्य मम । शिवं शम्भुमिति द्वे सुखनामनी । तन्नाद्यमैहिकं द्वि-
तीयमामुष्मिकम् । उभयविधं सुखं भूयादिति शेषः । शंयोः शंयोरित्यभ्यास
इत्यादरार्थः ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥ इति तृतीयेऽध्याये तुरीयो-
ऽनुवाकः ॥ ३ ॥ ४ ॥

चतुर्थे सङ्क्षेपेणान्युपस्थानमन्त्रा उक्ताः ॥ पञ्चमे वरुणप्रघासमन्त्रा उ-
च्यन्ते ॥ चातुर्मास्याख्ययागः पर्वचतुष्टयात्मकः । वैश्वदेववरुणप्रघाससाकमेव-
शुनासीरीयाख्यानि चत्वारि पर्वाणि । तत्र वरुणप्रघासाख्ये द्वितीये पर्वणि
दक्षिणोत्तरयोर्द्वयोर्वेद्योर्द्विविध्वासादितेषु प्रतिप्रस्थाता पत्नीमुदानयेत् । जारं
तदीयं पृच्छेत् । साऽपि तं जारं ब्रूयात् । तदाह कण्वः ॥ स पत्नीमुदान-

यति तदा नेष्यन् पृच्छति, केन चरसीति वरुणं ह वा एतत्स्वीकरोति यदन्व-
स्य सत्येन चरतीति ॥ वरुणमपकृत्यत्वेन तन्निवारणीयमित्यर्थः ॥ तित्तिरिर-
प्येतत् सर्वं विस्पष्टमाह ॥ पर्त्नीं वाचयति । मेध्यामेवैनां करोति । अघोतम
एतेनामुपनयति । यज्जारः सन्नं न ब्रूयात् । पियं जातिः रुन्ध्यात् । असौ
मे जार इति निर्देशत् । निर्दिश्यैवैनं वरुणप्रघामेन ग्राहयतीति ॥ आपस्त-
म्बोऽप्येतद्दर्शयति ॥ प्रतिप्रस्थाता पत्नीमुदानयत्येतच्च वाचयति तां पृच्छति,
पत्नि ! कति ते जारा इति । यानाचष्टे तान् वरुणो शुद्धात्विति निर्दिशती-
ति ॥ कात्यायनः ॥ आरुधाते प्रघामिन इत्येनां वाचयति नयन्निति ॥ जारे
पन्था कथिते सत्येनां पर्त्नीं नयन् प्रतिप्रस्थाता प्रघामिन इति मन्त्रं वाच-
येत् । कण्वोऽप्याह ॥ तां वाचयति प्रघामिन इति ॥ पाठस्तु ॥ प्रघामिनो
हवामहे मरुतश्च रिशादमः । करम्भेण सजोपम इति ॥ यन्मृ अदन इति
धातुः । प्रकर्षेण घस्यते भक्षयत इति हविर्विशेषः प्रघामः । स येषामस्ति
तान् प्रघामिनो मरुत एतन्नामकान् देवान् हवामहे आह्वयामः । मरुतश्चेति
चकारेण तदीयपरिचारकाः समुच्चीयन्ते । ते सर्वेऽपि रिशादमः । रिश
हिंसार्थः । दम उपसृपे इति धातुः । रिशां वैरिभूतां हिंसां दस्यभ्युपक्षयन्ती-
ति रिशादमः । करम्भेण, यवमयो हविर्विशेषः करम्भस्तेन सजोपमः समान-
प्रीतयः । तथाविधान् मरुत इति पूर्वत्राऽन्वयः ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ क-
रम्भपात्राणि जुहोति शूर्पेण मूर्द्धनि कृत्वा दक्षिणेऽग्नौ प्रत्यङ्मुखी जाया-
पती वा दक्षिणेनाहत्य तीर्थेन पूर्वेण वेदिमपरेण वा यद् ग्राम इतीति ॥ यव-
पिष्टेन निर्मितानि कृत्वा दक्षिणेऽग्नौ प्रत्यङ्मुखमपमेण्यादिरूपाणि करम्भ-
पात्राणि तानि शूर्पेण पत्नी जुहुयादित्येकः पक्षः । दम्पती जुहुयातामित्य-
परः पक्षः । तौ च दक्षिणोत्तरमार्गेण तानि पात्राण्याहत्य वेदेः पूर्वदिशि प-
श्चिमदिशि वा स्थित्वा जुहुयाताम् ॥ कण्वस्तु पत्नीहोमपक्षमाश्रित्याह ॥ सा
जुहोति यद् ग्राम इति ॥ पाठस्तु ॥ यद् ग्रामं यदरण्ये यन्महापां यदिन्द्रिये ।
यदेनश्चक्रमा वयमिदं तदवपजामहे स्वाहेति ॥ ग्रामे वसन्तो ग्रामोपद्रवरूपं
चक्रम् । तथाऽरण्ये वसन्तो वयं यदेनो मृगवृक्षोपद्रवरूपं चक्रम् । तथा
सभायामवस्थिता वयं यदेनो महाजनतिरस्कारादिकं चक्रम् । तथेन्द्रिये जि-
ह्वोपस्थरूपे प्रीतियुक्ता वयं यदेनः कलज्जभक्षणपरस्त्रीगमनाऽऽदिकं चक्रम्,
तथाऽन्यत्रापि भृत्यस्वाम्यादौ यदेनस्ताडनाऽवज्ञादिकं चक्रम् । अत्र भृत्य-

स्वामिविवक्षयैव तित्तिरिणा मन्त्र एवं समाप्नातः ॥ यच्छूद्रे यदर्य एतच्चकृमोते ॥
तदिदं सर्वं पापम् अवयजामहे विनाशयामः । अवपूर्वो यजानर्नाशार्थः ॥ स्वाहा
एतद्धविर्देवतायै पापविनाशिन्यै दत्तम् ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ मो घृ ण इति
यजमानो जपतीति ॥ पाठस्तु ॥ मो घृ ण इन्द्रात्र पृन्मु देवैरस्ति हि प्या ते शु-
ष्मिन्नवयाः । महश्चिद्यस्य मीलुषां यव्या हविष्मतो मरुतो वन्दन्ते गीरिति ॥
पृदिति संग्रामनाम । हे इन्द्र, अत्र पृन्मु संग्रामेषु वर्तमानः । देवैस्त्वया मह
सख्यं प्राप्तैर्मरुन्नामैर्केदेवैः सहितस्त्वं नोऽस्मान् मो विनाशयेति शेषः । मोशब्दो
निषेधाऽर्थः । मुशब्दो विनाशाभावस्याऽमौष्ट्वं ध्वने । तथा मति विना-
शलेशो मा भूदित्ययमर्थः संपद्यते । कः प्रमङ्गो विनाशम्येन्याशङ्क्यास्ति ही-
त्यादिना स प्रमङ्गोऽभिधीयते । शुष्मेति बलनाम । हे शुष्मिन् बलवन् इन्द्र,
ते तव अवयाः अवक्षारूपो व्यापारः, अस्ति हि स्म । विद्योतत एव खलु । अ-
वपूर्वस्य अयनेरवया इति रूपम् । अवगतो यागोऽवयाः । यद्यपि तत्कालो-
चित्वदीययागाभावरूपोऽपराधोऽस्मासु विद्यते, तथाऽपि कृपालुस्त्वमस्मान्
मा विनाशयेत्यर्थः । मिह मेचन इति धातुः । मीढुषो वृष्टिपदत्वेन मेवतुः ।
हविष्मत हविर्योग्यस्य यस्य तव यव्या यवमयैः करम्भपादैर्निष्पन्ना होमक्रिया,
महश्चिन् पृजा खलु । तस्य तव यथोक्तपृजोपेतस्याऽस्मासु कृपालुत्वं
युक्तमित्यभिप्रायः । किञ्च, गीरस्मदीया स्तुतिरूपा वाक् मरुतो भवतः सखीन्
वन्दन्ते नमस्करोति । नमो मरुदभ्य इत्येवमादिकायास्तुतेर्नमस्काररूपत्वा-
न्मरुद्विषयनमस्कारेणापि तदृश्य तव कृपेव युक्त्यर्थः ॥ ३ ॥

कात्यायनः ॥ अक्रन् कर्मत्येनां वाचयतीति ॥ पाठस्तु ॥ अक्रन् कर्म कर्मकृतः
सह वाचा मयोभुवा देवेभ्यः कर्म कृत्वाऽस्तं प्रेत स चाभुवः इति ॥ कर्म-
कृतः वरुणप्रद्यामाख्ये कर्मकारिण ऋत्विजः, वाचा स्तुतिरूपया सह कर्म
वरुणप्रद्यामानुष्ठानरूपम्, अक्रन् कृतवन्तः । कथम्भूतया वाचा । मयोभुवा ।
मय इति मुग्वनाम । तन्मयो भवति निष्पद्यते यया स्तुतिरूपया वाचा सा
स्तुतिर्मयोभूतया मयोभुवा वाचा मन्त्ररूपस्तुत्येत्यर्थः । सचाभुवः महभवन-
शीलाः । परस्परं यजमानेन पत्न्या चास्मिन् कर्मणि महावस्थिता ऋत्विजः ।
देवेभ्यो देवार्थं कर्म कृत्वा वरुणप्रद्यासनामकं कर्मानुष्ठानास्तं प्रेत गृहान् ग-
च्छत । सोऽयमर्थः कण्वेन दर्शितः ॥ अस्तं प्रेतं तिगृहानुवा अस्तं न देवान्
गृहेष्वेव प्रतिष्ठापयतीति ॥ तित्तिरिष्यमुमेवार्थं दर्शयति ॥ अक्रन् कर्म कर्मकृत

इत्याह । देवानृणां निरवदाय अनृणां गृहानुपमेतेति वाचे तदाहेति ॥ देवान्
 उद्दिश्य कर्त्तव्यो यज्ञ ऋणं, तन्निरवदाय निःशेषेण परिहृत्येत्यर्थः ॥ ४ ॥
 कात्यायनः ॥ अवभृथेति जायापनी स्नात इति ॥ वरुणप्रघासस्य कर्मणोऽन्ते
 तदङ्गभूतं यदवभृथाख्यं कर्म जलसमीपे क्रियते तत्रानेन मन्त्रेण दम्पतिभ्यां जले
 स्नानं कर्त्तव्यम् ॥ पाठस्तु ॥ अवभृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुण । अव देवै-
 र्देवकृतमेनोयासिषमव मर्त्यैर्मत्यकृतं पुरुराव्णो देवरिषस्पाहीति ॥ अवाचीनानि
 पात्राणि जलमध्ये क्रियन्ते यस्मिन् यज्ञविशेषे सोऽयमवभृथः । हे अवभृथ
 त्वं निचुम्पुण नितरां मन्दं गच्छ । चुप मन्दायां गताविति धातुः । निचे-
 रुरसि नितरां चरणशीलोऽसि । तथाप्यत्र निचुम्पुण नितरां मन्दं गच्छ ।
 मन्दगतौ किं प्रयोजनामिति, तदुच्यते । देवैर्योतनात्मकैरस्मदीयैरिन्द्रियैर्देवत्वै-
 र्मनुष्यैरस्मत्सहायभूतैर्ऋत्विग्भिर्मत्यकृतं मर्त्येषु मनुष्येषु यज्ञदर्शनार्थमागतेषु
 कृतमवज्ञारूपं यदेनोऽस्ति तदप्यहमवयासिषमित्यनुवर्त्तते । इदमस्माभिः परि-
 त्यक्तमेनो यथा त्वां न प्राप्नोति तथा, हे यज्ञ मन्दं गच्छेत्प्रमायः । हे देव
 अवभृथाख्यस्य यज्ञपुरुष । रा दान इति धातुः । बहुविधविरुद्धफलदायिनो
 रिषो वधात् पाहि पालय रिषनिर्हिमार्थः । विरुद्धफलदायी वधस्त्वत्प्रमादा-
 दस्माकं मा भूदित्यर्थः ॥ ५ ॥ इति तृतीयेऽध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ३ ॥ ५॥

पञ्चमे वरुणप्रघाममन्त्रा उक्ताः ॥ पष्ठे माकमेधगतं किञ्चित् कर्मोच्य-
 ते ॥ कात्यायनः ॥ पूर्णां दर्वीमिवहन्ति पूर्णां दर्विं पगपतेति ॥ पाठस्तु ॥
 पूर्णां दर्विपरापत सुपूर्णा पुनरापत । वस्नेव विक्रीणावहा इषमूर्जः शतक्रतो
 इति ॥ हे दर्वि अन्नप्रदानमाधनभूते काष्ठादिनिर्मिते त्वं पूर्णायाः स्थान्याः
 सकाशादन्नं गृहीत्वा सम्पूर्णा भूत्वा परिपूर्णत्वादेव उत्कृष्टा सती पत इन्द्र-
 देवतां प्रति गच्छ । सुपूर्णा कर्मफलेन सुष्ठु पूर्णा सती पुनरापत भूयोऽस्मान्
 प्रत्यागच्छ । हे शतक्रतो इन्द्र, त्वं चाहं चोभौ वस्नेव वसुना धनेनेवेषामितीष्टं
 हविःस्वरूपमन्नम् । उर्जं हविर्दानफलरूपं रमविशेषं च विक्रीणावहं परस्पर-
 द्रव्यविनिमयरूपं विक्रयं करवावहं । अहं हविस्तुभ्यं ददामि त्वं च मम
 फलं देहीत्यर्थः ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ देहि म इति जुहोतीति ॥ कण्वो-
 ऽप्याह ॥ म जुहोति देहि म इति ॥ पाठस्तु ॥ देहि मे ददामि ते नि मे घेहि
 नि ते दधौ । निहारं निहरामि ते निहारं निहरासि मे स्वाहेति ॥ हे यजमान
 त्वं मे ममामिन्द्राय देहि हविः प्रथमं प्रयच्छ । ते तुभ्यं यजमानाय ददामि

अपेक्षितं पश्चात् प्रयच्छामि । अनेन प्रथमपादेन उक्त एवार्थः पुनरपि द्वितीयपादेनादरातिशयार्थमुच्यते । मे मल्लम् इन्द्राय निधेहि प्रथमं त्वं हविर्नितरां सम्पादय । ते तुभ्यं यजमानाय निदधौ अपेक्षितफलं सम्पादयामि । निहारशब्दो मूल्यवाची । नितरां हियते इति व्युत्पत्तेः । निहारं मूल्यभूतं हविः, ते तुभ्यम् । इन्द्राय निहरामि यजमानोऽहं नितरां समर्पयामि । उत्तरो निहारशब्दो मूल्येन द्वेनव्यं पदार्थं ब्रूते । तत्रापि नितरां हियते इति व्युत्पत्तिः । निहारं क्रेतव्यवस्तुरूपं फलं मे मल्लं यजमानाय निहरासि पश्चान्नितरां प्रयच्छ । पूर्वधिपादद्वयेनोक्तोऽर्थः । आदरेण द्विवारमिन्द्रेणोक्तः । तमर्थमुत्तरार्द्धेन यजमानः सम्पगङ्गीकरोति स्वाहेत्ययं शब्दो हविर्दानार्थः ॥ १ ॥ तृतीयेऽध्याये षष्ठोऽनुवाकः ॥ ३ ॥ ६ ॥

षष्ठे साकमेधगतपूर्णादव्यारूप्यकर्माङ्गभूतमन्त्रा उक्ताः । मस्येऽपि साकमेधगतपितृयज्ञारूप्यकर्माङ्गभूता मन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ यज्ञोपवीतिनः सर्वे निष्क्रम्योदञ्चोऽक्षन्नमीमदन्तेत्याहवनीयमुपतिष्ठन्ते द्वाभ्यामिति ॥ कण्वोऽप्याह ॥ ऐन्द्रीभ्यामुपतिष्ठते । इन्द्रो ह्याहवनीयोऽक्षन्नमीमदन्तेति ॥ तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ अक्षन्नमीमदन्त ह्यविप्रया अधूषत । अस्तोषत स्वभानवो विप्रा नविष्ठया मती योजान्विन्द्र ते हरी इति ॥ अद भक्षण इति धातोलुटि घस्ठादेशे सत्यसन्निति रूपम् । पितृयज्ञारूप्ये कर्मणि ये पितरः सन्ति तेऽस्माभिर्दत्तं हविःस्वरूपमन्नम् । अक्षन् भक्षितवन्तः । कथमेतदवगम्यते । उच्यते । हि यस्मादमीमदन्त । इर्ष माप्ताः । मदी हर्षे इति धातुः । तस्मादक्षन्नित्यवगम्यते । अत्रास्मदीयां भक्तिप्रवगत्य प्रियाः प्रीतियुक्ताः सन्तः, अधूषत स्वकीयं शिरः कम्पितवन्तः । धूञ् कम्पन इति धातुः । किञ्च स्वभानवः स्वयं दीप्तियुक्ता विप्रा मेधाविनः सन्तो, नविष्ठया नवतमया मती मतिर्युक्ता अस्तोषत स्तुतिं कृतवन्तः । अहो भक्तिरित्यभिधानं स्तुतिः । हे-इन्द्र नु क्षिप्तं ते तव, हरी एतन्नामकौ हरितवर्णावश्चौ, योज गमनाय रथे योजय । तवाभीष्टायाः पितृनुमेः संपन्नत्वात् तैः पितृभिः सह त्वया गन्तव्यमित्यर्थः ॥ १ ॥ द्वितीयमन्त्रपाठस्तु ॥ सुसंहशं त्वा वयं मघवन् वन्दिषीमहि । मन्त्रं पूर्णबन्धुरः स्तुतो यामि वशां अनु योजान्विन्द्र ते हरी इति ॥ हे मघवन् इन्द्र सुसंहशं त्वा शोभनदर्शनं त्वां वयमनुष्ठातारो वन्दिषीमहि अभिवादयामः । इत्थमस्माभिर्नमस्कृतस्त्वं, पूर्णबन्धुरः । रथनीडवाची व-

न्युरशब्दः । संपूर्णरथनीडोपेतो भूत्वा स्तुतः अस्माभिः स्तूयमानः सन्
 वशान् अनु अस्मदीयकामानतुलक्ष्यीकृत्य नूतं प्रयासि अवश्यमस्मदीयान्
 कामान् दातुमत्र स्वस्थाने गच्छसि । योजेत्यादि पूर्ववत् ॥२॥ कात्यायनः ॥
 मनो न्वाहुवामहे इति गार्हपत्यं तिसृभिरिति ॥ उपतिष्ठन्त इत्यनुवर्तते ॥
 तत्र प्रथमायाः पाठस्तु ॥ मनो न्वाहुवामहे नाराशम्भेन स्तोमेन । पितॄणां
 च मन्मभिरिति । नुः क्षिप्रवचनः । पितृयज्ञानुष्ठानविषयं चित्तं तदाभिमानि-
 दैवतमित्यर्थः । आहुवामहे आहुवामः । केन साधनेनेति । तदुच्यते । स्तोमेन
 स्तोत्रेण । कथम्भूतेन, नाराशम्भेन । शंभः प्रशंसनम् । नराणां मनुष्याणां
 योग्यः शंभो नराशंभः । तत्संबन्धी नाराशंभः । स्तोत्रं द्विविधं—दैवं, मानुषं च ।
 यत्र देवाः स्तूयन्ते तदैवं, यत्र च मनुष्याः प्रशस्यन्ते तन्मानुषम् । तथाविधेन
 स्तोत्रेणेत्युक्तं भवति । किञ्च, पितॄणां मन्मभिः । पितरो यैः स्तोमैर्मन्यन्ते-
 ऽवगम्यन्ते तादृशैः स्तोत्रैराहुवामः : ॥ ३ ॥ द्वितीयायाः पाठस्तु ॥ आ न
 एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवमे । ज्योक्च सूर्य दश इति । नोऽस्माकं मनः
 पूर्वोक्तं चित्तं पुनर्भूय आ एतु आगच्छतु । किमर्थं, क्रत्वे क्रतवे, संकल्पाय, यज्ञं
 संकल्पयितुं दक्षाय कर्मण्युत्साहाय । ज्योगिति निपातश्चिरवचनः । जीवमे
 चिरं जीवितुं, सूर्य दशं च चिरकालं सूर्यमवलोकयितुं च । एतेषां संकल्पादीनां
 मिद्वये मनः पुनरागच्छतु ॥ ४ ॥ तृतीयायाः पाठस्तु ॥ पुनर्नः पितरो मनो
 ददातु दैव्यो जनः । जीवं व्रातः सचेमहीति ॥ हे पितरः, भवदनुज्ञया
 दैव्यो देवसम्बन्धी जनः पुरुषो नोऽस्मभ्यं मनः पूर्वोक्तचित्तं पुनर्भूयो ददातु
 प्रयच्छतु प्रेरणत्वित्यर्थः । तथा मयानुष्ठानं कृत्वा भवत्प्रसादाज्जीवं जीवन्तं
 व्रातं पुत्रपञ्चादिगणं सचेमहि मेवेमहि । सचानिः सेवार्थः । अनन्तरमाप्ना-
 तो मन्त्रः प्रकरणबलाद् अत्र जपार्थो द्रष्टव्यः ॥ ५ ॥ पाठस्तु ॥ वयं सोम
 व्रते तव मनस्तनुषु विभ्रतः । प्रजावन्तः सचेमहीति ॥ अत्र पितृयज्ञे सोम
 नामको देवोऽस्ति । सोमाय पितृमन इत्येवं हविषो विहितत्वात् । हे सोम
 वयं यजमानाः । तव व्रते त्वन्मस्वन्धिनि कर्मणि वर्तमानाः । तनुषु भवदीय-
 शरीरेषु मनो विभ्रतः अस्मदीयचित्तं धारयतः । त्वत्कारुण्यात् प्रजावन्तः
 पुत्रपौत्रादिभ्यः प्रजाः सचेमहि सर्वदा च संयुक्ता भवेम ॥ ६ ॥ इति तृतीये-
 ऽध्याये सप्तमोऽनुवाकः ॥ ३ ॥ ७ ॥

सप्तमे साकपेधगतपितृयज्ञमन्त्रा उक्ताः ॥ अष्टमे साकपेधगतमध्यम्बक-

हविर्विषया मन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ एष ते जुहोतीति ॥ पाठस्तु ॥
 एष ते रुद्र भागः सह स्वस्त्राऽम्बिकया तं जुपस्व स्वाहेति ॥ रोदयति विरो-
 धिनां शतमिति रुद्रः । हे रुद्र, ते स्वस्त्रा तव भगिन्या अम्बिकया एतन्नाम-
 धारिण्या सह एषोऽस्माभिर्दीयमानः पुरोडाशभागो भजनीयः स्वीकर्तुं यो-
 ग्यः । एवं तथाविधं पुरोडाशं संजुपस्व स्वाहा इदं हविर्दत्तम् । अम्बिकाया
 रुद्रभगिनीत्वं कण्वो दर्शयति । अम्बिका ह वै नामास्य स्वमा तथास्यैष सह-
 भाग इति । योऽयं रुद्राऽऽख्यः क्रूरो देवः, तस्य विरोधिनां हिमितुमिच्छा
 भवति । तमनया भगिन्या क्रूरदेवतया साधनभृतया हिनस्ति । सा चाम्बिका
 शरत्कालरूपं प्राप्य उवगादिकमुत्पाद्य तं विरोधिनां हन्ति । रुद्राम्बिकयो-
 स्तयोरुभयोरुग्रत्वमनेन हविषा शान्तं भवति । तदेतत् सर्वं नित्तिरिदर्शयति ॥ एष
 ते रुद्रभागः सहस्वस्त्राऽम्बिकयेत्याह शरद्रा अस्याम्बिका सा भिया एष हिनस्ति
 वयः हिनस्ति तथैतस्मै शमयतीति ॥ कात्यायनः ॥ अतिरिक्तमाश्वत्थकमुप-
 क्रियन्तेपतइतीति॥यजमानस्य पुत्रभृत्यादयो यावन्तः पुरुषाः सन्ति तान् ग-
 णयित्वा प्रतिपुरुषमैकैकः पुरोडाश इत्येतावतः पुरोडाशान्निरूप्य ततोऽप्यग्नि-
 कमेकं पुरोडाशं निर्वपेत् । सोऽयमतिरिक्त इत्युच्यते । तदेतत् कात्यायनेन
 आदौ सूचितम् । त्रैयम्बकाभिर्वपति रौद्रानेककपालान् यावन्तो यजमानगृहा,
 एकाधिकानिति ॥ नित्तिरिग्णाप्येतदास्नातं, प्रतिपुरुषमेककपालान्निर्वपत्येक-
 मतिरिक्तमिति ॥ तत्र योऽयमतिरिक्तः पुरोडाशस्तेनासौ जुहुयात् । किन्तु मृष-
 कोन्वाते तु, उद्रामा एष त इति मन्त्रेणोपक्रियेत् । कण्वोपेतदाह ॥ अथ
 योऽयमतिरिक्तो भवति तमेवमुत्तमत आश्वत्थकरीष उपक्रियन्तेष ते रुद्रेति ॥
 पाठस्तु ॥ एष ते रुद्र भाग आश्वस्ते पशुरिति ॥ हे रुद्र, एषोऽस्माभिरुपकी-
 र्यमाणोऽतिरिक्तः पुरोडाशस्ते भागस्त्वया भजनीयः । तथा ते तव आश्वः पशुः
 मृषकः पशुन्नेन समर्पितः । तत्समर्पणं कण्वो दर्शयति ॥ आश्वस्ते पशुरिति
 तमस्मा आश्वमेव पशुमनुदिशति तमस्य स्वं ददाति यथेतान् पशून् हिनस्ती-
 ति ॥ अस्या रुद्रभगिन्यास्ते त्वन्निमित्तं ददाति । तदनेन च तुष्टो रुद्र-
 स्तयाऽम्बिकया यजमानस्य पशून् मारयतीति ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ आग-
 त्वावरुद्रमदीति जपतीति ॥ कण्वोऽप्याह ॥ अथ पुनरेत्य जपत्यवरुद्रमिती-
 ति । द्वयोर्मन्त्रयोः प्रतीकमिदम् । तयोरेष प्रथमन्त्रः ॥ पाठस्तु ॥ अवरुद्र-
 मदीमह्यव देवं ऽयम्बकम् । यथा नो वश्यसस्करयथा नः श्रेयमस्करयथा नो

व्यवसाययादिति ॥ रुद्रमेव असौ रुद्र इति मनसा तमवगत्य, अदीमहि यथा त्वदनुग्रहादन्नं भक्षयेम तथा व्यम्बकं त्रीण्यम्बकानि नेत्राणि यस्य तादृशं देव-
मव त्रिनेत्रोऽयं देव इति, मनसावगत्यादीमहीत्यनुवर्त्तते । यथा येन प्रकारेण नोऽस्मान् वस्यसो वसुमुत्तमं करत् असौ त्रियम्बकः कुर्यात् । किञ्च यथा वः श्रेयसो ज्ञातिषु पशस्यतरान् कुर्यात् । किञ्च यथा नो व्यवसाययात् । येन प्रकारेणास्मानवसाययेत् सर्वेषु कार्येषु निश्चययुक्तान् कुर्यात् । तथैवैनं भजाम इति शेषः ॥ आशीःपरत्वं मन्त्रस्य तित्तिरिर्दर्शयति ॥ अवरुद्र मदी-
महीत्याह । आशिषमेवैता आशास्त इति ॥ २ ॥ ॥ द्वितीयमन्त्रपाठस्तु ॥ भेषजममि भेषजं गवःऽश्वाय पुरुषाय भेषजम् । सुगं मेवाय मेघ्या इति ॥ हे रुद्र त्वं भेषजममि औषधवत् सर्वोषद्रवनिवारकोऽसि । अनोऽस्मदीयेभ्यो गवाश्चपुरुषेभ्यः सुगं सुखेन गन्तुं प्राप्तुं शक्यं यद्वेषजं सर्वव्याधिनिवार-
कमस्ति तदेहीति शेषः । तथाऽस्मदीयानां सुगं भेषजं देहि । अनेन मन्त्रेण स्वगृहे विद्यमानानां पशूनां क्षेमप्राप्तिर्भवति । तमेनमर्थं तित्तिरिर्दर्शयति ॥ भेषजं गव इत्याह । यावन्त एव ग्राम्याः पशवस्तेभ्यो भेषजं करो-
तीति ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ अग्निं त्रिः परियन्ति पितृवत्सव्यो नाघ्नानास्व-
म्बकमिति दैवविच्चैवेनैव दाक्षिणा नाघ्नाना इति ॥ यथा पितृमेधे पुत्रादयः पुरुषाः स्वकायावामभागस्थानृकूँस्ताडयन्तस्त्रिवारमप्रदाक्षिणं परियन्ति एवमत्र पुरुषाः प्रथमेनैव व्यम्बकमन्त्रेणाऽग्निमऽप्रदाक्षिणत्रयेण प्रदाक्षिणत्रयेण च परियन्तीत्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ व्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् । उर्वारु-
कमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय माऽमृतादिति ॥ सुगन्धिं दिव्यगन्धोपेतं पुष्टिवर्धनं धनधान्यादिपुष्टिवर्धयितारं, व्यम्बकं नेत्रत्रयोपेतं रुद्रं यजामहे पूजयामः । ततो रुद्रस्य प्रसादान्मृत्योर्मुक्षीय अपमृत्योः संमारमृत्योश्च मुक्तो भूयामम् । अमृतान्मा मुक्षीय स्वर्गरूपान्मुक्तिरूपाञ्चाऽमृतान्मा मुक्षीय, मा मुक्तो भूया-
मम् । अभ्युदयनिःश्रेयमरूपान् फलद्वयान्मम भ्रंशो मा भूदित्यर्थः । मृत्योर्मो-
चने हृष्टान्तः । उर्वारुकमिव बन्धनादिति ॥ यथा कर्कन्ध्वादेः फलमत्य-
न्तपक्वं सत् स्वकीयबन्धनस्थानाद् वृन्तात् प्रमुच्यते तद्वत् ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥ कुमार्यश्चोत्तरेणेति ॥ यजमानसम्बन्धिन्यः कुमार्योऽपि पूर्वोक्तपुरुषवदुत्तरेण व्यम्बकमन्त्रेणाग्निं त्रिः परियन्ति ॥ पाठस्तु ॥ व्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम् । उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुन इति ॥ पतिवेदनम् ।

भर्तुर्लब्धारम् । अनुकूलपतिप्रदमित्यर्थः । अन्यत् पूर्ववदित्यर्थः । इतो मुक्षीय
अस्मान्मातृपितृभ्रातृकर्मणो मुक्ता भूयासम् । अमुतो मा मा मुक्षीय, विवाहा-
दूर्ध्वं भविष्यतः पत्युर्मुक्ता मा भूयासम् । जनकस्य गोत्रं गृहं च परित्यज्य
पत्युर्गोत्रे च गृहे ऽयम्बकप्रसादात् सर्वदा वसामीत्यर्थः ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥
मृतयोः कृत्वा वंशयष्ट्यां कुपे वासज्ज्योभयतः स्थाणुवृक्षवंशवल्मीकानामन्य-
तमस्मिन्नुत्क्षेपणवदासज्जयत्यन्तेनेतीति ॥ व्रीहिवृद्धादिधान्यवहनार्थं तृणवंशादि-
भिर्निर्मितः पात्रविशेषो मृतमित्युच्यते । तयोरुभयोर्मृतयोऽयम्बकान् विशेषान्
प्रक्षिप्य स्वकीयेनांशेन वोढुं शक्यायां वंशयष्ट्याम् अग्रद्वये तन्मृतद्रव्यमवा-
सज्ज्योन्नतं स्थाणौ वृक्षवंशवल्मीके वा मृतद्रव्ययुक्तां वंशयष्टिं संसृजति । ततो
गोभिराघ्रातुमशक्यत्वाद् गावो रोगं न प्राप्नुवन्तीत्यर्थः ॥

पाठस्तु ॥ एतेन रुद्रावसेन परो मूजवतोऽतीहि अवततधन्वाऽपिनाकावस इति ॥ ३
मूजवान्नाम कश्चिद् पर्वतो रुद्रस्य वासस्थानम् । अवमशब्देन देशान्तरं गच्छ-
तो मार्गमध्ये तटाकादिमपीपे भोक्तव्य ओदनविशेषोऽभिधीयते । हे रुद्र ए-
तेन मृतद्रव्यगतेन हविःशेषाऽऽख्येन भोज्येन सहितस्त्वं मूजवतः परः पर्वतात्
परभागवतीं सन् अतीहि । अतिक्रम्य गच्छ । कथम्भूतस्त्वम् । अवततधन्वा अ-
वरोपितधनुष्कः । अस्मद्विरोधिनां त्वया निवारितत्वादित ऊर्ध्वं धनुषि व्या-
समारोपणस्य प्रयोजनाभावादवरोपणमेवेदानीं युक्तम् । तथा पिनाकावसः ।
पिनाकाख्यं त्वदीयं धनुरावस्ते सर्वेन आच्छादयतीति पिनाकावसः । यथा
धनुर्हृष्टा प्राणिनो न बिभ्यति तथा त्वदीयं धनुर्वस्त्रादिना प्रच्छाद्य गच्छेत्यर्थः ॥
कात्यायनः ॥ कृत्स्निनाम इत्यनवेक्षमेत्योपस्पृशन्त्यप इति ॥ उन्मते वृक्षादौ मृतद्र-
वेऽवमज्ज्य प्रत्यावर्तमानो मृतद्रवस्यावेक्षणमकृत्वा वेदिमपीपे अहिंसन् हिंसा-
मकुर्वन् शिवः अम्मदीयपृजया मन्तुष्टः शान्तः कोपरहितो भूत्वा अतीहि
पर्वतमतिक्रम्य गच्छ ॥ ६ ॥ इति तृतीयेऽध्यायेऽष्टमोऽनुवाकः ॥ ३ ॥ ८ ॥
इत्यमष्टमे साकमेधगतयम्बकहविर्विषया मन्त्रा उक्ताः ॥ नवमे वाजिनविषया
मन्त्रा उच्यन्ते ॥ यत्र यत्रामिक्षायागो भवति तत्र तत्रानुनिष्पादौ वाजिनयाग
इत्येवं जैमिनीये धर्मविचारशास्त्रे निर्णीतम् । चातुर्मास्येऽत्रपि प्रथमपर्वणि वैश्व-
देव्यामिक्षा विहिता । तत्रायं वाजिनयागः प्रसक्तः । क्षीरे विकृते सति तत्र
निष्पन्नं नीरं वाजिनमित्युच्यते । तदेव यागे द्रव्यम् । वाजिशब्दाभिधेया-
स्तत्र देवाः । तदेतदन्यत्राभ्युपगम्य । तप्ते पयसि दद्यान्त्यति वैश्वदेव्यामिक्षा

वाजिभ्यो वाजिनमिति ॥ तस्य द्रव्यस्य निष्पत्तिप्रकारमापस्तम्बोऽप्याह । तस्मै
 मातर्दोहे सायं दोहमानयति । तत्संवर्तते । साऽऽमिक्षा । यदन्यत्तद्वाजिनमिति ॥
 तस्मिन् वाजिनयागे शेषभक्षणे विकल्पितास्त्रयो मन्त्रास्तानाह ॥ कात्यायनः ॥
 वाजिनां वाजिनं भक्षयामीति । वाज्यहं वाजिनस्योपहृत उपहृतस्य भक्षयामीति ।
 वाजे वाजी भूयासमिति चेति ॥ तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ वाजिनां वाजोऽवतु भक्षो-
 ऽअस्मान् रेतःसिक्तममृतं वलाय । विश्वेदेवा अभियत्संवभृवुस्तन्माधिनोति प्रजया
 धनेन । वाज्यहं वाजिनस्योपहृत उपहृतस्य भक्षयामीति ॥ वाजिनामेतन्नामकानां
 यागदेवानां संबन्धी वाजोऽन्नभृतो हविःशेषो भक्ष्यो भक्षयितुं योग्योऽस्मानवतु
 स वाजोऽस्मान् रक्षतु । रेतः भक्षितहविःशेषान्नपरिणामरसरूपमस्मदीयं सिक्तं
 पुत्रोत्पत्त्यर्थं योनौ स्थापितं मदमृतं पुत्ररूपजीनोपेतत्वेन विनाशरहितं भूत्वा
 वलाय अपत्यसंपत्तिरूपवल्गमिद्वये संपद्यतामिति शेषः । विश्वेदेवाः सर्वेऽपि
 देवा एतदुपलक्षिताः सर्वे जना यदति रेतोरूपं यद्रस्त्वति प्राप्य संवभृवुः समुत्प-
 न्नाः । सत्सर्वजनोत्पादकं तद्रेतः प्रजया धनेन मां धिनोतु प्रीणयतु । वाज्यहं
 पूर्वोक्तवाजाख्याऽन्नवान् यजमानोऽहमुपहृत इतरैरनुज्ञातः मन उपहृतस्य वाजस्य
 इतरैरनुज्ञातस्य हविःशेषस्य कश्चिद्भागमिति शेषः । भक्षयामि हविःसंस्काररूपं
 भक्षणं करोमि । यस्तु वाजिनं भक्षयामीति द्वितीयो मन्त्रः कात्यायनेनोदाहृतः,
 असौ शाखान्तरीयः ॥ तृतीयमन्त्रपाठस्तु ॥ वाजे वाजी भूयाममिति ॥ वाजेऽन्नवि-
 षये वाजी भूयामं मङ्गामवान् भूयामम् । वाजशब्दोऽन्नमङ्गामयोर्वाचकः । यत्र
 युद्धेनाऽन्नं लभ्यते तत्र वाजिदेवतानुग्रहाद् विजयिनो भूयास्मेत्यर्थः ॥ १ ॥
 ॥ २ ॥ अथ पूर्वममाप्तौ कर्त्तव्ये वपने मन्त्रविनियोगमाह ॥ कात्यायनः ॥
 अपरेण दक्षिणार्ग्निं दक्षिणां गोदानमुन्दति मवित्रा प्रमृता इतीति ॥ गोदानं
 शिरसो भागः ॥ पाठस्तु ॥ मवित्रा प्रमृता दैव्य आप उन्दन्तु ते तनुष ।
 दीर्घायुत्वाय वर्चस इति ॥ मवित्रा प्रेरकेण परमेश्वरेण प्रमृताः प्रेरिता दैव्यो
 दिवि भवा ह्येष्टर्जाता आपो जलानि ते मुण्डनार्धमवस्थितस्य यजमानस्य तत्र
 तनुं शरीरावयवभूतं शिर उन्दन्तु क्लेदयन्तु । किमर्थम् । दीर्घायुत्वाय बहुका-
 लजीवनाय, वर्चसे ब्रह्मतेजोऽभिष्टब्धये ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ कश्यपस्येति
 यजमानो जयतीति ॥ सोऽयं जपो वपनकालीनः ॥ पाठस्तु ॥ कश्यपस्य
 श्यायुषं जमदग्नेस्त्र्यागुपम् । यद्देवानां श्यायुषं तन्मे अस्तु श्यायुषमिति ॥ क-
 श्यपस्य एतन्नामकस्य प्रजापतेः सम्बन्धि श्यायुषं त्रयाणां बाल्ययौवनस्थवि-

रूपाणामायुषां समाहाररूपम् । तथा जमदग्नेरेतन्नामकस्य व्यायुषम् । तथा देवानामिन्द्रादीनां व्यायुषम् । यदुक्तेषु पर्यायेषु यत् व्यायुषमस्ति तत् व्यायुषं सर्वमस्तु मम यजमानस्य भवतु । कश्यपादीनां बाल्यादिषु यादृशं चरितं तादृशं मम भूयादित्यर्थः ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥ वपति येन धातेतीति ॥ पाठस्तु ॥ येन धाता बृहस्पतेरिन्द्रस्य चायुषेऽवपत् । तेन ते वपामि ब्रह्मणा जीवातवे जीवनाय । दीर्घायुत्वाय वलाय वर्चसे । सुप्रजास्त्वाय चामा अथो जीव शरद्ः क्षतमिति ॥ धाता सर्वस्य जगतो विधाता चतुर्मुखो ब्रह्मा बृहस्पतेरिन्द्रस्य चायुषे आत्रयोरुभयोरायुर्वृद्ध्यर्थं येन यादृशेन मन्त्रात्मकेन क्षुरेण वपनमकरोत् । हे यजमान ते तव तेन ब्रह्मणा तादृशेन मन्त्रात्मकेन क्षुरेण वपामि वपनं करोमि । किमर्थं जीवात्वादिप्रयोजनपदकसिद्ध्यर्थम् । जीवनहेतुभूतमन्त्रादिकमौषधं, जीवनं प्राणधारणं, दीर्घायुष्यमायुष्याभिष्टाद्विः, बलं शरीरेन्द्रियदार्ढ्यम्, वर्चः शरीरकान्तिः, सुप्रजास्त्वं सदाचारपुत्रादिसमृद्धिः । चकारस्तु प्रयोजनममुच्चयार्थः । अथोक्तप्रयोजनमस्पृक्षेन्नन्तरम्, असौ पुरतो वर्त्तमानो यजमानस्त्वं क्षतं शरदो जीव क्षतमंरुपाकान् संवत्सरान् अत्यन्त-संयोगेन जीवनवान् भव ॥ ५ ॥ ६ ॥ ॥ इति तृतीयेऽध्याये नवमो-
ऽनुवाकः ॥ ३ ॥ ९ ॥

अत्र विनियोगमंग्रहः ॥

नवानुवाकास्त्वध्याये तृतीयेऽर्थास्तु तेष्वमी ॥

आधानमाग्निहोत्रं च विस्तरेणाम्युपस्थितिः ॥ १ ॥

मंग्रहेणापि वरुणप्रघामाः साकमेधकाः ॥

पित्रर्थास्त्यम्बकार्थाश्च त्र्यम्बकारुये विनिर्णीताः ॥ २ ॥

समिधा समिधो दध्ना तिसृभिस्तु जयेदृष ॥

अग्न्याधानं भूर्भुवः सुवारिध्याये द्यौरितीरयेत् ॥ ३ ॥

उपनिष्ठावत् आयं गौस्तिसृभिर्वर्णिताः ॥

अग्निज्यो समिदाधानमग्निज्यो जुहुयात् तथा ॥ ४ ॥

सूर्यज्यो समिदाधानं सूर्यो ज्योतिर्जुहोति हि ॥

सजूर्द्वयेन जुहुयात् काम्यहोमी विहाप्रये ॥ ५ ॥

अनमीन्द्र उभौ जप्यौ समिति समिधं क्षिपेत् ॥

अनुवाके द्वितीयेऽस्मिन् मन्त्रा एकादशोरिताः ॥ ६ ॥

उपस्थानमुपेत्याद्यैस्त्रयोदशभिरीरितम् ॥
 अन्धेतमानं न च पूर्वामिश्रतुल्लिखत् समीरिताः ॥ ७ ॥
 संगृह्योपस्थितिभूर्भु नर्य-शंस्यद्वयं गताः ॥
 आगन्मापमिति द्वाभ्यामागन्माग्रेरुपस्थितिः ॥ ८ ॥
 गृहात्रयाद् गृहानास्त्वा विशेत् क्षेमा नवेरिताः ॥
 प्रघा पत्री वाचयेत् यद्वाहोनकरम्भगः ॥ ९ ॥
 मोषूस्त्वामीक्षयेदक्षन् पत्री वाचयते ततः ॥
 अवस्थातो दम्पती द्वौ पञ्च मन्त्रा इहोरिताः ॥ १० ॥
 पूर्णा हविर्ग्रहो देहि जुहोति द्वाविहेरितौ ॥
 अक्षनमुमपस्थानं द्वाभ्यामाहवनीयके ॥ ११ ॥
 मन आनः पुनर्ग्राह्यपत्न्याग्नौ तिसृभेस्तथा ॥
 वयं तुराजपेन्मन्त्राः षडेवात्रोपवर्णिताः ॥ १२ ॥
 एष होमोऽप्येष ते रु शेषमाखृन्करे क्षिपेत् ॥
 अवधेपद्वयं जप्यं त्र्यम्बकेन प्रदाक्षिणम् ॥ १३ ॥
 कुमारीणां तथा त्र्यम्बशेषमूतेऽवबुध्यतु ॥
 एतेनेति सदेत्कृति जलस्पर्शेऽष्टवर्णिताः ॥ १४ ॥
 वेदार्थस्य प्रकाशेन तमोहार्दं निवारयेत् ॥
 पुमर्थाश्चतुरो देयाद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १५ ॥

इति श्रीमद्वाजाऽधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीबुद्धभूषलमाम्राज्य-
 धुरन्धरेण सायणाचर्येण विरचिते माधवीये काण्ववेदार्थप्रकाशे संहिताभाष्ये
 तृतीयोऽध्यायः ॥ १ ॥ ३ ॥

अथ शुक्लयजुर्वेदकाण्वसंहिताभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ॥

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

तृतीयेऽध्याये आधानामिहोत्राम्युपस्थानचातुर्मास्यमन्त्रा उक्ताः ।

अथ चतुर्थमारभ्य नवमान्तेषु सोमयागमन्त्रा उच्यन्ते ॥ तत्रास्मिंश्चतुर्थेऽध्या-
ये सोमक्रयमन्त्राः प्राधान्येनोच्यन्ते ॥ आदौ तावद् यजमानमंस्कारार्थं वपन-
मन्त्रा उच्यन्ते । स च यजमानः षोडशानाम् ऋत्विजां वरणं कृत्वा प्राचीन-
शालां गन्तुम् अरण्योरग्निं समारोप्य तत्र गच्छेत् ॥ कात्यायनः ॥ प्राचीन-
शालास्तम्भं पूर्वाद्धं गृहीत्वारणिपाणिराहैदमगन्मेतीति ॥ आपस्तम्बोऽप्याह ॥ ४-
एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या यत्र देवामो अजुपन्तविश्वेऽऋक्कृमाभाभ्याः सन्त-
रन्तो यजुर्भीरायस्पोषेण समिपा मदेमेति ॥ देवा इज्यन्ते यस्मिन् स्थाने तदेव-
यजनम् । तत्र पृथिव्याः सम्बन्धि । इदमितिहस्तेनाभिनीय प्रदर्शयते । तादिदं देव-
यजनमागन्म यष्टुकामा आगताः स्म । यत्र यस्मिन् देवयजने विश्वे देवासः सर्वे
देवा अजुपन्त प्रीतियुक्ताः स्थिताः । यत्राजुपन्त इदं देवयजनमित्यन्वयः । ऋक्-
सामाभ्यां यजुर्भिर्वेदत्रयगतैर्मन्त्रैः सन्तरन्तः समुद्रवन्महान्तं सोमयागं समुत्तर-
न्तः सम्यगुत्तरन्तः समापयन्तो वयं रायस्पोषेण धनपुष्ट्या इध्यमाणेनाग्नेन च
संमदेम हर्षं सम्यक् प्राप्नुयाम । देवयजनाख्यस्य स्थानस्य स्वर्गमंबन्धित्वं भव-
ति । किन्तु पृथिवीमंबन्धित्वम् । एतस्यार्थस्य प्रसिद्धत्वं तित्तिरिदर्शयति ॥
एदमगन्म देवयजनं पृथिव्या इत्याह । देवयजनं ह्येष पृथिव्या आगच्छतीति ॥
अस्मिन् मन्त्रे देवशब्देन षोडशर्त्विजो ब्राह्मणा विवक्षिता इत्येतदपि स एव
दर्शयति । विश्वे होतदेवा जोषयन्ते ब्राह्मणा इति ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥
प्रथमं दक्षिणं गोदानं वितार्योनत्तीमा आप इति ॥ शिरसो दक्षिणभागमात्रा-
न् केशान् विभक्तान् क्लेदयेदित्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ इमा आपः शमु मे सन्तु
देवीरिति ॥ देव्यो द्योतमाना निर्मला इमा आपः शिरःक्लेदनाय सिच्यमाना
एता आपो मम यजमानस्य शमु सन्तु सुखकारिण्य एव भवन्तु ॥ कात्या-
यनः ॥ गूपवत् कुशतरुणं क्षुरेण चान्तनिधाय छित्वेति ॥ यथा पञ्चार्थस्य
छेदनायौषध इति मन्त्रेण छिन्द्याद् एवमत्रापि तृणान्तर्धानं क्षुरस्थापनं च
मन्त्रद्वयेन कर्तव्यमित्यर्थः । आपस्तम्बोऽप्याह ॥ औषधे कुश एनं यजमानं

त्रायस्व क्षुराद्रसस्व ॥ हे क्षुर यजमानं मा हिंसीः मा धस्व ॥ कात्यायनः ॥ आपो अस्मानिति स्नात्वेति ॥ पाठस्तु ॥ आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु विश्वं हिरिषं प्रवहन्ति देवीरिति ॥ मातरः मातृ-
वत् पालयिष्य एता ह्यापः, अस्मान् कृतक्षौरान् यजमानान् पुनन्तु शो-
धयन्तु क्षौरकर्मनिर्मितामपहृतिं निवारयन्तु । घृतेन क्षरणोपेतेन जलेन पुनन्तीति घृतप्वो जलदेवताश्च नोऽस्मान् घृतेन क्षरणयुक्तेन जलेन पुनन्तु शुद्धान् कुर्वन्तु । देवीर्द्योतमाना आपो विश्वं हिरिषं सर्वमपि पापम् । अस्मद्यजमानेभ्यः प्रवहन्तु प्रकर्षेणापनयन्तु ॥ कात्यायनः ॥ उदिदा-
भ्य इत्युत्क्रामतीति ॥ शुचिरापूत इति मन्त्रशेषः ॥ शुचिः पूत इतिशब्द-
द्वयेन स्नानाचमनाभ्यां बहिरन्तश्च शुद्धिद्वयमभिधीयते । इच्छब्दः समुच्चया-
र्थः । तथाविधः सन्नहम् । आभ्य उत्सह्य उद्गाम्य एमि भूमिमागच्छामि ॥ कात्यायनः ॥ क्षौमं वस्ते दीक्षातपसोरिति ॥ इकूलवस्त्रमाच्छादयतीत्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ दीक्षातपसोस्तनूरसि तां त्वा शिवां शग्मां परिदधे भद्रं वर्षं पुष्यन्निति ॥ हे क्षौमवस्त्र त्वं दीक्षातपसोस्तनूरसि दीक्षाभिमानिदेवतायास्तपो-
ऽभिमानिदेवतायाश्च शरीरवत् प्रियस्वरूपमसि । शिवां शग्मां द्वयोरपि शब्द-
योः मुखनामत्वादत्यन्तमुखरूपमित्युक्तं भवति । हे देवताद्वयतनो तां त्वां तथाविधमुखकर्त्री त्वां परिदधे यजमानोऽहं त्वां परितो धारयामि । किं कु-
र्वन् । भद्रं वर्षं पुष्यन् । अनेन वस्त्रधारणेन शरीरे कल्याणं वर्षविशेषं पो-
षयन् ॥ २ ॥ ३ ॥ इति चतुर्थाध्याये प्रथमोऽनुवाकः ॥ ४ ॥ १ ॥

प्रथमे यजमानस्य वपनमन्त्रा उक्ताः ॥ द्वितीये अञ्जनादिमंस्कारमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ शालां पूर्वेण तिष्ठन्नभ्यङ्गे । कुशेषु नवनीतेन क्षीर्णो-
ऽनुलोमं सम्पादको महीनां पयोऽसितीति ॥ प्राचीनशालायां पूर्वभागे स्थित्वा कुशेषु लग्नं नवनीतं गृहीत्वा शिर आरभ्य पादान्तस्य शरीरस्याभ्यङ्गं कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥ महीनां पयोऽसि वर्चोदा असि वर्चो मे देहीति ॥ हे नवनीत त्वं महीनां गवाम् । महीशब्दो गोनामसु पठितः । पयोऽसि । क्षीरजन्यत्वात् पयस्त्वोपचारः । वर्चोदा असि स्निग्धत्वेन कान्तिप्रदोऽसि । अतो मे मघं यजमानाय वर्चो देहि । कान्तिं प्रयच्छ ॥ कात्यायनः ॥ वृत्रस्येत्यक्षिणी अनक्ति त्रैककुदाञ्जनेनाऽभावे-
ऽन्यादिति ॥ त्रिकुत्पर्वत्तादुत्पन्नं लभ्यते चेत् तेनाक्षिद्वयमज्ज्यात् । तदभावे-
ऽन्यदप्यञ्जनमस्तु ॥ पाठस्तु । वृत्रस्य कनीनिकासि चक्षुर्दा असि चक्षुर्मे देही-

ति ॥ हे अञ्जन, त्वं वृत्रस्य वृत्रनामकस्य कनीनिका असि, नेत्रमध्यगतकृष्ण-
मण्डलरूपाऽसि । तदेवाह तित्तिरिः ॥ इन्द्रो वृत्रमहनत् तस्य कनीनिका प-
रापतत् । तदाञ्जनमभवदिति । चक्षुर्दा असि कनीनिकारूपत्वाद् दृष्टिप्रदत्व-
मुपपन्नम् । अतो मे मणं चक्षुर्देहि । दृष्टिपाटवं प्रयच्छ ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥
कुशपवित्रैश्चित्पतिर्मिति पावयति सप्तभिः ॥ प्रतिमन्त्रमच्छिद्रेणेति ॥ शेषो-
ऽनुपज्ज्यते । प्रतिमन्त्रं पृथक् सप्तभिः कुशैः शोधने क्रियमाणे मिलित्वा कुश-
पवित्राण्येकविंशतिः संपद्यन्ते । एतदेवाभिप्रेत्य तित्तिरिराह ॥ एकविंशत्या
पावयति दश हस्त्या अङ्गुलयो दश पाद्या आत्मैकविंशो यावानेव पुरुषस्तममुं
परिवर्गं पावयतीति ॥ पाठस्तु ॥ चित्पतिर्मा पुनातु वाक्पतिर्मा पुनातु देवो
मा सविता पुनात्वच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः । तस्य ते पवित्रपते
पवित्रपूतस्य यत्कामः पुने तच्छकेयमिति ॥ चिच्छब्दो ज्ञानवाची । ज्ञानानां
पतिश्चित्पतिर्मनांऽभिमानो देवः । मनो वै चित्पतिरिति तित्तिरिणोक्तत्वात् ।
यद्वा प्रजापतिर्वै चित्पतिरिति श्रुतेः । स वा भवतु । शुद्धिहेतुर्वायुश्छिद्ररहि-
तत्वाद् अच्छिद्रं पवित्रम् । अथवा आदित्यमण्डलम् । अमो वा आदित्यो-
ऽच्छिद्रं पवित्रमिति श्रुतेः । तेन पवित्रेण सूर्यसम्बन्धिरश्मिभिश्च मां यजमानं
चित्पतिः पुनातु शुद्धं करोतु । हे पवित्रपते शुद्धिपालक ते तवानुग्रहात् प-
वित्रपूतस्य पूर्वोक्तेन पवित्रेण शुद्धस्यैतस्य यजमानस्याभीष्टं भूयादितिशेषः ।
तदेवाभीष्टं स्पष्टीक्रियते । यत्कामो यस्मिन्ननुष्ठाने कामवानहं पुनः शुद्धो भ-
वामि । तच्छकेयं तदनुष्ठानं कर्तुं शक्तो भूयासम् । वाक्पतिर्वृहस्पतिः सविता
देवोऽन्तर्यामी । एतदपि मन्त्रद्वयं पूर्ववद् योज्यम् ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ आ-
वो देवास इति वाचयतीति ॥ अध्वर्युर्यजमानं वाचयेत् ॥ पाठस्तु ॥ आ-
वो देवास ईमहे वामं प्रयत्यध्वरे । आ वो देवास आशिषो यज्ञियासो हवामहे
इति ॥ हे देवासो देवा, अध्वरे अस्मदीये यज्ञे वामं प्रयति वननीयं सम्भज-
नीयम् अनुष्ठानं प्राप्नुवति सति तदीयं सम्भावितं फलं, वो युष्मान् आ-
ईमहे साकल्येन याचामहे । किञ्च हे देवासो देवा यज्ञियास आशिषो यज्ञस-
म्बन्धीनि फलानि आ समानेतुं वो युष्मान् हवामहे आह्वयामः ॥ ३ ॥
कात्यायनः ॥ स्वाहा पञ्चमिसङ्गुली अवयते नानाहस्तयोरेव शेषं प्रतिमन्त्र-
मुत्तमेन मुष्टीकृत्वेति ॥ हस्तयोरेव तत्कनिष्ठाङ्गुलिद्वयं तत् प्रथममन्त्रेण यथाप्र-
सृतं न भवति तथा सङ्कोचयेत् । एवमुत्तरैस्तत्तदनन्तरं भाविनोऽङ्गुलिद्वयस्य

सङ्कोचो द्रष्टव्यः । द्यावापृथिवीभ्यामतेत्यदं यथा मन्त्रद्वयम्भवति तथा विज्जे-
दनीयम् । ततश्चत्वारो मन्त्राः सम्पद्यन्ते । स्वाहा यज्ञं वातादित्युत्तमेन मन्त्रे-
ण मुष्टिद्वयं कुर्यात् । तदेतत् सर्वमापस्तम्बो विस्पष्टयति । स्वाहा यज्ञं मन-
सेति द्वे स्वाहा दिव इति द्वे स्वाहा पृथिव्या इति द्वे स्वाहोरोरन्तरिक्षादिति
द्वे स्वाहा यज्ञं वातादारभ इति मुष्टीकरोति । अत्रत्यः पाठस्तु ॥ स्वाहा यज्ञं
मनसः स्वाहोरोरन्तरिक्षात् । स्वाहा द्यावापृथिवीभ्याम् स्वाहा वातादारभ
इति ॥ मनःशब्दस्तैत्तिरीयके तृतीयान्तः । अत्र तु पञ्चम्यन्तः । स्वाहाश-
ब्दस्य निपातत्वेन बह्वर्थवाचित्वात् । तत्र तत्र उचिता अर्था ब्राह्मणानुसारेणो-
पलक्षणीयाः । ते चाऽत्र लक्ष्यन्ते । मनसो यज्ञं स्वाहा चित्तेन यज्ञमभिगच्छा-
मि । उरोरन्तरिक्षात् स्वाहा विस्तीर्णेऽन्तरिक्षे यज्ञ आश्रितः । द्यावापृथिवी-
भ्याम् स्वाहा द्यावापृथिव्योर्यज्ञ आश्रितः । वातात् स्वाहारभे वायुप्रसादात्
प्रवर्तनीयमिदं कर्म प्रारब्धं करोमि । सोऽयमुपलक्षितः सर्वोऽर्थस्तित्तिरिणा
स्पष्टमुदाहृतः ॥ स्वाहा यज्ञं मनसेत्याह । मनसा हि पुरुषो यज्ञमभिगच्छ-
ति । स्वाहा द्यावापृथिवीभ्यामित्याह । द्यावापृथिव्योर्हि यज्ञः । स्वाहोरोरन्त-
रिक्षादित्याहाऽन्तरिक्षे हि यज्ञः । स्वाहा यज्ञं वातादारभ इत्याह । यं वायवः
पवन्ते स यज्ञस्तमेव साक्षादारभते मुष्टीकरोति वाचं यच्छति यज्ञस्य धृत्या
इति । वातस्य क्रियाहेतुत्वाद् यज्ञरूपत्वम् ॥ ४ ॥ इति चतुर्थेऽध्याये द्वितीयो-
ऽनुवाकः ॥ ४ ॥ २ ॥

द्वितीयेऽभ्यञ्जनादिमंस्कारमन्त्रा उक्ताः ॥ तृतीये त्वौदग्रहणहोममन्त्रा
उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ उद्ग्रहणानि जुहोति स्थाल्यास्तुवेणाकृत्या इति प्रति-
मन्त्रमिति ॥ तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ आकृत्यै प्रयज्ञेऽग्नये स्वाहेति ॥ यज्ञं
करिष्यामीत्येवंविधमानसः सङ्कल्प आकृतिः । तस्यै आकृत्यै तत्सम्पूर्यर्थं
प्रयुजे निर्विघ्नेन मां प्रेरयते अग्नये वह्निदेवाय स्वाहा । इदं हुतमस्तु ॥ द्वि-
तीयमन्त्रपाठस्तु ॥ मेवायै मनमेऽग्नये स्वाहेति ॥ श्रुतयोर्मन्त्रतन्त्रयोर्द्धारण-
शक्तिर्मेवा, तत्सिद्ध्यर्थं मनमे मनोऽभिमानिनेऽग्नये हुतमस्तु ॥ तृतीयमन्त्र-
पाठस्तु ॥ दीक्षायै तपसेऽग्नये स्वाहेति ॥ व्रतनियमो दीक्षा, तत्सिद्ध्यर्थं
मदीयशरीरतपोऽभिमानिनेऽग्नये हुतमस्तु ॥

तुरीयमन्त्रपाठस्तु ॥ सरस्वत्यै पूष्णेऽग्नये स्वाहेति ॥ मन्त्रोच्चारणशक्तिः
सरस्वती । तत्सिद्ध्यर्थं वागिन्द्रियाय पोषकाय वह्नये हुतमस्तु ॥ पञ्चममन्त्र-

पाठस्तु ॥ आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुवो द्यावापृथिवी उर्वन्तरिक्ष । बृहस्पतये हविषा विधेम स्वाहेति ॥ हे आपो, यूयं ये च द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ य-
च्चोक्तं विस्तीर्णमन्तरिक्षं तेषामवादीनां सर्वेषां देवानामनुग्रहादिति शेषः । बृह-
स्पतये एतन्नामकाय देवाय हविषा विधेम आज्येन परिचर्या कारवाम । क-
थम्भूता आपः । देवीर्देव्यो द्योतमानाः । बृहतीः प्रभूताः । विश्वशम्भुवः विश्वं
मुखेन भावयिष्यः । एतानि विशेषणानि वृष्टिजन्यास्वप्सु युज्यन्ते । तदाह
नित्तिरिः ॥ या वै वर्षास्ता आपो देवीर्बृहतीर्विश्वशम्भुव इति ॥ १ ॥ पठ-
मन्त्रपाठस्तु ॥ विष्वेदेवस्य नेतुर्मर्तो बुरीत सख्यम् । विश्वो राय इपुष्यति ४-
द्युम्नं वृणीत पुष्यमे स्वाहेति ॥ विष्वा मर्तः । सर्वो मनुष्यः नेतुः फलप्राप-
कस्य देवस्यादानादिगुणयुक्तस्य सख्यं सखिभावं बुरीत वृणुते प्रार्थयते ।
किञ्च, विश्वः सर्वो जनः रायो धनाय इपुष्यति प्रार्थयते । याश्चाकर्मण्यऽयं
धातुः पठितः । किञ्च पुष्यमे पोषणाय, द्युम्नं यशोऽन्ने वा । यास्केन तथो-
क्तत्वात् । वृणीते सर्वो जनः प्रार्थयते । स्वाहा तस्मै प्रेरकाय देवाय हुत-
मस्तु ॥ २ ॥ इति चतुर्थेऽध्याये तृतीयोऽनुवाकः ॥ ४ ॥ ३ ॥ तृतीये औ-
द्गह्णारूप्यहोममन्त्रा उक्ताः ॥ तृतीये कृष्णाजिनादिमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्या-
यनः ॥ शुक्रकृष्णमन्त्रिनात्मन ऋक्मामयोरिति ॥ पाठस्तु ॥ ऋक्मामयोः ४
शिल्पे स्थस्ते वामारमे ते मा पातम् । अस्य यज्ञस्योदच इति ॥ हे शुक्रकृष्ण-
रेषे, कृष्णाजिनगते, युवाम ऋक्मामयोः शिल्पे स्थः । ऋगभिमानिसामा-
भिमानिमन्त्रिनीदेवनयोर्यं शिल्पं चातुर्यं तद्रूपे भवथः । ते वा तथाविधे यु-
वाम आरमे अहं स्पृशामि । ते मा पातं तथाविधं मां पालयतम् । कियन्तं
कार्त्तामनि चेत् तदुच्यते । अस्य यज्ञस्योदचः अनुष्ठीयमानस्य यज्ञस्य येयम्
ऋगुतमास्ति तत्पर्यन्तं यज्ञामाप्तिपर्यन्तामित्यर्थः । ऋक्नामभिमानिन्यौ दे-
वते केनापि निमित्तेन देवानां यज्ञार्थगवस्थिते सत्यौ कृष्णमृतो भूत्वा तदीयं
रूपं मम्यक् कृत्वा देवेभ्योऽप्यक्रम्य दूरदेशे कस्मिंश्चित्तिष्ठताम् । तस्य मृगस्य
चर्मणि यः शुक्रो वर्णः सोऽयमृगः शिल्परूपं यश्च कृष्णो वर्णः सोऽयं
साम्नः शिल्परूपम् । तत्सर्वमाह नित्तिरिः ॥ ऋक्मामे वै देवेभ्यो यज्ञार्थं तिष्ठ-
माने शुक्रकृष्णरूपं कृत्वाऽप्यक्रम्य तिष्ठतामिति । एष वा ऋग्यो वर्णो यच्छुक्रं
कृष्णाजिन अस्यैव साम्नो यत्कृष्णमिति ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ दक्षिणमा-
रोहति शर्मासीति ॥ पाठस्तु ॥ शर्मासि शर्म मे यच्छ नमस्ते अस्तु मा मा हिंसी-

रिति ॥ हे कृष्णाजिन त्वं शर्माभि शरणमांस । अतो मे मह्यं शर्म यच्छ शरणं
देहि । स्वकीयत्वेन स्वीकुर्विष्यर्थः । ते तुभ्यं कृष्णाऽजिनाय नमोऽस्तु
मा हिंसीः । मां च यजमानं हिमिनं मा कुरु ॥ कात्यायनः ॥ मेखलां ब-
ध्नीतोर्गसीतीति ॥ आपस्तम्बोऽपि विस्पष्टमाह । शरमयी मौक्षी वा मेखला
त्रिहृत्पृथ्व्यन् प्रतरतः पाशा तथा यजमानं दीक्षयतीति ॥ पाठस्तु ॥ उर्गस्या-
ङ्गिरस्यूर्णम्रदा ऊर्जं मे यच्छेति ॥ हे मेखले त्वमाङ्गिरसी अङ्गिरोनामकाना-
म् ऋषीणां सम्बन्धिनी उर्गऽन्नरमरूपा ऊर्णम्रदा असि कम्बलवन्मृदुरसि ।
तथाविधा त्वम् ऊर्जमन्नरसं मे यच्छ मह्यं देहि । अस्याः शरमय्या मेखला-
या अङ्गिरोभिः सम्बन्धं तित्तिरिर्दर्शयति ॥ अङ्गिरसः सुवर्णं लोकं यन्तदूर्जं
व्यभजन्त ततो यदत्यशिष्यत ते शरा अभवन् । ऋग्वै शरा यच्छरमयी
मेखलाऽभवदूर्जवेवावरुन्धे इति ॥ अङ्गिरोनामकानाम् ऋषीणां परस्पर-
मन्नरमे विभज्यमाने यदवशिष्टं तच्छरनामकनृणविशेषेणाविभूतं तस्माद्-
र्गसीत्यादिमन्त्र उपपद्यत इत्यर्थः ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ नीविं कुरुते सोमस्य
नीविरसि ॥ असीति मन्त्रशेषः । हे मेखले त्वं सोमस्य नीविरसि । सोमदेव-
तायाः प्रियभूतग्रन्थिरसि मूलाग्रतरेकीकरणेन ग्रन्थिविशेषो नीविरस्युच्यते ॥
कात्यायनः ॥ शिरः प्रोर्णुते विष्णोः शर्मान्मीतीति ॥ आच्छादयतीत्यर्थः ॥
पाठस्तु ॥ विष्णोः शर्माभि शर्म यजमानस्येति ॥ हे वक्त्र, त्वं विष्णोर्व्या-
पिनो यज्ञस्य शर्माभि सुखहेतुर्भवसि । अतो यजमानस्य शर्म सुखं संपादये-
ति शेषः ॥ कात्यायनः ॥ कृष्णविषाणां त्रिवर्लि पञ्चवर्लि वीत्तानां दशार्वा
बध्नीते तथा कण्ट्वयनमिन्द्रस्य योनिरितीति ॥ आपस्तम्बोऽप्याह ॥ कृष्णवि-
षाणां यजमानो यच्छत्यावध्नातीत्येकात्रिवलिः पञ्चवर्लिर्वेति ॥ अमीति मन्त्र-
शेषः । हे कृष्णविषाणे त्वं पूर्वामन्द्रस्य योनिर्गम तयेदानीं मध्यस्थानं भवेति
शेषः । पुरा कदाचिद् यज्ञपुरुषो दक्षिणां देवीं समभवत् । तस्मात् सम्भव-
नादिन्द्रोऽजायत तदानीमत्रान्यम्योत्पत्तिर्माभूदिति विचार्येन्द्रः सद्योनिमा-
च्छिद्य भूगेषु न्यदधात् । निहिता सा योनिः कृष्णविषाणाऽभूत् । सोऽय-
मर्थस्तित्तिरिणा, यज्ञो दक्षिणामभ्यधादित्यस्मिन्नाख्यानं समाख्यातः । तस्मा-
दस्या इन्द्रयोनित्वमुपपन्नम् ॥ कात्यायनः ॥ भूमौ चोल्लिखति सुसस्या
इतीति ॥ आपस्तम्बोऽप्याह तथा वेदेल्लोष्ठमुहतीति ॥ पाठस्तु ॥ सुसस्याः
कृषीस्कृषीति ॥ सस्यं व्रीहियवादि, तदर्थो भूमिगतो व्यापारः कृषिः । याः

कृषयः सन्ति ताः सर्वाः सुसस्याः शोभनधान्याः कृषि । हे कृष्णविषाणे
कुरु । एतन्मन्त्रलभ्यं फलं तित्तिरिदं जहार ॥ कृष्यो याः सुसस्या या इत्या-
ह । तस्मादकृष्टपच्या ओषधयः पच्यन्ते इति ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ मुखमंमि-
तमौदुम्बरं दण्डं प्रयच्छत्युच्छ्रयस्वेत्येनमुच्छ्रयतीति ॥ पाठस्तु ॥ उच्छ्रयस्व
वनस्पत ऊर्ध्वो मा पाण्डुहमः । आस्य यज्ञस्योदच इति ॥ हे वनस्पते वृक्षाव-
यरूप दण्ड, उच्छ्रयस्व उन्नतो भव । एवमुर्ध्वो भूत्वा अहमः पापान्मा मां
पाहि । तत्र तत्र कालावधिरुच्यते । अस्यानुष्ठेयमानस्य यज्ञस्य आ उदचः
उत्तमाया ऋचः समाप्तिगतायाः । तद्वक्तव्यन्तामित्यर्थः ॥ ४ ॥ इति तुरीया-
ऽध्याये तुरीयोऽनुवाकः ॥ ४ ॥ ४ ॥

तुरीये कृष्णाजिनादिमन्त्रा उक्ताः ॥ पञ्चमे व्रतकरणादिमन्त्रा उच्य-
न्ते ॥ कात्यायनः ॥ व्रतं कृणुतेति वाग्विमर्जनं त्रिरुक्त्वेति ॥ मौनेनावस्थि-
स्य यजमानस्य वाग्विमर्जनेतन्मन्त्रवाक्योच्चारणं विधीयते ॥ पाठस्तु ॥ ४
व्रतं कृणुत व्रतं कृणुत व्रतं कृणुतेति ॥ दीक्षितस्य भोजनाय यत् पयो नियतं
तद् व्रतमित्युच्यते ॥ हे परिचारिका, व्रतं कृणुत दोहनादिना क्षीरं सम्पा-
दयत । त्रिवारं वाक्यावृत्तिरादरार्था । अनेन मन्त्रेण मौनपरित्यागं तित्तिरि-
रभिविधत्ते ॥ व्रतं कृणुतेति वाचं विमृजनीति ॥ कात्यायनः ॥ अग्निर्ब्रह्मेति
च सकृदिति ॥ एतमपि मन्त्रं सकृदुच्चारयेत् ॥ पाठस्तु ॥ अग्निर्ब्रह्माग्निर्यज्ञो
वनस्पतिर्यक्षिण इति ॥ ब्रह्मशब्देन वेदत्रयमभिधीयते । तस्य वेदत्रयस्याग्नि-
त्वमुपचर्यते । आधानेन निष्पन्नस्य वैदिकस्याग्नेर्वेदव्यातिरेकेणामम्भवात् ।
तस्य चाग्नेर्यज्ञसाधनत्वाद् यज्ञत्वमुपचर्यते । तथा यज्ञयोग्यस्य खादिरादेर्वन-
स्पतेर्यज्ञसाधनत्वाद् वनस्पतिर्यज्ञ इत्यनुवर्तनीयम् ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ देवीं
धियमिति व्रतायोपस्पर्शनामिति ॥ बोधायनः ॥ अथाप आचामिति देवीं धिय-
मिति ॥ आपस्तम्बः ॥ देवीं धियं मनामहे इति हस्ताववनिज्येति ॥ पाठस्तु ॥
देवीं धियं मनामहे सुमृळीकामभिष्टये । वचोदां विश्वधायमं सुतीर्यानांऽअसद्वश
इति ॥ अभिष्टये अभिमुख्येन प्राप्तस्य यज्ञस्य निज्यर्थं धियमनुष्ठानविषया
बुद्धिं मनामहे याचामहे । याञ्चाकर्मस्वेतत्पदं पठितम् । कथम्भूतां धियं, देवीं
देवसम्बन्धिनीं देवतोद्देशेन प्रवृत्ताम् । सुमृळीकां शोभनमुखहेतुम् । वचोदाम् ।
अनुष्ठानविषयस्य तेजसो दात्रीम् । विश्वधायसं विश्वस्य सर्वस्यानुष्ठानक-
मस्य धारयित्रीम् । तथाविधा धीः सुतीर्या अस्माभिः सुष्ठु तरीतुं प्राप्तुं

शक्या सती वशे अमत् । अस्माकमधीनत्वे भवतु ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥
 ये देवा इति व्रतयतीति ॥ बोधायनः । अथास्मै कंसे चमसे वा निषिच्य व्रतं
 प्रयच्छति तद्दक्षिणतः परिश्रित्य व्रतयति ये देवा इति ॥ पाठस्तु ॥ ये देवा
 मनोजाता मनोयुजो दक्षक्रतवः । ते नोऽवन्तु ते नः पान्तु तेभ्यः स्वाहेति ॥
 दीव्यन्ति द्योतन्त इति देवाश्चक्षुरादीन्द्रियरूपाः प्राणाः । ते च देवा मनो-
 जाता दर्शनश्रवणः दीच्छारूपान्मनस उत्पन्नाः । तथाविधायामिच्छायामुत्प-
 न्नायां पश्चाच्चक्षुरादीनां प्रवर्तमानत्वात् । तथा मनोयुजः रूपादिदर्शनकाळे-
 ऽपि मनसा युक्ता एव वर्तन्ते । अन्यचित्तस्य रूपादिप्रतिभामाभावात् । एत-
 मेवार्थमभिप्रेत्य चक्षुरादिप्राणपरत्वं तिलिखित्यचष्टे ॥ प्राणा वै देवा मनो-
 जाता मनोयुज इति । ते च देवा दक्षक्रतवः दक्षाः कुशलाः क्रतवः संक-
 ल्पा येषां चक्षुरादीनां ते दक्षक्रतवः । संकल्पितार्थकारिण इत्यर्थः । ते देवा
 ये सन्ति ते देवाः, नः अस्मान् अवन्तु अनुष्ठानविघ्नपरिहारेण पालय-
 यन्तु । तथा ते देवा नः अस्मान् पान्तु फलमाप्स्या पालयन्तु । तेभ्यः प्राण-
 रूपेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा इदं क्षीर्ं द्रुतमस्तु ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ उवाचाः
 पीता इति नाभिमालभत इति ॥ पाठस्तु ॥ उवाचाः पीता भवत मृगमापो-
 ऽअस्माकमनन्ददे मुशेवाः । ता अस्मभ्यमयक्ष्मा अनधीनाऽअनागमः स्व-
 दन्तुन्देवीरमृताऽऽकृतावृष इति ॥ हे आपः क्षिररूपा मृगं मया पीताः मयः
 उवाचा भवत क्षिमपरिणामाः शीघ्रं जीर्णा भवत ॥ उवाचमिति क्षिमरामेति
 यास्केनाक्तम् । किञ्चाऽस्माकं पीतव्रतामनन्ददे जलपाकस्थानि मुशेवाः
 शोभनमुखा भवतेत्यनुवर्तते । शेवमिति मृत्वनाम । तास्तथाविधा आपः,
 अस्मभ्यम् । अस्मदुपकारार्थं, स्वदन्तु स्वादुत्वयुक्ता भवन्तु । कथममृतास्ताः ।
 अयक्ष्माः प्रचलरोगविशेषरहिताः । अनधीनाः अन्येन रोगगामान्येनापि रहि-
 ताः । अनागमः पापरहिता उपद्रवकारिण्यो न भवन्तीत्यर्थः । देवीर्देवेभ्यः
 शरीरपुष्टिहेतुत्वेन द्योतमानाः । अमृताः अपमृत्युरहिताः । कृतावृषः यज्ञ-
 उद्भिद्देवः ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥ मेक्षन् कृष्णविषणया लोष्टं किञ्चिद्भद-
 न्त इयं त इतीति ॥ मेक्षन् मेहन् मूत्रं करिष्यन् । किञ्चिदियं त इत्यनेन
 ओष्ठव्यतिरिक्तं तृणादिकं विवक्षितम् ॥ पाठस्तु ॥ इयं ते यज्ञिया तनूरि-
 ति ॥ हे यज्ञपुरुष इयं पृथिवी, ते तव यज्ञिया तनूः यज्ञयोग्यो देहः । अ-
 ष्ठाऽस्या मूत्रोपहतिपरिहाराय व्यवधानं कर्तुं लोष्टं तरणं वा स्वीकरोमीत्य-

ऽभिप्रायः ॥ कात्यायनः ॥ अपो मुञ्जामीति मेहनीति ॥ पाठस्तु ॥ अपो
मुञ्जामि न प्रजाम् । अंहोमुचः स्वाहाकृताः पृथिवीमान्विशन्तेति ॥
अपो मुञ्जामि अस्यां पृथिव्यां लोष्टादिव्यवहितायां मूत्ररूपा अपो मुञ्जामि,
न प्रजां प्रजोत्पत्तिनिमित्तं रेतो न मुञ्जामि । अतो हे आपः अंहोमुचः
अंहमः पापात् पुरुषं पृथक्कुर्वत्यः । स्वाहाकृताः पूर्वं क्षीरपानकाले स्वाहे-
त्यनेन मन्त्रेण स्वीकृता यूयं पृथिवीमान्विशत इदानीं पृथिवीं प्रविशत ॥ कात्याय-
नः ॥ पृथिव्या संभवेत्यत्र निदधतीति ॥ पुरा स्वीकृतं लोष्टादिकं मूत्रस्था-
ने निदध्यात् । हे लोष्टादिक, पृथिव्या सह त्वमेकीमत्र ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥
अग्ने त्वमित्युक्ता स्वपितीति ॥ पाठस्तु ॥ अग्ने त्वं मुजागृहि वयं सुमन्दिपी-
महि । रक्षा णो अग्रयुञ्जन् प्रवुधे नः पुनस्कृषि इति ॥ हे अग्ने त्वं मुजागृहि
मुष्टु निद्रारहितो भव । वयं यजमानाः सुमन्दिपीमहि । माधु स्वप्स्यामः ।
मन्दितिः स्वापार्थः । युञ्ज प्रमाद इति धातुः । अग्रयुञ्जन् प्रमादग्रहितः सन्
नो रक्ष अस्मान् पालय । नोऽस्माकं प्रवुधे प्रबोधाय पुनस्कृषि भूयोऽपि
प्रयत्नं कुरु । अस्याग्नेः प्रार्थनायास्तान्पर्यं तिष्ठतिर्दृश्यति ॥ अग्निमेवाग्निं
कृत्वा स्वपिति रक्षमामपहत्या इति ॥ ६ ॥ कात्यायनः ॥ विवुधुमस्वप्सन्तं
पुनर्मन इति वाचयतीति ॥ पाठस्तु ॥ पुनर्मनः पुनरायुर्मऽआगात् पुनश्चक्षुः
पुनः श्रोत्रं म आगात् । पुनः प्राणः पुनरात्मा म आगात् । वैश्वानरो
अदब्धस्तनूपा अग्निर्मा पातु दुरितादवद्यादिति ॥ मे मनः यजमानस्य मनः
पुनरागात् सुप्तिकाले विलीय पुनरिदानीं शरीरे समागतम् । किञ्च स्वाप-
कालेन मे मदीयमायुर्नष्टप्रायं भूत्वा पुनरागादिदानीं पुनरुत्पन्नमिनामीत् ।
तथा मे चक्षुः पुनरागात् । तथा मे श्रोत्रं पुनरागात् । तथा मे प्राणवायुः
पुनरागात् । तथा मे आत्मा तत्त्वरूपो जीवः पुनरागात् । एवं सर्वेष्वामनेषु
अत ऊर्ध्वमयमग्निः, अवद्यात् = जिह्वया वदितुमयोग्यान्निन्दिताद् दुरिताद्
पापात्, मा पातु मां पालयतु । कथं सोऽग्निः । वैश्वानरः विश्वानरसम्बन्धी
सर्वपुरुषोपकारकः । अदब्धः केनाप्यहिमितः । तनूपाः अम्पदीयशरीरस्य
पालकः ॥ ७ ॥ कात्यायनः ॥ त्वमग्न इत्याह क्रुद्ध्वाऽव्रत्यं वा व्याहृत्येति ॥
दीक्षितो यदा क्रुध्यति, यदा च व्रतविरुद्धं ब्रूते तदानीं त्वमग्न इति मन्त्रं
ब्रूयात् ॥ पाठस्तु ॥ त्वमग्ने व्रतपा असि देव आमर्त्येष्वा । त्वं यज्ञेष्वीड्य
इति ॥ हे अग्ने देवो द्योतनात्मकस्त्वम् । आ मर्त्येषु मनुष्यपर्यन्तेषु सर्वत्र

प्राणिव्रतस्य कर्मणः पालको भवसि । तथा त्वमासमन्ताद्यज्ञेष्वीक्ष्यः स्तुत्यो-
ऽसि । अत्र स्वापस्य व्रतविरोधित्वात् तत्परिहारोऽनेन मन्त्रेण सम्पाद्यते ।
तदेतदाह तित्तिरिः ॥ अत्रत्यमिव वा एष करोति यो दीक्षितः स्वपिति ।
ज्ञमग्ने व्रतपा असीत्याहाऽग्निर्वै देवानां व्रतपतिः स एवैनं व्रतमालम्बयती-
ति ॥ ८ ॥ कात्यायनः ॥ लब्धमालभ्य वाचयति रास्त्वेयदितीति । क्रतौ देय-
द्रव्यं यद्यत् परिचारकैरानीतं तत्सर्वमुपस्पृश्येयं मन्त्रं पठेत् ॥ पाठस्तु ॥ रास्त्वे-
यत्सोमा भूयो भर देवो नः सविता वसोर्दाता वस्वदादिति ॥ हे सोम एतन्ना-
मक देव इयद् रास्स्व एतावद्धतं दोहं, भूयः पुनरापि आभर धनमाहर ।
वसोर्धनस्य दाता । सविता देवो नोऽस्मभ्यं वस्वदात् । पूर्वमपि धनं दत्तवान्
भूय इत्यस्य पदस्याऽपरिमितपशुरूपधनाहरणे तात्पर्यम् । तदाह तित्तिरिः ॥
सोमा भूयो भरेत्याहापरिमितानेव पशून् अवरुन्ध इति ॥ ९ ॥ इति तुरीये-
ऽध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ४ ॥ ५ ॥

पञ्चमे व्रतवरणादिमन्त्रा उक्ताः ॥ पष्ठे सोमक्रयण्यानयनमन्त्रा उच्यन्ते ॥
कात्यायनः ॥ ध्रौवं जुष्टां चतुर्गृह्णाति । वहिस्तृणेन हिरण्यं बध्वाऽवदधात्ये-
षा त इतीति ॥ ध्रुवायां स्थितमाज्यं जुष्टां गृहीत्वा तस्मिन्नाज्ये तर्दतृणेन
बद्धं हिरण्यमवदध्यात् ॥ पाठस्तु ॥ एषा ते शुक्र तनूरेतद्वर्चस्तया सम्भव
भ्राजं गच्छेति ॥ शुक्र दीप्यमानाऽग्ने तव एषा तनूर्द्वयमानमाज्यरूपं श-
रीरम् । एतदाज्ये प्रक्षिप्यमाणं हिरण्यं वर्चस्तदीयं तेजस्तया सम्भव आज्य-
रूपया तन्वा एकीभव । ततो भ्राजं गच्छ हिरण्यगन्ता दीप्तिं प्राप्नुहि । एतन्मन्त्र-
पाठेनाऽग्नेः सतेजस्त्वं सतनुत्वं संपद्यते ॥ सतेजसमेवैनं सतनुं करोतीति ॥
कात्यायनः ॥ जूरसीति जुहोति ॥ पाठस्तु ॥ जूरमि धृता मनसा जुष्टा
विष्णवे । तस्यास्ते सत्यमवमः प्रसवे तनु यन्त्रमशीय स्वाहेति ॥ हे सोमक्र-
यणि, बाष्पूपा त्वं जूरमि वेगयुक्तासि । तथा मनसा धृता नियमितामि वि-
ष्णवे जुष्टा यज्ञार्थप्रीतियुक्तासि । सत्यमवमः अवितथाभ्यनुज्ञायास्तस्यास्ते
तथाविधायास्तत्र सोमक्रयण्याः प्रसवे अनुज्ञायां सत्यां तनु स्वल्पं यन्त्रं नि-
यमनम् अशीय प्राप्नुयाम् । विनयोक्त्या नियमस्य स्वल्पत्वमुच्यते ॥ पर्या-
र्थतस्तु नियमस्य यज्ञममाप्तिपर्यन्तत्वान्महत्त्वम् । स्वाहा इदमाज्यं सुहुतमस्तु ।
तमेतं मन्त्रं तित्तिरिर्विभज्य व्याचष्टे । वाग्वा एषा यत् सोमक्रयणी । जूरसीत्या-
दि मनसा ध्यायते तद्वाचा वदति धृता मनसेत्याह । मनसा हि वाग्धृता जुष्टा

विष्णवे इत्याह यज्ञो वै विष्णुर्यज्ञायैवैनां जुष्टां कराति । तस्यास्ते सत्यस- ४-
 वसः प्रसव इत्याह सवितृप्रमवमेव वाचमवरुन्ध इति ॥ जवने शीघ्रकर्तव्य-
 तामवगच्छतीत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ चन्द्रमसीति हिरण्यमुद्धृत्येति ॥ पुरा
 जुष्टा बद्ध्वा स्थापितं हिरण्यमुद्धरेत् ॥ पाठस्तु ॥ चन्द्रमसि शुक्रमस्यऽमृत-
 मसि वैश्वदेवमसीति । हे हिरण्य, त्वं चन्द्रमसि । आह्लादहेतुर्भवसि । चदि
 आह्लाद इति धातुः । शुक्रमसि दीप्यमानमसि । अमृतमसि विनाशरहितमसि ।
 अभिसंयोगेऽपि हिरण्यस्य विनाशाभावः प्रसिद्धः । वैश्वदेवमसि सर्वदेवसंबन्धयसि
 सर्वोऽपि देवो हिरण्यदानादिना तुल्यत्येव ॥ १ ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ चि-
 दसीत्येनामभिमन्त्रयत इति ॥ एनां सोमक्रयणीमित्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ चिदसि ४-
 मनासि धीरमसि दक्षिणामसि क्षत्रियामसि यज्ञियास्यदितिरस्युभयतः शीर्ष्णीं सानः
 मुप्राचीं मुपरीचीं भव मित्रस्त्वा यदि बभ्रीतां पृषाध्वनस्पात्विन्द्रायाध्यक्षाय ।
 अनु त्वा माता मन्यतामनु पितानु भ्राता मगध्व्योऽनु सखा सयूध्यः । ४-
 सा देवि देवमच्छेदीन्द्राय सोमम् । रुद्रस्त्वा वर्णयतु स्वस्ति सोमसखा
 पुनरेहीति ॥ हे वाग्देवतारूपे सोमक्रयणि, त्वं चिदादिशब्दप्रतिपाद्यासि ।
 अन्तःकरणस्य चित्तं मनो बुद्धय इति वृत्तयः । देहादिमर्मातस्याऽचेतनत्वं
 व्यावर्त्य चेतनत्वं सम्पादयता बाह्यवस्तुषु वा निर्विकल्पं रूपं सामान्यज्ञानं
 जनयन्ती वृत्तिश्चिद्वत् । तदेवात्र चिदित्युच्यते । लोके यः कश्चित् पदार्थः
 एवं भवति वा न वेति संकुल्यत्रिकल्पौ कुर्वाणा वृत्तिर्मनः । तदेवात्र मन
 इत्युच्यते । भवत्येवेति निश्चयरूपा वृत्तिर्बुद्धिः । सैवात्र धीशब्देनोच्यते ।
 सोमक्रयण्याश्चिन्मनाधीरूपत्वेन प्रशंसा क्रियते । तत्र तित्तिरिदर्शयति ।
 बाग्वा एषा यत्सोमक्रयणी । चिदसि मनासीत्याह शास्त्र्यैवैनामेतदिति ॥ वा-
 गात्मिकां सोमक्रयणीं चिदादिशब्दवाच्या त्वमित्येवं प्रशंसतीत्यर्थः । चिदा-
 दिरूपत्वमुपचारेण सम्पाद्य प्रशंसा कृता । दक्षिणादिरूपत्वेन तु विद्यमानैव
 प्रशंसा क्रियते । यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्र इति तेन
 सोमेन क्षत्रेणाभिमन्त्र्यस्य सोमपालतां द्रव्यस्य क्रयहेतुत्वेन क्षत्रिया त्वम् ।
 ज्योतिष्टोमस्याग्रन्तयोः प्रायणीयोदनीययोः अदितिदेवताकत्वात् सेयम-
 दितिरुभयतः शीर्ष्णीं तद्रूपत्वं वास्याः क्रयद्वारा तत्संबन्धित्वादुपचर्यते । य-
 थोक्तमर्थं सर्वं तित्तिरिदर्शयति ॥ दक्षिणासीत्याह दक्षिणा ह्येषा यज्ञियासीत्या
 हेयमग्निपामेवैनां करोति । क्षत्रियासीत्याह क्षत्रिया ह्येषाऽदितिरस्युभयतः

शीर्ष्णीत्याह । देयदेवादित्यः प्रायणीयो यज्ञनामादित्य उदयनीयस्तस्मा-
देवमाहेति ॥ सा पूर्वोक्तचिदादिरूपा त्वं नोऽस्मदर्थं सुप्राची सुप्रतीची भव
प्रथममोमस्य क्रेतारं प्रति सुष्टु प्राङ्मुखी गत्वा पश्चादस्मान् प्रति समाग-
ते सुष्टु प्रत्यङ्मुखी भव ॥ ३ ॥ मित्रो हितकारी देवस्त्वां पदि बध्नीता-
म् । दक्षिणपादे बन्धनं करोतु । तथा पूषा पोषको देवः अध्वनस्पातु भयोपे-
तान्मार्गान् त्वां पालयतु । सोमयागस्याध्यक्षायेंद्राय स्वामिने देवाय तत्प्री-
त्यर्थं सोमक्रयमाधनत्वेन माता त्वाऽनुमन्यतां त्वदीयमाता त्वामङ्गीकरोति ।
एवं पित्रादयोऽप्यनुमन्यन्ताम् । सगर्भस्त्वया सहैकस्मिन् वा गर्भेऽवस्थितो वत्सो
भ्राताऽनु त्वत्तः पूर्वं पश्चाद्रोत्पन्नः, सखा सहसञ्चारी वत्सः स एव सयूथ्यः एक-
स्मिन् गोममृहे वर्तमानत्वात् ॥ ४ ॥ हे देवि सोमक्रयणि, सा त्वम् इन्द्राय सोम-
मच्छेहि इन्द्रार्थं सोमद्रव्यं प्राप्तुं गच्छ । रुद्रस्त्वा वर्तयतु । सोमं गृहीत्वा स्थि-
तां त्वां रुद्रो देवोऽस्मान् प्रति निवर्तयतु । सोमो देवः सखा यस्यास्तव मा
त्वं सोमसखाऽमि । क्षेमेण पुनरहि भूयोऽप्यागच्छ । मित्रस्त्वा पदि बध्नीता-
मित्यादि मन्त्रव्याख्यातमर्थं तित्तिरिर्यदवहास्यादित्यादिना विस्पष्टं प्रपञ्च-
यामास ॥ ५ ॥ इति तुरीयेऽध्याये षष्ठोऽनुवाकः ॥ ४ ॥ ६ ॥

षष्ठे सोमक्रयण्या मन्त्रा उक्ताः ॥ सप्तमे सोमक्रयण्यनुगमनादिमन्त्रा
उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ उदीचीं नियमानामनुगच्छतो वस्व्यसीति ॥ अनु-
गच्छतोऽध्वर्युयजमानाविःस्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ वस्व्यस्यादितिरस्यादित्याभि
रुद्राभि बृहस्पतिष्ठा मुम्ने रम्णातु रुद्रो वसुभिराचक इति ॥ सोमक्रयणी
गोवैश्वरूपेणादित्यरूपेण रुद्ररूपेण च स्तुयते, वस्वादिभिः पञ्चभिर्वाक्यैः । किञ्च
बृहस्पतिर्देवः त्वा मुम्ने रम्णातु त्वां मुखं रमयतु । आचक इति कामक-
र्मसु पठितम् । रुद्रो देवो वसुभिर्गृभिर्देवैः सह त्वां रक्षितुं कामयत्वित्यर्थः
॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ पृथ्व्यान्यतीत्य सप्तमं पर्युपविशति हिरण्यमस्मिन्नि-
धायाभिजुहोत्यदित्यास्त्वेतीति ॥ पाठस्तु ॥ अदित्यास्त्वा मूर्द्धन्नाजिघर्मि देव-
यजने पृथिव्याः । इच्छायास्पदममि घृतवत्स्वाहेति ॥ अदित्याः अत्वाण्डि-
तायाः पृथिव्या भुवः मूर्द्धन् मूर्द्धनि शिरोरूपे देवयजने देवानां यागयोग्य-
स्थाने वा आजिघर्मि । हे सोमक्रयणीपद त्वामाक्षरयामि । घृ क्षरणदीप्स्यो-
रिति धातुः । देवयजनस्य पृथिवीमूर्द्धत्वमसिद्धिं तित्तिरिर्दर्शयति ॥ पृथि-
व्या एष मूर्धा यद्देवयजनमिति ॥ किञ्च, इच्छायास्पदमसि, हे स्थानविशेष

गोः पादोऽसि तेन पादेनाङ्कितत्वात् । तच्च तित्तिरिदर्शयति ॥ यदेवास्य पदाद्
भृतमपीडयत तस्पादेवमाहेति ॥ सा यत्र यत्र स्यक्रामत् । ततोद्भृतमपीडयतेति
च ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ स्फयेन पदं त्रिः परिलिखत्सस्मे रमस्वेतीति ॥ हे गोः
पद त्वम् अस्मासु रमस्व क्रीडां कुरु ॥ कात्यायनः ॥ समुद्भृत्य पदं स्थाव्या-
मावपत्यस्मे ते बन्धुरिति ॥ पाठस्तु ॥ अस्मे ते बन्धुरिति ॥ हे सोमक्रयणीपद ते
तत्र अस्मे बन्धुः वयं बन्धुभूताः स्म ॥ कात्यायनः ॥ यजमानाय पदं प्रयच्छ-
ति त्वे राय इतीति ॥ हे यजमान ते त्वयि रायो धनान्येतत्पदरूपेण ति-
ष्ठन्त्विति शेषः ॥ अनेन पदे धनमम्पति तित्तिरिदर्शयति ॥ त्वे राय इति यज-
मानाय प्रयच्छति यजमान एव रयिं दधातीति ॥ कात्यायनः ॥ अस्मे राय
इति यजमानः प्रतिशृङ्गातीति ॥ अस्मे अस्मासु यजमानेषु रायो धनानि
पदरूपेण तिष्ठन्तु ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ मा वयमित्यध्वर्युरात्मानं स्पृशतीति ॥
पाठस्तु ॥ मा वयं रायस्पोषेण वियौष्मेति ॥ वयमध्वर्युप्रभृतयो रायस्पोषेण
धनस्य पुष्ट्या मा वियौष्म वियुक्ता मा भवाम ॥

कात्यायनः ॥ हृत्वा पत्न्यै पदं प्रयच्छति नेष्टा तोत इत्येनां वाचयतीति ॥
तोतशब्दः कलत्रवाची । तस्मिन् कलत्रे रायः पदरूपाणि धनानि ति-
ष्ठन्तु । पत्न्यै पदपदानं तित्तिरिरुपपादयति ॥ ततो राय इति पत्न्या
अर्द्धा वा एष आन्मनो यन् पत्नी यथा गृहेषु निधत्ते तादृगेव तदिति ॥
कात्यायनः ॥ सोमक्रयणीञ्च ममीक्षमाणां समख्य इतीति ॥ एनां वाच-
यतीत्यनुवर्तते ॥ पाठस्तु ॥ समख्ये देव्या धिया सन्दक्षिणयोरुचक्षसा । ४-
मा म आयुः प्रमोषीर्मा अहं तव वीरान् विदेय तव देवि संदृशीति ॥ देव्या
द्योतमानया धिया बुद्ध्या समख्ये अहं पत्नी सोमक्रयणीं सम्यग्यथा भव-
ति तथा विस्तीर्णदर्शनया दक्षिणत्वयोग्यया गवा सोमक्रयण्या । समित्यनेन
उपसर्गेण संयुज्य स्थितास्मीत्यपमर्थ उपलक्ष्यते । एवंविधे सोमक्रयणि, त्वं
मे पत्न्या आयुर्मा प्रमोषीः । प्रमुषितं विनष्टं मा कार्षीः । मो अहं तव
सोमक्रयण्यास्तव आयुर्मा पत्नी मो प्रमोषिषमित्यध्याहारः । प्रमुषितं मा कार्ष-
य । किञ्च तव सोमक्रयण्याः संदृशि सन्दर्शने सति वीरान् पुत्रान् विदे-
य लभेय ॥ ४ ॥ इति तुरीयेऽध्याये सप्तमोऽनुवाकः ॥ ४ ॥ ७ ॥

सप्तमे सोमक्रयण्यनुगमनादिमन्त्रा उक्ताः ॥ अष्टमे यजमानवाचनादि-
मन्त्रा उच्यते ॥ कात्यायनः ॥ एष त इति वाचयतीति ॥ आपस्तम्बोऽप्याह ॥

एष ते गायत्रो भाग इत्येतैर्यजमानो भागरूपं राजानमुपतिष्ठत इति ॥ मन्त्र-
चतुष्टयस्य प्रतीकमिदम् ॥ प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ एष ते गायत्रो भाग इति मे
सोमाय ब्रूतादिति ॥ हे सोम, ते तव एष पुरोहद्व्यमानो भागो गायत्रः
गायत्रीसम्बन्ध इति मे एवम्प्रकारं मम यजमानस्य वचनं सोमाय ब्रूतात् । हे
अध्वर्यो सोमाभिमानिदेवाय ब्रूहि । गायत्रीछन्दोऽयं सोमस्य तव क्रयो,
न तु वधार्थमित्येष यजमानोक्तेरभिप्रायः । तमेतमभिप्रायम्, अध्वर्यो सोमाय
कथयेत्यर्थः ॥ द्वितीयतृतीयमन्त्रयोः पाठस्तु ॥ एष ते त्रैष्टुभो भाग इति मे
सोमाय ब्रूतात् । एष ते जागतो भाग इति मे सोमाय ब्रूतादिति ॥ त्रैष्टुभः
त्रिष्टुपछन्दसः सम्बन्धी जागतो जगतीछन्दसः सम्बन्धी । अन्यत् पूर्ववद्
व्याख्येयम् ॥ तुरीयमन्त्रपाठस्तु ॥ छन्दोमानानां साम्राज्यं गच्छतादिति
मे सोमाय ब्रूतादिति ॥ अस्मिञ्छन्दस्येतावन्त्यक्षराणीति परिमाणं यदेवै-
र्ज्ञायते ते छन्दोमानास्तेषां छन्दोमानानां सम्बन्धी लोकः साम्राज्यः
समीचीनराज्योपेतः । तैल्लोकं हे सोम गच्छतात् त्वं प्राप्नुहि । इति मे मम
यजमानस्यैतद्वचनं सोमाय ब्रूतात् । हे अध्वर्यो सोमदेवाय कथय एतेषां
मन्त्राणां तात्पर्यं तित्तिरिदर्शयति ॥ यो वै सोमः राजानं साम्राज्यं लोकं
गमयित्वा क्रीणाति । गच्छति स्वानां साम्राज्यं छन्दांसि खलु वै सोमस्य
क्रयो देवमभिमन्त्रयते । साम्राज्यमेवैनं लोकं गमयित्वा क्रीणाति गच्छति
स्वानां साम्राज्यमिव ॥ अस्पायमर्थः ॥ योऽयं यजमानः सोमाभिप्रेतं
राजानं समीचीनराजं हे लोकं प्रथमतो वाचा प्राप्य सन्तोषं जनयित्वा पश्चा-
त् क्रीणाति स यजमानो जातीनां मध्ये साम्राज्यं प्राप्नोति । सोमस्य तथा-
विधो लोकः क इति चेद्, गायत्र्यादिछन्दोदेवता यत्र तिष्ठन्ति स एव
तथाविधो लोकः । तस्मात् कारणात् सोमक्रयात् पूर्वमेतैर्मन्त्रैर्मन्त्रयित्वा
क्रयं कुर्वाणः साम्राज्यं प्राप्य क्रीतवान् भवति, तेन स्वयमपि जातीनां मध्ये
साम्राज्यं प्राप्नोति ॥१॥ कात्यायनः ॥ प्राङ्मुपविष्टस्याऽस्माकोऽसीति सोममा-
लभत इति ॥ पाठस्तु ॥ आस्माकोऽसि शुक्रस्ते ग्रहः । विचित्रस्त्वा विचित्रन्ति-
ति ॥ हे सोम त्वं क्रयपथमागतः सन् अस्मदीयोऽसि ते तव सम्बन्धी शुक्रः
एतन्नामको यो ग्रहोऽस्ति सोऽयं ग्रहः । ग्रहेषु साधुः । एतदुपलक्षणमैन्द्रवा-
यवादिग्रहाणामपि । ते सर्वे ग्रहाः साधव इत्यर्थः ॥ विचित्रो विवेकेन चयन-
स्य कर्तारः, त्वां विचित्रन्तु सोमरूपं त्वां विविच्य सारासारविवेकं कृत्वा

सारभुतमेकत्र समुहयन्तु ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ सोमं मिमीते दशकृत्वोऽभि-
त्यमितीति ॥ पाठस्तु ॥ अभि त्वं देवः सवितारमोष्योः कविक्रतुमर्चामि स-
त्यसवः रत्नधामभिप्रियं मतिं कविम् । ऊर्ध्वा यस्यामतिर्भा अदिद्युतन् सवी-
मनि हिरण्यपाणिरमिमीत मुक्रतुः कृपा स्वरिति ॥ त्वं देवं यः कृतः सोमाख्यो
देवस्तमभ्यर्चामि सर्वतः पूजयामि । कथम्भूतं देवं, द्यावापृथिव्योः सवितारं
सोमयागानाम् । ओष्योरिति द्यावापृथिवीनाममुपठितम् । कविक्रतुं मेधाविकर्मा-
णम् । सत्यमवम् अविशथमेरणम् । रत्नधाम मम रत्नानां धारकं पोषकं वा । अभि
सर्वतः प्रियं देवानां प्रीतिविषयं मतिं मननयोग्यं कविं क्रान्तदर्शिनम् ।
किञ्च, यस्यादित्यस्य दीप्तिः अमतिः केनापि मन्तुमशक्या मती ऊर्ध्वगमना-
ऽभिमुखी, सवीमनि प्रसवविशेषवती देशे यत्र नक्षत्रादीनां प्रसवः प्रवृत्तिस्त-
त्त्वार्थः । अदिद्युतन् सर्वाणि वस्तूनि द्योतितवती । हिरण्यपाणिः पाणिः सुवर्णा-
भरणयुक्तः तद्युक्तः स्वरादित्यः मुक्रतुः साधुमङ्गल्यः, कृपा अत्यन्तकृपालुः,
अभिमीत पूर्वोक्तभावुकः स देवः सोमं मिमीतवान् । एतावान् सोम इति तदीयं
परिमाणं निश्चितवान् ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ उष्णीषेण बध्नाति प्रजाभ्य-
स्त्वेतीति ॥ सोम प्रजाभ्यः प्रजानामुपकाराय त्वा सोमरूपं त्वां बध्नामीति
शेषः ॥ कात्यायनः ॥ अङ्गुल्या मध्ये विनृणोति प्रजास्त्वानुमाणन्त्विति ॥
उष्णीषेण बद्धस्य सोमदेवस्याश्वासनिरोधो मा भूदिति विवरं कुर्यात् । प्रजा-
स्त्वामनुप्राणिहीति मन्त्रशेषः । हे सोम त्वानु प्रथमतः श्वासं कुर्वन्तं त्वाम्
अनुसृत्य प्रजाः सर्वाः प्राणन्तु श्वासं कुर्वन्तु । तथा हे सोम त्वमपि प्रजा
अनु प्रथमतः श्वासं कुर्वतीः प्रजा अनुसृत्य प्राणिहि श्वासं कुरु । प्रजानां
तव च कदाचिदापि श्वासनिरोधो मा भूत् । किञ्च परस्परमनुसृत्य श्वासः
प्रवर्तनामित्यनेनाऽभिप्रायेण विवरं करोतीत्यर्थः ॥ ४ ॥ इति तुरीयेऽध्याये-
ऽष्टमोऽनुनाकः ॥ ४ ॥ ८ ॥

अष्टमे यजमानवाचनादिमन्त्रा उक्ताः ॥ तत्रमे हिरण्यस्पर्शादिमन्त्रा उ-
च्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ चन्द्रं त्वेति हिरण्यमालभ्य वाचयतीति ॥ पाठस्तु ॥ ४-
चन्द्रं त्वा चन्द्रेण क्रीणामि शुक्रं शुक्रेणामृतममृतेनेति ॥ हे सोम चन्द्रं त्वा,
चदि आल्हादन इति धातुः । फलहेतुत्वेनाल्हादकरं त्वां चन्द्रेण शुक्रेण दी-
प्पमानेन अमृतेन अग्निसंयोगादिनापि विनाशराहितेन ॥ कात्यायनः ॥ सम्ये त
इति सोमविक्रयणः हिरण्येनाभिकम्पयतीति ॥ यो हिरण्यं गृहीत्वा सोमं वि-

क्रीणाति तमध्वर्युर्हिरण्येनाभिकम्पयेत् । तद्धस्ते हिरण्यं पुनः पुनर्दत्त्वा स्वी-
 कुर्वन् व्यवहारं कुर्यादित्यर्थः । गोरिति मन्त्रशेषः । औकारस्य स्थाने ओ-
 कारश्छान्दसः । हे सोमक्रयिन् ते गौः सग्मे तिष्ठत्विति शेषः । या गौः सो-
 मस्य मूल्यत्वेन तुभ्यं दत्ता सा त्वदीया गौः पुनः प्रत्यावृत्य सग्मे मदीयसं-
 गवति यजमाने तिष्ठतु । हिरण्यमेव तवास्तु गौर्मा भूदित्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥
 अस्मे त इति यजमानसहितं निदधातीति ॥ यजमानेन प्रत्यर्पितं यज्ञोद्गम्यं त-
 त्पुनर्यजमानसहितं सोमविक्रयिणः पुरतो निदधातीत्यर्थः । चन्द्राणीति मन्त्र-
 शेषः । हे सोमविक्रयिन्, ते चन्द्राणि तुभ्यं दत्तानि यानि हिरण्यानि ता-
 न्यस्मे अस्मासु प्रत्यावृत्य तिष्ठन्तु । तव गारेव सोममूल्यमस्तु हिरण्यानि मा
 भुवन्नित्यर्थः ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ अजां प्रत्यङ्मुखीमालभ्य वाचयति त-
 पसस्तनूरितीति ॥ पाठस्तु ॥ तपसस्तनूगमि प्रजापतेर्वर्णः । परमेण पशुना
 क्रीयसे सहस्रपोषं पुषेयमिति ॥ हे अजे त्वं तपमः पुण्यस्य तनूरमि देहो भ-
 वसि यज्ञनिष्पादकस्य सोमस्य द्युल्लोकेऽवस्थितस्यानगनार्थम् अजां गृहीत्वा
 गायत्रीदेवता जगायेति सोमाहरणोपाख्याने तित्तिरिणा समाज्जातम् । तस्मा-
 दजायाः पुण्यशरीरत्वम् । किञ्च, वर्ण्यत इति वर्णो देहः । हे अजे त्वं प्रजा-
 पतेर्वर्णोऽसि । यथा प्रजापतिः सर्वदेवताप्रिय एवमजापि सर्वदेवताप्रिया ।
 तदपि तित्तिरिणा समाज्जातम् ॥ सा वा एषा सर्वदेवत्या यदजनि ॥ हे सोम,
 त्वं परमेण पशुना उत्तमेनाजादिरूपेणानेन पशुनेदानीं क्रीयसे । पशोरुत्तमत्वं
 च तपसस्तनूरित्यादिना पूर्वमेवोक्तम् । अतोऽस्य प्रमादात् सहस्रपोषं पुत्र-
 पश्वादिमहस्राणां यथा भवति तथा पुषेयं पुष्टा भूयासम् ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥
 सव्येनाजां प्रयच्छन्, मित्रो न इति दक्षिणन सोममादायेति ॥ पाठस्तु ॥
 मित्रो न एहि सुमित्रध इतीति ॥ हे सोम त्वं नोऽस्माकं मित्रः प्रीतियुक्तो भूत्वा
 सुमित्रधाः शोभनानां मित्राणां धारकः मन् एहि आगच्छ । वस्त्रेण शुद्धस्य
 सोमस्य वरुणदेवताकत्वेन क्रूरत्वात् तच्छान्त्यर्थं मित्रत्वेन मार्थनम् ।
 तदाह तित्तिरिः ॥ वारुणो वै क्रीतः सोम उपनद्धो मित्रो न एहि सुमित्र-
 ध इत्याह शान्त्या इति ॥ कात्यायनः ॥ दक्षिणोरुं प्रत्यूह्य वासः सोमं नि-
 दधातीन्द्रस्योरुमितीति ॥ वासः प्रत्यूह्य उपवस्त्रमुपरि स्थाप्येत्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥
 इन्द्रस्योरुमाविश दक्षिणम् । उशन्तुशन्त-स्योनः स्योनमिति ॥ यजनरूपे-
 ण परमैश्वर्येणोपेतत्वाद्नेन्द्रशब्देन यजमानो विवक्षितः । हे सोम, त्वमिन्द्र-

स्य यजमानस्य दक्षिणमूर्धं विश्व दक्षिणेऽस्मिन्नुगवुपविशेत्यर्थः ॥ कथम्भूत-
स्त्वम् । उशन् दक्षिणमूर्धं कामयमानः स्योनः सुखरूपः । कथम्भूतमूर्धम् । उश-
न्तं त्वद्विषयकामेनोपेतं, स्योनम् उपवेष्टुं सुखकरम् । पुरो देवाः क्रीतं सो-
मम् इन्द्रस्योरावुपावेशयन् । तस्मादत्र यजमानस्येन्द्रशब्देन व्यवहार इति ।
तदाह तित्तिरिः ॥ देवा वै सोममक्रीणन् तमिन्द्रस्योरौ दक्षिण आमादय-
न् । एष खलु वा एतद्दीन्द्रो यो यजते तस्मादेवमाहेति ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥
स्वानभ्राजेति जपति सोमक्रयिणमीक्षमाणमिति ॥ पाठस्तु ॥ स्वान भ्राजाह्वा-
रे बम्भारे हस्त सुहस्त कृशानो । एते वः सोमक्रमणास्तान् रक्षध्वं मा वो
दभञ्जति ॥ स्वानादिभिः सप्तभिः शब्दैर्द्युलोके सोमस्य रक्षकाः सप्तदेवाः
संबध्यन्ते । हे स्वानादयः सप्तदेवा वो युष्माकं सोमक्रयणां सोमं क्रेतुमानीता
नो हिरण्यादिपदार्था एते पुरतः स्थापितास्तान् पदार्थान् यूय रक्षध्वम् । वो
युष्मान् मा दभन् । तेऽपि वैरिणो मा हिमिषन् । स्वानादीनां द्युलोके सोम-
रक्षकत्वं तित्तिरिर्दर्शयति ॥ स्वान भ्राजत्याहेते चामुष्मैर्द्युलोके सोममरक्षञ्जि-
ति ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥ गृहीतसोमं परिमाणे इति वाचयतीति ॥ पाठस्तु ॥
परिमाणे दुश्चरिताद्वाधस्वा मा सुचरिते भजेति ॥ हे अग्ने, दुश्चरिताद् मा
वाधस्व मा परितो निवारय । सुचरिते सदाचाररूपे पुण्ये मा मां यजमानम् ।
आभज सर्वतो भज स्थापयेत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ उदायुषेत्युत्थानमिति ॥
पाठस्तु ॥ उदायुषा स्वायुषोदस्थाममृतान् अन्विति ॥ उदायुषा उत्कृष्टेन
चिरञ्जीवलक्षणेन आयुषा निमित्तभूतेन, तथा स्वायुषा यागदानादिना शो-
भनेनायुषा निमित्तभूतेन अमृताननु सोमाभिदेवाननुसृत्य उदस्थाम अहमु-
त्थितवानस्मि । देवाननुसृत्योत्थानं तित्तिरिर्दर्शयति ॥ उदायुषा स्वा-
युषेत्याह देवता एतान् वाऽऽरभ्योत्तिष्ठतीति ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥
शीर्ष्णीं सोमं कृत्वा पाणिमन्तर्द्धाय प्रतिपन्थामित्यतोऽभ्येतीति ॥ शकट-
मभिलक्ष्य गच्छेदित्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ प्रतिपन्थामपद्याहि स्वस्ति गामने-
हसम् । येन विश्वाः परिद्विषो वृणक्ति विन्दते वस्विति ॥ पन्थानं मार्ग प्र-
त्यपद्याहि वयं प्रत्यापद्यामहि । प्रतिपन्थाः प्राप्ता अभूयेत्यर्थः । येन यथा । क-
थम्भूतं पन्थानं स्वस्तिगं क्षेमेण गन्तुं योग्यम् । अनेहसम्, एहः पापरूपश्चोरा-
दिबाधः, तद्रहितम् । येन पथा गच्छन् पुरुषो विश्वाः विश्वान् द्विषो द्वेषिण-
श्चोरादीन् परिवृणक्ति परितो वर्जयति । वसु विन्दते धनं कृभते । तं पन्थान-

मिति पूर्वत्राऽन्वयः ॥ ७ ॥ इति चतुर्थाध्याये नवमोऽनुवाकः ॥ ४ ॥ ९ ॥

नवमे ढिरण्यस्पर्शादिमन्त्रा उक्ताः ॥ दशमे कृष्णाजिनास्तरणादिमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ कृष्णाजिनमास्तुणात्यदित्यास्त्वगिति । अस्मिञ्छकटे इत्यर्थः । अमीति मन्त्रशेषः । हे कृष्णाजिन त्वम् । अदित्यास्त्वगसि अखण्डितायाः पृथिव्यास्त्वग्रूपामि ॥ कात्यायनः ॥ तस्मिन् सोमं निदधात्यदित्यै सद इतीति मन्त्रशेषः । हे सोम त्वम् अदित्यै सदः अदितेर्भूमेः संवन्धि स्थानम् आसीद् सर्वतः प्राप्नुहि । तत्रोपविशेत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ अस्तभ्नाद् घामिति सोममालभ्य वाचयतीति ॥ पाठस्तु ॥ अस्तभ्नाद् घामृषभोऽन्तरिक्षममिमीत वरिमाणं पृथिव्याः आमीदद्विश्वा भुवनानि सम्राड् विश्वेत्तानि वरुणस्य व्रतानीति ॥ ऋषभः श्रेष्ठः सोमः घामस्तभ्नात् । द्युलोको यथा न पतति तथा स्वकीययाज्ञया स्तम्भनं चकार । तथान्तरिक्षमप्यस्तभ्नात् । तथा पृथिव्या वरिमाणं भूमेर्वरिष्ठत्वं सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽधिकश्रेष्ठत्वम् अमिमीत निर्मितवान् । तयोः सम्राट् सम्यग् राजमानो विश्वा विश्वानि सर्वाणि भुवनान्यामीदत् । लोकान् व्याप्तवान् । इत इत्थमुक्तेन प्रकरणेन तानि द्युलोकस्तम्भनादीनि विश्वानि सर्वाणि वरुणस्य सर्वावरणसामर्थ्ययुक्तस्य सोमस्य व्रतानि व्रतवन्नितानि कर्माणि सर्वदा तानि करोतीत्यर्थः ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ वनेषु व्यन्तरिक्षमिति ॥ सोमं पर्याणहनेन परि तन्प्रतिबन्धनहेतुना ब्रह्मण परितो वेष्टयित्वेत्यर्थः । बाधायनोऽप्याह ॥ अथैनं वाममा परितनोति वनेष्विति ॥ पाठस्तु ॥ वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान् वाजमर्वन्मु पय उस्त्रियासु । हन्मुक्रतुं वरुणो विश्वार्गेन दिवि सूर्यमदधात्सोममद्राविति ॥ वरुणः सर्वावरणमर्थः । सोऽग्रे वनेषु वनगतवृक्षाग्रेषु अन्तरिक्षमाकाशं विततान् । तत्रावरणद्रव्याभावादन्त्यन्नं विस्तारितवान् । तथा अर्वन्मु मग्नेषु वाजं बलं विततानेत्यनुवर्तते । उस्त्रियासु गोषु । उस्त्रियाशब्दो गोनामसु पठितः । पयः क्षीरं विततान् । हन्मु हृदयेषु क्रतुं सङ्कल्पं तच्छकन्त्युपेतं मनो विततान् । विश्वु प्रजाम् अग्निं जाठराग्निं विततान् । दिवि द्युलोके सूर्यं विततान् । अद्रौ पर्वते सोमं बल्लीरूपम् । अदधात् स्थापितवान् । परमेष्ठवरस्यैव सोमदेवतारूपेणावतीर्णत्वान्मन्त्रद्वयोक्तं द्युलोकस्तम्भनादिसामर्थ्यं द्रष्टव्यम् । पर्वतगतानां पापाणानां सन्धिषु सोमवल्ल्या उत्पद्यमानत्वादद्रौ सोमस्थापनं द्रष्टव्यम् । तदाह तित्तिरिः ॥ सोममद्रावित्याह । ग्रावाणो

अद्र्यस्तेषु वा एष सोमं दधातीति ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ कृष्णाजिनं पुर-
स्तादासजति सूर्यस्य चक्षुरितीति ॥ पाठस्तु ॥ सूर्यस्य चक्षुरारोहाग्नेरक्षणः ४-
कनीनकाम् । यत्रैतशेभिरीयमे भ्राजमानो विपश्चिनेति ॥ हे सोम त्वं
सूर्यस्य सम्बन्धि यच्चक्षुर्गस्ति तत्समानचक्षुर्युक्तो भव । तथाग्नेरक्षणः क-
नीनकाम् अग्नेः सम्बन्धि यदक्षि विद्यते तस्याक्षणः सम्बन्धिनी या कनीनका
तारका ताम् अतरः । हे इत्यनुवर्तते । तत्समानदृष्टिपाटव्युक्तो भवे-
त्यर्थः । यत्र यस्मिन् देवयजने, एतशेभिरीयमे अद्र्यं गच्छामि । एतश इत्यञ्ज-
नाममु पाठितः । तत्रेत्यध्याहारः । तस्मिन् देवयजने विपश्चिता विदुषा स-
र्वज्ञेनाग्निना सह भ्राजमानो दीप्यमानस्तिष्ठेति शेषः । सूर्याग्निदृष्टिविषये सति
मार्गो रक्षोवाधरहितो भवति । तदाह तित्तिरिः । एष वा खलु वा अरक्षोहनः
पन्था योऽग्नेश्च सूर्यस्य चेति ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ अनद्राहौ युनक्त्युस्त्रा
एतमितीति ॥ पाठस्तु ॥ उस्त्रा एतं धूर्वाहौ युज्येथामनश्रुऽअवीरहणौ ४-
ब्रह्मचोदनौ । स्वस्ति यजमानस्य गृहान् गच्छतमिति ॥ हे उस्त्रावनद्राहौ
एतं गच्छतम् । कथम्भूतौ उस्त्रौ धूर्वाहौ शकटस्य धुरं वोढुं समर्थौ । अनश्रू
नेत्रयोरश्रुरहितौ, सोत्माहावित्यर्थः । अवीरहणौ शृङ्गादिभिर्वीराणां
पुत्राणां शिशूनां हननमकुर्वाणौ । ब्रह्मचोदनौ ब्राह्मणानां यज्ञं प्रति प्रेरकौ ।
तथाविधौ युवां क्षेमेण यजमानस्य गृहान् प्रति गच्छतम् ॥ ४ ॥ कात्या-
यनः ॥ भद्रो म इति वाचयतीति ॥ पाठस्तु ॥ भद्रो मेऽसि प्रच्यवस्व भुव- ४-
स्पते विद्वान्यभिधामानि । मा न्वा परिपरिणो विदन्मा त्वा परिपन्थिनो
विदन्मा त्वा वृकाऽअघायवो विन् । श्येनो भूत्वा परापत यजमान-
स्य गृहान् गच्छतन्मौ मःस्कृतमिति ॥ हे सोम मे मम यजमानायोपकारार्थं
भद्रोऽसि कल्याणरूपोऽसि । भद्रि कल्याण इति धातुः । हे भुवस्पते भुव-
ब्देनाऽत्र भूमौ स्थितानि भूतानि यजमानाध्वर्युप्रभृतीन्युपलक्ष्यन्ते । तेषां
भूतानां च पालकत्वान् पतिः सोमः । एतदेवाभिप्रेत्य तित्तिरिगाह ॥ प्रच्य-
वस्व भुवस्पत इत्याह भूतानां शेष इति ॥ तथाविध हे सोम विद्वानि
सर्वाणि धामान्यभिप्राचीनत्वं दाहविधानादिस्थानान्याभिलक्ष्य प्रच्यवस्व प्रक-
र्षेण गच्छ । परिपरिण इत्यनेन सर्वत्र सञ्चरन्तस्तस्कराविशेषा उच्यन्ते । ते
त्वा मा विदन् । त्वां सोमं मा जानन्तु । तथा परिपन्थिनः यजमानयागस्य
प्रतिषेधका विद्वेषिणः त्वां मा विदन् । अघायवः अघं पापं हिंसारूपम् इच्छन्तो

वृका । अरण्यश्वानास्त्वां या विदन् ॥ किञ्च श्येनो भूत्वा श्येनपक्षिवच्छीघ्र-
 गामी भूत्वाऽस्मदीयस्य यजमानस्य गृहान् परापत शीघ्रङ्गच्छ । तत्र गृहेषु नौ
 आवयोस्तव च मम च सःस्कृतं सर्वोपकरणसंयुक्तं स्थानं विद्यत इति शेषः ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥ शालापूर्वेण प्रतिप्रस्थाताऽग्नीषोमीयपशुमादा-
 य तिष्ठति कृष्णमारङ्गं मेध्यमभावे लोहितसारङ्गं नमो मित्रस्येत्येतेन आलभ्य
 वाचयतीति ॥ पाठस्तु ॥ नमो मित्रस्य वरुणस्य चक्षुषे महोदेवाय तद्वत्सप-
 र्यत् । दूरे दृशे देवजाताय केतवे दिवस्पुत्राय सूर्याय शशसतेति ॥ अस्मिन्
 मन्त्रे सूर्यरूपेण सोमः स्तुयते । मित्रस्य वरुणस्येति चतुर्थ्यर्थे षष्ठ्यौ ।
 मित्राय सूर्याय नमोऽस्तु । कथम्भूताय मित्राय वरुणाय स्वरश्मिभिर्जगदा-
 वृषत्वे चक्षुषे चक्षुष्मते द्रष्ट्रे महो महते देवाय द्योतमानाय । हे ऋत्विजस्तं
 ज्योतिष्टोमरूपम् ऋतं सत्यम् अवश्यफलप्रदं कर्म अनुष्ठायेति शेषः । सपर्यत्
 तेनानुष्ठानेन सपर्यया परिचर्या कुरुत । किञ्च दूरेदृशे द्युलोकात्मके दूरे दृशे
 प्राणिभिर्दृश्यत इति दृग्दृक् तस्मै । देवजाताय देवाद् द्योतमानात् परमात्मन
 उत्पन्नो देवजातः, तस्मै । केतवे अक्ष्णो लक्षणरूपाय । हे ऋत्विजः दिव-
 स्पुत्राय द्युलोकस्य पुत्रवत् प्रियाय सूर्याय शशसत सूर्यप्रीत्यर्थं शंसते स्तुतिं
 कुरुत ॥ ६ ॥ कात्यायनः ॥ उत्तम्भनेनोपस्तम्भान्ति वरुणस्योत्तम्भनमिति ॥
 अमीति मन्त्रशेषः । वरुणस्योत्तम्भनमसि ॥ उत्तम्भ्यते शकटस्य मुखाग्रमुन्नतत्वेन
 स्थाप्यते यस्मिन् काष्ठे तत्काष्ठमुत्तम्भनम् । हे काष्ठ त्वं वरुणस्य शक-
 टस्य उत्तम्भनमसि । यथा वरुणो बन्धकारी देवः, एवं शकटेऽपि बद्धस्य
 सोमस्य स्थापितत्वाद् वरुणशब्देन शकटमुपचर्यते ॥ कात्यायनः ॥ शम्ययो-
 द्ब्रूहि वरुणस्य स्कम्भसर्जनी इति ॥ स्येति मन्त्रशेषः । वरुणस्य शकटस्य
 युगे बद्धयोर्वलीवर्दयोगलस्य भागे काष्ठनिमित्ते शम्ये स्थाप्येते । ताभ्यां
 बलीवर्दयोरितस्ततो गमननिवारणं भवति । ते ततस्तम्भशब्देनोच्येते । हे शम्ये
 युवां स्कम्भनी स्कम्भितुं सृज्यमाने भवथः ॥ कात्यायनः ॥ अभिमृशत्येनां
 वरुणस्य ऋतमदन्यमीति । एनामित्येतेन आमन्दी परामृश्यते । औदुम्बरी-
 मामन्दीमिति पूर्वत्र प्रकृतत्वात् । वरुणशब्देनाऽत्र बद्धः सोम उपलक्ष्यते । हे
 आमन्दि त्वं वरुणस्य वस्त्रादिना बद्धस्य सोमस्य संबन्धिनी ऋतमदन्यसि
 ऋतं यज्ञस्तस्मिन्पर्ययमुपवेशनस्थानभूतासि ॥ कात्यायनः ॥ कृष्णाजिन-
 मस्यामास्तृणाति । वरुणस्य ऋतमदनमसीतीति ॥ हे कृष्णाजिन त्वं वरुण-

स्य बद्धस्य सोमस्य सम्बन्धि ऋतमदनमसि यज्ञार्थमुपवेशनस्थानमासि ॥ का-
खायनः ॥ तस्मिन् संभं निदधानि वरुणस्य ऋतसदनमासीदेति ॥ हे सोम
त्वं वरुणस्य वस्त्रबद्धस्य तत्र सम्बन्धिनीष ऋतमदर्नी यज्ञार्थमुपवेशनस्थान
भूतामासन्दी प्राप्य आसीद कृष्णाजिने सुखेनोपविश ॥ ७ ॥ काखायनः ॥
या त इति वाचयतीति ॥ पाठस्तु ॥ या ते धामानि हविषा यजन्ति ता ते
विन्वा परिभूस्तु यज्ञश्च । गयस्फानः प्ररणः सुवीरोऽवीरहा प्रचरा सोम
दुर्यानिनि ॥ हे सोम ते तत्र या धामानि प्रातःसवनादीनि स्थानानि, प्रा-
प्येति शेषः । हविषा यजन्ति ऋन्विजस्तदीयरमरूपेण हविषा यागं कुर्वन्ति ।
अतो यज्ञमभिलक्ष्येति शेषः । ते तत्र सम्बन्धीनि तानि स्थानानि सर्वाणि
स्थानानि परिभूस्तु । भवान् पतिः प्राप्तवान् भवतु । किञ्च, गयस्फानो
गृहाभिवर्द्धकः । प्ररणः प्रकर्षेण यज्ञपारं प्रत्यस्मांस्तारयिता सुवीरः शो-
भनास्त्वत्प्रमादलब्धा वीरा अस्मत्पुत्रपौत्रा यस्य तत्र स त्वं सुवीरः । अवी-
रहा यः वीराणां महतां परिपालक इत्यर्थः । हे सोम, यथोक्तगुणयुक्तः सन्
दुर्यान् प्रचर गृहान् प्राप्नुहि ॥ इति तुरीयाध्याये दशमोऽनुवाकः ॥४॥ १०॥

अत्र त्रिनियोगमद्भुतः—

सोमक्रयार्था एतस्मिंश्चतुर्थाध्याय ईरिताः ॥

दशानुवाका एतेषामर्थोऽत्र प्रविविच्यत ॥ १ ॥

वपनञ्चाभ्यञ्जनाद्या मन्त्रा उद्ग्रहणाभ्याः ॥

अजिनाद्या व्रतार्थाश्च क्रयण्यानयवाचिनः ॥ २ ॥

सोमक्रयण्यनुगतियजमानस्य वाचनम् ॥

हिमण्यस्पर्शनार्थाः स्युरजिनास्तरणादयः ॥ ३ ॥

यज्ञ शालास्तम्भजप इमा शिरमवन्दनम् ॥

तृणः ऽन्नयनिमोषेति छदनं स्पृधिमन्त्रतः ॥ ४ ॥

अ यः स्मायादुदुत्क्रामदीक्षा वस्नेऽत्र मम हि ॥

मग्नीनां नवर्तनितभ्यज्यावृत्रेति चतुषोः ॥

आज्या विभिश्चिनाशेषो छिद्रेणेति भवेत्त्रिषु ॥ ५ ॥

आवो वाचयते स्वाहा मुष्टिरेकादशेरिताः ॥

आकृत्यै जुहुयात् पद्भिः पदेवात्रोपवर्णिताः ॥ ६ ॥

ऋक्सामाजिनसंस्पर्शः शर्मास्याजिनरोहणी ॥

उर्ध्वसर्वा ववधनाति सोम तन्नीविबन्धनम् ॥ ७ ॥
 विष्णोः शिरः प्रोर्णुते च विषाणामिन्द्रमन्त्रतः ॥
 कण्डूयनार्थवादेद्यात् सुसस्या लेखनं भुवि ॥
 उच्छेति दण्डोच्छ्रयणमष्टौ मन्त्रा इहेरताः ॥ ८ ॥
 अतं त्रिभिर्वर्गिभ्योको ह्यभिर्वेद्यासकृद् वदेत् ॥
 देवीं वयः स्पृशेदथ पिबेत् श्वाका इति स्पृशेत् ॥ ९ ॥
 नाभिं तथेवतेरपि मूर्ध्ना लोष्ठमाहरेत् ॥
 अपो मुञ्चा मुञ्चयेत् तत्र लोष्ठं क्षिपेत् पृथु ॥ १० ॥
 अग्ने स्वप्स्यन्मन्त्रयेत् बुद्धं वाचयेत् पुनः ॥
 क्रोधादौ त्वमिति ब्रूयादेयद्रव्यं स्पृशान् वदेत् ॥ ११ ॥
 रास्वे यदनुवाकेऽस्मिन्नुक्ता मन्त्राश्चतुर्दश ॥
 घृते स्वर्णं क्षिपेदेषा पुरसीति जुहोति हि ॥
 चन्द्रं हिरण्यमुदघृत्य चित्सोमक्रयणीं जपेत् ॥
 षष्ठेऽस्मिन्नुवाके तु मन्त्राश्चत्वार ईरिताः ॥ १२ ॥
 बस्वी क्रयण्यनुगतिरादित्याः सप्तमे पदे ॥
 जुहोत्यस्मे परिलिखेत् पदमस्मे क्षिपेद् घटे ॥ १३ ॥
 त्वे पदं स्वामिने दद्यादस्मेति स्वीकरोत्यमौ ॥
 मा वयं संस्पशेदृत्विक् ततो पत्न्यै नयेत् पदम् ॥
 समस्ये वाचयेत् पर्वीं नव मन्त्राः मकीर्तिताः ॥ १४ ॥
 चतुरो वाचयेदेष ह्यास्मा सोमं स्पृशेत्तथा ॥
 अभिसोमं मिमीतेऽथ मजेत्युष्णीषबन्धनम् ॥
 मजःस्त्विति विवृणुते मन्त्रा अष्टाबुदीरिताः ॥ १५ ॥
 स्वर्णं स्पृष्ट्वा जपेच्चन्द्रं सप्तमे स्वर्णेन कल्पयेत् ॥
 अस्मे स्वर्णं क्षिपेदग्रेऽजां स्पृष्ट्वा वाचयेत्तपः ॥ १६ ॥
 मित्रो न सोममादत्त इन्द्रोरौ स्थापयेदमुम् ॥
 जपेत् स्वानेति परिभा सप्तमं वाचयेदथ ॥ १७ ॥
 उदोत्थाय हानो गच्छेत् प्रतिमन्त्रा इहेरिताः ॥
 आदिकृष्णाम्बिनं स्मृत्वा ह्यदिसोमं सादयेत् ॥
 अप स्पृष्ट्वा वाचयेत् वने वस्त्रेण वेष्टयेत् ॥ १८ ॥

सूर्याजिनं पुरोदध्वादनद्बाहौ तु योजयेत् ॥
 जज्ञेति वाचयेद्भद्रः सारङ्गे वाचयेत्तमः ॥ १९ ॥
 बरुक्षाक्षामि शकटम् उत्स्वेदो बरु क्षाम्ययोः ॥
 बरु स्पृशेदिहासन्दीमजिनास्तरणं बरु ॥
 बरु सोमं सादयेत् जपेद् या ते चतुर्दश ॥ २० ॥
 वेदार्थस्य प्रकाशेन तपो हार्दं निवारयन् ॥
 पुमर्थश्चतुरो दद्याद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ २१ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबुद्धभूषणसाम्रा-
 ज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे काण्वसंहिता-
 भाष्ये तुरीयोऽध्यायः ॥ ४ ॥

श्रीयज्ञोक्ता विजयते ।

अथ शुक्लयजुर्वेदकाण्वसंहिताभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ॥

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

सोमकथप्रधाने चतुर्थाध्याये उपनाख्यसंस्कारस्य क्रीतस्य सोमस्य शाला-
प्रवेशपर्यन्ता मन्त्रा उक्ताः । अथ सौमिकवेदिप्रधानः पञ्चमाध्याय आरभ्य-
ते । तत्रादौ तावदातिथ्यहविरादिविषया मन्त्राः प्रथमेऽनुवाकेऽभिधीयन्ते ॥
कात्यायनः ॥ निर्वपेदग्नेस्तनूरिति पञ्चकृत्वः प्रतिमन्त्रमिति ॥ प्रथममन्त्र-
पाठस्तु ॥ अग्नेस्तनूरसि विष्णवे त्वेति ॥ हे हविस्त्वम् । अग्नेस्तनूरसि ।
अग्निनामको यो देवः सोमस्य राज्ञो भृत्यरूपस्तस्य तृप्तिहेतुत्वात्, शरीरमसि ।
तथाविधं त्वां विष्णवे बहुषु व्यापित्वेन विष्णुशब्दाभिधेयाय सोमाय तत्प्री-
त्यर्थं निर्वपामीति शेषः ॥ द्वितीयमन्त्रपाठस्तु ॥ सोमस्य तनूगमि विष्णवे त्वेति ॥
पूर्वत्र क्रीतो यः सोमो बल्लीरूपस्तदभिमानो देवो भूत्वा राजा तस्यानुचरः
कश्चिद् सोमनामको देवोऽत्र सोमस्येति पण्ड्यन्तेन विवक्षितः । अन्यत् सर्वं
पूर्वाद् व्याख्येयम् ॥ तृतीयमन्त्रपाठस्तु ॥ अतिथेरिति अतिथ्यमसि विष्णवे त्वेति ॥
अत्र, अतिथेरिति पण्ड्यन्तेन सोमराजानुचरः कश्चिद् अतिथिनामको देवो
विवक्षितः । (हे हविस्त्वम्, अतिथिनामकस्य देवस्य अतिथ्यमसि अतिथ्य-
नामकसंस्काररूपमसि । तिथिविधेः समनपेक्ष्य क्षुधया पीडितो ब्रह्मणः संस्का-
रार्थो यः परगृहे समागच्छति तस्या क्रियमाणः पादपशालनभोजनदानादि-
रूपः संस्कार आतिथ्यमिन्द्र्युच्यते) । तथा विषत्वमस्य हविषोऽत्र विवक्ष्यते ।
अन्यत् पूर्ववत् ॥ चतुर्थमन्त्रपाठस्तु ॥ इयेताय त्वा सोमभूते विष्णवे त्वेति ॥
इयेतनामकः कश्चिद् देवः सोमराजाऽनुचरः । स च नानाविधोपपन्नदिग्दर्शनेन
सोमराजानं विभर्तीति सोमभूत्वा तस्मै इयेताय, हे हविस्त्वां निर्वपामि । अन्यत्
पूर्ववत् ॥ पञ्चममन्त्रपाठस्तु ॥ अग्राये त्वा रायस्पोषदे विष्णवे त्वेति ॥ अपरोऽपि
अतिथिनामको देवः सोमस्य राज्ञोऽनुचरो रायस्पोषं तुष्टिं ददातीति
राज्ञा गृहे यद्धनमस्ति तत्क्रयविक्रयादिना बहुधा पोषयित्वा राज्ञे समर्पयति
तथा विधायाग्नये रायस्पोषदे रायस्पोषदायिने, हे हविस्त्वां गृह्णामि । अन्यत्
पूर्ववत् । विष्णुशब्दाभिधेयस्य सोमस्य राज्ञो हविषा तदनुचराणामग्न्यादि-

देवानां तद्वारा तत्सम्बन्धिगायत्र्यादिच्छन्दोदेवतानां च तृप्तिर्भवति । तदेतद-
भिप्रेत्य लौकिकन्यायवचनन तित्तिरिर्विस्पष्टमाह ॥ यावाद्भवे राजानुचरै-
रागच्छति सर्वेभ्योऽतिथिभ्यस्तेभ्य आतिथ्यं क्रियते । छन्दांसि खलु वै
सोमस्य राज्ञोऽनुचराणीति ॥ १. ॥ अथाग्निन्युनमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्या-
यनः ॥ अग्नेर्जनिव्रमिति शकलमादाय वेद्यां करोतीति ॥ अमीति मन्त्रशेषः । ५-
जायते अस्मिन्निति जनिव्रम् । हे शकल त्वमग्नेर्जनिव्रमसि । अग्निजनना-
धारभूतमसि ॥ कात्यायनः ॥ वृषणाविति कुशतरुणति ॥ आदायेत्यनु-
वर्तते । स्थ इति मन्त्रशेषः ॥ हे दर्भो युवां वृषणां सेक्तारौ भवतः । यथा
पुत्रजननाय स्त्रीपुरुषौ वीर्यस्य सेक्तारौ तद्वयुत्रामप्यरण्योरग्निजननमामर्थ्य-
सम्पादकाधित्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ उर्वमीत्यधरारणि तयोरिति ॥ शकले-
स्थापितयोर्दर्भयोऽधरारणि निदध्यात् ॥ हे अधरारणे त्वम् । उर्वइयमि ।
यथोर्वशी पुरुषमोगायाधस्नाच्छेने तद्वत् त्वमप्यधोऽवस्थितामीत्यर्थः ॥ कात्या-
यनः ॥ आयुर्गतीत्युत्तरमाज्यस्थालीं स्पृशेदिति ॥ येयमुत्तरारणिनिधास्यते ।
तयाज्यस्थालीं स्पृशेत् । हे स्थालीगताज्य त्वम् आयुर्गमि । द्रयेन जनयिष्य-
माणस्याग्नेरायुःप्रदमसि ॥ कात्यायनः ॥ पुष्करवा इत्यभिधानमिति ॥ अमीति
मन्त्रशेषः । अधरारणेर्भिमुखत्वेनोत्तरारणि निदध्यात् । हे उत्तरारणे
त्वं पुष्करवा अमि । यथा पुष्करवःशब्दाभिधेयः पुरुष उर्वइया अभिमुख-
त्वेनोपरि वर्तते तथा त्वमपीत्यर्थः । उक्तान् विनियोगान्पस्तम्बोऽपि दर्श-
यति ॥ अग्नेर्जनिव्रमसीत्यधिमन्थनशकलं निदधानि वृषणां स्थ इति प्राञ्चौ
दर्भाबुर्वइयमीत्यधरारणिमादत्ते पुष्करवा इत्युत्तरारणिमिति ॥ कात्यायनः ॥
मन्थनि गायत्रेणेति प्रतिमन्त्रमिति ॥ मन्त्रत्रयेणारण्येर्मन्थनं कुर्यात् । पाठ-
स्तु ॥ गायत्रेण वा छन्दमा मन्थामि घ्रैष्टुभेन त्वा छन्दमा मन्थामि जाग-
तेन त्वा छन्दमा मन्थामीति ॥ हे अग्ने त्वां गायत्रीछन्दोऽभिमानिना देवेन
सविताऽहं मन्थामि । अरण्योर्मन्थनेनोत्पादयामि । द्वितीयतृतीयमन्त्रावप्येवं
व्याख्येयौ ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ भवतन्न इति प्रास्पमीति ॥ आपस्तम्बो-
ऽप्याह ॥ भवतन्नः समनसाविस्रग्रेणोत्तरं परिधिमाहवनीये प्रहरतीति ॥ पाठ-
स्तु ॥ भवतन्नः समनसौ सचेतसाऽअरेपसौ । मा यज्ञं हिंसिष्टुं मा यज्ञपतिं
जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य न इति ॥ योऽयमाहवनीयोऽग्निर्यश्चायं मथितो-
ऽभिस्ताबुभौ हे अग्ने नोऽस्मदर्थं समनसौ मनसा सहितौ सचेतसौ परस्परं

समानचित्तयुक्तौ । अन्यविषयं मनः परित्यज्यास्मदनुग्रहाभिमुखत्वं समनस्त्वं
तस्मिन्ननुग्रहे परस्परविपत्तिपत्तिराहित्यं सचेतस्त्वम् । अरेयसौ पापराहितौ
अस्मद्विषये प्रामादिकेनापराधेनापि कोपाभावः पापराहित्यम् । भवतम् । यथो-
क्तगुणयुक्ताबुधौ तिष्ठतम् । पापराहित्यमेव स्पष्टीक्रियते । यज्ञं मा हिंस्ति-
षम् । अस्मदीयं कर्म मा विनाशयतम् । तथा यज्ञपतिमपि मा विनाशयतम् ।
हे जातवेदसाबुभावगनी, अस्मिन्नुष्ठानदिने नोऽस्मदर्थं शिवौ शान्तौ भवत-
म् ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ अग्ना अग्निरिति जुहोतीति ॥ पाठस्तु ॥ अग्ना
अग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रोऽभिशास्तिपात्रा । स नः स्योनः सुयजा
यज्ञे देवेभ्यो हव्यं मदमप्रयुच्छन्त्वाहेति ॥ अग्नावाहवनीयाख्ये यः
प्रविष्टोऽग्निर्मध्यमानः सोऽयं चरति हविर्मक्षयति । चर गतिभक्षणयोरिति
धातुः । कथम्भूतोऽग्निः । ऋषीणां पुत्रः ऋत्विजो वेदविदश्चात्र ऋषय इत्युच्यन्ते ।
तैरुपादितत्वात् पुत्रवत् पुत्रः । अभिशास्तिपात्रा अभिशास्तिर्वैकल्पयनिमित्तो-
ऽभिशापः । तस्मान् पाति रक्षतीत्यभिशास्तिपात्रा । हेअग्ने म तथाविधस्त्वं नो-
ऽस्मदर्थं स्योनः सुखरूपां भूत्वा सुयजा शोभनेन संयोगेन इह स्थाने देवेभ्य
इन्द्रादिभ्यो हव्यंमोमादिरूपं यज्ञं देहि । अस्माभिर्दत्तं हविर्देवान् प्रापयेत्यर्थः । किं
कुर्वन् मदं सदात् अपयुच्छन् अपमाद्यन् स्वाहा तुभ्यमिदमाजं हुतम् ॥ ४ ॥
इति पञ्चमेऽध्याये प्रथमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥ १ ॥

प्रथमे आतिथ्यादिमन्त्रा उक्ताः । द्वितीये तानूनप्त्रादिमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥
धौवं व्रतप्रदानेन गृह्णात्यापनय इति ॥ निक्षिपिः ॥ प्राणो वा आपतिः प्राणमेव प्री-
णातीति ॥ हे आज्य त्वाम आपनये प्राणदेवताप्रीत्यर्थं गृह्णामि आस्मिन् पात्रे स्वी-
करोमि ॥ द्वितीयमन्त्रपाठस्तु ॥ परिपतये त्वा गृह्णामीति ॥ इष्टप्राप्त्युपायमनिष्टपरि-
हारोपायं च चिन्तयित्वा परितः पालयतीति परिपतिर्मनः । तदप्याह ति-
क्षिरिः ॥ मनो वै परिपतिर्मन एव प्रीणातीति ॥ हे आज्य त्वा परिपतये
मनादेवताप्रीत्यर्थं गृह्णामि ॥ तृतीयमन्त्रपाठस्तु ॥ तनूनप्त्र इक्षारभ्य त्रिषु
मन्त्रेषु त्वा गृह्णामीत्ययं मन्त्रशोभोऽनुपज्जयते । तन् इक्षारं न पातय-
ति न विनाशयतीति तनूनप्त्रा जाठरोऽग्निः । हे आज्य त्वां तनूनप्त्रे जाठराग्नयेत-
स्मै देवताप्रीत्यर्थं गृह्णामि ॥ तुरीयमन्त्रपाठस्तु ॥ शाकरायेति ॥ शाकम-
शीलः शाकरः शक्तिमान् पुरुषः । तस्व सम्पन्निः शाकरम् । शक्तिस्वरूप, हे
आज्य, त्वां शाकराय शक्तिस्वरूपायिमानिदेवताप्रीत्यर्थं गृह्णामि ॥ चत्वार-

मन्त्रमथस्तु ॥ वयमन् ॥ वयमस्तु पुरुषेषु यदोजिष्ठं तस्मै, हे आज्य, त्वां
 गृह्णामि । ओजो नामाष्टमो धातुः । तस्य सारम् ओजिष्ठम् । तदवष्टम्भेनैव
 शरीरे वक्तिरवतिष्ठते । ओजःमाराभिमानिदेवताप्रीत्यर्थं गृह्णामीत्यर्थः । ननूनप्त्र-
 संज्ञकजाठराभिदेवताविषयस्य शपथकर्मणो हेतुभूतमाज्यं तनूनप्त्रसंज्ञकम् ।
 तदेतदुक्तैः पञ्चभिर्मन्त्रैर्गृहीतम् ॥ कात्यायनः ॥ तनूनप्त्रमेतदक्षिणस्यां वेदि-
 श्रोणौ निधाप्यवमुशन्त्यृत्विजो यजमानः अनाष्टृष्टमेतीति ॥ पाठस्तु ॥ अ-
 नाष्टृष्टमस्यनाष्टृष्यं देवानामोजः । अनभिशास्त्यभिशास्तिपा अनभिशास्तेन्य-
 म् । अजसा सत्यमुपगेषः सुविते मा धा इति ॥ हे आज्य, त्वम् अनाष्टृष्टम-
 सि । इतः पूर्वं केनाप्यतिरस्कृतमसि । अनाष्टृष्यम् इतः परमप्यतिरस्कार्यं दे-
 वानामोजः अग्न्यादीनां सम्बन्धि सारमसि । अनभिशास्ति अभिपूर्वं शंस-
 तिर्गर्हायां वर्तते । तद्गृहीतमनभिशास्ति त्वमसि । अभिशास्तिपाः । ऋत्विजां प-
 रस्परविरोधेन निन्दनमभिशास्तिः तस्याः पानिरक्षतीत्यनभिशास्तिपाः । लिङ्ग-
 व्यत्ययादभिशास्तिपम् । अनभिशास्तेन्यम् अनभिशास्तमनभिनिन्दितं यस्त्वर्गादि-
 फलं तद्धेतुत्वादनभिशास्तेन्य आज्य, तथाविधमसि । अगो हे ऋत्विक्, अजमा
 ऋजुमार्गेण मानसकौटिल्यरहितेन सत्यम् आज्यस्पर्शरूपं शपथम् उपगेषमुप-
 गच्छेयम् । हे तनूनप्त्राज्य, सुविने शोभनमार्गे यज्ञकर्मण मा धाः मां स्थाप-
 ष ॥ कात्यायनः ॥ अग्ने व्रतपा इत्याहवनीये समिधमाधायेति ॥ पाठस्तु ॥ अग्ने
 व्रतपास्त्वे व्रतपाः । या तव तनूरियं सा मयि या मम तनू रेषा सा त्वयि ।
 सह नौ व्रतपने व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिर्मन्यतामनुतपस्तपस्पतिरिति ॥ हे
 व्रतपाः सर्वेषां व्रतानां पालकाग्ने त्वं व्रतपाः । त्वमस्मदीयस्य वर्तमानस्य व्रतस्य
 पालको भवसीति शेषः । तव तथाविधस्य व्रतपालकस्य या तनूः शरीरमस्ति
 सेयं तनूर्मयि भवत्विति शेषः । या च मम तनूर्मदीयं शरीरं सैषा तनूस्त्वयि
 भवतु । तथा सति, हे व्रतपते पालकाग्ने । व्रतान्यनुष्ठेयानि कर्माणि नो
 आवयोरभियजमानयोः सह प्रवर्तन्तामिति शेषः । व्रतेषु मम यावानादर-
 स्तावानेव तवापि भवत्वित्यर्थः । किञ्च, दीक्षापतिः दीक्षायाः पालकः सोमः
 मे मदीयां दीक्षाम् । अनुमन्यताम् । तथा तपस्पतिः उपसद्रूपस्य तपसः पाल-
 कः सोमः, तपो मदीयमुपसद्रूपमनुमन्यतामिति वर्तते ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥
 कात्यायनः ॥ यजमानवष्टाः सोमपाप्यायमन्यः शूरः शूरितीति ॥ ऋत्विज-
 अश्वारः, पत्नी वयमी, यजमानः वष्टुः ॥ पाठस्तु ॥ अशूरः शूरं देव सो-

माप्यायतामिन्द्रायैकधनविदे । आतुभ्यमिन्द्रः प्यायतामा त्वमिन्द्राय प्यायस्व ।
 आप्याययास्मान्तस्खीन्तस्नया मेधया । स्वस्ति ते देवसोम सुखामुहचमशीये-
 ति ॥ अंशुशब्दः सोमवल्ग्या अवयवमाचष्टे । वीणा सर्वमङ्गुहार्था । हे
 सोम देव, ते त्वदीयोऽशुशुः सर्वेऽप्यवयवा इन्द्राय इन्द्रप्रीत्यर्थम् । आप्या-
 यताम् । अनेन प्रोक्षणेन सर्वतो वर्धताम् । चिरकालावस्थानेन सोमस्य यो-
 ऽवयवो म्लानो भवति यश्च शुष्पाति तदुभयमनेनाप्यायितं भवतीति मन्त्र-
 स्य तात्पर्यम् । तदाह तित्तिरिः ॥ यदैवौस्या युवाथने यन्मीयते तदेवास्यै-
 तेनाप्याययतीति ॥ कथम्भूताय इन्द्राय एकधनविदे । यावन्नः सोमयागाः
 सन्ति तेषु सर्वेषु सोमरूपमिदं द्रव्यमेकमेव धने तद्विन्दते लभते इत्येकधनवि-
 त् । किञ्च, हे सोम, तुभ्यं त्वन्प्रीत्यर्थम् । इन्द्र आप्य यतां वतुसोमपानेनेन्द्रो
 वर्धताम् । तथा हे सोम त्वमपि इन्द्रायेन्द्रप्रीत्यर्थम् । आप्यायस्व सर्वतः प्रवृद्धं
 भव । एतन्मन्त्रपाठेनोभयोरभिप्रायः कृता भवति । तदाह तित्तिरिः ॥ उभा-
 वेवेन्द्रं सोमं चाप्यायतीति । किञ्च, हे सोम सखीन् सखिवन् प्रीतिविययान्
 अस्मान् ऋन्विजः ॥ तित्तिरिरप्याह ॥ ऋन्विजो वा सखाय इत्युक्तम् ॥
 सन्या धनदानेन, मेधया अनुष्ठानेनार्थज्ञानधारणशक्त्या च आप्यायय । प्रवृ-
 द्धान् कुरु । किञ्च, हे सोमदेव, ते स्वस्ति होमोऽस्तु तत्र प्रसादादहम्, उहचं
 येयमृगुत्तमा समाम्नाकालीनाऽस्मि तत्पर्यन्तम् । मुन्यां सोमाभिपवक्रियाम् ।
 अशीय । प्राप्नुयाम् ॥ ५ ॥ ६ ॥ कात्यायनः ॥ प्रस्नरे निन्दुते तदुत्तान-
 हस्ता दक्षिणात्तानायेष्टा राय इतीति ॥ सर्वेऽप्यृन्विजः प्रस्नरे स्वकीय-
 हस्तानुत्तानान् कृत्वा दक्षिणहस्तमुत्तानमुपर्यवस्थाप्य निन्दुते । तेन परियन्ति
 सोममुपचरतीत्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ एष्टा रायः प्रेषे भगाय । ऋतमृतवादिभ्यो
 नमो दिवे नमः पृथिव्या इति । प्रेषे प्रकर्षणेऽप्यमाणायाज्ञाय भगाय ऐश्व-
 र्याथर्थे रायो धनानि एष्टा आममन्तादिष्टा अपेक्षितादिष्टा । हे सोम त्वत्प्र-
 सादादस्माकं रायो भवन्त्वित्यभिप्रायः । किञ्च, ऋतवादिभ्यः सत्यवादिभ्यो
 ऽग्निहोत्रिभ्यस्तत्प्रीत्यर्थम् ऋतं सत्यम् अवश्यम्भाविफलमेतं कर्म हे सोम
 सम्पादयेति शेषः । नमो दिवे द्युलोकाभिमानिन्यै देवतायै नमोऽस्तु । नमः
 पृथिव्यै भूमिदेवतायै नमोऽस्तु । तयोर्देवतयोर्गुणहेणानुष्ठानुपर्यजमान-
 स्याविघ्नेन स्थितिर्भवति । तदाह तित्तिरिः ॥ द्यावापृथिवीभ्यामेव नमस्कृ-
 त्वास्मिँल्लोके प्रतितिष्ठतीति ॥ ७ ॥ कात्यायनः ॥ उपसदं जुहोति स्वेण

या त इतीति ॥ पाठस्तु ॥ या ते अग्नेऽयःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचो अपावधीत्तेषं वचोऽपावधीत् स्वाहेति ॥ अत्र कयाचिदाख्यायिकया कण्वोऽमुराणां लोकत्रये तिस्रः पुर इदमुवाच । तनोऽमुरा एषु लोकेषु पुरश्चक्रिरे । अयस्मयीमेवास्मिँल्लोके राजतीमन्तरिक्षे हरिणीं दिवीति ॥ एतमेवार्थं तित्तिरेरूप्याह ॥ तेषाममुराणां तिस्रः पुर आमन्त्रयस्मय्येवमथ राजती हरिणीति । ता एतास्तिस्रः पुरो दम्ब्युपमदेवतारूपोऽग्निर्यदा ताम्बु पूर्णं प्रविश्य व्याप्नोति तदानीमेतास्तिस्रः पुरोऽग्नेस्तनवो भवन्ति । तदेतदभिधेत्पायं मन्त्रः प्रवर्तते । अयमि शत इशयःशया लोहमयीत्यर्थः । हे अग्ने तव या तनूरयःशया लोहमयपुरो व्यापित्वेन तद्रूपा सती, वर्षिष्ठा देवीमनिशयेनाभिमनफलवर्षिणी । गह्वरेष्ठा अमुरमन्त्रन्धितया गह्वरे विषमे देशे तिष्ठतीति गह्वरेष्ठा सा ते तनूः उग्रं वचो अपावधीत् छिन्धिभिन्धीत्यादिकम् । अमुरैः प्रोक्तं तीव्रं वचनं विनाशितवती । तथा त्वेषं वचः अमुरैः प्रोक्तं देवाभिन्नपरूपत्वेन प्रदीप्तं वाक्यम् अपावधीद्विनाशितवती । स्वाहा । तथा विधोपकारे तुभ्यमगतये हविर्दत्तम् । अथवा अमुरैरुपद्रुता देवा अन्नपात्रं अलभमानाः श्रुत्वा पिपासया च वयं पीडिता इति वदन्ति । तदेतदुग्रं वचः । तथा किमुपगतकमस्माभिः कृतमित्येवं क्रिडन्तो देवा यद्राक्यं संतापहेतुत्वेन प्रदीप्तं वदन्ति तदिदं त्वेषं वच इत्युच्यते । तदेतत् सर्वमाह तित्तिरिः ॥ अशनायापिपासे ह वा उग्रं वचः, एतश्च वैरहन्त्यं च त्वेषं वच इति ॥ कात्यायनः ॥ एवमितरे अन्नद्वयः रजःशयः हरीशयां चेति । यथा प्रथमदिनेऽग्ने अयःशयेत्युपमदनुष्ठिता एवमितरे द्वितीयतृतीये उपमदौ द्वितीयतृतीयदिनयोरनुतिष्ठेत् । द्वितीयस्यामुपमदि हरीशयामिति पाठभेदः ॥ तयोर्मन्त्रयोः पाठस्तु ॥ या ते अग्ने रजःशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचो अपावधीत्तेषं वचो अपावधीत् स्वाहा । या तेऽग्ने हरीशया तनूर्वर्षिष्ठा गह्वरेष्ठा । उग्रं वचो अपावधीत्तेषं वचो अपावधीत् स्वाहेति ॥ रजःशया रजतमयी हरीशया हिरण्यमयी । अन्यत् सर्वं पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ ८ ॥ इति पञ्चमेऽध्याये द्वितीयोऽनुवाकः ॥ ५ ॥ २ ॥

द्वितीये तनूनप्त्रादिमन्त्रा उक्ताः ॥ तृतीये उत्तरवेदिनिर्माणमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ शम्भ्यामुदीचीं निदधाति पुरस्तात् पश्चाच्च दक्षिणतः प्राचीमुत्तरतश्च स्फ्येनान्तर्लिखति तप्तायनीति प्रतिमन्त्रमिति ॥ उत्तरवेदेः

परिमाणं निर्णेतुं चतुष्टयं दिक्षु स्फुर्येन रेखाः कुर्यात् । तदानीं पूर्वस्यां दिशि शम्यामुदग्रां निधाय तस्याः पश्चिमपार्श्वे तदीयप्रमाणेन रेखां कुर्यात् । तथा पश्चिमदिश्यप्युदगग्रां शम्यां निधाय तस्याः अभ्यन्तरतो रेखां कुर्यात् । एवं दक्षिण उत्तरतश्च प्रागग्रां शम्यां निधाय रेखाद्वयं कुर्यात् । तदेतत् सर्वमापस्तम्बोऽपि विस्पष्टमाह ॥ शम्यां पुरस्तादुदगग्रां निधाय स्फुर्येनोदीची-
मभ्यन्तरमुपविशति वित्तायनी मेऽसीत्येनं दाक्षिणतः प्राचीं तप्तायनी मे-
ऽसीति पश्चःदुदीचीमवतान्मा नाथितमिन्पुत्तरतः प्राचीमवतान्मा व्यथितमिती-
ति ॥ अत्रत्येषु चतुर्षु मन्त्रेष्वयं प्रथममन्त्रः ॥ तप्तायनी मेऽसीति ॥ हे पृथि-
वि त्वं मे मनाऽनुग्रहार्थं तप्तायन्यसि । तप्तं पुरुषमयति प्राप्नोतीति तप्तायनी ।
यो हि दरिद्रः क्षत्ररहितोऽहमिति मन्त्रध्वजे तं पुरुषं तापोपशान्त्यर्थं प्राप्नो-
तीत्यर्थः ॥ अथ द्वितीयः ॥ वित्तायनी मेऽसीति ॥ धनरहितस्य वित्तार्थं तं
पुरुषं प्राप्नोतीति वित्तायनी । पृथिव्यां हि प्राप्तायां सम्पत्तिपत्तिद्वारा महद्भनं
लभ्यते ॥ अथ तृतीयः ॥ अवतान्मा व्यथितमिति ॥ व्यथ भयचलयेरिति
धानुः । व्यथितमस्त्राभावाद् भीतं मां यजमानमवतान्मादियं पृथिवी रक्षतात् ॥
अथ चतुर्थः ॥ अवतान्मा नाथितमिति ॥ नाथनिधायतुर्गच्छार्थः । नाथितं
याचितवन्तं मां यजमानमवतान्मा । भूयो याचन्ता न यथा भवति तथा पृथिवी
रक्षतात् ॥ १ ॥ कान्त्यायनः ॥ विदेग्नेरिति चान्वाले प्रहरति स्फुर्येनेति
उत्तरवेदिनितपनार्थं यस्मिन् भृप्रदेशे मृदं खनति स प्रदेशश्चात्वाले इत्युच्य-
ते । तं प्रदेशमापस्तम्बो विस्पष्टं दर्शयति ॥ उत्तरम्माद्रेयः शान् प्रक्रमे चा-
न्वालेस्तमुत्तरवेदिं तूष्णींशम्यया परिमिमेति तस्मिंश्चान्वाले स्फुर्येन मृदं
खनत ॥ पाठस्तु ॥ विदेग्नेर्नभो नामिति ॥ हे चान्वालगते मृत्तिके अग्ने-
रग्नेर्दभिमानिदेवस्य नभो नाम विदेः नभ इत्येतादृशं नामधेयं विद्धि । अग्नि-
प्रोच्चारणपुरःसरं प्रहरणं कर्त्तव्यं विधत्ते ॥ स वा अग्नीनां नामानि शृण्वन्
हरतीति ॥ कान्त्यायनः ॥ अग्ने अङ्गिर इति पुरीषः हरतीति ॥ खाना मृत्
पुरीषम् ॥ पाठस्तु ॥ अग्ने अङ्गिर आयुना नाम्नेहीति ॥ हे अङ्गिरः, अग्ने
अङ्गानां मध्ये सारभूतवहे । अङ्गिरसत्वेनास्य शब्दस्य निर्वचनं छन्दोगा
आपनन्ति । एतमुवाङ्गिरसं मन्यतेऽङ्गानां यद्रमस्तेनेति ॥ भुक्ताभ्रपचनहेतु-
त्वादुदराग्नेः शरीरावयवानां मध्ये सारत्वं प्रमिद्धम् । तेषु तेषु कर्मसु एति
गच्छतीत्यायुशब्दोऽप्यग्नेर्नामधेयम् । हे अग्ने, आयुना नाम्ना अभिहितः सन्

एहि आगच्छ ॥ कात्यायनः ॥ योऽस्यामिति निवपतीति ॥
उत्तरवेदिस्थाने मृदं निक्षिपेत् ॥ पाठस्तु ॥ योऽस्यां पृथिव्यामसि यत्तेऽना-
धृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वाऽऽदधे इति ॥ अस्यां पृथिव्यां दृश्यमानायां भूमौ
योऽग्निः, हे अग्ने, यस्त्वं वर्तसे । किञ्च, ते तव यज्ञियं यज्ञयोग्यं यन्नाम प्रसि-
द्धमग्निरित्येतादृशं नामानाधृष्टं केनापि याज्ञिकेनातिरस्कृतं तेन त्वादधे ।
तेन नाम्ना युक्तं त्वामास्थायामि ॥ कात्यायनः ॥ एवं द्विरपरं द्वितीयस्यां
तृतीयस्यामिति विशेष इति ॥ यथा पूर्वोत्त्रभिर्मन्त्रैः स्वाहा हृत्वा वेद्यर्थं मृत्
प्राक्षिप्ता एतत्त्रितयं पुनरपि द्विः कुर्यात् । द्वयोः पर्याययोर्द्वितीयस्यां तृतीय-
स्यामिति पाठविशेषो द्रष्टव्यः । पर्यायद्वयगतानां घण्णां मन्त्रणम् ॥ पाठस्तु ॥
विदेरग्रेर्नभो नामाग्रे अङ्गिर आयुना नाम्नेहि ॥ यो द्वितीयस्यां पृथिव्यामसि
यत्तेनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वादधे । विदेरग्रेर्नभोनामाग्रे अङ्गिर आयुना ना-
म्नेहि । यस्तृतीयस्यां पृथिव्यामसि यत्तेनाधृष्टं नाम यज्ञियं तेन त्वादधे
इति ॥ यद्यपि पृथिवीशब्दस्य प्रकृतत्वाद् द्वितीयतृतीयशब्दयोर्विशेष्यत्वेन स
एवानुवर्तते तथाप्यौचियाद् द्वितीया पृथिव्यन्तरिक्षं तृतीया पृथिवी द्यौरि-
त्यवगन्तव्यम् । अन्यत् सर्वं पूर्ववत् व्याख्येयम् ॥ कात्यायनः ॥ अनुत्वेति
चतुर्थं यथापूर्वमाह्वयेति ॥ यथा पूर्वोत्त्रमन्त्रे पर्यायत्रये मृदाहृत्य प्राक्षिप्ता एवं
चतुर्थमपि प्रक्षेपणपर्यन्तं मृदाहरणं कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥ अनु त्वा देववीतय
इति ॥ देववीतये देवानां प्राप्ते त्वां, हे मृत्तिके, त्वाम् अनु पूर्वोक्तमाहरण-
त्रयमनुसृत्याहरामीति शेषः ॥ कात्यायनः ॥ मिःश्वमीति व्यूहत्पुत्तरवेदिं
शम्यामात्रीमिति ॥ येयमुत्तरवेदिश्चतुर्दिशु शम्यया परिमितानां व्यूहति वि-
शेषणं पांशुभिर्गच्छादयेत् ॥ पाठस्तु ॥ मिःश्वमि सपन्नमाही देवेभ्यः कल्प-
स्वेति ॥ हे उत्तरवेदे, त्वं मिही मिहममाना भूत्वा सपन्नमाही । शत्रूणा-
मभिभवत्री अभिभवसि । अतो देवेभ्यो देवोपकारार्थं कल्पस्व समर्था भव ॥
कात्यायनः ॥ प्रोक्षत्युत्तरवेदिं सिकताश्च प्रक्षिपति । मिःश्वमीति श्रुतिमन्त्र-
मिति ॥ तत्रायं प्राक्षेपणमन्त्रपाठस्तु ॥ मिःश्वमि सपन्नमाही देवेभ्यः शुन्ध-
स्वेति ॥ हे उत्तरवेदे त्वं शुन्धस्व शुद्धा भव । अन्यत् पूर्ववत् ॥ अथ सिक-
ताप्रक्षेपणमन्त्रपाठः ॥ मिःश्वमि सपन्नमाही देवेभ्यः शुम्भस्वेति ॥ हे उत्तर-
वेदे त्वं शुम्भस्व सिकताप्रक्षेपेण शोभिता भव । अन्यत् पूर्ववत् ॥ २ ॥
इति पञ्चमेऽध्याये तृतीयोऽनुवाकः ॥ ५ ॥ ३ ॥

उत्तरवेदिनिर्माणमन्त्रास्तृतीये कथिताः ॥ चतुर्थे निर्माताया उत्तरवेदेः
 प्रोक्षणादिसंस्कारमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ उत्तरवेदिं प्रोक्षतीन्द्रघोष
 इति प्रतिमन्त्रं प्रतिदिशं यथालिङ्गमिति ॥ तत्रायं प्रथमो मन्त्रः ॥ इन्द्रघोष-
 स्त्वा वसुभिः पुरस्तात् पात्विति ॥ इन्द्र इत्यनेन शब्देन घुष्यते विस्पष्टं क-
 थ्यते यो देवः सोऽयमिन्द्रो देवो वसुभिः अष्टसंख्याकैर्गणदेवैर्युक्तः स देवः
 पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि हे उत्तरवेदे त्वा त्वां पातु रक्षतु ॥ अथ द्वितीयो
 मन्त्रः ॥ प्रचेतास्त्वा रुद्रैः पश्चात् पात्विति ॥ प्रचेताः प्रकृष्टयज्ञो वरुणः स
 च रुद्रैरेकादशसंख्याकैर्गणदेवैः संयुक्तः पश्चात् पश्चिमायां दिशि त्वां पा-
 तु ॥ अथ तृतीयो मन्त्रः ॥ मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पात्विति । मनो-
 जवा मनोवदत्यन्तवेगयुक्तो यमो देवः पितृभिः स्वर्लोकत्रासिदेवताविशेषैर्यु-
 क्तो दक्षिणस्यां दिशि त्वां पातु ॥ अथ चतुर्थो मन्त्रः ॥ विश्वकर्मा त्वादि-
 सैरुत्तरतः पात्विति ॥ विश्वकर्मा विश्वानि सर्वाणि जगदुत्पत्त्यादिविषयकर्मा-
 णि यस्याऽसौ विश्वकर्मा । त्वादित्यैर्द्वादशसंख्याकैर्गणदेवैः सहित उत्तरस्यां
 दिशि त्वां पातु ॥ उत्तरवेदिशब्दादिता देवता यदा देवान् प्राप्नोति तदानी-
 मसुरा देवान् हन्तुमुद्यतवन्तः समागताः । तस्मिन्नावसरे देवमेनाधिपतय
 इन्द्रघोषादयश्चनृमृषु दिक्षु तानमुरानपाकुर्वन् । तस्मादेतैर्मन्त्रैर्दिक्चतुष्टये
 रक्षा प्रार्थनीया । तदेतदाह तित्तिरिः ॥ देवाश्चेदुत्तरवेदिरूपाववर्तीहैव विज-
 यामहा इत्यसुरा वज्रमुद्यम्य देवानभ्यायन्त । तानिन्द्रघोषो वसुभिः पुरस्ता-
 दनुपादत्तेत्यादि ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ बहिर्वेदिशेषं निःषञ्जनीदमहं तप्तं वा-
 रिति ॥ पाठस्तु ॥ इदमहं तप्तं बार्वाहिर्या यज्ञान्निःसृजामीति ॥ असुरनिवार-
 णाय येनोदकेन प्रोक्षणं कृतं तदुदकमुग्ररूपत्वात्तप्तमित्युच्यते । तादृशमिदं
 वाः, एतदुदकं प्रोक्षणशेषभूतम् । अहमनुष्ठाना यज्ञाद् बहिर्भा यज्ञप्रदेशाद्वा-
 ह्यप्रदेशे निःसृजामि निःसारयामि ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ नाभ्यां श्रोण्यंसेषु
 पञ्चगृहीतं जुहोत्यक्षणा दक्षिणेंऽसे श्रोण्याः श्रोण्यामंसे मध्ये च हिरण्यं
 पश्यन् सिः हामीति प्रतिमन्त्रमिति ॥ अस्यायमर्थः । योऽयमुत्तरवेदेर्नाभ्याख्यो
 मध्यप्रदेशः । यौ वाग्नेयैश्चानप्रदेशौ वेदेर्माख्यौ । ये च बायव्यनैर्ऋतप्रदेशरूपे
 श्रोण्यौ । तेषु पञ्चसु स्थानेषु जुह्वां पञ्चवारं गृहीतेनाज्येन जुहुयात् । न चैतेषु
 स्थानेषु क्रमेण होमः । किन्त्वक्षणाया वक्रत्वेन तद्यथा प्रथमं दक्षिणेंसे, तत उत्त-
 रस्यां श्रोण्यां, ततो दक्षिणस्यां श्रोण्यां, तत उत्तरेंऽसे, ततो मध्ये एतेषु पञ्चसु

स्थानेषु हिरण्यं निधाय तदेतदवलोकयन् पञ्चभिर्मन्त्रैर्जुहुयादिति । तमेतं वक्रम-
कारमापस्तम्बो विस्पष्टमुदाजहार ॥ दक्षिणमःसमुत्तराः ५
श्रांणि दक्षिणामुत्तर-
मःसं मध्यमितीति ॥ तत्रायं प्रथममन्त्रपाठः ॥ सिंहासि स्वाहेति ॥ पुरा कदा-
चिदुत्तरवेदिदेवता केनापि निमित्तेन देवेभ्योऽनुपक्रम्य तदानीमसुरान् प्राप्य
देवासुरसेनयोरुभयोर्मध्ये सिंहरूपं धृत्वा तस्थौ । तदाह तित्तिरिः ॥ तेभ्य
उत्तरवेदिः सिंहिरूपं कृत्वोभयानन्तरापक्रम्यातिष्ठदिति ॥ तदेतदभिप्रेत्या-
ऽस्मिन् मन्त्रे सिंहिरित्युच्यते । हे उत्तरवेदे, त्वं सिंहसि । सिंहरूपा भवसि । ता-
दृश्यै तुभ्यं स्वाहा इबिस्त्वाम् ॥ अथ द्वितीयमन्त्रः ॥ सिंहास्यादिसवनिः
स्वाहेति ॥ आदित्यान् वनुते सम्भजते प्रीणयतीति आदित्यवनिः । अन्यत्
पूर्ववत् ॥ अथ तृतीयः ॥ सिंहासि ब्रह्मवनिः क्षत्रवानिः स्वाहेति ॥ ब्राह्मण-
जातिक्षत्रियजात्योः प्रीणयितृत्वमत्र विशेषः ॥ अथ चतुर्थः ॥ सिंहासि सु-
मजावनी रायस्योषवनिः स्वाहेति ॥ पुत्रपौत्रादिरूपायाः शोभनप्रजायाः सु-
वर्णरजतादिधनपुष्टेश्च संपादनमत्र विशेषः ॥ अथ पञ्चमः ॥ सिंहास्यावह
देवान् यजमानाय स्वाहेति ॥ यजमानोपकारार्थं देवानस्मिन् कर्मण्यनयेत् ।
एतावानत्र विशेषः ॥ कात्यायनः ॥ भूतेभ्यस्त्वेति स्तुचमुद्यच्छतीति ॥ होमशे-
षाज्ययुक्ते हे जुहु, त्वा भूतेभ्यः जरायुजाण्डजादिचतुर्विधभूतग्रामप्रतिपत्त्यर्थमुद्य-
च्छामीति शेषः । तमेतं मन्त्रार्थं त्रिनियोगपुरःसरं तित्तिरिर्बिस्पष्टं दर्शयति ॥
भूतेभ्यस्त्वेति स्तुचमुदगृह्णाति य एव देवा भूतास्तेषां तज्ज्ञाग्रेयं तानेव तेन
प्रीणामीति ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ नापिभै तैद्रावः परिदधाति पूर्ववद् ध्रुवो-
ऽमीति प्रतिमन्त्रमिति ॥ पैतुदुशब्देन देवदारुवृक्षविशेष उच्यते । तदीयैः परि-
धिभिरुत्तरवेदेर्मध्यदेशरूपामुत्तरनाभिं परिदध्यात् । यथा दर्शपूर्णमासेष्टौ
पश्चिमदक्षिणोत्तरदिक्षु मध्यमदक्षिणोत्तरपरिधयः प्रक्षिप्तास्तद्वादित्यभिमेत्य
पूर्ववदित्युक्तम् ॥ तत्रायं प्रथमो मन्त्रः ॥ ध्रुवोऽसि पृथिवीं दृष्ट्वेति ॥ मध्यम-
परिधे त्वं ध्रुवः स्थिरोऽसि । अतः पृथिवीं दृष्ट्व हृदीकुरु ॥ अथ द्वितीयः ॥
ध्रुवसि दस्यन्तरिक्षं दृष्ट्वेति । दक्षिणपरिधे त्वं ध्रुवः स्थिरं क्षियति निवसतीति
ध्रुवसि । तादृशोऽसि । तस्मादन्तरिक्षं दृढीकुरु ॥ अथ तृतीयः ॥ अच्युत-
सि दसि दिवं दृष्ट्वेति । अच्युते विनाशरहिते यज्ञे क्षियति निवसतीति अच्युत-
सि । हे उत्तरपरिधे तादृशोऽसि । तस्मात् त्वं द्युलोकं दृढीकुरु ॥ कात्या-
यनः ॥ अग्नेर्भस्मेति निवपति गुग्गुलुमुगान्धतेजनवृष्णेस्तुका इति ॥ गुग्गुलु-

शब्देन धूपार्थं द्रव्यमुच्यते । सुगन्धितेजनशब्देन तृणविशेषमूलानि । हृष्णे-
स्तुकेत्यविसंबन्धिनोमोच्यते ॥ पाठस्तु ॥ अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसीति ॥ हे
गुग्गुलप्रभृतिसंभारसमूह त्वम् । उत्तरवेदिगतस्याग्नेर्भस्म भासकमसि । तथा
तस्याग्नेः पुरीषं पूरकमसि । तदेतदग्निपूरकत्वमसिद्धिमित्येतत्तत्तिरिदर्शयति ।
अग्नेर्होतृपुरीषं यत्संभारा इति ॥४॥ इति पञ्चमेऽध्याये चतुर्थोऽनुवाकः ॥५॥४॥

चतुर्थे उत्तरवेदिप्रोक्षणदिमंस्कारमन्त्रा उक्ताः ॥ पञ्चमे हविर्धानाख्य-
मण्डपनिर्माणमन्त्रा उच्यन्ते ॥ अस्ति तावत् प्राचीनवंशालया काचिच्छाला
तस्यामाहवनीयाद्यग्नित्रयमौष्टिकवेदिश्च वर्तते । तस्याः शालायाः पुरतः षट्-
त्रिंशत्पददीर्घा सौमिकवेदिनिर्मातव्या । तस्या वेद्या अग्रभागे पूर्वानुवाकद्वयो-
क्तोत्तरवेदिः । ततः पश्चान्मध्यभागे हविर्धानाख्यमण्डपो निर्मातव्यः । ततो-
ऽपि पश्चात् सदोऽभिधाना काचिच्छाला निर्मातव्या । तस्याः स्थाने प्राचीन-
शालायाः पुरतो दक्षिणोत्तरभागयोर्हविर्धाननामके द्वे शकटे स्थापिते भव-
तः । तच्छकटद्वयं पुरतः प्रवर्त्य तदावरकत्वेन हविर्धानाख्यमण्डपो निर्मात-
व्यः । तच्च शकटद्वयं सावित्रमन्त्रहोमादूर्ध्वं प्रवर्तनीयम् । तदाह तत्तिरिः ॥
सावित्र्यर्चा हुत्वा हविर्धाने प्रवर्तयतीति ॥ तमेतं होमं विधत्ते कात्यायनः ॥
चतुर्गृहीतं शालाद्वये जुहोति । युञ्जत इति । सगार्हपत्येति ॥ प्राचीनशालायाः
द्वारमपीषे पूर्वमिद्ध आहवनीयो वर्तते । तस्मिन् जुहोति । स च पूर्वमाहवनी-
योऽपि सन्तुत्तरवेद्याख्येऽन्यस्मिन्नाहवनीये निष्पन्ने सति तदपेक्षया स्वयं गार्ह-
पत्योभवतीत्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ युञ्जते मनः उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो
विपश्चितः । विहोत्रा दधे वयुनाविदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिण्डुतिरि-
ति ॥ विनस्य ब्राह्मणस्य यजमानस्य संबन्धिनो विप्रा ब्राह्मणा ऋत्विजो
मनो युञ्जते लौकिकचिन्ताभ्यो मनो निवार्य यज्ञचिन्तायां तत्प्रथमं नियमयन्ति ।
ततो, धिय इन्द्रियाण्यापि यज्ञार्थेषु नियमयन्ति ।

कीदृशस्य । बृहतां विपश्चितः । अधीतवेदत्वाद् बृहत्त्वम् । अर्थाभिज्ञत्वाद् विप-
श्चित्वम् । कीदृशा विप्राः । विहोत्रा होमकर्तारः । तदिदं विमाणां मनो-
नियमादिमामर्थमेक इद्विदधे एक एव सर्जकः । कीदृशः एकः, वयुनावित् । सर्वज्ञ
इत्यर्थः । नचैकस्य सर्वसृष्टौ विस्मेतव्यम् । यतः सवितुः प्रेरकस्यान्तर्यामिणो
देवस्य परिण्डुतः । सर्ववेदोक्तस्तुतिः । मही महती । तथाचाऽथर्वणिका
अधीयते ॥ यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्य ज्ञानमयं तप इति । बाजसनेयिनश्च ॥

स एष सर्वस्य वशी सर्वस्येशानः सर्वस्याऽधिपतिः सर्वमिदं प्रशास्ति यदिदं
 किञ्चेति ॥ श्वेताश्वतराश्च ॥ परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी
 ज्ञानबलक्रिया चेति ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ दक्षिणे वर्त्मनि दक्षिणस्यानसो
 हिरण्यं निधायामिजुहोतीदं विष्णुरिति । दक्षिणशकटमम्बान्धदक्षिणचक्रस्य
 मार्गे हिरण्यं निधाय तस्मिन्नेव होमः ॥ पाठस्तु ॥ इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा ५-
 निदधे पदम् । समूळहमस्यपांसुरे स्वाहेति ॥ विष्णुस्त्रिविक्रमावतारं धृत्वा
 इदं विश्वं विभज्य क्रमने स्म । भूमावेकपदम् । अन्तरिक्षे द्वितीयम् । दिवि
 तृतीयमित्येवं त्रेधा पदं निदधे । पांसवो भूम्यादिलोकरूपा यस्य पदस्य स-
 न्ति तर्पांसुरम् । अस्य विष्णोस्तस्मिन् पदे विश्वं समुदं सम्यगन्तर्भूतम् ।
 स्वाहा तस्मै विष्णवे हविर्दत्तम् ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ मृक्स्थाल्यौ प्रतिगृह्य
 प्रतिप्रस्थातोत्तरस्येरावतीति पूर्ववदिति । यथा दक्षिणशकटमम्बान्ध दक्षिण-
 चक्रमार्गेऽध्वर्युर्हुतवान् । तथोत्तरशकटमम्बान्धुत्तरचक्रमार्गे प्रतिप्रस्थाता जु-
 हुयादित्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ इरावती धेनुमती हि भूतः सूर्यवसिनी मनवे दश- ५-
 स्या । व्यस्कभ्ना रोदसी विष्ण एने दादर्थं पृथिवीमभितो मयूखैः स्वाहेति ॥
 हे द्यावापृथिव्यौ युवां मनवे मन्वानाय यजमानाय, इरावती अन्नवत्यौ ।
 धेनुमती हि बहुधेनुयुक्ते च भूतं भवतम् । किञ्च, सूर्यवसिनी । शोभनैर्धव-
 सैरभ्यवहार्यैर्युक्ते । दशस्या यज्ञसाधनानां दात्र्यौ भवतम् । हे विष्णो, एने
 रोदसी द्यावापृथिव्यौ व्यस्कभ्नाः विभज्याज्ञया स्तम्भितवानसि । किञ्च,
 तां पृथिवीं मयूखैः स्वकीयनेजोरूपैर्नानाजीवैर्वराहाद्यनेकावतारैर्वा अभितो
 दादर्थं सर्वतो धारितवानसि । स्वाहा तस्मै विष्णवे हविर्दत्तम् ॥ ३ ॥ का-
 त्यायनः ॥ दक्षिणया द्वाराऽऽनीता पत्नी पाणिभ्यां शेषं प्रतिगृह्याक्षधुराव-
 नक्ति पराग्देवश्रुतावितीति ॥ प्रतिप्रस्थात्रा समानीता पत्नी होमशेषेणाज्येन
 अक्षस्योभावग्रभागौ सकृदज्ज्यात् ॥ पाठस्तु ॥ देवश्रुतौ देवेष्वाघोषतमिति ॥ ५-
 हे देवश्रुतौ देवसभायां प्रसिद्धावक्षाग्रभागौ युवां, यजमानोऽयं यक्ष्यतीति
 देवेष्वाघोषतमुच्चध्वनिना कथयतम् ॥ कात्यायनः ॥ प्राची प्रेतमिति वाच-
 यतीति ॥ यदा हविर्धानारूपशकटे प्रवर्त्येते तदा यजमानं वाचयेत् ॥ पाठ-
 स्तु ॥ प्राची प्रेतमध्वरं कल्पयन्ती ऊर्ध्वं यज्ञं नयतं मा जिहरतमिति ॥ हे
 उभे शकटे युवां प्राची प्राङ्मुखे प्रेतं प्रकर्षेण गच्छतम् । कीदृशे अध्वरं
 कल्पयन्ती इदं कर्म समर्थं कुर्वाणे । किञ्चोर्ध्वमुपरिवर्ति देवान् प्रति यज्ञं

नयतं प्रापयतम् । मा जिहुरतं, मा कुटिले भवतम् । हू कौटिल्य इति धातुः ॥
 ४ ॥ कात्यायनः ॥ स्वं गोष्ठमिति च सर्जनीति । अस्यायमर्थः । प्रवर्त्यमान-
 योः शकटयोरक्षे सर्जनं ध्वनिं कुर्वति सति, स्वं गोष्ठमिति यजमानं वाचये-
 त् । चकारो मन्त्रद्वयवचनसमुच्चयार्थ इति ॥ पाठस्तु ॥ स्वं गोष्ठमावदतं देवी
 दुर्ये आयुर्मा निर्वादिष्टं प्रजां मा निर्वादिष्टमिति ॥ दुर्यशब्दो गृहवाची ।
 गृहा वै दुर्या इति श्रुत्यन्तरात् । तेन शब्देन गृहसदृशे शकटे लक्ष्येते । हे
 दुर्ये देवी, गृहसदृशशकटद्वयरूपे देवते स्वं गोष्ठं स्वकीयं गोष्ठस्थानम् । आ-
 वदतं सर्वतः कथयतम् । योऽयमक्षशब्दस्तेन शब्देन यजमानस्य गृहं बहूनां
 गवां स्थानं यथा भवति तथा कथयतमित्यर्थः । योऽयमक्ष उभयतो बद्धो
 भवति सोऽयं वरुणदेवरूपो वाक्पारुष्येण दुर्वाग्वर्तते । तथाचान्यत्र श्रूयते ।
 वरुणो वा एष दुर्वागुभयतो बद्धो यदक्ष इति । तस्माच्छापद्वयदुर्वाक्परिहा-
 रायाशीर्वादिरूपं सुवाक्यमनेन मन्त्रेण प्रार्थितम् । एतदेवाभिप्रेत्य तैत्तिरीया
 मन्त्रमन्यथा पठान्त । सुवाग्देवदुर्यः आवदेति ॥ कात्यायनः ॥ पश्चादुत्तर-
 बेदे त्रिषु प्रक्रमेषु मन्त्रा वाऽनभ्यस्तेति मन्त्रयतेऽत्र रमेथामितीति ॥ अन-
 भ्यस्तप्रवर्तने परित्यज्य स्थापिते शकटे उभे मन्त्रयेत् । कुत्र स्थापिते इति
 चेत् । उच्यते । पश्चादुत्तरवेदेस्त्रिषु प्रक्रमेष्वित्येकः पक्षः । मत्स्या चेत्षपरः
 पक्षः । यत्र स्थापनीये इति स्वस्य मतिस्तत्रेत्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ अत्र रमेथां
 वर्ष्मन् पृथिव्या इति ॥ हे शकटे, युवां पृथिव्यां वर्ष्मन् भूमेः शरीरभूते अत्र
 अस्मिन् देवयजनप्रदेशे रमेथां क्रीडां कुरुतम् । देवयजनस्य भूमेः शरीरन्व-
 माह तित्तिरिः ॥ वर्ष्मन् ह्येतत् पृथिव्या यद्देवयजनमिति ॥ ५ ॥ कात्या-
 यनः ॥ दक्षिणमुपस्तभ्नाति विष्णोर्नुकमिति ॥ दक्षिणशकटस्याग्रं बोद्धुम् ।
 आधारभूतं काष्ठं स्थापयेदित्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं
 यः पार्थिवानि विममे रजांसि । योऽअस्कभायदुत्तरः सधस्थं विचक्रमाण-
 स्त्रेथोरुगाय इति ॥ नुकमित्यव्ययं कर्मवाचकम् । विष्णोर्वीर्याणि कर्माणि
 प्रवोचं प्रव्रवीमि । कानि तानि कर्माणीत्युच्यन्ते । यो विष्णुः पार्थिवानि
 रजांसि परमाणून् विममे निर्मितवान् । परिगणितवाँश्च । पुनरपि यो
 विष्णुरुत्तरमुपरितनं सधस्थं देवानां सहवासस्थानं शुलोककूपमस्कभाय-
 त् । यथाऽधो न पतति तथा स्तम्भितवान् । पुनरपि यस्त्रेधा विचक्रमाणः
 त्रिषु लोकेषु पदत्रयं निदधौ । उरुगायः उरुभिर्ब्रह्मात्मभिर्गणिते च ॥ का-

त्यायनः ॥ दक्षिणतः स्थूणामुपनिहन्ति विष्णवे त्वेति ॥ दक्षिणशकटाग्र-
ग्रहनाय यत्काष्ठं स्थापितं तद्रूपौ निखन्वात् । हे काष्ठ, विष्णवे हविर्धानशकटा-
ऽभिर्मानविष्णुपीत्यर्थः, त्वां निखन्तामीति शेषः ॥ ६ ॥ कात्यायनः ॥ दिवो
वेत्युत्तरां प्रतिप्रस्थातोत्तरस्थूणां पूर्ववदिति ॥ यथाऽध्वर्युर्दक्षिणशकटं मन्त्रे-
णोपष्टभ्य विष्णवे त्वेति स्थूणां निखातवान् । एवं प्रतिप्रस्थातोत्तरशकटे कु-
र्यादित्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ दिवो वा विष्ण उत वा पृथिव्या महो वा विष्ण ५-
उरोरन्तरिक्षात् । उभा हि हस्ता वसुना पृणस्वाप्रयच्छदक्षिणादोत सव्याद्वि-
ष्णवे त्वेति । हे विष्णो ह्युलोकाद्वा, भूलोकाद्वा महर्ल्लोकाद्वा, उरोर्विस्ती-
र्णादन्तरिक्षलोकाद्वा समानीतेन वसुना द्रव्येण उभा हि हस्ता स्वकीयौ हस्ता-
नुभावपि पृणस्व पूरयस्व । ततो धनपूर्णादक्षिणात् सव्याच्च हस्तात् प्रय-
च्छ बहुकृत्व आट्टच्या प्रकृष्टं मणिमुक्तादि धनमस्मभ्यं देहि । विष्णवे त्वेत्ययं
मन्त्रः पूर्ववत् ॥ ७ ॥ कात्यायनः ॥ प्र तद्विष्णुरिति वाचयतीति ॥ पाठस्तु ॥ ५-
प्र तद्विष्णुः स्तवने वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः । यस्योरुषु त्रिषु वि-
क्रमणेष्वाधिस्रियन्ति भुवनानि विज्वेति ॥ यस्य विष्णोः उरुषु प्रभूतेषु त्रिषु
विक्रमणेषु पादप्रक्षेपणस्थानेषु विज्वानि सर्वाणि भुवनानि अधिस्रियन्ति
अधिवसन्ति । तत् नः प्रांसद्धो विष्णुः वीर्येण साधारणभूतेन वीरकर्मादिना
प्रस्तवते । प्रस्तूयते । तत्र ह्यष्टान्तः । गिरिष्ठाः पर्वते स्थितः कुचरः कुत्सितप्रा-
णिभक्षकः विभेत्तस्मादिति भीमो भयङ्करः । मृगो न सिंह इव वीर्येण स्तूयते
तद्वत् ॥ ८ ॥ कात्यायनः ॥ विष्णो रराटमिति ॥ वाचयतीत्यनुवर्तते । असीति मन्त्र-
शेषः । हविर्धानाख्ये पूर्वोक्ते द्वे शकटे दक्षिणोत्तरभागयोः स्थापयित्वा तदाव-
रकत्वेन परितो हविर्धानाख्यं मण्डपं कुर्यात् । स च मण्डपो विष्णुदेवताक-
त्वाद्विष्णुरित्युपचर्यते । विष्णोश्च मूर्तिधरस्य सर्वावयवसज्जावाहल्लाटस्थोऽव-
यवोऽस्ति । तद्वद्धविर्धानमण्डपस्यापि पूर्वद्वारवर्तिस्तम्भयोर्मध्ये काचिद्दर्भमय-
मालाधारवंश त्वं विष्णोर्विष्णुमूर्तिन्वेनोपचारितस्य हविर्धानमण्डपस्य रराटम-
सि ललाटस्थानीयो भवसि ॥ कात्यायनः ॥ विष्णोः इनपत्रे स्थ इत्युच्छ्राया-
मिति ॥ येयं रराटी तस्यामुर्ध्वं स्थापितायामेतं मन्त्रं वाचयेत् । बौधायनस्तु
विस्पष्टमेतन्मन्त्रविनियोगमाह ॥ विष्णोः इनपत्रे स्थ इति । रराटयामन्तौ व्यस्य-
ति संयुशतीत्येक इति ॥ व्यस्यति विभज्य प्राक्षिपतीत्यर्थः । हे रराट्यौ युवां
विष्णोर्विष्णुनामकस्य हविर्धानमण्डपस्य इनपत्रे स्थः ओष्ठसम्बन्धिरूपे भव-

यः ॥ कात्यायनः ॥ रज्ज्वा विष्णोः स्यूरसि विष्णोर्ध्रुवोऽसीति ग्रन्थि-
करोति ॥ हे रज्जो त्वं विष्णोर्विष्णुनामकस्य हविर्धानमण्डपस्य सम्बन्धिनी
स्यूरसि ग्रन्थिकरणाय स्थूता भवसि । हे रज्जुग्रन्थे त्वं विष्णोर्हविर्धानस्य स-
म्बन्धी भूत्वा ध्रुवोऽसि स्थिरो भवसि ॥ कात्यायनः ॥ प्राग्वक्षं हविर्धानं
निर्माय वैष्णवमसीत्यालभत इति ॥ विष्णवे त्वेति मन्त्रशेषः । प्रागग्रैर्वक्षै-
र्मण्डपं निर्माय मन्त्रेणानेन स्पृशेत् । हे वंशहविर्धान, त्वं वैष्णवमसि विष्णु-
देवताकत्वेन तत्सम्बन्धी भवसि । तस्माद्विष्णुमीत्यर्थं त्वां स्पृशामि हविर्धान-
स्य विष्णुदेवताकत्वं तित्तिरिदर्शयति । वैष्णव इति देवतया हविर्धानमि-
ति ॥ ९ ॥ इति पञ्चमेऽध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥ ५ ॥

पञ्चमे हविर्धानमण्डपानर्माणमन्त्रा उक्ताः ॥ षष्ठे उपरवनिर्माणमन्त्रा
उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ उपरवानभ्यादि करोत्यवटवदिति ॥ यथा युपस्थ्या-
वटः क्रियते तथात्राप्युपरवनामकांश्चतुरो गतानभ्रिस्वीकारमारभ्य परिलेखन-
पूर्वकं कुर्यादित्यर्थः । अवटार्थम् अभ्रिस्वीकारम् एवमाह ॥ कात्यायनः ॥
देवस्य त्वेन्यभ्रिमादायेति ॥ अभ्रिशब्देन काष्ठनिर्मितं खननसाधनमुच्यते ॥
पाठस्तु ॥ देवस्य त्वा सवितुः प्रमवेऽश्विनोर्वाहुभ्यां पृष्णो हस्ताभ्याम् ।
आददे नार्यमीति ॥ हे अभ्रे त्वाददे त्वां स्वाकरोमि । त्वं तु नार्यमि । खनन-
साधनत्वेन कर्मोपयोगित्वाद् नराणां पुरुषाणाम् अनुष्ठातृणां सम्बन्धिनी
भवामि । अन्यत् सर्वमैष्टिकहविर्निर्वापणमन्त्रवद् व्याख्येयम् ॥ कात्यायनः ॥
अवटं परिलिखति इदमहमिति ॥ पाठस्तु ॥ इदमह रक्षमो ग्रीवा अपि
कुन्तामीति ॥ उपरवाख्यौश्चतुरोऽवटान् परिलिखामीति । यदस्ति । इदमिति
विभक्तियत्ययः । अनेन परिलेखनेन अहमनुष्ठाता रक्षमो राक्षसजातेर्ग्रीवाः
कण्ठप्रदेशान् कुन्तामि छिन्नाम् । अपिशब्देन कृत्स्नशरीरच्छेदनं समुच्चीयते ।
न केवलं ग्रीवामात्रं छिन्नाम् किन्तु कृत्स्नमपि शरीरमित्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥
बृहन्नसीति यथापरिलिखितं खननीति ॥ आग्नेयीं विदिशम् आरभ्य चतसृषु
विदिक्षु चतुर उपरवान् खातुं भूमिः परिलिखिता । तेन परिलेखनक्रमेण
अवटान् खनेत् ॥ पाठस्तु ॥ बृहन्नमि बृहद्रवा बृहतीमिन्द्राय वाचं वद । रक्षोह-
णं बलगहनं वैष्णवीमिति ॥ उपरवाख्य हे गर्त, त्वं बृहन्नसि महान् भवसि ।
वर्तुलस्य गर्तस्य प्रादेशपरिमाणेन विस्तृतत्वाद् बहुपरिमाणेन खातत्वाच्च महत्त्वं
तथात्वं च । बृहद्रवाः बृहन्महान् रवो ध्वनिर्भस्येति विग्रहः । सकारान्तोऽयं

शब्दः । स्वातुं भूपावभ्यां प्रहृतायां ध्वनिर्महान् भवतीत्यर्थः । तस्मात् त्वम्
इन्द्रायेन्द्रभीत्यर्थं रक्षोहणं रक्षोवधविषयां बृहतीं वाचं प्रौढध्वनियुक्तं वाक्यं वद ।
सैव वाग्, बलगहनमिति वैष्णवीमिति च विशिष्यतोपराजिन्य पलायमानै राक्षसै-
रिन्द्रादिबधार्थमभिचाररूपेण भूमौ निखाता अस्थिकेशनखादिपदार्था बलगा
इत्युच्यन्ते । तदाह तित्तिरिः ॥ अमुरा वै निर्यन्तो देवानां प्राणेपु बलगान्यखन-
न् । तान् बाहुमात्रे त्वविन्दन् । तस्माद् बाहुमात्राः खायन्त इति ॥ तान् बल-
गन् इति विनाशयतीति बलगहा वाक् । सा च यज्ञरक्षकस्य विष्णोः
संबन्धिनी, तादृशीं वाचं ब्रूहि ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ इदमहमिति यथान्नातं
प्रतिमन्त्रमिति ॥ येन क्रमेण चत्वारो गर्ताः खातास्तेन क्रमेण चतुर्भ्यो
गर्तेभ्यः खातं मृत्तृणादिकं चतुर्भिर्मन्त्रैरुत्किरेत् ॥ तत्रायं प्रथमो मन्त्रः ॥
इदमहं तं बलगमुद्रपामि व नो निष्य्यां यममात्यो निचखानेति ॥ पृथे स्त्यू
शब्दसंघातयोरिति धातुः । नितरां स्तूयायति मङ्गातरूपेण सह वर्तत इति
निष्ठः पुत्रादिधनिकस्य स्वामिनो धनमृहादिनिर्वाहकोऽमात्यः केनापि नि-
षित्तेन कुपितः पुत्रोऽमात्यो वा नोऽस्मानुद्दिश्य वधार्थं यं बलगं निचखान
नितरां खातवान् । तं बलगममुद्रपामि उद्भृत्सान्यत्र परित्यजामि । इदं-
शब्दः क्रियाविशेषणम् । प्रत्यक्षं यथा भवति तथोद्गामीत्यर्थः ॥ अथ द्वितीयः ॥
इदमहं तं बलगमुद्रपामि यं नः समानो यमऽसमानो निचखानेति ॥ समानो
धनकुलादिभिः सहशः । असमानो न्यूनोऽधिको वा । अन्यत् पूर्ववत् ।
तृतीयकोटेरभावात् । समानाऽसमानशब्दौ द्वावेव शत्रुवाचकावभिहितौ । एतदे-
वाभिप्रेत्य तित्तिरिराह । द्वी वा व पुरुषौ यश्चैव समानो यश्चासमानो यमेवास्यै
तौ बलगं निखनतस्तमेवोद्गमीति ॥ अथ तृतीयः ॥ इदमहं तं बलगमुद्रपा-
मि यज्ञः सम्बन्धुर्यमऽमम्बन्धुर्निचखानेति ॥ कुलशीलादिभिः समानो मातुल-
शालादिः सम्बन्धुः । तद्विपरीतोऽसम्बन्धुः । अन्यत् पूर्ववत् ॥ अथ चतुर्थः ॥ इदमहं
तं बलगमुद्रपामि । यज्ञः सजातो यमऽसजातो निचखानेति ॥ सजातः सभान-
जन्मा भ्राता । तद्विपरीतः असजातः । अन्यत् पूर्ववत् ॥ कात्यायनः ॥ उ-
त्कृत्वा किरामि इति पश्चात् सर्वेभ्य इति ॥ असाधारणैर्मन्त्रैः पूर्वोक्तक्रमेण
उद्गापं कृत्वा पश्चात् साधारणेनानेन मन्त्रेण चतुर्भ्यो गर्तेभ्य उद्ग्रेत् । मन्त्रा-
र्थस्तु—येयं कृत्वा शत्रुभिरभितः संपादिता बलगरूपा तां कृत्यामुत्किरा-
मि । उद्भृत्पदं दूरे परित्यजामि ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ स्वराखिल्यवमर्शयति

यथास्वातं प्रतिमन्त्रमिति ॥ खननक्रमेण चतुर्थं गर्तेषु यजमानस्य हस्तस्पर्शं च-
तुर्थिमन्त्रैः कारयेत् ॥ तत्रायं प्रथमः ॥ स्वराळमि सपत्रहेति ॥ हे प्रथमगर्त,
त्वं स्वराळसि स्वयमेव राजमानोऽसि । अतः सपत्रहा शत्रुघाती भवेति शेषः ॥
अथ द्वितीयः ॥ सत्रराळभिमातिहेति ॥ सत्रेषु द्वादशाहदिषु राजत इति
सत्रराट् अभिमातिहा शत्रुघाती ॥ अथ तृतीयः ॥ जनराळ्यमि रक्षोहेति ॥
जनेषु यजमानेषु राजत इति जनराट् रक्षोहा यज्ञविनाशकराक्षसघाती ॥ अथ
चतुर्थः ॥ सर्वराळ्यमित्रहेति ॥ सर्वेषु राजा इति सर्वराट् । अमित्रहा शत्रु-
घाती ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ प्रोक्षत्येतान् रक्षोहण इति । भेदे मन्त्रावृत्तिरिति ॥
एतांश्चतुरो गर्तान्मन्त्रेण प्रोक्षेत् । तस्य च मन्त्रस्य गर्तभेदे सत्यावृत्तिः कर्त्त-
व्या ॥ पाठस्तु ॥ रक्षोहणो बलगहनः प्रोक्षामि वैष्णवानिति । वैष्णवान्
विष्णुदेवताकान् गर्तान् प्रोक्षामि कीदृशान् रक्षोहणो राक्षसहन्तृन् बलगहनः ।
अभिचारसाधनहन्तृन् ॥ कात्यायनः ॥ अवनयनेऽवस्तरणे वेति ॥ गर्तेषु प्रोक्षण-
शेषोदकमेचनमवनयनम् । दमैश्छादनमवस्तरणम् । तयोर्द्वयोः क्रिययोरपि
गर्तभेदात्तन्मन्त्रावृत्तिर्द्विष्टव्या ॥ तत्राऽयमवनयनमन्त्रः ॥ रक्षोहणो बलगहनो-
ऽवनयामि वैष्णवानिति ॥ अवनयामि निश्चालयामि । अन्यत् पूर्ववत् ॥ अतः-
ऽवस्तरणमन्त्रः ॥ रक्षोहणो बलगहनोऽवस्तरणामि वैष्णवानिति ॥ अवस्तरण-
मि दमैश्छादयामि ॥ अन्यत् पूर्ववत् ॥ कात्यायनः ॥ अधिवरणफलके
ह्यङ्गुल्यन्तरेऽरन्निपात्रे संतृष्णे इवोपदधाति, पर्यूहाति च रक्षोहणावितीति ॥
ययोः फलकयोरुपरि सोमोऽभिपृष्यते । ते द्वे अधिवरणफलके । तयोरुभयक्षो-
र्मध्यमं ह्यङ्गुलव्यवहिते । ते चारान्नप्रमाणे अंतृष्णे इव हृद्वन्धनरहिते इव-
द्वन्धनोपेते तादृशी फलके चतुर्णां गर्तानाम् उपरि स्थापयेत् । तयोः पतितो
मृदाच्छिद्य पिधानं कुर्यात् ॥ ४ ॥ तत्रायमुपधानमन्त्रः ॥ रक्षोहणो बलगह-
णो उपदधामि वैष्णवी इति ॥ यावदधिवरणफलकविशेषौ तौ रक्षमां बलगहनो च
बलमाविनाशकौ, वैष्णवी विष्णुदेवताकौ उपदधामि द्वयोर्गर्तयोरुपरि एकैकं
फलकं स्थापयामि ॥ अथ पर्यूहणमन्त्रः ॥ रक्षोहणो बलगहनो पर्यूहामि वैष्णवी
इति ॥ पर्यूहामि मृदोपरितश्छादयामि । अन्यत् पूर्ववत् ॥ कात्यायनः ॥ त-
योश्चर्मपाधिषवणं परिकृतं सर्वरोहितं निदधाति वैष्णवमसीति ॥ यस्मिंश्चर्मणि
सोमोऽभिपृष्यते तच्चर्मपाधिषवणाख्यमूतस्य चर्मणोऽग्रभागः परितश्छिन्नो भवति ।
सर्वमापि लोहितवर्णं तादृशं चर्म तयोः फलकयोरुपरि स्थापयेत् । हे चर्म, त्वं

वैष्णवमसि यज्ञरक्षकविष्णुसंबन्धि भवसि॥कात्यायनः ॥ तस्मिन् ग्राह्यः पञ्च
वैष्णवाः स्थेतीति ॥ निदधातीत्यनुवर्तते । तस्मिंश्चर्मणि सोमाधिपवहेतुभृतान्
पञ्चसंख्याकान् पाषाणानवस्थापयेत् । हे पाषाणाः, यूयं वैष्णवाः स्थ यज्ञरक्षक-
विष्णुसम्बन्धिनो भवथ ॥ ५ ॥ इति पञ्चमाध्याये षष्ठः ऽनुवाकः ॥ ५ ॥ ६ ॥

षष्ठे उपरवनिर्माणमन्त्रा उक्ताः ॥ सममे सदोनामक्रमण्डपस्य हविर्द्धान-
प्राचीनवंशयोर्मध्यवर्तिनो निर्माणाय मन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ औदुम्ब-
म्बरीं मिनोति यजमानमात्रीं यूपवच्छेनेऽभ्यादि करोत्यवस्तरणादिर्वादि ॥
उदुम्बरतृक्षादुत्पन्नां काञ्चिच्छाखां सदोमण्डपमध्ये निबन्धेत् । सा च शाखा
यजमानदेहपरिमिता सती खननात् पूर्वं यूपवद् भूमौ चापत्वा यथा यूपस्यावटं
खनितुम् अग्निस्वीकारमारभ्य दर्भोपस्राणपर्यन्तास्तन्मन्त्रैरनुष्ठितास्तद्वद-
ऽत्राप्यनुतिष्ठेदित्यर्थः ॥ यूपवटे प्रदेशे मन्त्रविनियोगः कात्यायनेनैवमभिहि-
तः ॥ देवस्य त्वेत्यभ्रिमादायेति ॥

पाठस्तु ॥ देवस्य त्वा मवितुः पवत्रेऽडिनोर्वाहुभ्यां पृष्णेः हस्ताभ्याम् । आद- ॥
दे नार्यसीति ॥ पूर्वाऽनुवाके व्याख्यातम् ॥ कात्यायनः ॥ अवटं परिच्छिन्व-
ति इदमहमिति ॥ पाठस्तु ॥ इदमहं रक्षसो ग्रीवां अपि कृन्तामि ॥ एत-
दपि पूर्वाऽनुवाके व्याख्यातम् ॥ कात्यायनः ॥ यवोऽभीत्यस्तु यवानोप्येति ॥
पाठस्तु ॥ यवोऽसि यवयास्तद् द्वेपो पञ्चगामीरिति ॥ हे धान्यविशेष,
त्वं यवोऽसि मिश्रणभृतस्य पवनस्य कर्ता भवसि । तत् तस्मत् कारणाद् द्वेपो
द्वेष्टुं शक्नुन् अस्मद्यवय अस्मत्तः पृथक् कुरु । तथाऽगतीः अस्मदीयं धन-
मपहृत्य पुनरस्मभ्यमदातुंनपि यवय पृथक्कुरु ॥ कात्यायनः ॥ प्रोक्षत्य-
ऽग्रमध्यमूलानि दिवे त्वेति प्रतिमन्त्रमिति ॥ तज्जायं प्रथमो मन्त्रः ॥ दिवे
त्वेति ॥ हे औदुम्बर्यग्रभाग, त्वां दिवे घृल्लोकप्रीत्यर्थं प्रोक्षामि शेषः ॥
अथ द्वितीयः ॥ अन्नरिक्षाय त्वेति ॥ हे मध्यमभाग त्वामन्नरिक्षल्लोकप्रीत्यर्थं
प्रोक्षामि ॥ अथ तृतीयः ॥ पृथिव्यै त्वेति ॥ हे मूलभाग त्वां पृथिवीप्रीत्य-
र्थं प्रोक्षामि ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ अवटे शेषमामिञ्चति । शुन्धन्तामिति ॥
पाठस्तु ॥ शुन्धन्ताँल्लोकाः पितृषदना इति ॥ पितरः सीदन्ति येषु लोकेषु ते
पितृषदना लोकाः शुन्धन्ताम् अनेनोदकमेचनेन शुद्धा भवन्तु । खननेनो-
त्पन्नस्य क्रौर्यस्य शान्त्यर्थम् इदमुदकमेचनम् । तदाह तित्तिरिः ॥ क्रूरमि-
ष वा एतत्करोति यत्पपोऽवनयति शान्त्या इति ॥ कात्यायनः ॥ बर्हीषि

प्राच्युदञ्चि च प्रास्यति पितृषदनमसीतीति ॥ तस्मिन्नवटे प्रागग्रानुदग्रौ-
 श्च दर्भानास्तृणीत । पितरः सीदन्त्युपविशन्ति यस्मिंस्तव पितृषदनम् । हे
 बर्हिस्त्वं तथाविधमसि ॥ कात्यायनः ॥ उद्दिशमित्युच्छ्रयतीति ॥ उच्छ्रयण-
 मूर्ध्वाग्रत्वेन स्थापनम् ॥ पाठस्तु ॥ उद्दिशः स्तभानान्तरिक्षं पृण दृष्ट्वा
 पृथिव्यामिति ॥ हे औदुम्बरि, त्वं दिवं द्युलोकम् उत्तमान ऊर्ध्वं स्थित्वा
 यथा न पतति तथा द्युलोकं स्तम्भय । अन्तरिक्षं पृण सर्वतः पूरय । पृथि-
 क्त्वा दृष्ट्वा दृढा भव । यद्वा पृथिवीं दृढीकुरु ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ द्युतान
 इति मिनोति पर्यूहणाद्युपसेचनान्तं कृत्वेति ॥ पर्यूहणमारभ्योपसेचनपर्य-
 न्तं यथा यूपे कृतं तथात्रापि कुर्यात् । तस्मिन्नवटे यूपं खनेव ॥ पाठस्तु ॥
 द्युतानस्त्वा मारुतो मिनोतु मित्रावरुणौ ध्रुवेण धर्मणेति ॥ हे औदुम्बरि
 त्वा त्वां द्युतानो दीप्यमानो मारुतो वायुध्रुवेण स्थैर्येण धर्मणा धार-
 णेन मिनोतु । दुमिष्वक्षेपण इति धातुः । तथा मित्रावरुणावेतन्नामकौ
 देवौ प्रक्षिपतामिति शेषः ॥ कात्यायनः ॥ पर्यूहणाद्युपसेचनान्तं कृत्वेति ॥
 पर्यूहणमारभ्य उपसेचनपर्यन्तं यथा यूपे कृतं तथाऽत्रापि कुर्यादित्यर्थः ।
 तत्र यूपस्थानप्रदेशे मन्त्रविनियोगः कात्यायनेनैवमभिहितः । ब्रह्मवनि त्वेति
 पशुभिः पर्यूहतीति ॥ पाठस्तु ॥ ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्योषवनि पर्यू-
 हामीति ॥ हे औदुम्बरि, त्वा त्वां पर्यूहामि परितो मृत्तिकां परिक्षिपामि ।
 कीदृशीं त्वाम् । ब्रह्मवनि । ब्राह्मणजार्ति वनस्पति सम्भजत इति ब्रह्मवनिः ।
 क्षत्रियजार्ति सम्भजत इति क्षत्रवनिः । रायो धनस्य पुष्टिं सम्भजत इति
 रायस्योषवनिः । सर्वत्र मुपां मुलुगिति विभक्तेर्लुक् । शाखान्तरेऽपि स्पष्ट-
 माम्नायने ॥ ब्रह्मवनिं त्वा क्षत्रवनिं मुपजावनिं रायस्योषवनिं पर्यूहामी-
 ति ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ ब्रह्म दृष्टेति मित्रावरुणदण्डेन समन्तस्त्रिः पर्यूह-
 तीति ॥ परितो दृढीकुर्यादित्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ ब्रह्म दृष्ट्वा सत्र दृष्ट्वायुर्दृष्ट्वा
 प्रजां दृष्टेति । हे औदुम्बरि, ब्राह्मणजार्ति क्षत्रियजातिमायुष्यं पुत्रादिरूपां
 प्रजां च दृढीकुरु ॥ कात्यायनः ॥ ध्रुवासीति वाचयत्यौदुम्बरीमारभ्येति ॥
 आरम्भणं स्पर्शनम् ॥ पाठस्तु ॥ ध्रुवासिं ध्रुवोऽस्मिन् यजमान आयतने
 भूयादिति ॥ हे औदुम्बरि त्वं ध्रुवासि स्थिरा भवसि । त्वमिव यजमानो-
 ऽस्मिंल्लोके स्वकीय आयतने ध्रुवो भूयात् । स्थिरो भवतु ॥ कात्यायनः ॥
 विशाखे जुहोति घृतेन द्यावापृथिवी इति ॥ औदुम्बर्याः सम्बन्धनि यस्मिन्

प्रदेशे द्विविधशास्त्रोत्पत्तिस्तत्र जुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥ घृतेन द्यावापृथिवी
पूर्वेथामितीति ॥ हूयमानेन घृतेन द्यावापृथिव्यौ सर्वतः पूरिते भवेता-
म् ॥ कात्यायनः ॥ इन्द्रस्य छदिरिति मध्यमं छदिरारोप्येति । औम्बरीनिख-
मनादूर्ध्वं सदोनामकं मण्डपं निर्माय तस्योपरि प्रावरणार्थं मध्यमं कटमारोप-
येत् ॥ पाठस्तु ॥ इन्द्रस्य छदिरसि विश्वजनस्य छायेति ॥ छदिशब्देन
तृणनिर्मितः कट उच्यते । हे तृणनिर्मित, त्वम् इन्द्रस्य छदिरसि । इन्द्रस-
म्बन्धिकटो भवसि । अतस्त्वां प्रावरणाय सदोमध्यमवर्तिनो विश्वजनस्य
यजमानत्विग्रूपस्य सर्वप्राणिनश्छाया भूयादिति शेषः । सदस इन्द्रदेवताक-
त्वेन त्वदीयच्छदिष इन्द्रसम्बन्धित्वम् ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥ परि त्वेति परि-
वार्येति ॥ परितः कुड्यवदावरणं कृत्वेत्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ परि त्वा गिर्वणो ५
गिर इमा भवन्तु विश्वतः । वृद्धायुमनुवृद्धयो जुष्टा भवन्तु जुष्टय इति ॥
इन्द्रः सदोऽभिमानी गिर्वणाः । हे गिर्वणः, इमाः स्तोत्रशस्त्ररूपा गिरस्त्वां
सर्वतः कटरूपेण परिभवन्तु वेष्टयन्तु । कीदृश्यः दीर्घायुषं त्वामनु स्वयमपि
वृद्धिमयः । किञ्च जुष्टयोऽस्मत्प्रेवास्तव जुष्टाः प्रिया भवन्तु ॥ ५ ॥ कात्या-
यनः ॥ परिषीवणग्रन्थमभिमर्शनान्येन्द्रैरिति ॥ इन्द्रदेवताकैस्त्रिभिर्मन्त्रैः परि-
षीवणादित्रयं कुर्यात् ॥ तत्रायं प्रथमः ॥ इन्द्रस्य स्पूरमीति ॥ हे रज्जो त्वं ६
सदोऽभिमानिदेवस्येन्द्रस्य सम्बन्धिनी सती स्पूरमि ग्रन्थमिद्वयं स्पृता भव-
सि ॥ अथ द्वितीयः ॥ इन्द्रस्य ध्रुवोऽमीति ॥ हे ग्रन्थे त्वम् । इन्द्रसम्बन्धी भूत्वा
स्थिरो भवसि ॥ अथ तृतीयः ॥ ऐन्द्रममीति ॥ हे सदस्त्वम् इन्द्रसम्बन्धि भवसि ॥
कात्यायनः ॥ हविर्धानापरान्तमुत्तरेणाग्नीध्रमग्न्यगारं निष्ठाया वैश्वदेवममी-
त्यालभत इति ॥ हविर्धानमण्डपस्यापरान्तो वायव्यकोणस्तस्योत्तरभागे किञ्चि-
दाग्नीध्रनामकमग्निस्थानं कृत्वा तस्य स्पर्शनं कुर्यात् । हे आग्नीध्र, त्वं वैश्व-
देवमसि सर्वदेवसंबन्धी भवसि ॥ ६ ॥ इति पञ्चमेऽध्याये सप्तमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥ ७ ॥

सप्तमे सदोनिर्माणमन्त्रा उक्ताः ॥ अष्टमे धिष्ण्यनिर्माणमन्त्रा उच्यन्ते ॥
कात्यायनः ॥ धिष्ण्यानि निर्वपति विभूरमीति प्रतिमन्त्रमिति ॥ अग्नीनामप्रय-
भूता मृत्तिकया निर्मिता स्वल्पवेदिका धिष्ण्यानि इत्युच्यन्ते । चात्वाले
खानया मृत्तिकया धिष्ण्यानि निर्वपेत् । तदाह तित्तिरिः ॥ चात्वाला धिष्ण्या-
नुवपतीति ॥ तत्रायं धिष्ण्यार्थः प्रथमो मन्त्रः ॥ विभूरसि प्रवाहण इति ॥ वि-
भूशब्दप्रवाहणशब्दावाग्नीध्रधिष्ण्यस्य नामनी । ते वै द्विनामान इति कण्वेन

उक्तत्वात् । हे आग्नीध्रधिष्ण्य, त्वं विभूः प्रवाहणश्चासि । विविधभवनाद्विभूः ।
एतस्मादेवधिष्ण्यादितरधिष्ण्येष्वग्निविहरणादेतस्य विविधभवनं द्रष्टव्यम् ।
हविषः प्रवाहणपरत्वात् प्रवाहणत्वम् । एतस्य मन्त्रस्याग्नीध्रधिष्ण्याविषयत्वं
बौधायनः स्पष्टीचकारः । आग्नीध्रं कृत्वा स्फयेनोदधृत्पावेक्ष्य चात्वालपुरीषं
मिकता इति निर्वपति । विभूगमि प्रवाहण इति ॥ अथ द्वितीयः ॥ बहिर-
मि हव्यवाहन इति ॥ यज्ञकर्मणो निर्वाहकत्वाद् बह्वित्वं, देवान् प्रति
हविःप्रापणाद् हव्यवाहनत्वम् । यथाऽग्नीध्रधिष्ण्यस्य नामद्वयमुक्तं, तथा
होतृधिष्ण्यस्याप्येतन्नामद्वयं द्रष्टव्यम् । धिष्ण्यं मतानग्नीन् प्रति अन्ये देवाः
प्रत्येकं नामद्वयं सम्पादयन्तेत्युचुः । तदाह तित्तिरिः ॥ तान् देवान् अब्रुवन् द्वे द्वे
नामनी कुरुमिति ॥ होतृमेत्रावरुणब्राह्मणाच्छंसिपोतुनेष्टृच्छावाकानां षण्णां
सम्बन्धितो धिष्ण्यान् सदभि कुर्यात् । तदाह कात्यायनः ॥ षट् सदसीति ॥
अथ तृतीयः ॥ श्वात्रोऽसि प्रचेता इति ॥ श्वात्रो मित्रः, प्रचेता वरुणः ।
हे मैत्रावरुणधिष्ण्यानेन नामद्वयेन युक्तोऽसि ॥ अथ तुरीयः ॥ तुथोऽसि
विश्ववेदा इति ॥ तुथशब्देन देवान् प्रति दक्षिणानां विभागकर्ता पुरुष उ-
च्यते ॥ तुथो ह स्म वै विश्ववेदा देवानां दक्षिणा विभजनीति तित्तिरिणोक्त-
त्वात् । विश्वं वेत्तीति विश्ववेदाः सर्वज्ञः । ब्राह्मणाच्छंसिधिष्ण्य, यथोक्तनाम-
द्वयवानमि ॥ १ ॥ अथ पञ्चमः ॥ उशिममि कविरिति ॥ उशिकू कमनीयः,
कविर्विद्वान् । हे पौष्पधिष्ण्य, यथोक्तनामद्वयवानमि ॥ अथ षष्ठः ॥ अङ्गारि-
रसि बम्भारिरिति ॥ शुल्को सोमरक्षकौ द्वावङ्गारिवम्भारी । तथा च सोम-
रक्षकविषयमन्त्रे, स्वानभ्राजाङ्गारे बम्भार इत्याम्नातम् । तयोर्नामद्वयमस्मिन्
नेष्ट्रीयधिष्ण्ये इत्युपचर्यते ॥ अथ सप्तमः ॥ अवस्यूरसि दुवस्वानिति ॥ एनौ
शब्दौ वायुविशेषवाचकौ ॥ अवस्यवे त्वा वाताय दुवस्वते त्वा वाताय स्वाहे-
ति मन्त्रान्तरे सामानानात् । तदेतन्नामद्वयमच्छावाकधिष्ण्य उपचर्यते । तान्
होत्रादिधिष्ण्यान् सदसि निर्माय वेदेर्दक्षिणभागे मार्जालीयधिष्ण्यो निर्मात-
व्यः । दक्षिणे वेद्यन्ते मार्जालीं निर्वपनीति बौधायनेनोक्तत्वात् ॥ अथाष्टमः ॥
शुन्ध्यूरसि मार्जालीय इति ॥ शुन्ध्युः शोकः, पात्रप्रक्षालनेन लेपमार्जनस्थान-
भूतो मार्जालीयः । तदेतन्मार्जालीयधिष्ण्यस्य नामद्वयम् ॥ २ ॥
कात्यायनः ॥ सदोद्वारं पूर्वेण तिष्ठन्ननुदिशत्यौदुम्बरीब्रह्मासनशालाद्वार्यप्राज-
हिताहवनीयवहिष्पवमानदेशचात्वालश्रामित्रोऽक्षरात् । ऋतधामेति प्रतिमन्त्र-

मिति । सदोद्धारस्य पूर्वभागेऽवस्थाप्यौदुम्बरीदीन् ऋतधामेत्पादिभिर्नव-
 धिर्नवैः क्रमेण निर्दिशेत् ॥ तत्रायं प्रथमः ॥ ऋतधामासि स्वर्ज्योतिरिति ॥
 हे औदुम्बरि, त्वम् । ऋतधामा सामगानाम् ऋतम् अवश्यम्भावि धामोपवेशन-
 स्थानं यस्यास्तादृशी । सामगा ह्यौदुम्बरी स्पृष्टोद्गायन्ति । स्वर्ज्योतिः । उन्न-
 तत्वेन स्वर्गे प्रकाशकः ॥ अथ द्वितीयः ॥ समुद्रोऽसि विश्वव्यचा इति ॥ ५
 हे ब्रह्मासनप्रदेश, त्वं समुद्रोऽसि । सर्वे देवाः सम्यगुत्कर्षेण द्रव्यसन्नेति
 समुद्रः । विश्वं सर्वं यज्ञं च्यवतीति गच्छतीति विश्वव्यचाः ॥ अथ तृतीयः ॥
 अजोऽस्येकपादिति ॥ हे प्राचीनवंशद्वारवर्तिन्यने, त्वम् अजोऽसि । अजति
 यज्ञप्रदेशेषु गच्छतीत्यजः । अथ वा परब्रह्मन्वोपचारेण न जायते इत्यजः ।
 सर्वाणि भूतान्येकः पादो यस्यामोवेकपात् । तथाच श्रुत्यन्तरम् । पादोऽस्य
 विश्वा भूतानि इति ॥ अथ चतुर्थः ॥ अहिरसि बुध्य इति ॥ प्राचीनवंशस्य
 पश्चिमभागवर्तो पुरातनो गार्हपत्योऽग्निः प्राजहित इत्युच्यते ॥ हे प्राजहित
 त्वम् अहिरसि । न हीयते इत्यहिः । शालाद्वारीये नूतने गार्हपत्ये समुत्पन्नो-
 ऽयमग्निः स्वरूपेण न हीयते । बुध्यो मूलं तत्र भवो बुध्यः । आधानकाले
 प्रथममाहितत्वान्मूलभाषित्वमुपपन्नम् ॥ ३ ॥ अथ पञ्चमः ॥ सम्राजसि कृ-
 शानुरिति ॥ उत्तरवेदिगत हे आहवनीय, बहुविधाहुत्याधारत्वेन सम्यग् रा-
 जनात् सम्राजसि । पयोव्रतादिभिः कृशं यजमानमनुगच्छतीति कृशानुः ॥
 अथ षष्ठः ॥ परिषथोऽसि पवमान इति ॥ हे बहिष्पवमान देश, त्वं परि-
 षथोऽसि । स्तोतुं समेता ऋत्विजः परिषत् तद्योग्यः । अत एव शुद्धत्वात्
 पवमानः ॥ अथ सप्तमः ॥ नभोऽसि प्रतकेति ॥ हे चात्वाल, त्वं नभोऽसि
 खनने तच्छिद्ररूपत्वादाकाशत्वम् । प्रतका प्रकृष्टगमनयुक्तः । कृष्णविषाणा-
 द्यागाद्यर्थं हि चात्वालः प्रकर्षेण गम्यते ॥ अथाष्टमः ॥ मृष्टोऽसि हव्यसूदन
 इति ॥ शामित्रशब्देन पशुविशमनप्रदेश उच्यते । हे शामित्र, त्वं मृष्टोऽसि ।
 क्रियमाणस्य पशुविशमनस्य विहितत्वेनाशुद्धिहेतुत्वात् सत्यपि विशमने शु-
 द्धोऽसि । हव्यस्य हृदयजिह्वादिरूपस्य हविषः सूदनः पाकहेतुरसि ॥ ४ ॥
 अथ नवमः ॥ समूहोऽसि विश्ववेदा इति ॥ वेदिगतस्य वर्जनीयस्य तृणादेः
 प्रक्षेपस्थानमुत्कर इत्युच्यते । हे उत्कर, त्वं तृणादिसमूहयोग्यत्वात् समूहो-
 ऽसि । विश्वं परित्यक्ततृणादिकं सर्वं वेत्तीति विश्ववेदाः । तदेवं, विभूरसी-
 त्वारभ्य विश्ववेदा इत्यन्ताः सप्तदशमन्त्रा उक्ताः । तेषां सर्वेषां प्रत्येकं शेष-

भुत ऊनातिरिक्तस्येत्यादिको मन्त्रभागः । यद्यपि कात्यायनो, रौद्रेणेति सर्वत्रेत्युवाच, न न्यूनातिरिक्तस्येति तथापि रौद्रेणेत्यस्याङ्गस्योपलक्षणत्वादुना-
 ऽतिरिक्तस्येत्यादिकः सर्वोऽपि मन्त्राणामुक्तानां शेष इति द्रष्टव्यम् ॥ पाठस्तु ॥
 ऊनातिरिक्तस्य प्रतिष्ठा । अग्नयः सगराः सगरा स्थ सगरेण नाम्ना रौद्रेणानी-
 केन पात माग्नयः पिपृत माग्नयो नमो वोऽस्तु मा मा हिंसिष्टेति ॥ वि-
 भूरसीत्यादिभिः प्रतिपादिता ये धिष्ण्यरूपा अग्नयस्ते सर्वे कर्माणि ऊनाति-
 रिक्तस्य न्यूनातिरिक्तांशस्य प्रतिष्ठा स्थितिहेतवः संपूर्तिकारिणः । विहितस्यैकदे-
 शस्य परित्यागे कर्म न्यूनं भवति । अधिकस्यापि कस्यचिदनुष्ठानेऽतिरिक्तं
 भवति । तदुभयविधदोषपरिहारेण संपूर्तिमेतेऽग्नयः कुर्वन्तीत्येतेषां प्रतिष्ठा । ते
 चाऽग्नयः सगराः समानस्तुतयः गृह्णन्तुताविति धातुः । सर्वेषां द्विनामत्वात् समान-
 स्तुतित्वमाहे अग्नयः, यूयं सगरेण नाम्ना सगर इत्यनेन शब्देन सर्वे व्यवहियमा-
 णत्वात् सगराः स्थ सगरशब्दाभिधेया भवथ । ते यूयम अग्नयो रौद्रेणानीकेन
 शत्रुविनाशकत्वादुग्रेण भवदीयेन मा पात मां रक्षत । हे अग्नयो, मा पिपृत
 धनादिभिर्मा पूरयत । वो युष्मभ्यम् । नमो वोऽस्तु । नमस्कारो भवतु ।
 मा मा हिंसिष्ट । अनुष्ठानार्त्तं मां मा वधिष्ट ॥ ५ ॥ इति पञ्चमाध्यायेऽष्टमो-
 ऽनुवाकः ॥ ५ ॥ ८ ॥

अष्टमं धिष्ण्यनिर्माणमन्त्रा उक्ताः ॥ नवमे वैसर्जनहोमादिमन्त्रा उच्य-
 न्ते ॥ कात्यायनः ॥ आज्याधिश्रयणस्त्रिकर्ममार्जनोद्गामनान्वेक्षणानि कृत्वे-
 ति ॥ तत्राधिश्रितस्याज्यग्रहणार्थाऽयं मन्त्रः ॥ पाठस्तु ॥ ज्योतिरसि विश्व-
 रूपं विश्वेषां देवानां ममिदिति ॥ हे आज्य, त्वं विश्वरूपं ज्योतिरसि ।
 बहुप्राहुतिषु उपयुक्तत्वाद्विश्वरूपत्वं, दीप्यमानत्वाज्ज्योतिरूपम् । विश्वेषां
 देवानां समिदसि सम्यग्दीपकमसि । देवा ह्याज्यं स्वीकृत्य दीप्यन्ताम् ॥
 कात्यायनः ॥ त्वं सोमेति प्रवरण्यभिजुहोति इति ॥ जुहूर्निव होममाधन-
 भूता काचित् प्रवरणीन्युच्यते ॥ पाठस्तु ॥ त्वं सोम तनूकृज्यो द्वेषोभ्यो-
 ऽन्यकृतेभ्यः । उरु यन्तामि वरूथ स्वाहेति ॥ तनूं शरीरं कुन्तन्ति छिन्दन्तीति
 तनूकृन्ति रक्षांसि । द्विषन्तीति द्वेषांसि । अन्यैरस्माद्रोधाभिः पृथिव्यां स-
 ततं विचराद्भिः कृतानि प्रेरितानि इत्यन्यकृतानि । हे सोम, त्वं तादृशेभ्यो
 नियन्तासि । यथा तादृशानि नोऽस्मान्न बाधन्ते तथाऽस्मानन्यत्र सुरक्षित-
 प्रदेशे स्थापयित्वा पालयसि । तस्मात् त्वमेव अस्माकम् उरु प्रभुतं वरूथं

बलमपि । तस्मै वरुथं तुभ्यं इदं हुतमस्तु । शालामुखीयो योऽग्निर्यश्च त-
स्याग्नेः समीपे स्थापितः सोमस्तदुभयमाग्नीध्रादिप्रदेशेषु नीत्वा पश्चादग्नी-
षोमीयपशुरारब्धव्यः । ततः सोमं नेतुं तमुद्दिश्यासावाज्याहुतिर्हुता ॥ का-
त्यायनः ॥ जुषाणो अप्तुरिति द्वितीयामिति ॥ जुहोतीत्यनुवर्तते ॥ पाठस्तु ॥
जुषाणो अप्तुराज्यस्य वेतु स्वाहेति ॥ हे सोम, त्वं जुषाणोऽस्मासु प्रीतिमान्
रक्षसामदर्शनायाप्तुरल्पदेहः सन्नाज्यस्य वेतु आज्यं पिब, तदेवेदं हुतमस्तु ॥
॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ अग्नं नयेति वाचयतीति ॥ पाठस्तु ॥ अग्ने नय ५
सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराण-
मेनो भूयिष्ठां ते नमउक्तिं विधेमिति ॥ हे अग्ने, हे देव, विश्वानि वयु-
नानि विद्वान् सर्वान्मार्गानभिजानानस्वस्माननुष्ठातृन् राये धनलाभाय सुपथा
नय शोभनमार्गेण प्रापय । जुहुराणं कुटिलं फलप्रतिबन्धकं यदेनः पापमस्ति
तत् सर्वम् । अस्मद् युयुधि अनुष्ठातृभ्यः पृथक् कुरु । ते तुभ्यं भूयिष्ठामतिव-
हुलां नमउक्तिं नमस्कारविषयां वाचं विधेम सम्पादयामः ॥ २ ॥ कात्या-
यनः ॥ उत्तरेण सदो हृत्वाग्नीध्रेऽग्निं निदधाति ग्रावद्रोणकशसोमपात्राणि
वाऽयं न इति जुहोतीति ॥ शालामुखीयमग्निं ग्रावादीनि सदस उत्तरभागे
नीत्वाऽग्नीध्रमण्डपे निधाय तत्रत्यो धिष्ण्यगते ग्रावाज्येन जुहुयात् ॥ पाठ-
स्तु ॥ अयमग्निरविरिबस्कृणोत्वयममृधः पुर एतु प्रभिन्दन् । अयं वाजां
जयतु वाजसाता अयः शत्रूञ्जयतु जर्हपाणः स्वाहेति ॥ अयमग्निर्नोऽस्माकं
वरिवो धनं कृणोतु करोतु । अयमेवाग्निर्मृधः सङ्गामान् पुरः अग्रतः प्रभि-
न्दन् वैरिणो विदारयन्ते गच्छतु । अयमेवाग्निर्वाजसातौ सङ्गमे वाजान्
शत्रुसम्बन्धीन्यस्मान्पस्मभ्यं दातुं जयतु । ततोऽयमेवाग्निर्जर्हपाणः अत्यर्थं
हृष्यन् शत्रून् जयतु ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ उरुविष्ण इति जुहोतीति ॥
पूर्वमन्त्रेणाग्नीध्रीये होमः । अनेन त्वाहवनीये ॥ पाठस्तु ॥ उरु विष्णो ५
विक्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि । घृतं घृतयोने पिब प्र यज्ञपतिं तिर स्वाहेति ॥
हे विष्णो व्यापिन्नाहवनीयास्मदनुग्रहार्थम् । उरु विक्रमस्व । शत्रुषु बहुलं
पराक्रमं कुरु । नोऽस्माकं क्षयाय निवासार्थम् उरु कृधि बहुधनाधिकं संपाद-
य । घृतेन उवाचोद्भवाद् घृतयोनिः । हे घृतयोने, हूयमानमिदं घृतं पिब ।
यज्ञपतिं च यजमानं प्रतिर अतिशयेन वर्धय ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥ दक्षिणे-
ऽनसि कृष्णाजिनमास्तीर्य तस्मिन् सोमं निदधाति देव सवितरिति ॥ दक्षिणे

शकटे कृष्णाजिनस्याऽऽस्तरणं कृत्वा तस्मिन् सोमं निदध्यात् ॥ पाठस्तु ॥
 देव सवितरेष ते सोमस्तः रक्षस्व मा त्वा दभक्षिति ॥ हे सवितः, सर्वस्य भेरक
 देव, एष सोमस्ते तवार्पितः । तं तादृशं सोमं रक्ष पालय । मा त्वा दभन्
 एवम्भूतस्य सोमस्य पातारं त्वाम् । असुरा मा हिंसिषुः ॥ कात्यायनः ॥
 एत त्वमिति विष्टज्योपनिष्ठत इति ॥ कृष्णाजिने स्थापितं बद्धं सोमं विस्त्रि-
 स्योपस्थानं कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥ एत त्वं देव सोमदेवो देवाऽऽपपागाः । इद-
 मंहं मनुष्यान्तसह रायस्पोषेणेति ॥ हे सोमदेव, त्वं देवः सन् भवदीयान् देवान्
 षत् इदानीमुपागाः । प्राप्तोऽसि । अहं मनुष्यो यजमानो मदीयान्मनुष्या-
 निदमिदानीं सह रायस्पोषेण पश्चाद्भनेन सार्धं प्राप्तोऽस्मि ॥ कात्यायनः ॥
 स्वाहा निरिति निष्क्रम्येति ॥ हविर्धनिमण्डपाभिर्गत्येत्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ स्वाहा
 निर्वहणस्य पाशान्मुच्य इति ॥ स्वाहा सोमरूपमन्नं देवेभ्यो दत्तमस्तु ।
 अनेन सोमप्रदानेन अहं वरुणस्य पाशाभिर्मुच्ये निर्मुक्तोऽस्मि ॥ कात्याय-
 नः ॥ अग्ने व्रतपा इत्याहवनीये समिधमाधायेति ॥ पाठस्तु ॥ अग्ने व्रतपा-
 स्त्वे व्रतपाः । या तव तनूर्मध्यभूदेषा सा त्वयि या मम तनूर्स्त्वय्यभूदिय-
 सा मयि । यथायथं नौ व्रतपते व्रतान्यनु मे दीक्षां दीक्षापतिरमस्तातु त-
 पस्तपस्पतिरिति ॥ हे अग्ने, व्रतपाः स्वभावतः सर्वेषां व्रतानां पालकोऽमि ।
 तस्मादिदानीमपि त्वमेव व्रतपाः । त्वं मदीयस्य व्रतस्य पालको, भवेति शे-
 षः । शाखान्तरे तु त्वमित्येव पठितम् । अग्ने व्रतपते त्वं व्रतानां पतिरसीति
 पूर्वत्रापतय इत्यनुवाके यजमानोऽग्निशरीरस्वशरीरयोर्व्यत्ययं कृत्वा स्वकीयव्रत-
 पालनं प्रार्थयामास । इदानीं व्रतस्य पालितत्वात् तं व्यत्ययं परिहृत्य स्वशरीर-
 स्वीकाराभिप्रायेणाग्ने व्रतपाः—तव तनूरत्यादिमन्त्रभागं पठति। हे अग्ने व्रतपालन-
 प्रार्थनकाले तव सम्बन्धिनी या तनूर्मध्यवस्थिता सैषा तनूरद्य त्वय्यवतिष्ठताम् ।
 हे व्रतपते, हे व्रतपालकाग्ने, नौ व्रतानि आवयोः कर्माणि यथायथं स्वस्व-
 सम्बन्धमनतिक्रम्याऽवतिष्ठतामिति शेषः । अनुष्ठानरूपं व्रतं ममास्तु तत्पालन-
 रूपं व्रतं त्वास्तु इत्यर्थः । मे दीक्षां मदीयां दीक्षां दीक्षार्थं नियमं दीक्षा-
 पतिर्दीक्षायाः पालकोऽग्निस्त्वममेस्त अनुमतवानङ्गीकृतवानित्यर्थः । तपस्पति-
 स्तपसः पालकोऽग्निस्तपोऽनु मदीयं तपोऽनुमतवान् ॥ ५ ॥ ६ ॥ ७ ॥
 इति पञ्चमाध्याये नवमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥ ९ ॥

नवमे वैसर्जनहोमादिमन्त्रा उक्ताः ॥ दशमे श्रुपसंपादनमन्त्रा उच्य-

न्ते ॥ कात्यायनः ॥ ग्रहेषु यूपाहुति जुहोति चतुर्द्वितीः स्तुवेणोरु विष्ण-
 वित्तीति ॥ स्वग्रहेऽवस्थाय चतुर्वारं दृहीतमाज्यं स्तुवेण जुहुयात् । सेयं यूपा-
 हुतिः ॥ पाठस्तु ॥ उरु विष्णो विक्रमस्त्रोरु क्षपाय नस्कृधि । घृतं घृतयोने ।
 शिव प्र प्र यज्ञपतिं तिर स्वाहेति ॥ पूर्वानुवाके व्याख्यातः ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥
 आज्यशेषमादाय तक्षा गच्छति । यूपमभिमृश्यत्यन्यानितिमाक् तिष्ठन्नभिमन्त्र-
 यते इति ॥ यूपस्य तक्षणार्थं गत्वा यूपमभिमृशेदभिमन्त्रयेद्वा ॥ पाठस्तु ॥ अत्यन्यां
 ऽअगान्नान्यां ऽउपागाम । अर्वाक्त्वा परेभ्यः परोवरेभ्यः । तं त्वा जुषामहे देववनस्प
 ते देवयज्यायै । देवास्त्वा देवयज्यायै जुषन्तामिति ॥ वृक्षा द्विविधाः— यूपा
 अयूपाश्च । पलाशखदिरादयो यूपाः । निम्बजम्बीरादयस्त्वयूपाः । हे पुरो-
 षति यूपवृक्ष, त्वत्तोऽन्यान्काँश्चिद्वयूप्यान्पि समप्रदेशजन्मादिलक्षणरहितानत्य-
 गाम । अन्याँस्त्वयूपाओपागाम । कीदृशम् अर्वाक् परेभ्यः उत्कृष्टेभ्यो लक्ष-
 णेभ्यः प्रत्यासन्नम् तल्लक्षणयुक्तमित्यर्थः । पुनः कीदृशम् । परोवरेभ्यः अ-
 त्यन्तनिकृष्टेभ्यो लक्षणेभ्यो दूरवर्तिनं तद्गृहीतमित्यर्थः । किञ्च, हे वनस्पते,
 हे देव, तस्य पालक, दीप्यमानवृक्ष, तं तादृशं त्वां देवज्यायै देवयागार्थं जुषा-
 महे वयं सेवामहे । देवा अपि देवयागार्थं त्वां सेवन्ताम् ॥ कात्यायनः ॥ स्तुवे-
 णोपस्पृशति विष्णवे त्वेति ॥ हे यूपवृक्ष, त्वा त्वां विष्णवे यज्ञार्थमुपस्पृशामीति
 शेषः । यज्ञो वै विष्णुरिति श्रुतेः ॥ २ ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ ओषध इति
 कुशतरुणं तिरस्कृत्येति ॥ यूपवृक्षस्य कुशमन्तर्द्धानं कुर्यात्, त्रायस्वेति मन्त्रशेषः ।
 हे ओषधे त्रायस्व मां स्वधितिभयाद्रक्ष ॥ कात्यायनः ॥ स्वधित इति परशुना
 महरतीति ॥ पाठस्तु ॥ स्वधिते मैत्रं हिंसीरिति ॥ हे स्वधिते, हे परशो, एनं
 यूपं मा हिंसीः मा वधीः ॥ कात्यायनः ॥ दिवं मा लेखीरिति पतन्तम-
 भिमन्त्रयत इति ॥ पाठस्तु ॥ दिवं मा लेखीरन्तरिक्षं मा हिंसीः पृथिव्या स-
 म्भवेति ॥ हे यूपवृक्ष, त्वं पतन् दिवं द्युलोकं मा लेखीः । मा हिंसीः अन्तरिक्ष-
 लोकं च मा हिंसीः । पृथिव्या सम्भव सह सङ्गतो भव । यूपस्य वज्ररूप-
 त्वाद् अतो लोकानां शान्तिराशास्यत इत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥
 अयं हि त्वेति शोधनमभिमन्त्रणशेषो वेति ॥ अनेन मन्त्रेण यूपं शोधयेत् ।
 पूर्वमन्त्रेण सहाभिमन्त्रयेद्वा ॥ पाठस्तु ॥ अयं हि त्वा स्वधितिस्तेति जानः
 मणिनाय महते सौमगायेति ॥ हि यस्माद्, हे छिन्नवृक्ष, तेति जानस्तीक्ष्णो-
 ऽयं स्वधितिः कुठारस्त्वा त्वां महते सौमगाय दर्शनीयत्वाय तिर्यक्क्षा-

खोच्छेदनेन प्रणिनाय प्रकृष्टं यूपत्वं प्रापयामास । ततस्तादृशेन त्वया छेदनान्न
 भेतव्यम् ॥ कात्यायनः ॥ अतस्त्वमित्याव्रश्चने जुहोति यूपवच्चेति ॥ पाठ-
 स्तु ॥ अतस्त्वं देव वनस्पते शतवल्शो विरोहं सहस्रवल्शा वि वयं रुहेमेति ॥
 हे दीप्यमान वनस्पते, त्वम् अतोऽस्मात् स्थाणोः शतवल्शो बहुङ्कुरः शत-
 शाखो विरोह विशेषेण जायस्व । एवञ्च सहस्रवल्शाः पुत्रपौत्रादिभिर्बहुशाखो-
 पेता विशेषेण रुहेम । प्रजायेमहीति यजमानेनाशास्यत इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥
 इति पञ्चमाध्याये दशमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥ १० ॥

अथ विनियोगसंग्रहः—

अथ सौमिकवेद्यर्थमन्त्राणां प्रतिपादके ॥

पञ्चमेऽध्याय एतस्मिन्ननुवाका दशोरिताः ॥ १ ॥

आतिथ्यादिस्तथा तानूनप्त्रमुत्तरवेदिका ॥

तत्संस्कारा हविर्धानं ततश्चोपरि वा मदः ॥

धिष्ण्यवैसर्जनं यूप इत्यर्था अनुवाकगाः ॥ २ ॥

इति श्रीमद्राजाऽधिराज-परमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबुक्कभूपाल-
 साम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे काण्व-
 संहिताभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

अथ शुक्लयजुर्वेदकाण्वसंहिताभाष्ये षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ॥

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

सौमिकवेदिप्रधाने पञ्चमेऽध्याये आतिथ्यामारभ्य यूपनिर्माणमन्त्रा उ-
क्ताः ॥ अथाग्नीषोमीयपशुप्रधाने षष्ठे यूपसंस्कारमारभ्य सोमाभिषवाद्योग-
पर्यन्ता मन्त्रा उच्यन्ते ॥ तत्रास्मिन् प्रथमानुवाके यूपसंस्कारमन्त्रा उच्यन्ते ॥
कात्यायनः ॥ देवस्य त्वेत्यभिमादाय यूपान्वटं परिलिखति इदमहमिति ।
यवोऽसीत्यप्सु यवानोप्य प्रोक्षत्यग्रमध्यमूलानि दिवेति प्रतिमन्त्रमवटे शेष-
मासिञ्चति शुन्ध्यन्तामिति । वर्हीषि प्राञ्च्युदञ्चि च प्रास्यति पितृषदनमसीति ॥
एतेषां मन्त्राणां पाठस्तु—

(देवस्य त्वा सवितुः प्रमवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददे नार्य- ६
सीदमहं रक्षसो ग्रीवाऽपि कृन्तामि ॥ यवोऽसि यवयास्मद् द्वेवो यवयारातीः ।
दिवे त्वान्तरिक्षाय त्वा पृथिव्यै त्वा । शुन्ध्यन्तांल्लोकाः पितृषदनाः पितृषदनम-
सीति) ॥ एते मन्त्राः पूर्वत्र औदुम्बरीविषये यथा व्याख्यातास्तद्वदत्राऽपि
यूपविषये व्याख्यातव्याः ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ प्रथमं शकलं चाग्नेरीर-
सीति ॥ यूपान्वटे शकलं निक्षिपेदित्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ (अग्नेरीरसि स्वावेश ६
उन्नेतृणामेतस्य विच्चादधि त्वा स्थास्यतीति) ॥ हे यूपशकल, स्वावेशः शोभन
आवेशो यूपान्वस्थितिलक्षणो यस्मिन् तादृशस्त्वम् । यूपस्य त्रयो नेतारः
प्रथमशकलः स्वरुश्चपालश्चेति । तेषामूर्ध्वनेतृणां मध्ये अग्नेः प्रथमं नीयत
इत्यग्नेरीरसि । यूपस्य प्रथमावयवभूतो भवसीत्यर्थः । किञ्च, त्वा त्वां य-
स्मात् कर्मणि अध्वर्युरधिष्ठास्यति स्थापयिष्यति । त्वम् एतस्यैतत् कर्म वि-
च्चाद् विद्धि ॥ कात्यायनः ॥ देवस्त्वेत्यनक्तीति ॥ यूपमिति शेषः ॥ पाठ-
स्तु ॥ देवस्त्वा संहिता मध्वानक्तीति ॥ हे यूप, त्वा त्वां सविता प्रेरको देवो
मध्वा मधुरेणाज्येनानक्तु ॥ कात्यायनः ॥ चपालमुभयतोऽक्तं प्रतिमुञ्चति
सुपिप्पलाभ्य इतीति ॥ अधस्तादुपरिष्ठादाज्येन सिक्तं यूपस्याग्नेऽवस्थापयेत् ॥
पाठस्तु ॥ सुपिप्पलाभ्यस्त्वौषधीभ्य इति ॥ हे चपाल, त्वा त्वां सुपिप्पला-
भ्यः शोभनफलोपेताभ्यः औषधीभ्यो यूपस्याग्नेः प्रतिमुञ्चामीति शेषः ॥ का-
त्यायनः ॥ दिवमग्नेरेत्युच्छ्रयतीति ॥ उन्नतं कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥ दिवमग्नेणासृक्ष

आन्तरिक्षं मध्येनामाः पृथिवीमुपरेणादृशीरिति॥ हे यूप, तवाग्रेण दिवं भूलोक-
मस्पृक्षः स्पृष्टवानसि । तथाऽन्तरिक्षम् अन्तरिक्षलोकं मध्यप्रदेशेन आसमन्ताद-
माः पूरितवानसि । तथा पृथिवीं भूलोकमुपरेण तव मूलभागेन दृशीः दृढी-
कृतवानसि ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ (आ त इति भिनोतीति ॥ अवटे प्रक्षिपे-
दित्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ या ते धामान्युत्तमसि गमध्वै यत्र गावो भूरिशृङ्गा
अयामः । अत्राहैतदुरुगायस्य विष्णोः परमं पदमवभारि भूरीति ॥ हे यूप
तव सम्बन्धीनि यानि धामानि स्थानानि उत्तमसि उत्तमः बर्षं कामयामहे ।
गमध्वै गन्तुम् । यत्र येषु स्थानेषु उरुगायस्य उरुभिर्महात्मभिर्गेषस्य विष्णोः
परममुत्कृष्टं भूरि महत्पदम् अवभारि । अवभाति । तकारस्य छान्दसो रेफः
तादृशस्थानमाप्तिहेतुत्वेन कर्मणे, हे यूप, अवटे तिष्ठेत्यर्थः ॥ ३ ॥ कात्यायनः॥
ब्रह्मवनि त्वेति पांसुभिः पर्यूहति ब्रह्म दृहेति । मैत्रावरुणदण्डेन समन्तात् त्रिः
पर्यूहतीति ॥ एतयोर्मन्त्रयोः ॥ पाठस्तु ॥ ब्रह्मवनि त्वा क्षत्रवनि रायस्पोष-
वनि पर्यूहामि । ब्रह्म दृह क्षत्रं दृहायुर्दृह मजां दृहेति ॥ एतौ मन्त्रौ
पूर्वत्र यथौदुम्बरीविषये व्याख्यातौ तथाऽप्यास्मिन् यूपविषये व्याख्यात-
व्यौ ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥ (विष्णोः कर्माणीति वाचयति यूपमन्त्रारब्ध
इति ॥ हे ऋत्विजः, विष्णोः कर्माणि सृष्टिसंहारादिचरितानि पश्यत । यतो
यैः कर्मभिर्व्रतानि भवदीयलौकिकवैदिककर्माणि पस्पशे । स्पश बन्धन इति
धातुः । बद्धवान् निर्मितवानित्यर्थः । स विष्णुरिन्द्रस्य युज्यो योग्यः सखा । यद्वा
विष्णोर्यज्ञकर्माणि पश्यत, यतो यैर्वैर्व्रतानि आधानपशुमोमादीनि कर्मा-
णि आत्मनि पस्पशे बद्धवान् । शिष्टं समानम् ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥
तद्विष्णोरिति चषालमीक्षमाणमिति ॥ यूपकटकं प्रेक्ष्यमाणं यजमानं वाचये-
दिति शेषः ॥ पाठस्तु ॥ (तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततमिति॥ सूरयो विद्वांसो वेदान्तपारगाः विष्णोस्तत् परमं पदं
स्वरूपं सदा पश्यन्ति । कीदृशं, दिव्याकाशे बहिरावरणे प्रसृतं चक्षुरिवाततं
व्याप्तम् ॥ ६ ॥ कात्यायनः ॥ त्रिगुणा त्रिव्यायामा कौशीरशना तथा
नाभिमात्रे त्रिवृतं परिव्ययति परिवीरसीतीति॥ त्रिगुणा त्रिभिर्गुणैरवयवैरूपेना,
त्रिव्यायामा त्रिभिरायामैर्व्याप्ता कौशी कुक्षसंबन्धिनी वा रक्षना तथा नाभि-
प्रमाणे आवृत्तित्रयं यथा भवति तथा परिविष्टयेत् ॥ पाठस्तु ॥ (परिवीरसि
परि त्वा दैवीविशो व्ययन्ताम् । परीमं यजमानं रायो मनुष्याणामिति ॥ हे यूप

स्वं परिवीरसि परितो रशनया बीतो वेष्टितो भवसि । दैवीर्विशो देवसंबन्धि-
नीः प्रजा मरुद्गणादयस्त्वां परितो व्ययस्तां वेष्टयन्तु । तद्वदिमं यजमानं मनुष्या-
णां संबन्धीनि राषो धनानि परिवेष्टयन्तु ॥ कात्यायनः ॥ यूपशकलम-
स्यामुपगूहत्युत्तरेणाग्निस्त्वां दिवः सूनुरसीति । अष्टास्त्रैर्यूपस्य याऽस्त्रिरग्नि-
मीपस्थिता तस्या उत्तरभागे रशनार्था स्वरूनामकं शकलमवमजेत् ॥ पाठ-
स्तु ॥ दिवः सूनुरस्येव ते पृथिव्यां लोकऽआरण्यस्ते पशुरिति ॥ हे शक-
ल त्वं दिवः सूनुरसि द्युलोकस्य पुत्रोऽसि । ते तव पृथिव्याम् एष लोक आ-
श्रयस्थानमित्यर्थः । ते तव आरण्यः अरण्यसंबन्धी पशुः ॥ ७ ॥ इति षष्ठा-
ऽध्याये प्रथमोऽनुवाकः ॥ ६ ॥ १ ॥

प्रथमेऽनुवाके यूपसंस्कारमन्त्रा उक्ताः ॥ द्वितीये पशूपकरणादिमन्त्रा
वच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ (उपावीरसीति तृणमादायेति ॥ हे तृणविशेष, त्वम्
उपावीरसि उप समीपम् अवति गच्छतीत्युपावीः तादृशोऽसि ॥ कात्याय-
नः ॥ तेन पशुमुपस्पृशति उपदेवानितीति ॥ गृहीतेन तृणेन पशुमुपस्पृशेत् ॥
पाठस्तु ॥ उप देवां दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्निमान् । देव त्वष्टर्वसु रम
हव्या ते स्वदन्ताम् (रेवती रमध्वं बृहस्पते धारया वसूनीति) ॥ वह्निमान् यज-
मानं स्वर्गं प्रति वहतां प्रापयतां देवानां मध्ये श्रेष्ठतमोऽस्तानुशिजः हवींषि
कामयमानान् देवानग्नीषोमादीन् दैवीर्विशस्तत्संबन्धिनीः प्रजाश्च, हे पशो,
त्वदीयानि हृदयाद्यङ्गानि उपमागुः उपामच्छन्तु । हे त्वष्टृनामकदेव, वसु
पशुलक्षणं धनं रम रमयस्व । हे पशो, त्वदीयानि हव्यानि हवींषि स्वदन्तां
स्वादूनि भवन्तु । हे रेवतीः क्षीरादिधनवन्तो, हे पशवो, यूयं यजमानगृहे
संकीडध्वम् । हे बृहस्पते, वसूनि हृदयादिद्रव्याणि धारय पोषय ॥ कात्या-
यनः ॥ द्विगुणरशनया द्विव्यामया कौश्या पाशं कृत्वाऽन्तरा शृङ्गमभि-
दक्षिणं पादं बध्नाति ऋतस्य त्वेतीति ॥ अवयवद्वयोपेतया व्यामद्वयपरिमितया
कुशदर्भनिर्मितरशनया दक्षिणं पादं बध्नीयात् । शृङ्गद्वयमध्ये तां रशना-
मानीय बन्धनकारणरशनाग्रवर्तिनं पाशं कृत्वा तेन बध्नीयात् ॥ पाठस्तु ॥
(ऋतस्य त्वा देवहविः पाशेन प्रतिमुञ्चामि धर्षिमानुष इति) ॥ हे देवहविः
देवानां हविःस्वरूप हे पशो, ऋतस्य सत्यस्य पङ्कस्य । अवश्यम्भाविफलोपेत-
त्वाद्यङ्गस्य सत्यत्वम् । तत्सिद्ध्यर्थं त्वां पाशेन प्रतिमुञ्चामि बध्नामि । किञ्च
मानुषः पित्रादिधर्षात् । जिघृषा प्रागल्भ्य इत्यस्य रूपम् । अत्रोचितव्यापारं

कुर्वादिस्पर्धः ॥ कात्यायनः ॥ देवस्य त्वेति यूप इति ॥ पशुं बध्नीयादिति
 शेषः ॥ पाठस्तु ॥ (देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पृष्णेो हस्ता-
 भ्याम् । अग्नीषोमाभ्यां जुष्टं नियुनग्मीति) ॥ अग्नीषोमदेवताभ्यां जुष्टमभि-
 रुचिर्त्तं पशुं नियुनग्मि पशुं बध्नामि शिष्टं व्याख्यातम् ॥ कात्यायनः ॥ अज्य-
 स्त्वेति पशुं प्रोक्षणीभिः प्रोक्षतीति ॥ पाठस्तु ॥ (अज्यस्त्वौषधीभ्यः प्रोक्षाम्यनु
 त्वा माता मन्यतामनुपितातुभ्राता सगर्भ्योऽनुमत्वा मयूध्यः) ॥ अग्नीषोमा-
 भ्यां त्वा जुष्टं प्रोक्षामीति ॥ हे पशो, त्वामग्निरोषधीभिश्च प्रोक्षामि मेध्यं
 करोमि । दर्भैरपामुत्पूतत्वादस्योषधीनामपि प्रोक्षणमाधनत्वम् । स्वमातृस्वी-
 कृताभ्यां तृणोदकाभ्यां पशोरुत्पन्नत्वात् तेनोभयेन युक्तमिति (तित्तिरिरप्या-
 ह ॥ अज्यस्त्वौषधीभ्यः प्रोक्षामीत्याहाज्यो ह्येष ओषधीभ्यः सम्भवति यत्
 पशुरिति) ॥ किञ्च, हे पशो, एवं प्रोक्ष्यमाणं त्वां माता भूमिः अनुमन्यताम् ।
 तथा पिता द्यौरनुमन्यताम् । एवमुत्तरत्रानुमन्यतामिति प्रत्येकं सम्बध्यते ।
 भ्राता समानजन्मा सगर्भ्यः समानगर्भे उदरे भवः सोदरः सहैव व्याख्याय-
 त इति सत्त्वा मुह्यन् । समानयूधे भवः मयूध्यः । अग्नीषोमाभ्याम् एवममृतं
 त्वां जुष्टमभिरुचिर्त्तं प्रोक्षामि ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ (अपं पेरु-
 रित्यास्य उपशृङ्गातीति ॥ पशोर्मुखे उदकं ग्राहयेत् । अमीति मन्त्रशेषः । हे
 पशो, त्वम् अपां पेरुरमि । पेरुः पानशीलः । उदकपानशीलो भवमि ॥
 कात्यायनः ॥ आपो देवीरित्यधस्तादुपोक्षतीति ॥ पशोरधोभागं प्रोक्षयेत् ॥
 पाठस्तु ॥ आपो देवीः मदन्तु । स्वात्तं चित्सदेवहविरिति ॥ हे पशो, त्वाम्
 आपो देवीः अन्नूपाः देव्यः मदन्तु आस्वादयन्तु । स्वात्तं स्वकीयतया
 ग्रामं, चित् अनिस्वादु सत् । देवहविः । देवानामिव योग्यं हविर्भूयान् ॥
 अज्यस्त्वेत्यनन्मन्त्रत्रयेणावश्यमनुष्ठेयमिति । तान्तरिराह ॥ उपरिष्ठात् प्रोक्ष-
 त्पुपरिष्ठादेवं मेध्यं करोति पावयत्युत्तरत एवैनं मेध्यं करोत्यधस्तादुपोक्षति
 मर्वन् एवैनं मेध्यं करोतीति ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥ उत्तराध्वारमाधाय पशुं
 पृथं समनक्ति । ललाटांमश्रोणिषु सं त इति प्रतिमन्त्रमिति ॥ ललाटे ता-
 वदयं मन्त्रः ॥ पाठस्तु ॥ (सं ते प्राणो वातेन गच्छतामिति) ॥ हे पशो ते तव
 प्राणो वातेन वायुना संगच्छताम् । अंमयोरयं मन्त्रः ॥ समज्जानि यजत्रैरिति ॥
 अंसाद्यज्जानि यजत्रैर्यागैः सज्जच्छताम् । श्रोण्योरयं मन्त्रः ॥ सं यजमान
 आशिषेति ॥ अयं यजमानो दीर्घेणाऽऽयुषा संगच्छताम् ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥

आहर शाखां समाहर यूपशकलमाहरत्युक्तोभौ जुहुये ताभ्यां पशोर्ललाटमुप-
स्पृशान घृतेनाक्ताविति ॥ अध्वर्युरितरं प्रति, पलाशशाखां यूपशकलं च स-
माहरेति ब्रूयात् । ततः समाहृतौ तावुभौ जुहाग्रभागे आज्येनाक्ताभ्यां ताभ्यां
पशोर्ललाटमुपस्पृशेत् ॥ पाठस्तु ॥ (घृतेनाक्तौ पशुं त्रायेथामिति) । हे शास्त्रे यूप-
शकल, युवामुभौ घृतेनाक्तौ सन्तौ पशुमेनं त्रायेथां पालयेथाम् ॥ ६ ॥ का-
त्यायनः ॥ रेवति यजमाने इति वाचयति ॥ पाठस्तु ॥ (रेवति यजमाने प्रियं
धा आविश्) । उरोरन्नरिक्षात् मजूर्देवेन वातेन । अस्य हविषस्मना यज स-
मस्य तन्वा भवेति ॥ रेवतीशब्दो धनवतीं वाग्देवतामाचष्टे ॥ वाग् वै देवतेति
श्रुतिः । हे रेवति वाग्देवते, यजमानेऽस्मिन् प्रियमधिपेतं धाः धेहि । आविष्
ज्ञानप्रदानेन यजमानं प्रविश । हे रेवति, वातेन वायुना देवेन मजुः समान-
मीतिभूत्वा उरोर्विस्तीर्णादन्नरिक्षायजमानं गोपायेति शेषः । किञ्च, अस्य पशु-
लक्षणस्य हविषः त्मना आत्मना यज आत्मना यजमानस्य पशोस्तन्वा शरीरेण
संभव । हे रेवति, यजमानरूपेण आत्मरूपेण पशुरूपेण च यजेत्यर्थः ॥७॥ का-
त्यायनः ॥ तृणमुपास्य वर्षो वर्षीयसीति ॥ विशमनीयस्य पशोर्भूमिस्पर्शपरि-
हारार्थमवस्तादभूमिं प्रक्षिपेत् ॥ पाठस्तु ॥ वर्षो वर्षीयसि यज्ञे यज्ञपतिं धा इति ॥
हे वर्षो, तृणजन्ये तृणदेवते, वर्षीयसि विस्तीर्णतरे यज्ञे यज्ञपतिं यजमानं धाः ।
धेहि ॥ कात्यायनः ॥ स्वाहा देवेभ्य इति जुहोतीति ॥ पशुसंज्ञपनात् प्रा-
क्कालीनोऽयं होमः ॥ कात्यायनः ॥ देवेभ्यः स्वाहा जुहोतीति ॥ मन्त्रयोर-
नयोः सत्यव्यर्थैक्ये पाठभेदस्य तात्पर्यं तित्तिरिराह ॥ पुरस्तात् स्वाहाकु-
तयो अन्ये देवा उपरिष्ठात्स्वाहाकुतयोऽन्ये स्वाहा देवेभ्यो देवेभ्यः स्वाहेति ॥
कात्यायनः ॥ नियोजनं चात्वाले प्राप्स्यति माहिर्भूरिति ॥ नितरां योजनं
नियोजनं बन्धनम् । तद्धेतुभूतां रज्जुं चात्वाले प्रक्षिपेत् ॥ पाठस्तु ॥
माहिर्भूर्मा पृदाकुरिति ॥ हे रज्जो, त्वम् अहिः सर्पाकारो माभूर्मा भूयाः ।
पृदाकुरज्जगरोऽपि मा भूयाः ॥ ८ ॥ इति षष्ठाध्याये द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

द्वितीये पशुपकरणादिमन्त्रा उक्ताः ॥ तृतीये संज्ञप्रपञ्चाख्यद्विजिःसंस्कार-
मन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ पाक्षेजनहस्तां वाचयति नयश्चमस्त अ-
तानेतीति ॥ पादमङ्गलाने तु पशुशुद्ध्यर्थं आपः पाक्षेजनशब्देनोच्यन्ते । त-
दुदकधारणं पात्रं पाक्षेजनं, तद्धस्ते यस्याः पत्न्याः सा पाक्षेजनहस्ता । ताम्
ऋत्विग्यदासनमानयति तदानीमेतं मन्त्रं वाचयेत् ॥ पाठस्तु ॥ नमस्त आताना-

अनर्वा मेहि । घृतस्य कुल्या उपक्रुतस्य पथ्या उपदेवीरापः शुद्धा बोद्धुः सुपरिविष्टा देवेषु सुपरिविष्टा वयं परिवेष्टारो भूयास्मेति ॥ आसमन्तात्तन्यत इत्यातानो यज्ञः हे तादृशयज्ञ, ते तुभ्यं नमः । नमस्कारोऽस्तु । त्वम् अनर्वा शत्रुरहितः सन् मेहि समाप्तिपर्यन्तं प्रकर्षेणागच्छ । इमं मन्त्रभागं शत्रुरहितार्थमिति तित्तिरिराह । अनर्वा प्रेक्षित्याह भ्रातृव्यो वा अभ्रातृव्यापनुत्प्या इति ॥ घृतस्य कुल्याः घृतनदीः उपगच्छ । किञ्च, क्रुतस्य यज्ञस्य पथ्याः पथि भवास्ता नदीरूपमे-
हीति सम्बन्धः । अत्र बहुघृतमाहुतमित्यभिप्रायः । एवं यज्ञं स्तुत्वेदानीमापः स्तूयन्ते । हे सुपरिविष्टाः पात्रेषु पूरिता देवीः । हे देव्य आपः, ययं स्व-
भावतः संस्कारतश्च शुद्धाः सत्यो देवेषु विषयभूतेषु पथुं वोढुम् । वह माप-
णे । वहतां देवेषु मध्येऽवस्थिताः परिवेष्टारस्तेषां देवानां परिवेषणकर्तारो भू-
यास्म ॥ १ ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ पशोः प्राणान् शुन्धाति पत्री मुखनासिके
चक्षुषी कर्णौ नाभि मेढं पायुं पादान् संहत्य वाचं ते शुन्धामीति प्रतिमन्त्र-
मिति ॥ पशुसम्बन्धीनि प्राणस्थानानि मुखादिच्छिद्राणि पत्री तत्तन्मन्त्रेण
शोधयेत् । वाचं ते शुन्धामीत्यादि चरित्रास्ते शुन्धामीत्यन्ता अष्टौ मन्त्राः ॥
तेषां पाठस्तु ॥ वाचं ते शुन्धामि प्राणं ते शुन्धामि चक्षुस्ते शुन्धामि श्रोत्रं ते
शुन्धामि मेढं ते शुन्धामि पायुं ते शुन्धामि चरित्रास्ते शुन्धामीति ॥ हे पशो,
ते तव सम्बन्धिनी वाचं वागिन्द्रियं शुन्धामि । शुद्धं करोमि । तथा त्वदीयं पञ्च-
वृत्तिकं प्राणं शुन्धामि । तथा चक्षुरिन्द्रियं, श्रोत्रेन्द्रियं, नाभिच्छिद्रं, मुखेन्द्रियं,
चरित्रान् चरणसाधनभूतान् पादान् । एवंविधानि त्वदीयानि सर्वेन्द्रियाणि
शुन्धामि ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ शेषेण यजमानश्च शिरःप्रभृत्यभिषिञ्चतीति ॥
पत्न्या पञ्चवयवजातं येनादेकेन शोधितं तेनोदकशेषेणाध्वर्युयजमानौ पशोः
शिरआद्यङ्गान्यनुक्रमेण सिञ्चेताम् । तदुच्यते ॥ कात्यायनः ॥ मनस्त इति शिर इति
॥ मनस्त आप्यायतामित्यनेन मन्त्रेण शिर अनुसिञ्चेतामित्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥
मनस्त आप्यायतां वाक् त आप्यायतां प्राणस्त आप्यायतां चक्षुस्त आ-
प्यायतां श्रोत्रं त आप्यायतामिति ॥ हे पशो, ते त्वदीयं मन आप्यायतां
शाम्यतु । एवं त्वदीयानि वाक्प्राणचक्षुःश्रोत्राणि शाम्यन्त्वित्यर्थः ॥ का-
त्यायनः ॥ यत्ते क्रूरमिसङ्गानीति ॥ मनःप्रभृतीनां मध्ये यान्यर्वाङ्गान्य-
ङ्गानि तान्यवसिञ्चेताम् ॥ पाठस्तु ॥ यत्ते क्रूरं यदास्थितं तत्त आप्याय-
तां तत्ते निष्ठयायतां तत्ते शुध्यत्विति ॥ हे पशो, ते तव यद् बन्धनमुखनिरोधादि-

कं क्रूरमस्माभिः कृतं, यच्च छेदादिकमास्थितं कर्तुमुपस्थितं तत् सर्वमाप्या-
यतां ज्ञाम्यतु । किञ्च तत्सर्वं तव पृथ्वायतां स्तोत्रं भवतु । तत्सर्वं शुद्धं भव-
तु ॥ कात्यायनः ॥ शमहोभ्य इति पश्चात् पशोर्निषिञ्चन इति ॥ पशोर्जघन-
भागमध्वर्युयजमानौ अभिषिञ्चेताम् ॥ पाठस्तु ॥ शमहोभ्यः ॥ दिवसादि-
कालविशेषेभ्यः शं सुखमस्माकं पशोर्वा भूयादिति शेषः ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥
अग्रेण नार्भि तृणं निदध्यात्पोषध इति ॥ नाभेरग्रे दर्भतृणं निदध्यात् ।
त्रायस्वेति मन्त्रशेषः ॥ कात्यायनः ॥ स्वधित इति प्रज्ञातयाभिनिधाय स्थितेति
॥ पूर्वमसिद्धां स्वधितिं तृणस्योपरिस्थापयित्वा तथा मसिद्धया स्वधित्वा नार्भि
छिन्ध्यात् ॥ पाठस्तु ॥ स्वधिते पैनः हिंसीरिति ॥ एनं पशुम् । अन्यमन्त्र-
द्वयेऽपि पूर्वं इव व्याख्यातम् ॥ कात्यायनः ॥ अग्रं सव्ये कृत्वा दाक्षिणेन मूल-
मुभयतोऽनक्ति लोहितेन रक्षमाभिनीति ॥ यत् तृणं नाभेरग्रं स्थापितं
तस्य तृणस्याग्रं वामहस्तेन धृत्वा दाक्षिणहस्तेन मूलं धृत्वा अग्रमूलद्वयं
छेदनाग्निष्पन्नेन रक्तेनाज्ज्यात् भागोऽमीति मन्त्रशेषः । हे लोहिताक्ततृणं, त्वं
रक्षसां भागोऽमि ॥ कात्यायनः ॥ निरस्तमित्यपास्यतीति ॥ लोहिताक्ततृणं
परित्यजेत् । रक्ष इति मन्त्रशेषः । यद्यज्ञविघातकं रक्षोऽस्ति तन्निरस्तं परित्य-
क्तम् ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥ इदमहमित्यभितिष्ठतीति ॥ यजमान इति शेषः ।
परित्यक्तं तृणम् । अभिन आक्रम्य यजमानस्तिष्ठेत् ॥ पाठस्तु ॥ इदमहं
रक्षोभितिष्ठामीदमहं रक्षोऽववाधे । इदमहं रक्षोऽधमं तमो नयामीति । तृण-
रूपं रक्षः अध्वर्युणा निरस्तं, तदिदं रक्षः अहं यजमानोऽभिनः पादेनाक्रम्य
तिष्ठामि । न केवलं स्थितिमात्रं, किन्तु अहम् इदं रक्षः अववाधे अवाचीनं
यथा भवति तथा नाशयामि । अहम् इदं रक्षः अधमम् अत्यन्तं निकृष्टं
तमो नयामि नरकं प्रापयामि ॥ ६ ॥ कात्यायनः ॥ वपामुत्तिवद्य वपाश्र-
पण्यौ प्रोर्णौति, घृतेन द्यावापृथिवी इति । उदरदेशेऽवस्थितो वपारूपो यां
मांसविशेषः तां श्रपयतीति वपाश्रपणी वपामुदरदेशात् पृथक्कृत्य वपा-
सदृशतया वपाश्रपण्यवच्छादयेत् । प्रोर्णयामीति मन्त्रशेषः ॥ हे द्यावापृथिवी
द्युलोकभूलोकसदृश्यौ वपाश्रपण्यौ भवदीयस्वरूपं घृतेनाज्यममानया वपया
प्रोर्णयामाच्छादयतम् ॥ कात्यायनः ॥ तृणाग्रं चाध्वर्युर्वायो वेरिनीति ॥
अध्वर्युर्वर्हिषोऽग्रभागम् । आहवनीये प्रास्यतीति शेषः । तथा बौधायनोऽप्या-
ह ॥ आहवनीयस्यान्तिमेष्वङ्गारेषु यैः प्रतितप्यमाना ये बर्हिषोऽग्रमुपास्य-

तीति ॥ स्तोकानामिति मन्त्रशेषः । हे वायो वपायास्तोकानां वपासम्बन्धिनं
संघातमिति शेषः । वेः वृद्धिं पिबेत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ वपां स्रुवेणाभि-
धारयति जुषाणो अग्निरितीति ॥ पाठस्तु ॥ जुषाणो अग्निराज्यस्य वेतु
स्वाहेति ॥ जुषाणः सेवमानः आहवनीयोऽग्निः, आज्यस्याज्यं वेतु पिबतु
स्वाहा हुतमस्तु ॥ कात्यायनः ॥ वपाश्रपण्यावनुमास्यति । मार्ची विशाखी प्रती-
चीमितराः स्वाहाकृतेऽपीति ॥ द्वयोः श्रपण्योर्मध्ये या विशाखा विविधशाखा
विगतशाखा वा तामाहवनीयस्य प्राग्भाग इतरां प्रत्यग्भागे मक्षिपेत् । तथाच
बौधायनः । आहवनीये वपाश्रपणी महरेत् । तथेति स्वाहोर्ध्वनभसं मारुतं गच्छ-
तामिति । मार्ची द्विशाखां प्रतीचीम् एकशूळामिति ॥ पाठस्तु ॥ स्वाहाकृते
ऊर्ध्वनभसं मारुतं गच्छतामिति ॥ हे वपाश्रपण्यौ, स्वाहाकृते स्वाहाकारेण
माप्ते युवाम् । ऊर्ध्वनभसम् । ऊर्ध्वं नभः आकाशो यस्य तादृशं वायुं गच्छतं
माप्नुतम् ॥ ७ ॥ इति षष्ठेऽध्याये तृतीयोऽनुवाकः ॥ ६ ॥ ३ ॥

तृतीयेऽनुवाके संज्ञसपञ्चवारुणहविःसंस्कारमन्त्रा उक्ताः । चतुर्थे वसा-
होमो विधीयते ॥ कात्यायनः ॥ सं ते मन इति हृदयमाभिघ्रायेति ॥ हृदय-
मांसं पृषदाज्येनाभिधारयेत् ॥ पाठस्तु ॥ (सं ते मनो मनसा सं प्राणः प्राणेन
गच्छतामिति । हे हृदय, ते पशोस्तव मनो देवानां मनसा संगच्छताम् । त्वदी-
यः प्राणोऽपि देवानां प्राणेन संगच्छतामस्तु ॥ कात्यायनः ॥ रेळमीति व-
सां गृहीत्वेति ॥ मांसपाकभाण्डे स्थितमस्नेहात्मको द्रवविशेषो वसा, तां गृही-
यात् ॥ पाठस्तु ॥ रेळस्यग्निष्ट्रा श्रीणात्वापस्त्वा समरिणन् । वातस्य त्वा
प्राज्यै पूष्णो रश्वा ऊष्मणो व्यधिषादिति ॥ हे वसे, त्वं रेळसि । रिषतिर्हि-
सार्थः । हिंसिता भवसि । तस्मादाहवनीयोऽग्निस्त्वा श्रीणातु आश्रयतु स्वी-
करोतु । आपश्च त्वा समरिणन् सम्यक् प्राप्नुवन्तु । तव शेषो मा भूत् । हे
वसे त्वा दधीमीति शेषः । किमर्थं वातस्य वायोप्राज्यै गत्यै, पूष्ण आदित्य-
स्य रश्वा गत्यै । रंहतिर्गतिकर्मा । वाय्वादित्ययोरप्रतिहतगमनसिद्ध्यर्थं त्वां
दधामीत्यर्थः । ऊष्मणः ऊष्मान्तरिसं तदर्थं त्वां गृह्णामीति । विशेषेणाभि-
व्येन सीदतीति व्यधिषत् । वसारूपं हविः तथाविधं भवत्वित्यर्थः ॥ कात्या-
यनः ॥ मयुतमिति संसृजति पाश्चर्णेनेति ॥ पाश्चर्गतेन मांसेन मिश्रीकुर्यात् ।
पाश्चर्णेन वसाहोमं मयौतीति श्रुत्यन्तरात् । द्वेष इति मन्त्रशेषः । द्विष अप्रीतौ ।
वसापाश्चर्मांसयोः परस्परं मिश्रणेन यदभियमस्ति तदुभयोः सकाशात् मयुतं

पृथग्भूतं भवतु ॥ १ ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ वसैकदेशं जुहोति घृतं घृतपावान् इतीति ॥ स्वीकृतायाः वसायाः एकभागं जुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥ घृतं घृतपावानः पिबत वसां वसापावानः पिबत । अन्तरिक्षस्य हविरसि स्वाहेति ॥ हे घृतपावानः । पा पांन इत्यस्य रूपम् । घृतस्य पातार उपभोक्तारो यूयं घृतं ह्वरूपं हविः पिबत । हे वसायाः पातारो देवता अत्रत्यं वसारूपमिदं हविः पिबत । हे पशो, त्वम् अन्तरिक्षवासिनो देवगणस्य हविरसि ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ दिशो व्याघ्रयति दिश इति प्रतिमन्त्रमितीति ॥ जुहुयादित्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ दिशः प्रदिश आदिशो विदिश उदिशो दिग्भ्यः स्वाहेति ॥ वसाशेषेण सर्वाभ्यः प्राच्यादिदिग्भ्यो, दिश इत्यादिमन्त्रवद्वेकेन होमं कुर्यात् ॥ कात्यायनः ॥ ऐन्द्रः प्राण इति पशुं संमृशतीति ॥ पशुरूपं हविः संस्पृशेत् ॥ पाठस्तु ॥ ऐन्द्रः प्राणोऽअङ्गे अङ्गे निधीत ऐन्द्र उदानो अङ्गे अङ्गे निदीधे । देव त्वष्टृर्भूरि त मत्समेतु सलक्ष्मा यद्विपुरुषं भवति । देवत्वायं तमवसे सखायोनृत्वा मातापितरो मदंतिवति ॥ ऐन्द्रः इन्द्रमं वन्धी प्राणवायुः अने अङ्गे पशोः सर्वेष्वङ्गेषु निधीतो निहितः । तथा इन्द्रमं वन्धी उदानवायुः पशोः सर्वेष्वङ्गेषु निसिप्तः । हे त्वष्टः, त्वष्टृनामक देव यत्पशोरङ्गजातं सलक्ष्म समानलक्षणं सत् छेदने विपुरुषं सर्वतो व्यापितेजोरूपं भवति भवति । तत्सर्वं तवानुग्रहेण भूरि वहन् । अत्यतं, समित्येकीभावे, एकीकृत्य समेतं संगच्छताम् । हे पशो, देवत्रायंतं देवेषु गच्छन्तं त्वां सखाय इतरे पशवो मातापितरश्च अनुमदन्तु । हर्षं कुर्वन्तु । अवसे त्वन्मुखेन स्वर्गमाप्स्या स्वकुलं सर्वमवतु ॥ ४ ॥ ५ ॥ इति षष्ठाध्याये चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ६ ॥ ४ ॥

चतुर्थे वसाहोममन्त्रा उक्ताः ॥ पञ्चमे गुदकाण्डेनोपपट्टमङ्गका होमा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ गुदतृतीयस्य परिच्छेदमनुयाजेषु अनुसमुद्रं गच्छेति प्रतिमन्त्रं प्रतिवषट्कारं हुत्वेति ॥ गुदकाण्डस्य तृतीयभागमेकादशधा तिर्यक्छित्वा अनुयाजानामेकैकस्मिन् वषट्कारे सति समुद्रं गच्छ स्वाहेति एतदादिभिरग्निं वैश्वानरं गच्छ स्वाहेत्येतदन्तरेकादशभिर्मन्त्रैरैकैकं गुदकाण्डभागं प्रतिप्रस्थाता जुहुयात् ॥ एतेषां पाठस्तु ॥ समुद्रं गच्छ स्वाहा देवः सवितारं गच्छ स्वाहा । अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा । मित्रावरुणौ गच्छ स्वाहा । अहोरात्रे गच्छ स्वाहा छदाऽसि गच्छ स्वाहा । द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा सोमं गच्छ स्वाहा । यज्ञं गच्छ स्वाहा नभो दिव्यं गच्छ स्वाहा । अग्निं

वैश्वानरं गच्छ स्वाहेति ॥ हे हविस्त्वं समुद्रादिनामकान् देवान् गच्छ प्राप्नु-
हि । सुहुतयस्तु ॥ कात्यायनः ॥ मनो इति मुखोपस्पर्शनमिति ॥ अथ बङ्ग-
होमान्ते मुखमुपस्पृशेत् । हार्द्येति मन्त्रशेषः । हे समुद्रादिदेवताः, समूहहृदः
सम्बन्धिहृदयात् हार्द्यं मे मदीयं मनः यच्छ निबध्नीहि ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥
स्वरं जुहोति दिवं ते धूम इतीति ॥ पाठस्तु ॥ दिवं ते धूमो गच्छत्वन्तरिक्षं
प्योतिः पृथिवीं भस्मना पूण स्वाहेति ॥ हे स्वरो, ते तव सम्बन्धी धूमो दिवं
द्युलोकं गच्छतु । तव भस्मना पृथिवीं भुलोकम् । अपूण समन्तात् पूर-
य ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ शुष्कार्द्रसन्धयो हृदयशूलमुपगृहति । मापो मौष-
धीरिति ॥ आलब्धस्यं पशोः हृदयस्थमांसदानार्थं यः शूलो विहितः तं शु-
ष्कार्द्रभृषदेशयोः सन्धौ निगृहेत् ॥ पाठस्तु ॥ (मापो मौषधीर्हिंसीरिति ॥
हे हृदयशूल, त्वम् । आपो देवता मा हिंसीः मा वधीः ॥ कात्यायनः ॥
धाम्नो धाम्नः सुमित्रिया न इत्युपस्पृशन्त्यप इति ॥ आभ्यां मन्त्राभ्यां
मार्जयेरन् ॥ पाठस्तु ॥ धाम्नो धाम्नो राजस्ततो वरुण नो मुञ्च । यदाहु-
रन्या इति वरुणेति शपामहे ततो वरुण नो मुञ्च । सुमित्रिया न आप
ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु । योऽस्माद्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः । इदमापः
मवहत यत्किञ्च दुरितं मयि । यद्वाहमभिदुद्रोह यद्वाशेषऽउतानृतमिति ॥ हे
राजन् वरुण धाम्नो धाम्नो यस्मात् त्वदीयपाशममन्वितात् स्थानाद् वयं
भीताः । ततस्तस्मात् स्थानान्नः अस्मान् मुञ्च मोक्षय । किञ्च, हे वरुण
भवदाद्याः सर्वा देवता अहन्त्याः अहन्तव्याः । पूजनीया इत्यर्थः । इति यदाहुः
ब्रह्मवादिनो वदन्ति इत्येवं मति अस्माकमिष्टपरिहारार्थं वयं ता देवताः श-
पामहे । ततस्तस्मात् पापात्, हे वरुण, नः अस्मान्मुञ्च । अब्देवता ओषध-
यश्च नोऽस्माकं सुमित्रियाः सन्तु । सुमित्रेषु योग्याः भवन्तु । यः शत्रुरस्मान्
द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः । द्वेषं कुर्मः । तस्मादुभयात्मका ये शत्रवस्तेषाम् आपः
ओषधयश्च नो दुर्मित्रियाः सन्तु । अमित्रत्वेनावस्थिता भवन्तु । हे आपः, इदं
पशुमङ्गपननिमित्तं पापं वहत अपनयत । यत्किञ्चिद् दुरितम् अभिशपा-
दिरूपं पापं मयि स्थितं तदपनयत । वा अथवा यत्प्राणिमात्रम्, अहमभि-
दुद्रोह हिमां कृतवानस्मि । उत वाऽहं यदनृतम् अनृतवादिनं यमपराधिनं शेषे
शापं कृतवानस्मि । हे आपः, तदेतदुद्रोहादिकृतं पापम् अपनयत ॥ ३ ॥ ४ ॥ ५ ॥
इति षष्ठाध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ६ ॥ ५ ॥

पञ्चमे गुदकाण्डहोमो वर्णितः । एतावताग्नीषोमीयः पथः समाप्तः । अथ होमाभिषवोपयुक्तानां वसतीवरीसंज्ञकानाम् अपामुपादानं षष्ठेऽभिधीयते ॥ कात्यायनः ॥ वसतीवरीग्रहणं हविष्मतीरितीति ॥ सोमाभिषवणसाधनभूता वसतीवरीसंज्ञका आपो मृङ्गीयात् ॥ पाठस्तु ॥ हविष्मतीरिमा आपो हविष्मां आविवासति । हविष्मां देवो अध्वरो हविष्मां अस्तु सूर्य इति ॥ हविष्मान् हविषा संयुक्तो यजमानः हविष्मतीः हविषा सोमेन युक्ता इमा वसतीवरीः अपः आविवासति परिचरति । ततो देवो द्योतमानो अध्वरो यागोऽपि स्वशरीरानिष्पत्त्यर्थं हविष्मान् भवतु । किञ्च सूर्योऽपि देवो यजमानस्य फलदानाय स्वसंतृप्त्यर्थं हविष्मान् हविःसंपन्नो भवतु ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ अग्नेर्व इति निदधाति । शालाद्वार्यमपरेणेति ॥ नूतनगार्हपत्यस्य पश्चिमभागे वसतीवरीसंज्ञका आपो निदध्यात् ॥ पाठस्तु ॥ अग्नेर्वोऽपन्नगृहस्य सदसि सादयामीति ॥ हे वसतीवर्यः, वो युष्मान् अपन्नगृहस्य अविनश्वरगृहस्य शालामुखीयाग्नेः सदसि समीपस्थाने सादयामि स्थापयामि ॥ कात्यायनः ॥ दक्षिणस्यामुत्तरवेदिश्रोण्ये निदधातीन्द्राग्न्योरितीति ॥ शालामुखीयाग्नेः पश्चिमभागे स्थापिता वसतीवरीरादायोत्तरवेदेदक्षिणश्रोण्यां निदध्यात् । भागधेयी स्थेति मन्त्रशेषः । हे वसतीवर्यो, यूयम् इन्द्राग्न्योरिन्द्राग्निदेवतयोर्भागधेयीस्थ भागधेयो भागरूपा भवथ ॥ कात्यायनः ॥ उत्तरस्यां पूर्ववन्मित्रावरुणयोरिति वेति ॥ दक्षिणश्रोण्यां स्थिता वसतीवरीः पुनरप्यादाय पूर्वमन्त्रेण वाऽनेन मन्त्रेण वा उत्तरश्रोण्यां निदध्यात् । भागधेयी स्थेति मन्त्रशेषः । हे वसतीवरीसंज्ञका आपो, यूयं मित्रावरुणदेवतयोर्भागरूपा भवथ ॥ कात्यायनः ॥ विश्वेषां देवानामित्याग्नीध्र इति ॥ उत्तरस्यां वसतीवरीः पुनरप्यादायाग्नीध्रमण्डपे निदध्यात् ॥ पाठस्तु ॥ विश्वेषां देवानां भागधेयी स्थ । असूर्या उपसूर्ये षाभिर्वा सूर्यः सह ता नो हिन्वन्त्वध्वरमिति ॥ हे वसतीवर्यो, यूयं सर्वेषां देवानां भागरूपा भवथ । इदानीमभिनयेन दर्शयन्नाह । याः प्रसिद्धाः अमूः ईदृग्भूता वसतीवर्याख्या आपः उपसूर्ये सूर्यसमीपे स्थिताः । सूर्योऽपि ताभिरद्भिः सह गच्छति । ता आपो नः अस्मदीयमध्वरं यज्ञं हिन्वन्तु मीणयन्तु ॥ २ ॥ ३ ॥ इति षष्ठाध्याये षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥ ६ ॥

षष्ठे सोमाभिषवार्थानां वसतीवरीणां ग्रहणमुक्तम् ॥ सप्तमेऽभिषोतव्यस्य सोमस्योपाहरणादिमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ ईषान्तरेणाद्धसोमम-

द्विषु संमुखेषु निदध्यात् । हृदे त्वेति ॥ इषयोर्मध्ये सोमस्यार्धभागमवहृत्य
 अभिमुखेषु ग्रावसु निदध्यात् ॥ पाठस्तु ॥ (हृदे त्वा मनसे त्वा दिवे त्वा सूर्याय त्वा । ऊर्ध्वोऽअध्वरं दिवि देवेषु होत्रा यञ्च । सोमराजन् विश्वास्त्वं
 प्रजा उपावरोहेति ॥ हे सोमराजन् त्वां हृदे हृदयवद्भ्यो मनुष्येभ्यः मनसे
 मनस्विभ्यः पितृभ्यो दिवे द्युलोकवासिभ्यो देवेभ्यः, विशेषतः सूर्याय चोपा-
 वहरामीति शेषः । एवमुपाहृतोऽभिषुतस्त्वम् । ऊर्ध्व उत्कृष्टः सन्नध्वरं मदीयं
 यज्ञं सम्पाद्य दिवि द्युलोकवासिषु होत्रा वषट्कारवादिनः सप्त होत्रकान्
 यञ्च निबन्धीहि । किञ्च, हे सोमराजन्, त्वं विश्वाः सर्वाः प्रजाः उपावरोह
 याप्नुहि । अत्रोपावहरेदिति विधिं सूचयन् हृदयादिशब्दानां यथोक्तार्थं
 तिस्रिरेर्देशयति ॥ ब्रह्मवादिनो वदन्ति । स त्वा अध्वर्युः साद्यः सोममु-
 पावहरत् सर्वाभ्यो देवताभ्य उपावहरेदिति । हृदे त्वेत्याह । मनुष्येभ्य एवै-
 तेन करोति । मनसे त्वेत्याह । पितृभ्य एवैतेन करोति । दिवे त्वा सूर्याय
 त्वेत्याह । देवेभ्य एवैतेन करोत्येतावतीर्वि देवतास्ताभ्य एवैनं सर्वाभ्य उपावह-
 रतीति ॥ यो हृदे त्वेतिमन्त्रेण सर्वदेवतार्थमुपावहर्तुं जानाति एवमुखोऽध्वर्युरिति
 ब्रह्मवादिनामुक्तिः ॥ कात्यायनः ॥ विश्वास्त्वामिति विसृज्योपतिष्ठन् इति ॥
 ग्रावसु स्थापितं सोमं विमुच्योपस्थानं कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥ (विश्वस्त्वां प्रजा
 उपावरोहन्त्विति ॥ हे सोम राजन्, त्वां विश्वाः सर्वाः प्रजाः उपावरोहन्त्वित्-
 ति प्राप्नुवन्ति ॥ १ ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ अभृदुषारुक्षत्पशुरित्युच्यमाने
 चतुर्गृहीतं प्रचरण्या जुहोति शृणोत्वग्निरितीति ॥ प्रातरनुवाकस्यावसाने
 अभृदुषारिखेतास्मिन्मन्त्रे होत्रा पठ्यमाने सति चतुर्वारं गृहीतमाज्यं प्रचरणीति
 जुह्वमदशी काचित् स्मृग्विशेषः तथा जुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥ शृणोत्वाग्निः
 समिधा इवं मे शृण्वन्त्वापो धिषणाश्च देवीः । श्रोता ग्रावाणो विदुषो न यज्ञं
 शृणोतु देवः सविता इवं मे स्वाहेति ॥ अग्निः समिधा समित्पूत्रिकया आहृत्या
 मे इवं मदीयमाह्वानं शृणोतु । आपः मदीयमाह्वानं शृण्वन्तु । कीदृश्यः धि-
 षणा विशोपेता देवीर्देव्यो देवतारूपाश्च । नेत्युपमार्थे । विदुषो न, विद्रांस
 इव प्रत्यक्षतो जानन्त इव । हे ग्रावाणः, अभिषेकार्थमिहोपस्थिता यूयं मदीयं
 यज्ञं श्रोत शृणुत । तथा सविता देवो मदीयमाह्वानं शृणोतु । स्वाहा हुत-
 मस्तु ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ देवीराप इत्यप्सु जुहोतीति ॥ चतुर्गृहीतमाज्यं
 वसतीवरीसंज्ञकास्वप्सु जुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥ देवीरापो अपानपाद्यो व ऊर्मि-

हविष्यः । इन्द्रियावान्मादिन्तमः । तं देवेभ्यो देवता दात शुक्रपेभ्यः । येषां भाग स्य स्वाहेति ॥ हे आपो देव्यः, वो युष्माकम् अपानपात् । अत्यरूप ऊर्मिर्देवता देवान् प्रति स्थितं तमूर्मिं देवेभ्यो देवार्थं दात प्रयच्छत । कीदृश ऊर्मिर्हविष्यः । हविषे सोमरूपाय हितः । इन्द्रियावान् पीतः सन्निन्द्रियवृद्धि-
कारी । मदिन्तमः पीयमानोऽत्यन्तं हर्षकारी । कीदृशेभ्यो देवेभ्यः । हे आपः श्रूयमेषां देवानां भाग स्य भागभेया भवथ । शुक्रपेभ्यः । शुक्रं दीप्तं सोमं पिबन्तीति शुक्रपाः तेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा इदमाज्यं युष्मभ्यं हुतमस्तु ॥ ग्रहीष्य-
माणानामपां मूलत्वेन हविस्त्वसंपादने चेषमाहुतिरूपयुज्यत इति तित्तिरि-
राह ॥ देवीरापो अपानपादित्याह । हुत्या वै निष्क्रीय गृह्णात्यथो हविष्कृत्य
नाभेवाभिघृतानां गृह्णातीति ॥ ४ ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥ कार्ष्णिरीति मैत्रा-
वरुणचमसेनाज्यमुपाहतीति ॥ अप्पु हुतमाज्यं व्यालोढयेदित्यर्थः । आज्य-
पदार्थं, त्वं कार्ष्णिः कर्पणशीलः । अत्रतमलस्यापनेतासि । एतमर्थं तित्तिरिर्द-
र्शयति । कार्ष्णिरीत्याह । क्षमलेमवाज्यमपण्णावयतीति ॥ कात्यायनः ॥ स-
मुद्रस्य त्वेति तेन गृह्णातीति । तेन मैत्रावरुणचमसेनापो गृह्णीयात् ॥ पाठस्तु ॥
समुद्रस्य त्वाऽऽसित्या उन्नयामीति ॥ समुद्रस्य । आपो वै समुद्र इति श्रुतेः,
वसतीवरीलक्षणस्याप्समुद्रस्य अस्तित्वं अक्षीणत्वाय, हे आज्यमिश्रोदक, त्वाम् ।
उन्नयामि उद्गृह्णामि ॥ कात्यायनः ॥ मैत्रावरुणचमसं वसतीवरीश्च संस्पृश-
यति समाप इतीति ॥ पाठस्तु ॥ समापो अद्भिरमृत समोषधीभिरोषधीरिति ॥
हे आपः, संस्कृता यूयम् । अद्भिरवसतीवरीभिः सममृत सङ्गच्छध्वम् । ओषधीः
ओषधयः, ओषधीभिर्ब्रीहियवादिभिः सङ्गच्छध्वं ॥ ६ ॥ कात्यायनः ॥ प्रचरणी-
संस्त्रवर्माग्रहोमे जुहोत्यभावे चतुर्गृहीतं यमम इत्युक्ते प्रथमं पारिधिमालभत इति ॥
यद्यनुगृहीयमानोऽग्रिष्टोमश्चेत्तर्हि प्रचरणीपात्रलिप्तमाज्यशेषञ्जुहुयात् । तदभावे
चतुर्वारं गृहीतमाज्यं जुहुयात् । उक्ते तु प्रचरणीपात्रलिप्तेनाज्येन प्रथमं प-
रिधिं स्पृशेत् ॥ पाठस्तु ॥ (यममे पृत्सु मर्त्यमवा वाजेषु यं जुनाः । स यन्ता
शश्वतीरिषः स्वाहेति ॥ हे अमं, पृत्सु संग्रामेषु यं मर्त्यम् । अवाः रक्षसि ।
किञ्च । वाजेषु अन्ननिमित्तं यं मर्त्यं जुनाः गच्छमि । हवींषि ग्रहीतुं यस्य स-
काशां गच्छतीत्यर्थः । स मर्त्यस्त्वदनुग्रहेण शश्वतीरिषो नित्यान्यन्नानि धन-
रूपाणि यन्ता नियस्यति प्राप्स्यतीत्यर्थः । स्वाहेति होमार्थः ॥ ७ ॥ इति
षष्ठाध्याये सप्तमोऽनुवाकः ॥ ६ ॥ ७ ॥

सप्तमे सोमोपाहरणादिमन्त्रा उक्ताः ॥ अष्टमे सोमाभिषवोऽभिधीयते ॥ कात्यायनः ॥ देवस्य त्वेसाद्रिमादायेति ॥ अद्रिशब्देन सोमाभिषवहेतुः पाषाणोऽभिधीयते । तमादद्यात् ॥ पाठस्तु ॥ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । आददे रावासि गभीरमिममध्वरं कृधीन्द्राय सुषूतमम् । उत्तमेन पविनोर्जस्वन्तं मधुमन्तं पयस्वन्तमिति ॥ देवस्य त्वेत्यादिकं पूर्वं व्याख्यातम् । हे अभिषवमाधन पाषाण, त्वं रावा । रा दान इत्यस्य रूपम् । आहुतीनां दाक्षिणानां च रावा दाता भवति । ततः गम्भीरमिमं मदीयमध्वरं यज्ञं कृधि कुरु । उत्तमेनोत्कृष्टेन पविना वज्रसदृशेन त्वया अहं सोममीदृशं करोमि । कीदृशम् । इन्द्रायेन्द्रार्थं सुषूतमम् । तकारलोपश्छान्दसो, दीर्घत्वम् । सुष्ठु अभिषुततमम् ऊर्जस्वन्तं स्वादुत्वोपेतं पयस्वन्तं पयोविशेषवन्तम् । एवं सोमं करोमीत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ निग्राभ्यामु वाचयति निग्राभ्या स्थेति ॥ अभिषोतव्यस्य सोमस्य मेचनीया आपो निग्राभ्या इत्युच्यन्ते । तासु गृह्यमाणामु यजमानं वाचयेत् ॥ पाठस्तु ॥ निग्राभ्या स्थ देवश्रुतास्तर्पय मा । मनो मे तर्पय वाचं मे तर्पय चक्षुर्मे तर्पय श्रोत्रं मे तर्पय । आत्मानं मे तर्पय प्रजां मे तर्पय पशून्मे तर्पय गणान्मे तर्पय गणामे मा वितृपन्नि ॥ हे आपो, यूयं निग्राह्या स्थ । अस्माभिर्नितरां ग्रहीतव्या भवथ । देवश्रुता देवेषु प्रख्याता यूयं मा मां तर्पय प्रीतं कुरुत । हे आपो मदीयानि मनःप्रभृतीनि इन्द्रियाणि तर्पय आत्मानं शरीरं प्रजां पुत्रादिसंपत्तिं पशून् गणान् मनुष्यसंघांश्च तर्पय । मे मदीयगणा मनुष्यसंघा मा वितृपन् मदीयद्रव्यदानेन पूरिताः सन्तो विवृद्धतृष्णा मा भूवन् । अनुरक्तगणोऽहं भवेयमिति यजमान आशास्त इत्यर्थः ॥ १ ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ सोमं मिमीत इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते इति पञ्चकृत्वः प्रतिमन्त्रमिति ॥ अभिषोतव्यस्य सोमस्येन्द्राय त्वेत्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः पञ्चवारं यथा भवति तथा मानामियत्तां कुर्यात् ॥ तत्रायं प्रथमो मन्त्रः ॥ इन्द्राय त्वा वसुमते रुद्रवते इति ॥ हे सोम त्वा त्वाम् इन्द्रायेन्द्रार्थम् इमे । कीदृशायेन्द्राय वसुमते वसुसंज्ञकपातःसवनदेवतावते । रुद्रवते रुद्रनामकमाध्यन्दिनसवनदेवतावते ॥ अथ द्वितीयः ॥ इन्द्राय त्वादित्यवते इति ॥ आदित्यवते तृतीयसवनदेवतावते इन्द्राय हे सोम त्वामिमे ॥ अथ तृतीयः ॥ इन्द्राय त्वाभिमातिश्र इति ॥ अभिमातिः शत्रुस्तं हन्ति इत्यभिमातिहा इन्द्रस्तस्मै, हे सोम, त्वामिमे ॥

अथ तुरीयः ॥ इयेनाय त्वा सोमभृत इति । इयेनाय पक्षिरूपाय मायश्यात्मने
सोमभृते सोमधारकाय । यद्वा, सोमभृते सोमहृते । हृग्रहोर्भश्छन्दसीति हका-
रस्य भकारः । तादृशायन्द्राय, हे सोम, त्वामिमे ॥ अथ पञ्चमः ॥ अग्नये त्वा
रायस्पोषद् इति ॥ रायस्पोषस्य धनपोषस्य दात्रे अग्नये । हे सोम त्वामि-
मे ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ यत्त इति मितालम्भनमिति ॥ इयत्तां कृतस्य सोम-
स्य संस्पर्शनं कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥ यत्ते सोम दिवि ज्योतिर्यत्पृथिव्यां यदुरा
अन्तरिक्षे । तेनास्मै यजमानायोरु राये कृध्वधिदात्रे वोच इति ॥ हे सोम
त्रिषु लोकेषु ते त्वदीयं ज्योतिर्यदस्ति तेन ज्योतिषाऽस्मै यजमानाय राये
चतुर्थी तृतीयार्थे । राया धनेन समृद्धमुरु विस्तीर्णं स्थानं कृधि । किञ्च, अ-
धिकोऽयं यजमानो भवति । दात्रे वाचः फलप्रदायेन्द्राय ब्रूहि ॥ ४ ॥ का-
त्यायनः ॥ श्वात्रा स्थेत्यामिञ्चतीति ॥ पाठस्तु ॥ श्वात्रा स्थ वृत्रतुरो राधो-
गूर्ता अमृतस्य पत्नीः । ता देवीर्देवत्रेमं यज्ञं नयतोपहृताः सोमस्य पिबन्तेति ।
हे आपो, यूयमेवंविधाः स्थ । किंविधाः । श्वात्राः कारिण्यः वृत्रतुरो वृत्रघा-
तिन्यः । राधो धनमुदगिरन्तीति राधोगूर्ता धनाभिर्वर्षिण्यः । अमृतस्य सोमस्य
पत्नीः पालयिष्यः । हे देवीर्देव्यः, आपः, तथाविधा यूयं देवत्रा देवान् प्रती-
मं यज्ञं नयत प्रापयत । किञ्च, यूयमुपहृताः अनुज्ञाताः सत्यः सोमस्य सोमं
पिबन्त ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥ मा भेमेति प्रहरतीति । अभिषुण्णयादित्यर्थः ॥
पाठस्तु ॥ मा भेर्मा संविकथा ऊर्जं धत्स्व धिषणे वीड्ही सती वीळ्येथामूर्जं
दधाथाम् । पाप्मा हतो, न सोम इति ॥ हे सोम, त्वं मा भेः मा भैषीः । मा संविकथाः
कम्पनं मा कृथाः । यतो देवतर्पणार्थमहं त्वामभिषुणोमि । अत ऊर्जं धत्स्व
संधेहि । एवं सोमं संबोधयेदानीं घ्रातृपृथिव्यौ संबोधयति । हे धिषणे घ्राता-
पृथिव्यौ युवां वीड्ही सती । वीळ्यशब्दो बृहद्वचनः । दृढे मत्यावान्मानं वीळ-
येथां दृढीकुरुतम् । किञ्च, ऊर्जं रमं दधाथाम् । अनेनैव अस्य स्तुतेन ग्राव्णा
यजमानस्य पाप्मा हतः, न तु सोमो हतः ॥ ६ ॥ कात्यायनः ॥ नि-
ग्राभं वाचयति होतृचमसेऽल्पानंशूनवधाय प्रागपागिनीति ॥ प्रागादिमन्त्रः
सोमग्रहणे तु निग्राभ इत्युच्यते । होतृचमसे सोमांशूनवस्थाप्येनन्मन्त्रं यजमानं
वाचयेत् ॥ पाठस्तु ॥ प्रागपागुदगधराक् सर्वतस्त्वा दिश आधावन्तु । अम्ब
निष्परसमऽरीर्विदां । त्वमङ्ग प्रशंसिषो देवः शविष्ठ मर्त्यम् । न त्वदन्यो
मघवन्नस्ति मर्दितेन्द्र अवीमि ते वच इति ॥ हे सोम, त्वा त्वां प्रागादयो दिशः

सर्वतः सर्वस्मात् स्वस्वप्रदेशात् आधावन्तु । आभिमुख्येनागच्छन्तु । परस्परं किं भावमाणा आधावन्तिवाति । तदाह । हे अम्ब, हे मातर्निष्परस्वैः स्वैर्भागैः सोमं पूरयेति वदन्त्यः । किञ्च, एवंविधं सोमम् अरीः आगच्छन्त्यो दिशः संविदाम् । छान्दसं रूपम् । संविदन्तु सम्यग्जानन्तु । हे शविष्ठ, अतिशयेन बल-
वन्निन्द्र देवो दीप्यमानस्त्वं मर्त्यं मनुष्यं यजमानं प्रशंसिषः प्रशंससि । हे मघवन् धनवन् इन्द्र, मर्हिता यजमानस्य सुखयिता त्वदन्यो नास्ति । अतोऽहं ते वच-
स्त्वमेव सुखयितेत्येवंरूपं त्वदीयं वचनं ब्रवीमि ॥ ७ ॥ ८ ॥ इति षष्ठा-
ऽध्यायेऽष्टमोऽनुवाकः ॥ ६ ॥ ८ ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमोहार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो देयाद्रिद्यातीर्थमहेश्वरः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराज परमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-श्रीवीरबुक्कभूपाल-
साम्प्रज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे काण्व-
संहिताभाष्ये षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

अथ शुक्लयजुर्वेदकाण्वसंहिताभाष्ये सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽस्तिलं जगत् ॥

निर्ममे तमहं बन्दे विद्यातीर्थमहेन्नरम् ॥ १ ॥

षष्ठाध्याये यूपसंस्कारादिसोमाभिषवपर्यन्ता मन्त्रा उक्ताः ॥ सप्तमे ग्रह-
ग्रहणमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ उपांशुं गृह्णाति । वाचस्पतये देवो
देवेभ्यो मधुमतीरिति । मन्त्रत्रयस्य प्रतीकोपादानात् तत्रैकेन मन्त्रेणो-
पांशुमेकैकवारं गृह्णीयात् ॥ पाठस्तु ॥ वाचस्पतये पवस्व वृष्णो अशुभ्यां
गभस्तिपूत इति ॥ हे सोम, पतये पालकदेवार्थं वृष्णः वर्षितुस्तव सम्बन्धि-
भ्यामंशुभ्यां गभस्तिपूतः । अध्वर्युषु बाहुभ्यां पूतः सन् वाचःसम्बन्धिना
मन्त्रेण पवस्व शुद्धो भव ॥ अथ द्वितीयः ॥ देवो देवेभ्यः पवस्व येषां
भागोऽसीति ॥ हे सोम, त्वं येषां देवानाम्भागो भवसि तेभ्यो देवेभ्यो देवो
दीप्यमानः सन् पवस्व ॥ अथ तृतीयः ॥ मधुमतीर्न इषस्कधीति । हे सोम
त्वं नोऽस्मदीयानीषोऽन्नानि मधुमतीः सुधुररसोपेतानि कृषि कुरु ॥ १ ॥
कात्यायनः ॥ यत्त इत्यात्तान् सोमे निदधातीति ॥ स्वीकृतान् तानंशून् सोमे
स्थापयेत् ॥ पाठस्तु ॥ यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै ते सोम
सोमाय स्वाहेति ॥ हे सोम, ते तव अदाभ्यम् अर्हिस्यं जागृवि जागरणशीलं
यन्नामास्ति । हे सोम, तस्मै तन्नामवते तुभ्यं सोमाय स्वाहा दत्तमस्तु ॥ का-
त्यायनः ॥ स्वाहेत्युक्तोर्वन्तरिक्षमिति निष्क्रमणमिति ॥ स्वाहेत्येतदक्षरद्वय-
मुक्त्वा निष्क्रमेत् ॥ पाठस्तु ॥ स्वाहोर्वन्तरिक्षमन्वेमीति । उरु विस्तीर्णम-
न्तरिक्षमन्वेम्यनुगच्छामि ॥ कात्यायनः ॥ स्वीकृत इति हुत्वा पात्रमुप-
मार्ष्टीति । होमं कृत्वा पात्रोपमार्जनं कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥ स्वीकृतोऽसि
विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिव्येभ्यः । पार्थिवेभ्यः । मनस्त्वाण्डु स्वाहा त्वा स्वभवः
सूर्यार्येति ॥ हे प्राणरूपोपांशुग्रह, त्वं स्वीकृतोऽसि । मया स्वीकृतो भवसि ।
कीदृशां देवजन्मानि च स्थितेभ्यः सर्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो हिताय मनस्त्वा-
हं त्वामण्डु व्याप्नोतु । स्वभवः स्वयमुत्पन्नो यः प्राणः, हे उपांशुग्रह तादृग्-
रूपं त्वां बाहिः प्राणरूपायादित्याय स्वाहाकारेण जुहोमि । सूर्यस्य प्राणरूप-
त्वमाथर्वणिकैराज्जातम् । आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ज्ञेनञ्चाक्षुषं
प्राणमनुगृह्णान इति ॥ स्वीकृतशब्देन प्राणरूपस्य ग्रहस्य स्वाधीनत्वं

विवक्षितम् । दिव्यपार्थिवशब्दाभ्यां च जन्मद्वयं विवक्षितमिति तिसिरि-
 दर्शयति ॥ स्वां कृताऽसीत्याह । प्राणमेव समन्वत । विश्वेभ्यस्त्वेन्द्रियेभ्यो देवेभ्यः
 पार्थिवेभ्य इत्याहोभयेष्वेव देवमनुष्येषु प्राणान् दधातीति ॥ कात्या-
 यनः ॥ प्रथमे परिधावुत्तानं पाणिं प्रागुपमाहिं देवेभ्यस्त्वेतीति ॥ पश्चिम-
 भागेऽवस्थितो यः परिधिस्तस्मिन् पाणिमूर्ध्वाभिमुखं कृत्वा प्रागभिमुखं
 यथा भवति तथोपमार्जनं कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥ देवेभ्यस्त्वा मरीचिपेभ्य इति ॥
 हे लेप, त्वां मरीचिपेभ्यः मरीचिपालकेभ्यो देवेभ्यः परिधौ माहिम ॥ का-
 त्यायनः ॥ वासउरोबाहुषु श्लिष्टमंशुमभिचरन् जुहुयात् ॥ देवांशवितीति
 वस्त्रोरुबाहुषु यः सोमांशुः संश्लिष्टस्तमभिचरन् जुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥ देवांशो
 यस्मै त्वेळे । तत्सत्यमुपरिप्लुता भङ्गेन हतोऽसौ फटिति ॥ हे देवांशो दीप्य-
 मानमोमांशो यस्मै वधाय त्वामीळे ईळिरध्येषणाकर्मा । त्वां प्रार्थयामि ।
 तद्रथकर्म सत्यमस्तीति शेषः । उपरिप्लुता, प्लुततिर्गत्यर्थः । उपर्यागतेन भङ्गेन
 आमर्देन, अमाविति देवदत्तादिनामनिर्देशः । असौ द्वेष्पो हतो निहतः, फट्
 विशीर्णो भवेत् । अफला विशरण इति धातोः क्विबन्तस्य फटित्येतद् रूपम् ।
 छन्दसि ढलपारभेदः । अभिचारे स्वीकारस्य स्थाने फटिति प्रयुज्यते ।
 वषट् पश्ये फटुञ्चादे हुं द्वेष्पे पौष्टिके स्वधेति वचनात् ॥ कात्यायनः ॥
 प्राणाय त्वेति पात्रामादनमिति ॥ स्वरस्य यस्मिन् दक्षिणप्रदेशे पूर्वमुपांशुपात्रं
 स्थापितम् इदानीं तत्रैव स्थापयेत् । हे उपांशुपात्र, प्राणदेवतासंतोषार्थं त्वा-
 मासादयामीति शेषः ॥ कात्यायनः ॥ उपांशुमवनं पाणिना प्रमृज्योदञ्चं
 व्यानाय त्वेति ॥ उपांशुसवनार्थं येन पाषाणेन सोमोऽभिषुतः स उपांशु-
 सवनः । तं पाणिना प्रमार्जनं कृत्वा उदगभिमुखं यथा भवति तथाऽऽसा-
 दयेत् । हे उपांशुमवन, व्यानदेवतार्थं त्वामासादयामीति ॥ २ ॥ ३ ॥ इति
 सप्तमाध्याये प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

प्रथमोऽनुवाके उपांशुग्रहार्थं मन्त्रा उक्ताः ॥ द्वितीयेन्तर्यामिग्रहार्थं मन्त्रा
 उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ उदितेऽन्तर्यामिग्रहण उपयाम गृहीत इत्युपांशु वदतीति ॥
 सूर्योदयादुत्तरकाले अन्तर्यामिग्रहं गृहीयात् । उपांशुग्रहे येन मन्त्रेण यत् कर्मानुष्ठी-
 तम् अन्तर्यामिग्रहणानन्तरं तेन मन्त्रेण तत्कर्मानुतिष्ठेत् ॥ पाठस्तु ॥ उपयाम गृहीतो-
 ऽस्यन्तर्यञ्च मघवन् पाहि सोमम् । उरुष्य रायो वेषो यजस्वेति । अन्तस्ते द्यावा-
 पृथिवी दधाम्यन्तर्दधाम्युर्वन्तरिक्षम् । सज्जुर्देवेभिरवरैः परैश्चान्तर्यामे मघ-

वन्न मादयस्वेति ॥ उपयामयतीत्युपयामो ग्रहस्तेन गृह्यते । उपयामगृहीतः ।
हे सोमरस, त्वं तादृशो भवसि । हे मघवन्न धनवन्निन्द्र, त्वं तादृशं ग्रहपात्रम् ।
अन्तर्यच्छ शत्रुभ्योऽन्तर्धानं व्यवधानं यथा भवति तथा नियमय । ततः सोमं
पालय । तथा रायो धनानि अवोरुष्य आभिमुख्येनागत्य रक्ष इषोऽन्धानि
यजस्व देहि । ते तवानुग्रहाद् द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यौ अन्तर्दधामि
व्यवधायिकं करोमि । किञ्च, उरु बिस्तीर्णमन्तरिक्षम् अन्तर्दधामि । हे मघव-
न्निन्द्र अवरंः सत्रैर्देवैः सज्जः समानप्रीतियुक्तः सन्नन्तर्यामे ग्रहे मादयस्व स
त्वं हृष्टः सन्नन्यानपि हर्षय ॥ स्वाहाकारमुक्त्वा निष्क्रामेत् ॥ स्वाहोर्वन्तरिक्ष-
मन्वेमि इत्ययं पूर्वं व्याख्यातः । अथ होमं कृत्वा पात्रं प्रमृज्यात् ॥ पाठ-
स्तु ॥ स्वां कृतोऽसि विश्वेभ्य इन्द्रियेभ्यो दिवेभ्यः पार्थिवेभ्यः । मनस्त्वाण्डु
स्वाहा त्वा स्वभवः सूर्यायेति ॥ पूर्ववद् व्याख्यातम् । अपरिधौ पाण्युपमा-
र्जनमन्त्रो देवेभ्यस्त्वा मरीचिषेभ्य इति । पूर्ववद् व्याख्यातः ॥ कात्यायनः ॥
उदानाय त्वेति पात्रासादनमिति ॥ अन्तर्यामग्रहः पूर्णस्मिन् स्थाने स्थितः ।
इदानीं तस्मिन्नेवासादयेत् ॥ हे अन्तर्यामग्रह, त्वामुदानदेवतासन्तोषार्थमासा-
दयामीति शेषः ॥ १ ॥ २ ॥ इति सप्तमाध्याये द्वितीयोऽनुवाकः ॥ ७ ॥ २॥

द्वितीयेऽन्तर्यामग्रह उक्तः ॥ तृतीये ऐन्द्रवायवग्रह उच्यते ॥ कात्यायनः ॥
ऐन्द्रवायवं गृह्णात्यावायवित्तीति ॥ ऐन्द्रवायवग्रहे वायुदेवतार्थं सोमं गृह्णीयात् ॥
पाठस्तु ॥ आवायो भूष शुचिपा उपनः सहस्रं ते नियुतो विश्ववार । उपो
ते अन्धो मद्यमयामि यस्य देव दधिषे पूर्वपेयं वायवे त्वेति ॥ हे वायो, त्वम्
आगत्य भूष ग्रहानलंकुरु । हे शुचिपाः, पवित्रस्य सोमस्य पातः, नोऽस्मानु-
पागच्छ । हे विश्ववार, विश्वव्यापक, ते तव, सहस्रं ते नियुतः । नियुत इति
वायोरश्वस्य नाम । अश्वानां सहस्रं तवास्ति । त्वदीयम् अश्वसहस्रं नितरां
युतः । ते अन्धः अक्षं मद्यं मदनीयम्, उपो उप अयामि उपगमयामि पूर्व-
पेयं प्रथमं वषट्कारलक्षणं प्रथमं पानीयं भागं, हे देव, दधिषे धारयसि ।
वायवे त्वेति । देवता देवाः । वायवे त्वा गृह्णामीति शेषः । उप समीपं गम-
यामीत्यन्वयः । हे सोमरस, त्वां वायुदेवतायै गृह्णीतीति शेषः ॥ १ ॥ का-
त्यायनः ॥ अपगृह्य पुनरिन्द्रवायू इतीति ॥ पूर्वमैन्द्रवायवग्रहे वायुदेवताकं
सोमं गृहीत्वा इदानीं तस्मिन्नेव ग्रहे इन्द्रवायुदेवताकं गृह्णीयादिति शेषः ॥
पाठस्तु ॥ इन्द्रवायू इमे मुता उप पयोभिरागतम् । इन्द्रवो वामुशान्ति हि ।

उपयामगृहीतोऽसि वायव इन्द्रवायुभ्यां त्वेष ते योनिः सजोषोभ्यां त्वेति ॥
 हे इन्द्रवायु युष्मदर्थम् इमे सोमाः सुताः अभिषुताः । वां पयोभिरेतैः सोमरस-
 रूपैरन्नैर्निमित्तरूपैरुप सजीवे आगतम् आगच्छतम् । हि यस्मादिन्द्रवः सोम-
 रसा वाम उशन्ति । कामयन्ते । तस्मादागच्छतमिति पूर्ववदन्वयः । हे सोम-
 रस, त्वम् उपयामग्रहेण गृहीतो भवसि । वायवे वायुदेवतार्थमिन्द्रवायुभ्याम्
 इन्द्रवायुदेवतार्थं त्वां गृह्णीमीति शेषः । हे पात्र स्वरस्यैकदेशस्तद्योनिस्तव
 स्थानम् । अतोऽत्र सजोषोभ्यां समानमीतिभ्यामिन्द्रवायुभ्यां त्वां सादया-
 मीति शेषः । द्विदैवस्यग्रहाणां मध्य ऐन्द्रवायवग्रहस्य प्राथम्यं दाग्वा एषा
 यदैन्द्रवायव इत्यादिवाक्यजातेन तित्तिरिणा बहुधा प्रपञ्चितम् ॥ २ ॥ इति
 सप्तमाध्याये तृतीयोऽनुवाकः ॥ ७ ॥ ३ ॥

तृतीये ऐन्द्रवायवग्रह उक्तः ॥ चतुर्थे मैत्रावरुणग्रह उच्यते ॥ कात्या-
 यनः ॥ मैत्रावरुणमयं त्वामितीति ॥ मित्रावरुणदेवतार्थं पात्रे सोमं गृह्णीया-
 त् ॥ पाठस्तु ॥ अयं वा मित्रावरुणा सुतः सोमं ऋतावृथा । ममेदिह श्रुतं
 हवम् । उपयामगृहीतोऽसि मित्रावरुणाभ्यां त्वेति ॥ हे ऋतावृथा यज्ञस्य
 वर्षकौ मित्रावरुणौ वां युवयोरर्थाय अयं सोमः सुतः । यस्मादभिषुतस्त-
 स्मादिहास्मिन् यज्ञे ममेत् यजमानानां मध्ये ममेव हवमाहानं श्रुतं युवां
 शृणुतम् । हे सोम रस, त्वं मैत्रावरुणग्रहपात्रेण गृहीतो भवसि, त्वां मित्रावरुण-
 देवताभ्यां गृह्णीमीति शेषः ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ पयसा श्रीणात्येनं कुशा-
 वन्तद्धारि राया वयमित्येवं सर्वत्र श्रयणोऽपि ॥ मैत्रावरुणग्रहपात्रे कुशद्वय-
 व्यवधानं कृत्वा तत्रस्थं सोमरसं क्षीरेण मिश्रीकुर्यात् । एवं यत्र यत्र श्रयणानि
 सन्ति तेषु सर्वेष्वेवं कुर्यादित्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ राया वयं समवांसो
 मदेम हव्येन देवा यवमेन गावः । तां धेनुं मित्रावरुणायुवश्चो विश्वाहा धत्त-
 मनपस्फुरन्तीम् । एष ते योनिर्ऋतायुभ्यां त्वेति ॥ देवा इन्द्रादयो हव्येन
 हविषा यथा हृष्यन्ति गावो यवमेन यथा हृष्यन्ति । तथा वयं राया धनेन
 समवांसः सम्भक्ताः । वन पण सम्भक्तावित्यस्य रूपम् । धनमपन्नाः सन्तो
 मदेम हृष्टाः स्याम । हे मित्रावरुणौ, वां युवां नोऽस्मभ्यं विश्वाहा सर्वदा, तां
 तथाभूतां धेनुं धत्तं दत्तम् । कीदृशीम् । अनपस्फुरन्तीं तां धेनुमित्यर्थः ।
 ऋतायुभ्यां सत्यमिच्छद्भ्यां मित्रावरुणाभ्यां, स्पष्टमन्यत् ॥

गृहीतस्य सोमरसस्य क्षीरमेलनं, मित्रं देव अत्रुवांस्त्यादिवाक्यजातेन तित्तिरिणा

स्पष्टीकृतम् ॥ २ ॥ इति सप्तमाध्याये चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ७ ॥ ४ ॥ ॥ ॥

चतुर्थे मैत्रावरुणग्रह उक्तः ॥ पञ्चमे आश्विनग्रह उच्यते ॥ कात्यायनः ॥
या वामित्याश्विनमिति ॥ गृह्णीयादिति शेषः ॥ पाठस्तु ॥ यावां कशा मधु-
मत्यश्विना सूनृतावती । तथा यज्ञं मिमिक्षतम् । उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां
त्वेषते योनिर्माध्वीभ्यां त्वेति ॥ हे अश्विना, अश्विनौ देवौ, वां युवयोर्वा कशा ।
कशेति वाङ्नाम । या वाग् मधुमती मधुब्रह्म तद्गती ॥ मधुब्राह्मणोपनिषत्प्रशंसा-
युक्ता, सूनृतावती प्रियवचनोपेता, तथा वाचाऽस्मदीयं यज्ञं मिमिक्षतं मे-
क्तुमिच्छतं निष्पादयतमित्यर्थः । माध्वीभ्यां मधुब्राह्मणं यावदश्विनावधीयेते
ताभ्यामाश्विभ्यां त्वां मोमे मादयामि । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥ इति सप्तमाध्याये
पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥ ५ ॥

पञ्चमे आश्विनग्रह उक्तः ॥ षष्ठे शुक्रग्रह उच्यते ॥ कात्यायनः ॥ शुक्र
तं प्रब्रथेति ॥ शुक्रग्रहं गृह्णीयात् ॥ पाठस्तु—

तं प्रब्रथा पूर्वथा विश्वथेमथा ज्येष्ठतानि बर्हिषदः स्वर्विदम् । प्रतीचीनं वृजनं
दोहमे धुनिमाशुं जयन्तमनु यासु वर्धमे । उपयामगृहीतोऽमि शण्डाय त्वा ।
एष ते योनिर्वीर तां पाहीति । प्रब्रथेत्यादौ थाप्रत्यय उपमार्थः । हे इन्द्र, त्वां
प्रब्रथाः पुरातना भृग्वादयो यथाऽस्तुवन् । पूर्वथा पूर्वे साध्यादयो यथा ।
विश्वथा विश्वे ऋषयः ऋषिपुत्रा वा । इमथा इदानीन्तना जना यथा । तथा
वयं त्वां स्तुम इत्यर्थः । कीदृशमिदं ज्येष्ठतानिम् । स्वार्थे तानिप्रत्ययः बर्हिषदं
यागे सन्निहितत्वेन निष्ठन्तम् । स्वर्विदं यजमानाय दातव्यं स्वर्गं वेत्तीति स्व-
र्वित् तम् । हे इन्द्र, यस्त्वं प्रतीचीनं प्रतिगमनमस्मत्प्रतिकूलं वृजनं वर्जनीयम् ।
आलभ्याश्रद्धादिकं दोहमे रिक्तीकरोषि विनाशयामि तादृशं त्वां स्तुमः ।
यासु क्रियासु धुनिं त्वदनुग्रहात् शत्रुं कम्पयन्तम् आशुं क्षिप्रकारिणं जयन्तं
सम्पगनुष्ठानेन यजमानान्तराण्यतिशयानम् एनं यजमानम् अनु मोमपानेन
स्तुत्या वर्धयसं । तासु क्रियासु तमिन्द्रं स्तुमः । हे शुक्रग्रह, त्वमुपयामगृहीतो-
ऽसि शुक्रपुत्राय षण्डनामकाय त्वां गृह्णामि । एष श्रमप्रदेशः तत्र स्थानं, त्वं
यजमानस्य वीरतां पाहि । कर्मशूरत्वं च पालय ॥ कात्यायनः ॥ शुक्रामन्धि-
भ्यां च चरतः ॥ शुक्रेणाध्वर्युर्मन्थिना प्रतिप्रस्थाता प्रोक्षिताप्रोक्षितौ यूप-
शकलावादायापिधानं प्रोक्षिताभ्यामवमार्जनमप्रोक्षिताभ्यामिति ॥ शुक्रामन्धि-
ग्रहाभ्यां यथाक्रमेणाध्वर्युप्रतिप्रस्थातारावनुतिष्ठेताम् । तत्प्रकार उच्यते

प्रोक्षिताभ्यां द्वाभ्यां यूपशकलाभ्यां सह प्रोक्षणरहितौ द्वौ यूपशकलौ स्वी-
कृत्य यथाक्रमेण तयोर्ग्रहयोः प्रोक्षिताभ्यां शकलाभ्याम् आच्छादनं कृत्वा
अप्रोक्षिताभ्यां शकलाभ्याम् अपामार्जनं कुर्यात् । तत्र शुक्रग्रहस्यापामार्जनमन्त्रः
कात्यायनेन विनियुज्यते ॥ अपमृष्टः षण्ड इत्यध्वर्युरिति ॥ अध्वर्युः पूर्वमु-
क्तेन प्रोक्षितशकलेनाच्छादनं कृत्वा अप्रोक्षितशकलेनापमृज्यात् । षण्डनाम-
कोऽसुरपुरोहितः शुक्रपुत्रोऽपमृष्टः । अपामार्जनीकृतः ॥ कात्यायनः ॥ देव-
स्त्वेति निष्क्रामितो यथालिङ्गमिति ॥ अध्वर्युमतिप्रस्थातारौ यथाक्रमेण
शुक्रमन्थीत्येतत्तद्वयवाचकमन्त्रलिङ्गमनतिक्रम्य निर्गच्छेताम् । तत्र शुक्रपद-
वाचकमन्त्रपाठः ॥ देवास्त्वा शुक्रपाः प्रणयन्तिवा । शुक्रनामकग्रहस्थं सोमं
पिबन्तीति शुक्रपाः देवाः । हे शुक्रग्रह, त्वां प्रणयन्तु यजमानस्थानं प्रापयन्तु ॥
कात्यायनः ॥ अपरेणोत्तरवेदिमरत्नी सन्धायोत्तरवेदिश्रोण्यां निधत्तो वि-
सृजन्तौ दक्षिणस्यामध्वर्युरुत्तरस्यां प्रतिप्रस्थाता अनाधृष्टामीतीति ॥ अध्वर्यु-
मतिप्रस्थतारावुत्तरवेदेः पश्चिमभागे अरत्याः संमेलनं कृत्वा ततस्तयोर्विस-
र्जनङ्कुर्वन्तौ यथाक्रमेणोत्तरश्रोण्योरुभयोर्ग्रहस्थापनं कुर्याताम् । अनाधृष्टा
अनुपर्हिमिता भवामि ॥ कात्यायनः ॥ सुवीर इति दक्षिणं यूपदेशं गच्छत्य-
ध्वर्युरितितीति ॥ अध्वर्युर्यूपस्य दक्षिणप्रदेशं गच्छेत् ॥ पाठस्तु ॥ सुवीरो वीरान्
प्रजनयन् परीह्यभिरायस्पोषेण यजमानमिति ॥ हे शुक्र, त्वं सुवीरः
शोभनशौर्योपेतः सन् वीरान् यजमानस्य शौर्योपेतान् मृत्यादीन् प्रजनयन्
उत्पादयन् रायस्पोषेण धनस्य पुष्ट्या यजमानमभिलक्ष्य परीहि परितो गच्छ
॥ कात्यायनः ॥ अपरेण यूपम् अरत्नी सन्धत्तः सज्जमान इति यथालिङ्ग-
मिति ॥ यूपस्य पश्चिमभागे अध्वर्युमतिप्रस्थातारौ तत्तद्ग्रहवाचकपदलिङ्गमन-
तिक्रम्यारत्नयोः सन्धानं कुर्याताम् ॥ तत्राध्वर्युमन्त्रपाठः ॥ संजग्मानो
दिवापृथिव्या शुक्रः शुक्रशोचिषेति ॥ शुक्रनामको ग्रहः ब्रूलोकभूलोकाभ्यां
संजग्मानः सङ्गच्छमानः शुक्रशोचिषा शुद्धदीप्त्या यूपं विभर्तीति शेषः ॥
कात्यायनः ॥ निरस्तः षण्ड इत्यध्वर्युरिति ॥ अध्वर्युरप्रोक्षितं यूपशकलं
निरस्येत् । षण्डनामकः शुक्रपुत्रोऽसुरपुरोहितो निरस्तः यज्ञाद् बाहिर्निक्षिप्तः ॥
कात्यायनः ॥ शुक्रस्याधिष्ठानमध्वर्युरिति ॥ अध्वर्युराहवनीये प्रोक्षितं यूपश-
कलं प्रक्षिपेत् । अमीति मन्त्रशेषः ॥ १ ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ अच्छिन्नस्येति
जपित्वेति ॥ अध्वर्युः शकलप्रक्षेपानन्तरं जपेत् ॥ पाठस्तु ॥ अच्छिन्नस्य ते

देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्यामेति ॥ हे दीप्यमान सोम, अस्मिन्नस्याऽनवखाण्डतस्य ते तव ददितारः स्याम । देवतासन्तुष्ट्यर्थं भूयो भूयो दातारो भवेम ॥ कात्यायनः ॥ उभयतो यूपं प्रत्यङ्मुखौ प्रत्यङ्मुखौ जुहुतः । सा प्रथमेत्यध्वर्युः प्रथमामेति ॥ अध्वर्युप्रतिप्रस्थातारौ यूपस्थोभय-
पार्श्वयोः पश्चिमाऽभिमुखौ स्थित्वा जुहुयाताम् । तत्राध्वर्युः प्रथमं जुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥ सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा स प्रथमो वरुणो मित्रोऽअग्निः ।

स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वाऽस्तस्मा इन्द्राय सुतमाजुहोत स्वाहेति ॥ षस्वेन्द्रस्य या संस्कृतिः समीचीना कृतिर्विश्ववारा सर्वैर्देवैर्वरणीया सा प्रथमा देवानां मध्ये मुख्या स प्रथमो मुख्यः । स एवेन्द्रवरुणमित्राग्र्यः चिकित्वा चेतनाविशेषवान् बृहस्पतिरपि स एवेन्द्र एव । हे ऋत्विजस्तस्मै तादृशेन्द्राय सुतमभिषुतं सोममाभिमुख्येन जुहुत स्वाहाकारेण होमं कुरुत ॥ कात्यायनः ॥ तृपन्तिवति जपतीति ॥ होमानन्तरं जपेत् ॥ पाठस्तु ॥ तृपन्तु होत्रा मधोर्यत् स्विष्टं यत् सुभृतं यत्स्वाहेति ॥ मधोर्मधुरोपेतस्य सोमस्य यद्रसरूपं द्रव्यं स्विष्टं सुद्वपेक्षितं यत् सुभृतं सुष्ठु सम्भृतं यत् स्वाहाकृतं तादृशं रसरूपं द्रव्यं दृष्ट्वा होत्रा यष्टव्या देवतास्तृप्यन्तु ॥ ३ ॥ ४ ॥ इति सप्तमाध्याये षष्ठोऽनुवाकः ॥ ७ ॥ ६ ॥

षष्ठे शुक्रग्रह उक्तः ॥ सप्तमेऽनुवाके मन्थिग्रह उच्यते ॥ कात्यायनः ॥ मन्थिनमयं वेन इतीति ॥ मन्थिग्रहं गृह्णीयात् ॥ पाठस्तु ॥ अयं वेनश्चोदयत् पृथिनगर्भा ज्योतिर्जरायू रजसो विमाने । इममपाऽसङ्गमे सूर्यस्य शिशुं न विप्रा मतिभीरिहन्ति उपयामगृहीतोऽसि मर्काय त्वेति ॥ अयमितीन्द्रो नि-
दिश्यते । वेनः कान्तोऽभीष्टः । विनि कान्तावित्पस्माद्धातोरुत्पन्नत्वात् । पृथिनरादित्यस्तस्य गर्भभूता आपः । तथाचान्यत्र प्रज्ञोत्तराभ्यामयमर्थः श्रूय-
ते ॥ केमा आपो अनिमिषन्तो यदितो यान्ति सम्प्रीति प्रज्ञः ॥ आपः सूर्ये समाहिता अभ्राण्यपः प्रपद्यन्त इत्युत्तरम् ॥ अयं वेनः पृथिनगर्भाश्च उदयन् आपो वर्षतीत्यर्थः । कीदृशोऽयं ज्योतिर्जरायुः विशुक्लक्षणं तेजो जरायुर्द्वेष्टनं षस्यासौ ज्योतिर्जरायुः । कुत्र स्थितः । रजसो विमाने रजस उदकस्य विमाने निर्माणस्थाने अन्तरिक्षे अवस्थितः । अपां सूर्ये गर्भीभावः कथं सम्पन्न इति चेत् । अत्रोच्यते । विप्रा मेषाविनः ऋत्विजः अपां सूर्यस्य च सङ्गमे निमित्त-
भूते सति इममिन्द्रं शिशुं न । स्तनन्धयन्तं शिशुमिव लालयन्तम् । मातभि-
र्मन्त्रसहिताभिराहुतिभिर्लिहन्ति यजन्तीत्यर्थः ॥ आहुतिदेवताभिरिमा आपो नी-

यन्ते । एतदेवाभिप्रेत्य श्रूयते ॥ भूमिं पर्जन्या जिन्वन्ति दिवं जिन्वन्त्यग्नय इति ॥
हे सोमरस, त्वम् । उपयामगृहीतोऽसि । उपयामयतीत्युपयामो ग्रहस्तेन गृहीतो
भवसि । मर्कः शुक्रपुत्रोऽसुरपुरोहितस्तस्मै त्वां गृह्णामीति शेषः ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥
सक्तुभिः श्रीणात्येनं मनोनयेष्वितीति ॥ एनं मन्थिग्रहं यवमयैः पिष्टैर्मिश्री-
कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥ मनोनयेषु हवनेषु तिग्मं विपः शच्या वनुथो द्रवन्ता । आपः
शर्याभिस्तुविनृम्णोऽस्या श्रीणीतादिशं गभस्तौ । एष ते योनिः प्रजाः
पाहीति ॥ विपश्चिनो मेधाविनोऽध्वर्यवो, येषु हवनेषु सोमयागेषु शच्या क-
र्मणा निमित्तभूतेन मनोनय इव तिग्मं तीक्ष्णं क्षिप्रं व्याप्नुवन्ति । तथा हे
शुक्रमन्थिनौ, द्रवन्तौ गच्छन्तौ युवां वनुथो युष्मदीयं होमं व्याप्नुथः । तेषु
होमेषु कर्तव्येषु यः तुविनृम्णो बहुधनयुक्तो बहुदक्षिणोपेतोऽस्ति । अस्य
गभस्तौ हस्ते स्थितस्य मन्थिग्रहस्य आदिशं प्रदिशं शर्याभिः स्वाङ्गुलीभिः
आश्रीणीत । आश्रयं कुर्वीत । हे मन्थिग्रह, ते तत्र एष प्रदेशः । प्रजाः पाहि
यजमानमम्बन्धिनीः प्रजाः पालय ॥ कात्यायनः ॥ अपमृष्टो मर्क इति प्रति-
प्रस्थातेति ॥ प्रोक्षितेन यूपशकलेनाच्छादनं कृत्वा अप्रोक्षितेन शकलेनापामार्जनं
कुर्यात् । मर्कनामकोऽसुरपुरोहितोऽपार्जनीकृतः ॥ कात्यायनः ॥ देवास्त्वेतीति
प्रतिप्रस्थातानिष्क्रामेत् ॥ पाठस्तु ॥ देवास्त्वा मन्थिपाः प्रणयन्ति त्विति हे मन्थिग्रह,
त्वां, मन्थिग्रहं पिबन्तीति मन्थिपाः देवाः प्रणयन्तु । यजमानस्थानं प्रापयन्तु ।
अनाधृष्टामीति मन्त्रो विनियोगपुरःसरं पूर्वं व्याख्यातः ॥ कात्यायनः ॥
सुप्रजा इति प्रतिप्रस्थाता यूपस्योत्तरमिति ॥ प्रतिप्रस्थाता यूपस्योत्तरप्रदेशं
गच्छेत् ॥ पाठस्तु ॥ सुप्रजाः प्रजाः प्रजनयन् परीह्यभिरायस्पोषेण यजमान-
मिति ॥ हे मन्थिग्रह, सुप्रजाः शोभनप्रजास्त्वं यजमानमम्बन्धिनीः प्रजाः प्रज-
नयन् रायस्पोषेण सह यजमानमागच्छ । अरत्नीमन्धाने विनियुक्तस्य प्रति-
प्रस्थान्मम्बन्धिनो मन्त्रस्य ॥ पाठस्तु ॥ मज्जग्मानो दिवा पृथिव्या मन्थी
मन्थिशोचिषेति ॥ मन्थिनामको ग्रहो व्युत्क्रोकाभ्यां सज्जग्मानः सङ्गच्छमानः,
मन्थिशोचिषा मन्थिनः स्वदीप्या यूपं बिभर्तीति शेषः ॥ कात्यायनः ॥ निर-
स्तो मर्क इति प्रतिप्रस्थातेति ॥ प्रतिप्रस्थाता अप्रोक्षितं यूपशकलं निरस्येत् ।
मर्कनामकोऽसुरपुरोहितो निरस्तो निराकृतः ॥ कात्यायनः ॥ मन्थिन इति
प्रतिप्रस्थानेति ॥ प्रतिप्रस्थाता प्रोक्षितं यूपशकलमाहवनीये प्रक्षिपेत् ॥ २ ॥ ३ ॥
पाठस्तु ॥ अञ्जिन्नस्य ते देव सोम सुवीर्यस्य रायस्पोषस्य ददितारः स्यामेति ॥

पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ कात्यायनः ॥ तमनु प्रतिप्रस्थातेति ॥ प्रतिप्रस्थाता
तं होमं कुर्वाणमध्वर्युमनुसृत्य जुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥ सा प्रथमा सःस्कृति-
विश्ववारा स प्रथमो वरुणा मित्रोऽग्निः। स प्रथमो बृहस्पतिश्चिकित्वाऽस्तस्मा
इन्द्राय सुतमाजुहोत स्वाहेति ॥ पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ कात्यायनः ॥ तृपन्त्विति
जपति ॥ तृपन्तु होत्रा मधोर्यस्त्विष्टं यत्सुभृतं यत्स्वाहेति ॥ अयमपि व्याख्या-
तः ॥ ४ ॥ ५ ॥ इति सप्तमाध्याये सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥ ७ ॥

सप्तमेऽनुवाके मन्थिग्रह उक्तः ॥ अष्टमे आग्रयण उच्यते ॥ कात्यायनः ॥
आग्रयणं द्वयोर्द्वारयोः ये देवास इतीति ॥ धाराद्वये क्षरति सति आग्रयण-
नामकं ग्रहं गृह्णीयात् ॥ पाठस्तु ॥ ये देवासो दिव्येकादश स्थ पृथिव्या-
मध्येकादशस्थ । अप्सुक्षितो महिनैकादश स्थ ते देवासो यज्ञमिमं जुषध्वम् ।
उपयामगृहीतोऽस्याग्रयणोऽसि स्वाग्रयणः । पाहि यज्ञं पाहि यज्ञपतिम् ।
विष्णुस्त्वामिन्द्रियेण पातु विष्णुं त्वं पाह्यभिसवनानि पाहीति ॥ हे देवासः
देवाः, ये यूयं दिवि शुलोकं महिनेति त्रिषु स्थानेषु सम्बद्धयते । महिना
महिन्ता स्वस्वमाहात्म्येन एकादश स्थ एकादशसंख्याका भवथ । तथा पृथि-
व्यामधि एकादश स्थ एकादशसंख्याका भवथ । तथाऽप्सुक्षित अन्तरिक्षे
निवसथ एकादशसंख्याका भवथ । ते सर्वे देवा यूयं यज्ञं यजमानीयमिममा-
ग्रयणग्रहं जुषध्वम् । हे आग्रयणग्रह, त्वम् उपयामेन पात्रेण स्वीकृतो भवति।
आग्रयणोऽसि । आग्रयणनामा भवसि । सुष्टु अग्रं श्रृष्ट्यं तस्य मापकः ।
स्वाग्रयण, तादृश, त्वं यज्ञं पाहि रक्ष । यज्ञपतिं यजमानं च रक्ष । विष्णुः
यज्ञरूपी देव इन्द्रियेण स्वनामध्व्येन त्वां पातु । त्वमपि तादृशं विष्णुं पालय।
अभितः प्रातरादीनि सवनानि पालय ॥ कात्यायनः ॥ त्रिहिङ्कृत्य सोमः
पवत इतीति ॥ हिङ्कारत्रयं कृत्वा जपेदिति शेषः ॥ पाठस्तु ॥ सोमः पवते
सोमः पवते सोमः पवते अस्मै ब्रह्मणे पवतेऽस्मै क्षत्राय पवतेऽस्मै सुन्वते यज-
मानाय पवते । इष ऊर्जे पवतेऽद्भ्य ओषधीभ्यः पवते द्यावापृथिवीभ्यां पवते
सुभृताय पवते ब्रह्मवर्चसाय पवते । विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वे-
भ्यस्त्वा देवेभ्य इति ॥ सोमः पवते । पवतिर्गत्यर्थः । सोमो गच्छति । सोमः
पवते इति त्रिरावृत्तिरादरार्था । अस्मै ब्रह्मणे ब्राह्मणजातिप्रीत्यर्थं पवते सोमो
गच्छति स्वकीये कर्मणि प्रवर्तत इत्यर्थः । तथा क्षत्रियजातिप्रीत्यर्थं पवते ।
अस्मै सुन्वते सोमाभिषवं कुर्वते यजमानाय कर्मप्रीत्यर्थं पवते इषे अन्नाय

ऊर्जे रसाय च पवते । अद्भ्यो वृष्ट्यर्थम्, ओषधीभ्यो ग्रीहियवादिसिद्ध्यर्थं च पवते । द्यावापृथिवीभ्यां शुलोकभूलोकप्रीणनार्थं पवते । किञ्चात्र बहुनोक्तेनामुभूताय सर्वेषां साधुभवनाय पवते । ब्रह्मवर्चसाय ब्राह्मणानां विशिष्टवर्चोऽभिवृद्ध्यर्थं पवते । हे आग्रयणग्रह, त्वां सर्वदेवताप्रीत्यर्थं गृह्णामीति शेषः । एष स्वरप्रदेशस्तत्र स्थानम् । सर्वेभ्यो देवेभ्यस्त्वामासादयामीति शेषः ॥ १ ॥ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥ इति सप्तमाध्यायेऽष्टमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥ ८ ॥

अष्टमेऽनुवाके आग्रयणग्रह उक्तः ॥ नवमे उक्थ्यग्रह उच्यते ॥ कात्यायनः ॥ उक्थ्यमुपयामगृहीत इतीति ॥ उक्थ्यग्रहं गृह्णीयात् ॥ पाठस्तु ॥ उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा बृहद्वते वयस्वत उक्थायुवं गृह्णामि । यत्त इन्द्रवृहद्वयस्तस्मै त्वा विष्णवे त्वैष ते योनिरुक्थेभ्यस्त्वा । देवेभ्यस्त्वा देवायुवं गृह्णामि यज्ञस्यायुषे/ मित्रावरुणाभ्यां त्वा देवायुवं गृह्णामि यज्ञस्यायुषे । इन्द्राय त्वा देवायुवं गृह्णामि यज्ञस्यायुष इन्द्राग्निभ्यां त्वा देवायुवं गृह्णामि यज्ञस्यायुषे । इन्द्राय त्वा देवायुवं गृह्णामि यज्ञस्यायुष इन्द्रावरुणाभ्यां त्वा देवायुवं गृह्णामि यज्ञस्यायुषे । इन्द्रावृहस्पतिभ्यां त्वा देवायुवं गृह्णामि यज्ञस्यायुषे । इन्द्राविष्णुभ्यां त्वा देवायुवं गृह्णामि यज्ञस्यायुष इतीति ॥ हे सोम त्वमुपयामेन पात्रेण गृहीतो भवति । हे उक्थ्यग्रह, उक्थ्यायुवं शस्त्रं कामयत इत्युक्थ्यायुश्छान्दसो दीर्घः । तादृशं त्वामिन्द्राय गृह्णामि स्वीकरोमि । कीदृशयेन्द्राय बृहद्वते बृहत्सामवान् । बृहत्साममियायेत्यर्थः । वयस्वते वयः सोमरूपमन्नं तद्वते । हे इन्द्र, यत्ते बृहद्वयो महदन्नं सोमरूपमस्ति तस्मै तत्पानाऽर्थं त्वां प्रार्थय इति शेषः । हे सोम, विष्णुदेवतार्थं त्वां गृह्णामि । एष स्वरप्रदेशः तत्र स्थानम् उक्थ्येभ्यस्त्वां सादयामि । देवेभ्यो देवानामर्थाय देवायुवं देवान् कामयमानं त्वां गृह्णामि । किमर्थं यज्ञस्यायुषे यज्ञस्य सम्पूर्णतया ममाप्तिरायुर्यस्य च फलपर्यन्ततयाऽवस्थानं च आयुस्तस्मै त्वां गृह्णामीत्यर्थः । मित्रादिदेवतार्थं देवायुवं त्वां गृह्णामि । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥ २ ॥ इति सप्तमाध्याये नवमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥ ९ ॥

नवमे उक्थ्यग्रह उक्तः ॥ दशमे ध्रुवग्रह उच्यते ॥ कात्यायनः ॥ ध्रुवं मूर्धानं दिव इति ॥ ध्रुवनामकं ग्रहं गृह्णीयात् ॥ पाठस्तु ॥ मूर्धानं दिवो अरतिं पृथिव्या वैश्वानरमृतऽआजातमग्निम् । कविः स भ्राजमतिर्यि जनानामासन्ना पात्रं जनयन्त देवाः । उपयामगृहीतोऽसि ध्रुवोऽसि ध्रुवक्षितिर्ध्रुवाणां

ध्रुव नमोऽच्युतानामच्युतक्षित्तमः । एष ते योनिर्वैश्वानराय त्वेति ॥ वयं
वैश्वानरनामकमग्निं स्तुम इति शेषः । कीदृशमग्निं दिवोमूर्धानं शिरोवदुभक्त-
मदेशे सूर्यरूपेणावस्थाय सुलोकस्य भासकम् । अरतिं पृथिव्याः । रतिरूप-
रतिस्तद्रहितम् । न हि पृथिव्या उपरि कदाचिदप्यग्निरूपरमते । किन्तु दाहक-
पालकप्रकाशैः सर्वाननुगृह्णन् सर्वदा वर्तते । ऋते यज्ञनिमित्ते, आजातम् ।
आभिमुख्येनारण्योरूपक्षम् । कर्वि स्वभक्ताननुग्रहीतुमभिज्ञं, सम्राजं सम्यग्
दीप्यमानम् । जनानां यजमानानामतिथिं हविर्भिः सत्कारयोग्यमामन् = ईदृ-
क्षास्याग्नेरास्ये सुखे होतुं देवाः पात्रं सोमग्रहरससरूपमाजनयन्त सर्वत एन्द्र-
वायवादिस्थानेषूत्पादितवन्तः । हे सोम, त्वमुपयमेन पात्रेण गृहीतो भ-
वसि । हे ग्रह, त्वं ग्रहनामकोऽसि । कीदृशस्त्वं ध्रुवक्षितिः । क्षि निवास-
गणोः । स्थिरनिवासः । आर्वंश्वदेवीणां समनमवस्थानात् । ध्रुवाणामादिस्व-
स्थाख्यादीनां मध्ये ध्रुवतमः । अतिशयेन स्थिरः । अच्युतानां च्युतिरहितानां
क्षरणशून्यानाम् च्युतक्षितीनामपि मध्ये अच्युतक्षित्तमः । अच्युते क्षियन्ति
निवसन्तीत्यच्युतक्षितः । तेषां श्रेष्ठोऽसि । एष स्वरमदेशस्तवस्थानम् । वैश्वान-
नराग्नये त्वां सादयामि ॥ १ ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ सर्वमासिञ्चतीति ॥
ध्रुवपात्रस्थं सर्वं सोमं होतृचममेऽवसिञ्चेत् ॥ पाठस्तु ॥ ध्रुवं ध्रुवेण मनसा वाचा
सोममवनयामि । अथान इन्द्र इन्द्रिशोऽसपत्नाः समनसस्करादिति ॥ ध्रुवैर्गैकाग्र्येण
मनसा मन्त्रोच्चारणया वाचा ध्रुवं ध्रुवग्रहेऽवस्थितं सोममवनयामि होतृचमसे-
ऽवसिञ्चामि । अथानन्तरम् । इन्द्र इदिति । इन्द्र एव नोऽस्माकं विश्वः प्रजाः
असपत्नाः सपत्नरहिताः शत्रुशून्याः, समनसः स्थिरमनस्काश्च करतुं करोतु
॥ ३ ॥ इति सप्तमाध्याये दशमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥ १० ॥ दशमेऽनुवाके ध्रुव-
ग्रह उक्तः ॥ एकादशे विपृषां होम उच्यते ॥ कात्यायनः ॥ यस्त इति वि-
पृषां होमं जुह्वत्यध्वर्युर्वेति ॥ प्रतिप्रस्थानुद्गानादिसहितोऽध्वर्युः केवलो वा
विपृषां होमं जुह्वयात् ॥ पाठस्तु ॥ यस्ते द्रप्स स्कन्दति यस्ते अश्रुग्रावच्युतो
पिषणयोरुपस्थात् । अध्वर्योर्वा परि वा यः पवित्रात्तं ते जुहोमि मनसा वषट्-
कृतं स्वाहेति ॥ हे सोम, ते त्वदीयो यो द्रप्सो रसो रसैकदेशः स्कन्दति
भूमावन्पत्र वा पतति, ते त्वदीयो योऽश्रुः ग्रावच्युतः ग्रावणः सकाशात्पतितः ।
योऽपिषणयोरपिषवणफलकयोरुपस्थात् तत्सङ्गात् पतितो योऽश्रुध्वर्योर्वा
पवित्राद्वा परिस्कन्दति । मनसा वषट्कृतं तं तादृशं ते तव त्वदीयमथं स्वाहा-

कारेण जुहोमि ॥ कात्यायनः ॥ वेदितृणेऽध्वर्युरादत्ते मङ्गा उदक्षो गच्छन्
अन्यतरतृणं चात्वाले प्रास्यति देवानामितीति ॥ अध्वर्युर्वेद्यन्तर्गतं तृण-
द्वयं स्वीकृत्य बहिःपत्रमानार्थं प्रतिमस्याबुदगात्रादिसहितः मङ्गीभूत उद-
क्षुमुखो भूत्वा तथोरेकं तृणं चात्वाले प्राक्षिपेत् ॥ पाठस्तु ॥ देवानामुत्क्रमण-
मसीति ॥ हे चात्वाले, यस्माद्देवास्त्वत्प्रकाशात् स्वर्गं गामुत्क्रामन्ति तस्मात् त्वं
देवानामुत्क्रमणमसि ॥१॥ इति मन्त्रमाध्याये एकादशोऽनुवाकः ॥७॥११॥

एकादशानुवाके विषुषां होम उक्तः । द्वादशे ऋतुग्रहा उच्यन्ते ॥ का-
त्यायनः ॥ ऋतुग्रहैः प्रचरतो द्रोणकलञ्जादुपयामगृहीतोऽसि मधवे त्वेति ॥
द्वादशमतिमन्त्रमध्वर्योः पूर्वः पूर्वो मन्त्र उत्तर उत्तरः प्रतिमस्यातुरिति ॥
अध्वर्युः प्रतिमस्याता चोभौ ऋतुग्रहैर्द्वादशभिरनुतिष्ठतः । उपयामेत्तादयो द्वादश
मन्त्राः । तत्र षट्सु मन्त्रयुग्मेषु पूर्वः पूर्वो मन्त्रोऽध्वर्योरुत्तर उत्तरः प्रतिम-
स्यातुरिति मन्त्रविवेकः । तत्रायं प्रथमो मन्त्रः ॥ उपयामगृहीतोऽसि मधवे
त्वेति ॥ हे सोम, त्वम् उपयामयतीत्युपयामो ग्रहः । तेन गृहीतो भवसि त्वां
मधवे एतत्संज्ञकाय चैत्रमासाय त्वां गृह्णामि ॥ अथ द्वितीयः ॥ उपयामगृही-
तोऽसि माघवाय त्वेति ॥ वैशाखाय त्वां गृह्णामि ॥ अथ तृतीयः ॥ उपयाम-
गृहीतोऽसि शुक्राय त्वेति ॥ ज्येष्ठाभिमानिदेवतायै त्वां गृह्णामि ॥ अथ च-
तुर्थः ॥ उपयामगृहीतोऽसि शुचये त्वेति ॥ शुचये आषाढमासाय त्वां गृह्णामि ॥ अथ पञ्चमो मन्त्रः ॥ उपयामगृहीतोऽसि नभसे त्वेति ॥ श्रावणमासाय
त्वां गृह्णामि ॥ अथ षष्ठः ॥ उपयामगृहीतोऽसि नभस्याय त्वेति ॥ नभस्याय
एतत्संज्ञकाय भाद्रपदमासाय त्वां गृह्णामि ॥ अथ सप्तमः ॥ उपयामगृहीतोऽसीवे
त्वेति ॥ आश्वयुजमासाय सोम त्वां गृह्णामि ॥ अथाष्टमः ॥ उपयामगृहीतो-
ऽस्यूर्जे त्वेति ॥ ऊर्जे एतन्नामकाय कार्तिकमासाय सोम त्वां गृह्णामि ॥ अथ
नवमः ॥ उपयामगृहीतोऽसि सहमे त्वेति ॥ सहमे मार्गशीर्षमासाय सोम त्वां
गृह्णामि ॥ अथ दशमः ॥ उपयामगृहीतोऽसि सहस्याय त्वेति ॥ सहस्यनाम्ने
पुष्यमासाय सोम त्वां गृह्णामि ॥ अथैकादशः ॥ उपयामगृहीतोऽसि तपसे
त्वेति ॥ तपःसंज्ञकाय माघमासाय सोम त्वां गृह्णामि ॥ अथ द्वादशः ॥ उ-
पयामगृहीतोऽसि तपस्याय त्वेति ॥ तपस्याय फाल्गुनमासाय सोम त्वां गृ-
ह्णामि ॥ कात्यायनः ॥ त्रयोदशं गृहीयादिच्छन्नुपयामगृहीतोऽस्य ऋतसस्तपसे
त्वेति ॥ त्रयोदशग्रहे अनुष्ठान्तुर्षदीच्छा स्यात्तर्हि अध्वर्युस्तुत्रोदशग्रहं गृहीयात् ।

यदि नेच्छा स्यात्तर्हि न गृहीयादित्यैच्छिको विकल्पः । अहसस्पतये । अंह-
तेर्गतिकर्मणः सन्नप्रत्ययान्तस्य रूपम् । अंहसां गतीनां पतिस्रयोदशमासः
आदिश्रगतिवशेन जायते । तस्मै, हे सोम, त्वम् उपयामेन पात्रेण गृहीतोऽसि ।
तादृशं त्वां गृह्णामीति शेषः ॥१॥ इति सप्तमाध्याये द्वादशोऽनुवाकः ॥७॥१२॥

द्वादशे ऋतुग्रहा उक्ताः । त्रयोदशोऽनुवाके ऐन्द्राग्नग्रह उच्यते ॥ का-
त्यायनः ॥ ऐन्द्राग्नं ग्रहं गृह्णाति । प्रतिप्रस्यानेन्द्राग्नी इतीति ॥ प्रतिप्रसाता
इन्द्राग्निदेवताकं ग्रहं गृह्णीयात् ॥ पाठस्तु ॥ इन्द्राग्नी आगतः सुतं गीर्भिर्नभो-
वरेण्यम् । अस्य पातं धियेषिता । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राग्निभ्यां त्वेष ते
योनिरेन्द्राग्निभ्यां त्वेति ॥ हे इन्द्राग्नी, युवां सुतमभिषुतं सोमं प्रत्यागतमा-
गच्छतम् । कीदृशं सोमं, गीर्भिः स्तुतिरूपाभिर्वाग्भिर्द्युक्तमिति शेषः । नभो
नभः स्थितैः स्वर्गतिवासिभिर्देवैर्वरेण्यं प्रार्थनीयम् । अस्य सोमस्य सम्बन्धिनं
स्वकीयमंशं पातम् । युवां पिबतम् ॥ कीदृशौ धियाऽस्मद्बुद्धयेपितौ प्रार्थि-
तौ । हे सोम, उपयामेन ग्रहेण गृहीतो भवति । हे ग्रह, इन्द्राग्निभ्यां त्वां
गृह्णामि । एष खरः तव स्थानम् । इन्द्राग्निभ्यां त्वां सादयामि ॥ १ ॥ इति
सप्तमाध्याये त्रयोदशोऽनुवाकः ॥ १० ॥ १३ ॥

त्रयोदशोऽनुवाके ऐन्द्राग्नग्रह उक्तः ॥ चतुर्दशे स एवोच्यते ॥ तन्नाशं
विकल्पितो मन्त्र आम्नातः ॥ आ घा ये अग्निमिन्धते स्तृणन्ति बर्हिरानुप-
क् । येषामिन्द्रो युवा सखा । उपयामगृहीतोऽस्यग्नीन्द्राभ्यां त्वेष ते योनि-
रग्नीन्द्राभ्यां त्वेति ॥ ये यजमाना अग्निम् आ इन्धते आदीपयन्ते । घेति
अनर्थको निपातः । ये चाऽनुषङ्गा आनुपूर्व्येण बर्हिस्तृणन्ति । येषां युवा ।
जरापृत्युरहित इन्द्रः सखा मित्रलक्षणो भवति । हे सोम, तेषां सम्बन्धिन
यज्ञे उपयामेन ग्रहेण स्वीकृतो भवसि । त्वामग्नीन्द्रदेवतार्थं गृह्णामि । एष
खरप्रदेशस्तव स्थानम् । त्वां सादयामीति शेषः ॥ १ ॥ इति सप्तमाध्याये
चतुर्दशोऽनुवाकः ॥ ७ ॥ १४ ॥

चतुर्दशे ऐन्द्राग्नग्रहस्य विकल्पितो मन्त्र उक्तः ॥ पञ्चदशे विश्वेदेवग्रह
उच्यते ॥ कात्यायनः ॥ वैश्वदेवं गृह्णाति । शुक्रपात्रेण द्रोणकलशादन्वारब्धे
ओमास इतीति ॥ अध्वर्युर्यजमानेन स्पृष्टेऽस्पृष्टे वा सति द्रोणकलशात् स-
काशाच्छुक्रपात्रेण वैश्वदेवं सोमं गृह्णीयात् ॥ पाठस्तु ॥ ओमासध्वर्षणीधृतो
विश्वेदेवास आगत । दाश्वान्सो दाशुषः सुतम् । उपयामगृहीतोऽसि

विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य इति ॥ हे विश्वेदेवाः,
आगत अगच्छत । कीदृशाः, ओमासो रक्षितारः । चर्षणीधृतो मनुष्यपोषकाः ।
अनिष्टं निर्वाणं रक्षणम् । इष्टं प्राणपोषणम् । सुतम् अभिषुतं सोमं दाशुषो
दत्तवतो यजमानस्य दाश्यासः फलपूर्वं दत्तवन्तः । अन्यत् स्पष्टम् ॥ १ ॥
इति सप्तमाध्याये पञ्चदशोऽनुवाकः ॥ ७ ॥ १५ ॥

षोडशोऽपि स एवोच्यते ॥ पञ्चदशो वैश्वदेवग्रह उक्तः ॥ तत्रायं विक-
ल्पितो मन्त्र आम्नातः ॥ विश्वेदेवास आगत शृणुता म इमं हवम् । एदं
बहिर्निषीदत । उपयामगृहीतोऽसि विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्य-
स्त्वा देवेभ्य इति ॥ हे विश्वेदेवाः, यूयम् आगत अस्मद्यज्ञं प्रत्यागच्छत ।
आगत मे मदीयमिमं हवमाह्वानं शृणुत । श्रुत्वा च इदं मदीयम् इदं बहिर्निषे
आनिषीदत । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥ इति सप्तमाध्याये षोडशोऽनुवाकः ॥ ७ ॥ १६ ॥

षोडशोऽनुवाके वैश्वदेवग्रहस्य वैकल्पिको मन्त्र उक्तः ॥ एतावन्तः प्रातः-
सवनग्रहाः समाप्ताः ॥ अथ सप्तदशमारभ्य माध्यन्दिनसवनग्रहा उच्यन्ते ।
तत्र तत्र ये मरुत्वतीयग्रहाः, तेषां माध्यन्दिनप्रयोगं तिस्रिरिराह । माध्यन्दिने
सवने मरुत्वतीया गृह्यन्ते इति ॥ तेषु त्रिषु प्रथमाह ॥ कात्यायनः ॥ मरुत्वतीयं
मृत्पात्रेणन्द्रमरुत्व इतीति ॥ मृत्पात्रेण गृहीयात् ॥ पाठस्तु ॥ इन्द्र मरुत्व इह
पाहि सोमं यथा शार्याति अपिबः सुतस्य । तव प्रणीती तव शूर शर्मन्नावि-
वासन्ति कवयः सुयज्ञाः । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वत एष ते योनि-
रिन्द्राय त्वा मरुत्वत इति ॥ मरुतो नाम देवा अस्य सन्तीति मरुत्वान् ।
तस्य सम्बोधनं, हे मरुत्वः । मतुवमो रु सम्बद्धौ छन्दसीति रुत्वम् । तादृ-
शेन्द्र, त्वम् इहास्मदीये यज्ञे सोमं पाहि । पिब । यथा शार्याति । शार्यातिर्नाम
कश्चिद्राजा तस्य सम्बन्धिनि यज्ञे सुतस्याभिषुतस्य सोमस्यांशमपिबः पीतवान-
ऽसि । तद्वत् । हे शूरेन्द्र प्रणीत्या प्रणयनानुज्ञया सुयज्ञाः कल्याणयज्ञाः पूर्वं
कवयस्तव शर्मणि सुखे निमित्तभूते सति आत्रिचामं परिचरन्ति तद्दयमपि
यजमान इत्यर्थः ॥ स्पष्टमन्यत् ॥ १ ॥ इति सप्तमाध्याये सप्तदशोऽनुवाकः ॥ ७ ॥ १७ ॥

अथाष्टादशे मरुत्वतीयग्रहमाह ॥ कात्यायनः ॥ मरुत्वतीयग्रहणं मरुत्व-
न्तमिति ॥ मरुत्वतीयं ग्रहं गृहीयात् ॥ पाठस्तु ॥ मरुत्वन्तं वृषभं वावृषा-
नमकवारि दिव्यः शाममिन्द्रम् । विश्वामाहमवसे नूतनायोग्रः सहोदामिह त-
द्वेभ । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा मरुत्वत एष ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वत-

इति ॥ इहास्मदीययज्ञे तमिन्द्रं हुवेम । वयमाह्वयाम । कीदृशमिन्द्रम्, मरुद्-
गणोपेतम्, वृषभं जलवर्षितारम् । वाटधानं कामानां वर्धयितारम् । विश्वामाहं
विश्वं पालयितुं सहिष्णुम् । अनलमपि सत्यः । सहोदां बलप्रदम् । शिष्टं स्प-
ष्टम् ॥ १ ॥ इति सप्तमाध्यायेऽष्टादशोऽनुवाकः ॥ ७ ॥ १८ ॥

एकोनविंशे मरुत्वतीयमाह ॥ कात्यायनः ॥ मृत्पात्रेण मरुत्वतीयग्रहण-
मुपयामगृहीतोऽसि मरुतामोजम इतीति ॥ त्वेति मन्त्रशेषः ॥ हे मरुत्वतीयग्रह
मरुताम् ओजसे बलाय त्वां गृह्णामीति शेषः ॥ १ ॥ इति सप्तमाध्याये
एकोनविंशोऽनुवाकः ॥ ७ ॥ १९ ॥

विंशेऽपि स एव मरुत्वतीयमाह ॥ तत्रायं विकल्पितो मन्त्रः ॥ सजोषा
इन्द्र सगणो मरुद्भिः सोमं पिब वृत्रहा शूर विद्वान् जहि शत्रून् रपमृशो नुद-
स्वाथाभयं कृणुहि विश्वतो नः । उपयामगृहीतोऽमीन्द्राय त्वा मरुत्वत एष
ते योनिरिन्द्राय त्वा मरुत्वत इति ॥ हे इन्द्र, त्वं सजोषाः सह जोषमा प्रीत्या
सहितः । सगणः वस्त्रादिगणोपेतः । मरुद्भिरेकोनपञ्चाशन्मरुद्गणैः सह
एव सपरिवारः सन् सोमं पिब । अनेन सोमपानेन, हे शूर विक्रान्त, इन्द्र,
विद्वान् सर्वं जानन्, वृत्रहा वृत्रं शत्रुं हन्तीति वृत्रहा भविष्यसि । ततः शत्रून्
जहि छिन्धि । मृधः संग्रामाद्ये हतावशिष्टाः शत्रवस्तानपनुदस्व अममान्
अहत्वा पलायनार्थं प्रेरय स्वपाणदानं कुर्वित्यर्थः । अथानन्तरं नोऽस्माकम्
अभयं विश्वतः सर्वतः कृणुहि कुरु । स्पष्टमन्यत् ॥ १ ॥ सप्तमाध्याये विंशो-
ऽनुवाकः ॥ ७ ॥ २० ॥

सप्तदशादिविंशान्तेषु अनुवाकेषु मरुत्वतीयग्रहा उक्ताः । एकविंशे
महेन्द्रग्रह उच्यते ॥ कात्यायनः ॥ माहेन्द्रं ग्रहं गृह्णाति वैश्वदेववन्महां इन्द्र
इतीति ॥ यथा वैश्वदेवग्रहः शुक्रपात्रेण गृहीतः । तथा माहेन्द्रग्रहं तेनैव गृह्णी-
यात् ॥ पाठस्तु ॥ महोऽइन्द्रो नृवदाचर्षणिमा उत द्विवर्हा अमिनः सहो-
भिः । अस्मद्यग्वावृधे वीर्यायोरुः पृथुः सुकृतः कर्तृभिर्भूत् । उपयामगृहीतो-
ऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वेति । अयं महानिन्द्रो नृवन्मनुष्यव-
दाचर्षणिमाः । चर्षणयो मनुष्यास्तान् प्राति तदभीष्टभोग्यैः पूरयतीति चर्षणिमाः
यथा राजामात्यादिमनुष्यः सेवकानभीष्टभोगैरापूरयति तद्वत् । उताऽपि चायं
द्वयोः प्रकृतिविकृतिरूपयोः सोमयागयोर्वृद्धिर्यस्येति द्विवर्हा अमिनः सहोभिः
बलैरमित उपायाऽरहितः अस्मद्यक् अस्मत्सदृशः । वावृधे वृद्धिं प्राप्तः । यथा

वयमस्यानुग्रहाद् वृद्धिं प्राप्ताः तथैवाऽयमस्मदीयैर्हविर्भिविष्टद्धिः । एतदेव प्रपञ्च्यते । वीर्याय सामर्थ्यसिद्धये । कर्तृभिर्धजमानैरयं मुकुतोऽभूत् सुष्ठु वृद्धितोऽभूत् । कीदृशी तस्याभिवृद्धिः । उर्यशसा विपुलः । पृथुर्वलेन विस्तृतः । स्पष्टमन्यत् ॥ १ ॥ इति सप्तमाध्याये एकविंशोऽनुवाकः ॥ ७ ॥ २१ ॥ एकविंशे माहेन्द्रग्रह उक्तः । द्वाविंशोऽनुवाके तस्यैव विकल्पितं मन्त्रान्तरमेव माम्नायते ॥ पाठस्तु ॥ महाऽइन्द्रो यऽओजसा पर्जन्यो वृष्टिमां इव । स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे । उपयामगृहीतोऽसि महेन्द्राय त्वैष ते योनिर्महेन्द्राय त्वेति ॥ वृष्टिमान् वृष्ट्यभिमानो पर्जन्यः इन्द्रदेव इव य इन्द्रः, ओजसा बलेन महान् स इन्द्रो वत्सस्थानीयस्य यजमानस्य स्तोमैः स्तोत्रैर्वावृधे वर्द्धताम् । हे सोम त्वम् उपयामपतीत्युपयामो ग्रहः । तेन गृहीतो भवामि । हे ग्रह, त्वां महेन्द्रदेव-तार्थं गृह्णामीति शेषः । एष खरप्रदेशः तव स्थानम् । त्वां महेन्द्राय सादयामीति शेषः ॥ १ ॥ इति सप्तमाध्याये द्वाविंशोऽनुवाकः ॥ ७ ॥ २२ ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमोहार्दं निवारयन् ॥

पुमर्थाश्चतुरो दद्याद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराज-परमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-श्रीवीरबुक्कभूपाल-साम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण त्रिरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे काण्व-संहिताभाष्ये सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

यस्य निःस्वसितं वेदा यो वेदभ्योऽपिलं जगत् ॥

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

सप्तमाध्याये उपांशुग्रहादिसवनद्वयगतमन्त्रा उक्ताः ॥ अष्टमाध्याये ता-
 तीयसवनगतादिसग्रहादिमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ आदित्यं ग्रहं गृह्णाति
 सःस्त्रेभ्यः कदाचनेतीति ॥ गृहीतहोमशेषाः सःस्त्रवाः । तेभ्यः सकाशा-
 दादित्यग्रहं गृह्णीयात् ॥ पाठस्तु ॥ कदाचन स्तरीरासि नेन्द्र सश्वसि दाद्युषे ।
 उपोपेन्तु मघवन् भूय इन्तु ते दानं देवस्य पृच्यत आदित्येभ्यस्त्वेति ॥ हे
 इन्द्र त्वं कदाचन कदाचिदपि स्तरीर्हिसकोन भवसि । किन्तु दाद्युषे षष्ठ्यर्थे
 चतुर्थी । हविर्दत्तवतो यजमानस्य हवींषि सश्वसि सेवसे । कुत्र उपोपेन्तु यज-
 मानस्यात्यन्तसमीप एव । हे मघवन् धनवन् इन्द्र, भूय इन्तु पुनरेव च
 देवस्य तदवदानं देयं हविः पृच्यते । सम्ब्रूयते । यजमानेन हविर्दीपित इत्य-
 र्थः । हे ग्रह, आदित्येभ्यो देवेभ्यस्त्वां गृह्णामीति शेषः । अत्रेन्द्रनामभिर-
 ऽप्यादित्य एव स्तूयते ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ पुनः कदाच नेतीति ॥ गृह्णीया-
 दिति शेषः ॥ पाठस्तु ॥ कदाच न प्रयुच्छस्युभे निपासि जन्मनी । तुरीया-
 दित्यसवनं त इन्द्रियमातस्या अमृतं दिव्यादित्येभ्यस्त्वेति ॥ नशब्दो
 निषेधार्थः । युच्छिधातुः प्रमादार्थः । हे इन्द्र, त्वं कदाचिदपि न प्रमाद्यसि ।
 किन्तु वर्तमानं भावि चेत्युभे यजमानस्य जन्मनी पासि नितरां पा-
 लयसि । तृतीयमित्यस्मिन् वर्णव्यत्ययेन तुरीयशब्दः प्रयुक्तः । हे आदित्य,
 तृतीयं सवनं ते त्वदीयम् । तस्मिन् सवने इन्द्रियाभिष्टदिकारणमऽपृतस-
 मानं हविः दिवि द्युलोकसमाने आतस्थौ । आभिमुख्येन स्थितम् । स्पष्टमन्य-
 त् ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ दध्ना श्रीणास्त्रेनं यज्ञो देवानामितीति ॥ एत-
 मादित्यग्रहं दध्ना मिश्रितं कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥ यज्ञो देवानां प्रसेति सुम्नमा-
 दित्यासो भवता मृळयन्तः । आ वोऽर्वाची सुमतिर्वृत्त्यादः शोश्चिद्या वरिवो-
 विचारासदादित्येभ्यस्त्वेति ॥ यज्ञो देवानामादित्यानां सुम्नं सुखं कर्तुं प्रसेति ।
 आदित्यासो आदित्या यृषं मृडयन्तः अस्माकं सुखयितारो भवत । वो युष्माकं
 या सुमतिः शोभनबुद्धिः भक्तानुग्रहपरा सा अर्वाची अस्मदभिमुखी आववृत्त्यात्
 आवर्तताम् । पुनरपि सैव विशेष्यते । अंहोर्हननशीलस्य पापिनोऽपि चिद चेत्

या सुमतिः वरिवो धनं तद्वेत्तीति, तत्रातिशयेन वेत्त्रीलब्धी वा वरिवो वित्तरा । असत् । भवेत् । सा सुपतिरस्यदभिमुखी सनी आवृष्ट्यादिति सम्बन्धः । हे सोम, त्वामादिसेभ्यो देवेभ्यो दध्ना मिश्रयामीति शेषः ॥ कात्यायनः ॥ उपांशुसवनेन मिश्रयति विवस्वा आदिसेतीति ॥ उपांशुग्रहार्थं येन पाषाणेन सोमोऽभिषूयते । तादृशेन पाषाणेन एनं ग्रहं मिश्रीकुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥ विवस्वा आदिसैष ते सोमपीथस्तास्मिन्मत्स्वेति ॥ हे आदित्य, त्वं तमांसि विवासयतीति विवस्वान् विशिष्टधनवान् वा । एष पात्रस्थस्ते तव सोमपीथः पातव्यः सोमस्तस्मिन्मत्स्व तृप्तिं कुरु ॥ ३ ॥ इत्यष्टमाध्याये प्रथमोऽनुवाकः ॥ ८ ॥ १ ॥

प्रथमेऽनुवाके आदिसग्रह उक्तः ॥ द्वितीये सोमविशेषावेक्षणमुच्यते ॥ कात्यायनः ॥ श्रदस्मै इत्येतमवेक्षते पत्नीति ॥ पत्नी एतं सोमविशेषं पश्येत् ॥ पाठस्तु ॥ श्रदस्मै नरो वचमे दधातन यदाशीर्दा दम्पती वाममश्नुतः । पुमान् पुत्रो जायते विदन्ते वस्वऽथाऽविश्वाहारप एधते गृहे इति ॥ हे नरो नेतारः, ऋत्विग्यजमानपतयो यूयम् आशीर्दा मुञ्चोपश्रान्दसः । आशिषो दातारः । ते यूयम् अस्मै वचमे आशीर्वचनाय श्रदधातन श्रदां कुरुत । आस्तित्यबुद्धिं कुरुतेत्यर्थः । दम्पती पतिपत्न्यौ पत्नीयजमानौ वामं वननीयसम्बन्धि भजनीयं यज्ञफलम् अश्नुतः प्राप्नुतः । किञ्च, इहैव पुमान् पुंस्त्वधर्मसम्पन्नः पुत्रो जायते, वसु धनं विदन्ते लभते । अथाऽनन्तरं विश्वाहा सर्वदा यः पापरहितः सन् गृहे एधते वर्धते ॥ १ ॥ इत्यष्टमे द्वितीयोऽनुवाकः ॥ ८ ॥ २ ॥

द्वितीये सोमविशेषावेक्षणमुक्तम् ॥ तृतीये सावित्रग्रह उच्यते ॥ कात्यायनः ॥ उपांश्वन्तर्यामपात्रयोरन्यतरेण सावित्रग्रहणं वाममथेतीति ॥ उपांशुग्रहान्तर्यामिग्रहयोरेकतरेण सावित्रग्रहं गृह्णीयात् ॥ पाठस्तु ॥ वाममद्य सावितर्वाममुश्रो दिवे दिवे । वाममस्यभ्यः सावीः । वामस्य हि क्षयस्य देवभूरेरया धिया वामभाज स्यामेति ॥ हे सवितः, सर्वस्य प्रेरयितर्देव, अद्यास्मिन् दिने अस्मभ्यं वामं वननीयं कर्मफलं सावीः प्रेरय देहीत्यर्थः । श्रोऽपि समनन्तरदिने वामं सावीः । दिवे दिवे तत ऊर्ध्वं दिने दिने वामं सावीः । हि यस्मात् कारणात्, हे देव, वामस्य वननीयस्य भूरेर्विस्तीर्णस्य क्षयस्य स्वर्गनिवाससिद्धये अथाऽनया धिया श्रदायुक्तया बुद्ध्या वामभाजः स्याम वननीयकर्मणुष्ठानिनो भवेम । तस्मादस्मभ्यं वननीयं कर्मफलं प्रेरयतीतिसम्बन्धः ॥ १ ॥ इत्यष्टमाध्याये तृतीयोऽनुवाकः ॥ ८ ॥ ३ ॥

तृतीयेऽनुवाके सावित्रग्रह उक्तः । चतुर्थेऽनुवाके तस्यैव विकल्पितो मन्त्र आम्नायते ॥ उपयामगृहीतोऽसि सावित्रोऽसि चनोधाश्चनो मयि धेहि । जिन्व यज्ञपतिं भगाय सवित्रे त्वेति ॥ हे सोम, त्वम् उपयामेन ग्रहेण गृहीतो भवामि । हे ग्रह, त्वं सावित्रोऽसि । सवितृदेवत्योऽसि । चनः अन्नं धत्त इति चनोधाः । अन्नस्य धारयिता भवामि । चनो मयि धेहि स्थापय यज्ञं जिन्व मीणय यज्ञपतिं यजमानं तर्पय । भगाय ऐश्वर्यगुणयुक्ताय । ऐश्वर्यस्य सम-ग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः * ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीर्यते इति । तादृशाय सवित्रे सर्वप्राणिनां प्रसवकर्त्रे देवाय त्वां गृह्णामीति शेषः ॥ १ ॥ इत्यष्टमाध्याये चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ८ ॥ ४ ॥

चतुर्थेऽनुवाके सावित्रग्रहस्य विकल्पिको मन्त्र उक्तः ॥ पञ्चमे वैश्वदेव-ग्रह उच्यते ॥ कात्यायनः ॥ महावैश्वदेवग्रहणमुपयामगृहीतोऽसि सुशर्माऽमी-ति ॥ वैश्वदेवग्रहं गृह्णीयात् ॥ पाठस्तु ॥ उपयामगृहीतोऽसि सुशर्मासि सुप्र-तिष्ठानो बृहदुक्षाय नमः । विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य एष ते योनिर्विश्वेभ्यस्त्वा देवेभ्य इति ॥ हे वैश्वदेवग्रह, त्वं सुशर्मासि शोभनं शर्म सुखं यस्य तादृशो भवामि । सुप्रतिष्ठानो पात्रे स्थितिर्यस्य तादृशोऽसि बृहदुक्षाय बृहन्महोश्वा-ऽमो उक्षः मेक्ता चेति बृहदुक्षः । प्रजापतिर्वै बृहदुक्ष इति श्रुतेः । तादृशाय जगदुत्पादयित्रे विश्वदेवात्मकाय प्रजापतये । नम इत्यन्वताम् । सोमाख्यमन्नं गृह्णामीत्यर्थः । स्पष्टमन्यत् ॥ १ ॥ इत्यष्टमाध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ८ ॥ ५ ॥

पञ्चमेऽनुवाके महावैश्वदेवग्रह उक्तः । षष्ठे पानीवतग्रह उच्यते ॥ का-त्यायनः ॥ उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतिमुत्तस्येति प्रतिप्रस्थाता पानीवतं ग्रहं गृह्णामीति ॥ प्रतिप्रस्थाता पानीवतारूपं ग्रहमुपश्वन्तर्यामपात्रयोरेकतरेण गृह्णीयात् ॥ पाठस्तु ॥ उपयामगृहीतोऽसि बृहस्पतिमुत्तस्य ते देवसोम । इन्द्र इन्द्रियावतः पत्नीवतो ग्रहोऽक्रध्यासमिति ॥ हे इन्द्रो देदनरूपदेव दीप्यमान-सोम, बृहस्पतिमुत्तस्य बृहतो यज्ञाख्यकर्मणः पत्न्या पालयिष्या यजमानेनाभि-पुतस्य ते तव सम्बन्धी उपांशुप्रभृतीन् पात्रविशेषान् क्रध्यासम् । कीदृशान् इन्द्रियावतो वीर्यावतः । पत्नीवतः पत्नीयुक्तान् । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥ का-त्यायनः ॥ प्रचरणीशेषेण श्रीणात्येनमहं परस्तादितीति ॥ प्रचरणीपात्रे अव-शिष्टेनोदकेन पानीवतं ग्रहं मिश्रीकुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥ अहं परस्तादहमवस्ता-द्यदन्तरिक्षं तदु मे पिता स । अहं सूर्यमुभयतो ददर्शाहं देवानां परमं गुहा

यत् इति ॥ अत्र मन्त्रद्वष्टा स्वस्य सर्वगतपरमात्मरूपमभिप्रेत्य ब्रूते । अहं परमात्मरूपः सन् परस्तादुपरितनयुक्तोकादौ अवस्तादधस्तनभूलोकादौ तिष्ठामीति शेषः । यदन्तरिक्षं मध्यवर्तिलोकरूपमस्ति तद् तदेव मे देहधारिणो मम पिता सवितृवत् प्रतिपालको बभूव । अहं परमात्मरूपः सन्, उभयत उपरिष्ठादधस्ताच्च स्थित्वा सूर्यं ददर्श दृष्टवानस्मि । यद्वस्तु देवानामिन्द्रादीनां हृदये परमं गुहा अत्यन्तगोप्यम् अस्ति तदेवाऽहमस्मि ॥ कात्यायनः ॥ अग्रे वाक्पत्नीत्युत्तरार्द्धे जुहोतीति । अहवनीयस्योत्तरभागे जुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥ अग्रे वाक् पत्नि सजृर्देवेन त्वष्टा । सोमं पिव स्वाहेति ॥ हे वाक् वागभिमानिनि, हे पत्नि पत्नीवन्नम्रे, त्वष्टा देवेन सह सजुः समानधीतिः सन् सोमं पिव स्वाहा सुहुतमस्तु ॥ २ ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ उद्गातृवत् पत्नीं मदः प्रवेश्यापरणोत्तरत उपविष्टामुद्गातारं समीक्षयति प्रजापतिर्दृष्टामीतीति ॥ पूर्वमुद्गातुर्यथा सदःप्रवेशनं तथा पत्नीं मदः प्रवेशयित्वा पश्चिमोत्तरदिशोमेध्यं स्थितां तमुद्गात्रा समीक्षयेत् । पत्नी उद्गातारं पश्येदित्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ प्रजापतिर्दृष्टामि रेतोधा रेतो मयि धेहि । प्रजापतेस्ते वृष्णो रेतोधमो रेतोधा मयीयेति ॥ प्रजापतिः प्रजानां पालकः त्वं वृषामि मेक्ता भवमि । रेतोधा रेतमो वीर्यस्य धारयिताऽमि । एवंगुणयुक्तस्मां रेतो वीर्यं मयि धेहि स्थापय तदनन्तरं वृष्णः वीर्यस्य मेकतुः रेतोधमो रेतमो धारयितुः प्रजापतेस्ते तवानुग्रहाद् रेतोधां रेतमो धारयितारं प्रजोत्पादलपमर्थं पुत्रम् अशीय प्राप्नुयाम ॥ ४ ॥ इत्यष्टमाध्याये पष्ठोऽनुवाकः ॥ ८ ॥ ६ ॥

पष्ठोऽनुवाके पत्नीवत्प्रहृष्टप्रहणयुक्तम् ॥ मममे हारियोजनग्रह उच्यते ॥ कात्यायनः ॥ द्रोणकलशे हारियोजनग्रहमुपयामगृहीतोऽमि हरिस्मीति ॥ द्रोणकलशस्थं सोमं हारियोजनग्रहे गृह्णीयात् ॥ पाठस्तु ॥ उपयामगृहीतोऽमि हरिरमि हारियोजनो हरिभ्यां त्वेति ॥ हे सोम, त्वं हारिः हरितवर्णोऽमि । हे ग्रह, त्वं हारियोजनः । हारी इन्द्राश्वौ तौ येन प्रयुज्येते इति हारियोजनः इन्द्रः । तत्तम्वन्धी भवमि । सोम त्वां हरिभ्यां गृह्णीमीति शेषः ॥ कात्यायनः ॥ धानाश्चावपति हयोर्धाना इतीति ॥ अष्टयवान् हारियोजनग्रहे निदध्यात् ॥ पाठस्तु ॥ हयोर्धाना स्थ सह सोमा इन्द्रायेति ॥ सहसोमाः सोमेन सहिता धाना अष्टयवा इन्द्रायेन्द्रस्य हयोरेकवयोर्भवन्ति ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ यस्ते देव सोमाश्चमनिरिति प्राणभक्षं भक्षयित्वेति ॥ प्राणधारणार्थं यो भक्षस्तं

भक्षयेत् ॥ पाठस्तु ॥ यस्ते देव सोमाश्चमनिर्भक्षो यो गोमनिः तस्य त
इष्टयजुषस्तुनस्तोमस्य शस्तोक्थस्योपहूत उपहूतस्य भक्षयामीति ॥ हे देव
दीप्यमान सोम, ते त्वदीयो यो भक्षः अश्चमनिः अश्वानां दाता, यो भक्षो
गवां दाता तस्य तादृशस्य ते त्वदीये तादृशं भक्षम् उपहूतः अभ्यनुज्ञातोऽहं
भक्षयामि । कीदृशस्य ते । इष्टयजुषः । इष्टानि यजूर्णि यस्य स इष्टयजुस्तस्य,
स्तुनस्तोमस्य उद्गातृभिस्तुतानि स्तोत्राणि यस्य स तथोक्तः, तस्य । होतृभिः
शस्तानि उक्थानि शस्त्राणि यस्य स शस्तोक्थः तस्य । उपहूतस्याभ्यनु-
ज्ञातस्य ॥ २ ॥ इत्यष्टमाध्याये सप्तमोऽनुवाकः ॥ ८ ॥ ७ ॥

सप्तमे प्राणभक्षग्रह उक्तः । अष्टमे षोडशी ग्रह उच्यते ॥ कात्यायनः ॥ षोड-
शिनं स्वादिरेण चतुस्मक्तिनाऽऽतिष्ठ युक्ष्वाहीति वेति ॥ आतिष्ठ वृत्रहत्रयं युक्ष्वा-
हिकेशिनेभ्यनयोभ्यनरं मन्त्रमुच्चारयन् स्वादिष्टयक्षनिर्मितेन चतुर्मेघपात्रेण
षोडशिग्रहं गृह्णीयादिति शेषः । तयोरेकतरपाठस्तु ॥ युक्ष्वाहिकेशिना हरी वृषणा
कक्ष्यमा । अथान इन्द्र सोमपा गिरामुपश्रुतिं चर । उपयामगृहीतोऽमीन्द्राय त्वा
षोडशिन एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिन इति ॥ हे इन्द्र, हि यस्मात् कारणात् हरी
हरितवर्णो त्वदीयावश्वौ, युक्ष्वरथेन संयोजय । कीदृशो हरी । केशिना केशिनौ
प्रलम्बकेशरौ वृषणा वृषणौ मचनमर्थौ । कक्ष्यमा, कक्ष भव कक्ष्यः ॥ अश्वमन्नाह-
रज्जुस्तया पूर्यते मन्त्रव्यत इति कक्ष्यमा । अथानन्तरं सोमपाः सोमपानं
कुर्वन्तोऽस्मदीयानां गिराम कक्ष्यजुःसामलक्षणानां वाचांमुपश्रुतिम् उपश्रवणं
चर गच्छ प्राप्तुहि । शृण्वन्पर्यः । षोडशिने षोडशो ग्रहोऽस्यास्तीति षोडशी
तादृशेन्द्राय, हे ग्रह, तादृशं त्वां गृह्णामीति शेषः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ १ ॥
अथान्यतरपाठस्तु ॥ आतिष्ठ वृत्रहन् रथं युक्ता ते ब्रह्मणा हरी । अर्वाचीनं
सु ते मनो ग्रावा कृणोतु वग्नुना । उपयामगृहीतोऽमीन्द्राय त्वा षोडशिन
एष ते योनिरिन्द्राय त्वा षोडशिन इति ॥ हे वृत्रहन्निन्द्र, ते त्वदीयौ हरी अश्वौ
ब्रह्मणा त्रयीलक्षणेन मन्त्रेण युक्ता रथेन संयुक्ता, अतस्त्वं रथमातिष्ठ आरोहणं
कुरु । किञ्च ग्रावा, अयं सोमाभिषवपाषाणस्ते रथमारूढस्य तव मनो वग्नुना ।
वग्नुरिति वाङ्मनामसु पठितः । वाचा श्रवणीयेनाभिषवशब्देन स्पृष्टु
अर्वाचीनम् अस्ववज्ञाभिमुखं कृणोतु करोतु ॥ १ ॥ इत्यष्टमाध्यायेऽष्टमनवमा-
वनुवाकौ ॥ ८ ॥ ८ — ९ ॥

अष्टमनवमयोः षोडशिग्रह उक्तः । दशमे तस्यैव वैकल्पिकमन्त्र आम्नातः ॥

इन्द्रमिद्धरी बहतो ऽपतिधृष्टशवसम् । ऋषीणां च स्तुतीरुपयज्ञं च मानुषा-
णाम् । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा षोडशिन एष ते योनिरिन्द्राय त्वा
षोडशिन इति॥ हे हरी इन्द्रस्याञ्चौ युवामपतिधृष्टशवसम् । प्रतिधर्षयितुं शक्यं
प्रतिधृष्टं न प्रतिधृष्टमपतिधृष्टं तादृशं शवो बलं यस्य सः । तमिन्द्रमिन्द्रमेवम् ।
ऋषीणां वमिष्टादीनां स्तुतीः उपसमीपं मानुषाणां यजमानानां च यज्ञसमीपं
बहतः प्रापयतः ॥ १ ॥ इत्यष्टमाध्याये दशमोऽनुवाकः ॥ ८ ॥ १० ॥

दशमे षोडशिग्रहस्य वैकल्पिकमन्त्र उक्तः । एकादशे तस्योपस्थानमुच्यते
कात्यायनः ॥ उपस्थायैनं यस्मान्न जात इतीति षोडशीग्रहमुपतिष्ठेत् ॥
पाठस्तु ॥ यस्मान्न जातः परोऽन्यो अस्ति यऽआविवेश भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया मरराणस्त्रीणि ज्योतींषि सचते मषोडशीति ॥ यस्मात्
पुरुषात् अन्यो व्यतिरिक्तः पर उत्कृष्टो देवादिर्जातः सम्भूतो नास्ति । यो
विश्वानि सर्वाणि भूतजातानि आविवेश अन्तर्यामिरूपेण प्रविष्टवान् । प्रजा-
पतिश्च उत्पन्नानां प्रजानां पालकः । प्रजया प्रजारूपेण मरराणः सम्यग्
रममाणः त्रीणि ज्योतींषि विषयज्ञापकानि अग्निवाय्वादिन्यलक्षणानि
सचते मेवते । स्वतेजसा ज्योतिषां मेवनं जडज्योतिषामुज्जीवं करोतीत्यर्थः ।
येन मूर्धस्तपति तेजमद् इत्यादिश्रुतेः । य एवंरूपः स एव षोडशी षोडश-
कलात्मकालिङ्गशरीरोपहितोऽसौ सर्वव्यवहाराश्रयो भवतीत्येवं षोडशिग्रहरूप
इति स्तूयते ॥ १ ॥ इत्यष्टमाध्याये एकादशोऽनुवाकः ॥ ८ ॥ ११ ॥

एकादशे षोडशिग्रहोपस्थानमुक्तम् । द्वादशे तस्य भक्षणमुच्यते ॥ का-
त्यायनः ॥ इन्द्रश्च सम्राज्जिति भक्षणमिति ॥ पाठस्तु ॥ इन्द्रश्च सम्राड् वरुण-
श्च राजा तौ ते भक्षं चक्रतुरग्र एतम् । तयोरहमनुभक्षं भक्षयामि वाग्देवी
जुषाणा सोमस्य तृप्यतु सह प्राणेन स्वाहेति॥ यो वाजपेययाजी स सम्राट् ।
पठेद्वर्ययुक्तः इन्द्रश्च राजा राजसूययाजी वरुणश्च । राजा वै राजसूयेनेष्टा
भवति । सम्राड् वाजपेयेनेति श्रुतेः । तान्द्रिन्द्रावरुणौ, हे षोडशीग्रह, ते त्व-
दीयेमेनं सोममग्रे प्रथमं भक्ष्यं चक्रतुः कृतवन्तौ । तयोरिन्द्रवरुणयोः सम्बन्धिनं
भक्ष्यमनु पश्चादहं भक्ष्यं भक्षयन् सोमं भक्षयामि । जुषाणा मदीयेन भक्षणेन
मेवमाना वाग्देवी सरस्वती प्राणेन प्राणदेवतया सह समस्य भक्ष्येण तृप्यतु
तृप्ता भवतु।स्वाहा मुहुतमस्तु ॥१॥ इत्यष्टमाध्याये द्वादशोऽनुवाकः ॥ ८ ॥ १२ ॥

द्वादशे षोडशिग्रहस्य भक्षणमुक्तम् ॥ त्रयोदशादिषु चतुर्ष्वनुवाकेषु

अतिग्राह्या उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ पृष्ठ्यः षष्ठस्तत्रातिग्राह्यग्रहणं ज्येष्ठे पूर्वोऽग्रे
पवस्वोत्तिष्ठन्नदश्रमित्यन्वहमेकैकमग्रे वर्चस्वन्निन्दौजस्वन्तसूर्य भ्राजस्वन्निति
भक्षणमिति ॥ अस्ति कश्चिन् पृष्ठ्यः षडहाख्यः क्रतुः । स तु षडभिरहोभिर्नि-
ष्पाद्यः । तत्र पूर्वस्मिन्नः सूर्ये क्रमेणाग्रे पवस्वेत्यादिभिस्त्रिभिर्मन्त्रैरतिग्राह्यान्
गृह्णीयात् । तथैवाग्रे वर्चस्वन्नित्यादितिभिर्मन्त्रैस्तत्तद्ग्रहशेषं भक्षयेत् । तत्र
योऽयं प्रथमातिग्राह्यग्रहणार्थाऽग्रे पवस्वेति मन्त्रस्तेन सह विकल्पयितुमन्यः
कश्चिद्ग्रहणमन्त्रो भक्षणमन्त्रश्चास्नातः ॥ तयोः पाठस्तु ॥ अग्रे आयूषि
पवस आमुवोर्जमिषं च नः । आरे बाधस्व दुच्छनाम् । उपयामगृहीतोऽस्यग्नये
त्वा वर्चम एष ते योनिरग्नये त्वा वर्चमे । अग्रे वर्चस्वन वर्चस्वास्त्वं देवेष्वसि ।
वर्चस्वानहं मनुष्येषु भूयाममिति ॥ हे अग्रे आयूषि पवसे गमय । अस्मान्
अतिदीर्घकालजीवनमानयेन्न्यर्थः । किञ्च, नोऽस्मभ्यम् ऊर्जं विशिष्टं क्षीरादि-
रसम् ईषमन्नं वा सुव प्रेरय । देहीत्यर्थः । दुच्छुनामस्माकं दौर्गत्यम् आरे दूर
एव बाधस्व विनाशय । उपयामयतीत्युपयामो ग्रहः । हे सोम, त्वं तेन गृहीतो-
ऽसि । हे ग्रह, त्वां तेजस्विनेऽग्नये गृह्णामीति शेषः । एष खरप्रदेशस्तत्र स्था-
नम् । तस्मिन्नग्निप्रीत्यर्थं त्वां मादयामीति शेषः । हे वर्चस्वन्नतिविशिष्टतेजः-
सम्पन्नाग्रे, त्वं देवेष्विन्द्रादिषु मध्ये वर्चस्वानतिदीप्तिमानसि । अतस्त्व-
त्प्रमादादहमपि मनुष्येषु मध्ये वर्चस्वान् ब्रह्मवर्चसमम्पन्नो भूयामम् ॥ १ ॥
इत्यष्टमाध्याये त्रयोदशोऽनुवाकः ॥ ८ ॥ १३ ॥

त्रयोदशे प्रथमातिग्राह्यस्य वैकल्पिकौ ग्रहणभक्षणमन्त्रौ उक्तौ ॥ चतुर्दशे
सूत्रोक्तौ ग्रहणमन्त्रावुच्येते ॥ तयोः पाठस्तु ॥ अग्रे पवस्व स्वपा अस्मे
वर्चः सुवीर्यम् । दधद्रयि मयिपोषम् । उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा वर्चम एष
ते योनिरग्नये त्वा वर्चमे । अग्रे वर्चस्वन वर्चस्वास्त्वं देवेष्वसि । वर्चस्वानहं
मनुष्येषु भूयाममिति ॥ हे अग्रे स्वपाः, अप इति कर्मनाम् । शोभनकर्मा त्वम्
अस्मे अस्मभ्यं सुवीर्यं शोभनमामर्त्योपेतम् । ब्रह्मवर्चो ब्रह्मवर्चसं पवस्व गमय ।
किं कुर्वन् । मयि यजमाने । रयि धनं पोषं पुष्टिं च दधद् धारयन् । स्थापय-
न्नित्यर्थः । अन्यद्व्याख्यातम् ॥ १॥ इत्यष्टमाध्याये चतुर्दशोऽनुवाकः ॥ ८ ॥ १४ ॥

चतुर्दशेऽनुवाके प्रथमातिग्राह्यस्य ग्रहणभक्षणमन्त्रावुक्तौ ॥ पञ्चदशे द्वि-
तीयातिग्राह्यस्य ग्रहणभक्षणमन्त्रावुच्येते ॥ तयोः पाठस्तु ॥ उत्तिष्ठन्नोजसा सह
पीत्वी शिमे अवेपयः । सोममिन्द्रचमू सुतम् । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वौजसे

एष ते योनिरिन्द्राय त्वौजसे । इन्द्रौजस्वन्नोजस्वाःस्त्वं देवेष्वमि । ओजस्वान्
अहं मनुष्येषु भूयाममिति ॥ हे इन्द्र, त्वमोजसा बलेन सहोतिष्ठंश्चमू चम्वां
अभिषवणचर्मणीत्यर्थः । सुतमभिषुतं सोमं पीत्वा पीत्वा शिमे हन्तु अवेपयः
वेपनं कम्पनमकरोः । हे ग्रह ओजस्वन्, इन्द्राय त्वां गृह्णामि मादयामि चेति
शेषः । हे ओजस्वन् ओजो बलं तद्वादिन्द्र, त्वं देवेषु मध्ये यथा ओजस्वान् वि-
शिष्टवल्गुसम्पन्नोऽसि तथाऽप्यहं त्वत्प्रमादान्मनुष्येषु मध्ये ओजस्वान् भूया-
सम् ॥ १ ॥ इत्यष्टमाध्याये पञ्चदशोऽनुवाकः ॥ ८ ॥ १५ ॥

पञ्चदशे द्वितीयातिग्राह्यग्रहणभक्षणमन्त्रावुक्ता ॥ षोडशेऽनुवाके तृतीया-
ऽतिग्राह्यस्य ग्रहणभक्षणमन्त्रौ उच्येते ॥ तयोः पाठस्तु ॥ अहश्चरमस्य केतवो
विरश्मयो जनांऽअन् । भ्राजन्तो अग्रयो यथा । उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय
त्वा भ्राज एष ते योनिः सूर्याय त्वा भ्राजे । सूर्य भ्राजस्वन् भ्राजस्वाःस्त्वं
देवेष्वमि । भ्राजस्वानहं मनुष्येषु भूयाममिति । अस्य सूर्यस्य केतवः प्रज्ञा-
लक्षणरश्मयः किरणा जनान् अनुमन्तान् प्राणिनोऽनुगता अहश्च विशेषेण
दृश्यन्ते । दृशिषातोऽलान्दमं रूपम् । तत्र दृष्टान्तः । भ्राजन्तो ज्वलन्तोऽग्रयो
यथा जनानुगता दृश्यन्ते तद्वद् भ्राजे भ्राजति इति भ्राज तस्मै सूर्याय, हे
ग्रह, त्वां गृह्णामि । भ्राजे सूर्याय त्वां मादयामि च । हे भ्राजस्वन् सूर्य, त्वं
देवेषु मध्ये यथा भ्राजस्वन् भ्राजिष्णोऽसि । तथाऽप्यहं मनुष्येषु मध्ये
भ्राजस्वान् भूयामम् ॥ १ ॥ इत्यष्टमाध्याये षोडशोऽनुवाकः ॥ ८ ॥ १६ ॥

षोडशेऽनुवाके तृतीयातिग्राह्यग्रहणभक्षणमन्त्रावुक्ता ॥ सप्तदशे गवामयना-
ऽऽरुह्यस्य मन्त्रमन्त्रस्य त्रिपुत्रन्नामके मध्यमे निर्मार्यपशूनाल्भ्यादूर्ध्वमति-
ग्राह्यग्रहणमुच्यते ॥ कान्यायनः ॥ सौर्य उपालभ्य उदुत्यमिति अतिग्राह्यग्रहण-
मिति ॥ पाठस्तु ॥ उदुत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय
सूर्यम् । उपयामगृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राज एष ते योनिः सूर्याय त्वा
भ्राजे । सूर्य भ्राजस्वन् भ्राजस्वाःस्त्वं देवेष्वमि । भ्राजस्वानहं मनुष्येषु
भूयाममिति ॥ जातवेदसं जातानां वेदितारं जातप्रज्ञं वा देवं देवनशीलम् ।
एवं गुणां विशिष्टं महानुभावं सूर्यं केतवः प्रज्ञापका रश्मयः अश्वा वा उद्वह-
न्ति । उदयाचलादुद्वहमयन्ति । किमर्थं, विश्वाय, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी विश्वस्य सर्व-
स्य जगतो दृशे दर्शनाय । प्रसिद्धमन्यत् ॥ अथ भक्षणमन्त्रपाठः ॥ अति-
ग्राह्यान्तरं पिवेव लक्षणमन्त्रस्यास्य पृथगाम्नातत्वात्तद्वदत्राप्येतेन मन्त्रेण भक्षणं

प्राप्तम् । तथापि कात्यायनेन भक्षवर्जमिति भक्षणस्य निषिद्धत्वात्मन्त्रात्मना त-
त्रैवार्थपरिहाराय होमानन्तरमयं मन्त्रो जाप्य इत्यभिप्रायः । अक्षरार्थस्तु पूर्वव-
द्योज्यः ॥ १ ॥ इसष्टमाध्याये सप्तदशोऽनुवाकः ॥ ८ ॥ १७ ॥

सप्तदशे विपुवर्माया निग्राह्यातिग्रहणभक्षणमन्त्रवृत्तौ । अष्टादशे तत्रैव
विकल्पितौ ग्रहभक्षणमन्त्रावात्मनातौ ॥ तयोः पाठस्तु ॥ चित्रं देवानामुदगा-
दनीकं चक्षुर्भित्रस्य वरुणस्याग्रेः । आपाद्यावा पृथिवीऽअन्तरिक्षं, सूर्य आत्मा
जगत्स्थुषश्च । उपयामशृहीतोऽसि सूर्याय त्वा भ्राज एष ते योनिः सूर्याय
त्वा भ्राज ॥ सूर्य भ्राजस्व न भ्राजस्वाऽस्त्वं देवेष्वपि । भ्राजस्वानहं मनुष्येषु
भृगानमिति ॥ चित्रं रक्तध्वेतादिविविधवर्णानां देवानां रक्षीनामनीकं मन्य-
मदृशमण्डलम् उदगात् उदयच्छत् । कीदृशं मित्रादिदेवोपलक्षितस्य कृत्स्नस्य
प्राणजानस्पन्दित्याविष्टान्त्वान्चक्षुःस्थानीयम् । तन्मण्डलस्यः सूर्यो जगतो
जङ्गमस्य तस्थुषः स्थारस्य च आत्मा । स च लोकत्रयमात्राः सर्वतः पूरि-
तवान् । उपयामशृहीतोऽभीत्यादि व्याख्यातं समानार्थम् ॥ १ ॥ इत्यष्टमाध्याये-
ऽष्टादशोऽनुवाकः ॥ ८ ॥ १८ ॥

अष्टादशे विपुवर्माया निग्राह्यस्य विकल्पितौ ग्रहभक्षणमन्त्रवृत्तौ । गवा-
मयनस्योपात्तो महाव्रतारूपेऽहनि प्राजापत्यपशूालम्मादूर्ध्वं यो ग्रहो विहित-
स्य तस्य वैतल्यग्रहणमन्त्रा एकोनविंशोऽप्यनुवाकपूच्यन्ते । का-
त्यायनः ॥ ग्रहं शृङ्गाति विन इन्द्र इति । वाचस्पतिं विश्वकर्माणं विति ॥
प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ विन इन्द्र मृधो जहि नीचा यच्छ पृतन्यतः । यो अस्मा-
ऽभिदा मस्यधरं गमया तमः । उपयामशृहीतोऽभीन्द्राय त्वा विमृध एष ते
योनिर्ऽन्द्राय त्वा विमृध इति ॥ हे इन्द्र, नोऽस्माकं मृधः शत्रून् विशेषेण ज-
हि । किञ्च । अस्मान्मारयितुं पृतन्यतः सेनामिच्छतः शत्रून् नीचा न्यग्भूतान्
यच्छ उपरतान् कुरु । यच्चान्योऽस्मानभिदा मति उपलक्षयति । तं शत्रुमधरं
निकृष्टं तमो नरकं गमय प्रापय । विशिष्टमंग्रामवते इन्द्राय, हे ग्रह, त्वां
शृङ्गामीति शेषः । शिष्टमष्टम् ॥ १ ॥ इसष्टमाध्याये एकोनविंशोऽनुवाकः ॥ ८ ॥ १९ ॥

एकोनविंशे महाव्रतारूपेऽहनि विहितस्य ग्रहस्य ग्रहणमन्त्र उक्तः ।
विंशे तत्रैव विकल्पितो द्वितीयो ग्रहणमन्त्र उच्यते ॥ पाठस्तु ॥ वाचस्पतिं
विश्वकर्माणमृतये मनोजुवं वाजे अग्राहुवेम । स नो विश्वानि हवनानि
जोषद्विश्वशंभूरवसे साधुकर्मा । उपयामशृहीतोऽभीन्द्राय त्वा विश्वकर्मण एष

ते योनिरिन्द्राय त्वा विश्वकर्मण इति ॥ वाचस्पतिं वाचां पालयितारम् । विश्व-
कर्माणं विश्वानि समस्तजगदुत्पत्त्यादिकर्माणि यस्य स तथोक्तः । तं मनोजवं
जूरिति जवनाम । मनमो जूरिव जव इव जवो यस्य स मनोजूस्तादृशमिन्द्रम्
अवसे । अन्ननाम । अन्नसमृद्धयै । वाजे महाव्रतीयलक्षणेऽन्नविषये अद्यास्मिन्
अहनि ऊतये रक्षणाय हुवेम । आह्वयामः । स इन्द्रो नोऽस्माकं विश्वानि
हवनानि सर्वाण्याह्वानानि अवसे अन्नाय अन्नसमृद्धयै रक्षणाय वा जोषत् ।
जुषताम् । युष्मदाह्वानं साधु साध्विति सेवताम् । कीदृश इन्द्रः । विश्वशम्भूः
विश्वस्य शं सुखमस्माद्भवतीति विश्वशम्भूः । साधुकर्मा समीचीनकर्मा ।
शिष्टं समानम् ॥ १ ॥ इत्यष्टमाध्याये विश्वोऽनुवाकः ॥ ८ ॥ २० ॥

विश्वो महाव्रताख्ये द्वितीयो वैकल्पिको ग्रहणमन्त्र उक्तः । एकविंशो
तत्रैव वैकल्पिको ग्रहणमन्त्र उच्यते ॥ पाठस्तु ॥ विश्वकर्मन् हविषा वाटधानः
स्वयं यजस्व पृथिवीमुत ग्राम् । मुह्यन्त्वन्ये अभिनः सपत्ना इहास्माकं मयवा
सूरिरस्तु । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मण एष ते योनिरिन्द्राय त्वा
विश्वकर्मण इति ॥ हे विश्वकर्मन्निन्द्र, त्वं महाव्रतीयलक्षणेन हविषा वाटधानः
अतिशयेन वर्धमानः स्वयं त्वं पृथिवीं भुलोकम् उताऽपि त्वां द्युलोकं यजस्व
यजनं पूजनं कुरुष्व । एवंविधत्वदीयकर्म दृष्ट्वा अन्ये तव सपत्नाः शत्रवो
भीताः शत्रवो मुह्यन्तु । संमोहं गच्छन्तु । इहास्मिन् कर्मणि अस्माकं समग्रधन-
सम्पन्नः सूरिः पाण्डितोऽस्तु । अन्यद् गतम् ॥ १ ॥ इत्यष्टमाध्याये एकविंशो-
ऽनुवाकः ॥ ८ ॥ २१ ॥

एकविंशो तृतीयो वैकल्पिकग्रहणमन्त्र उक्तः ॥ द्वाविंशो तत्रैवान्यो
वैकल्पिको ग्रहणमन्त्र आम्नातः ॥ पाठस्तु ॥ विश्वकर्मन् हविषा वर्धनेन
त्रातारमिन्द्रमकृणोरयुध्यम् । तस्मै विशः समनमन्तपृर्वीर्यमुग्रो विहव्यो यथा-
सत् । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा विश्वकर्मण एष ते योनिरिन्द्राय त्वा
विश्वकर्मण इति ॥ हे विश्वकर्मन्, त्वं वर्धनेन हविषा इन्द्रं त्रातारं जगतो रक्षकम्
अकृणोः कृतवानसि । किञ्च युद्धार्हो युध्यः । न युध्यः अयुध्यः । तम्
इन्द्रमयुध्यम् अप्रतिभटमकरोरित्यर्थः । तस्मै तादृशेन्द्राय पूर्वीः पूर्वे विशिष्टादयो
विशः सर्वाः प्रजाः समनमन्त सम्यक्कृताः । अयमिन्द्र उदुगूर्णवलो विविधेषु
कार्येषु आह्वयत इति विहव्यं तादृशो यथा येन प्रकारेण असत् स्यात्तथा
तस्मै समनमन्तेति सम्बन्धः । अन्यद् गतम् ॥ १ ॥ इत्यष्टमाध्याये द्वाविंशो

ऽनुवाकः ॥ ८ ॥ २२ ॥

एकोनविंशादिषु चतुर्ध्वनुवाकेषु गवामयनस्योपान्ते महाव्रताख्येऽहनि
 बैकल्पिका ग्रहीपादानमन्त्रा उक्ताः । त्रयोविंशे अदाभ्यग्रहस्य मन्त्रा उच्य-
 न्ते ॥ कात्यायनः ॥ अदाभ्यं गृह्णात्यासिच्य निग्राभ्याः पात्रे तस्मिंस्तूष्णीं
 त्रीनशूनवधायाग्नये त्वा गायत्रछन्दसमिति प्रतिमन्त्रम् उपयामः सर्वत्रात्रि-
 शेषादिति ॥ औदुम्बरपात्रे वसनीवर्याख्या अप आनीय तस्मिंस्तिष्ठः सोम-
 लताः प्रक्षिप्य, अग्नये त्वेति त्रिभिर्मन्त्रैः क्रमेणादाभ्यं गृह्णाति । उपयामगृही-
 तोऽसीत्येतत् त्रिष्वपि मन्त्रेष्वदावनुपजनीयम् । सर्वशेषत्वादास्नातस्येति सूत्रा-
 ऽभिप्रायः ॥ तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ उपयामगृहीतोऽस्यग्नये त्वा गायत्रछन्दसं
 गृह्णामीति ॥ हे सोम, त्वम् उपयामेन ग्रहेण गृहीतोऽमि । हे ग्रह, अग्नये
 अग्निप्रीत्यर्थं गायत्रीछन्दसं गायत्री छन्दो यस्य तादृशं त्वां गृह्णामि ॥ द्वितीय-
 मन्त्रपाठस्तु ॥ इन्द्राय त्वा त्रिष्टुप्छन्दसं गृह्णामीति ॥ हे ग्रह, त्रिष्टुप्छन्दसं
 त्वां गृह्णामि ॥ तृतीयमन्त्रपाठस्तु ॥ विश्वेभ्यो देवेभ्यो जगतीछन्दसं गृह्णामीति ॥
 जगती छन्दो यस्य ग्रहस्य तादृशं त्वां ग्रहं गृह्णामि ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥
 अनुष्टुप् इत्युक्तेति ॥ एवं मन्त्रमुच्चारयेत् ॥ अभिगर इति मन्त्रशेषः । हे
 सोम ते त्वानुष्टुप्छन्द अभिपव इत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ आधूनोत्यशुभि-
 र्वेशीनां त्वेति गच्छन्नाहवनीयमिति ॥ आहवनीयस्य समीपं गच्छन्नशुचि-
 रदाभ्यग्रहस्थान्युदकानि चालयेत् ॥ पाठस्तु ॥ त्रेशीनां त्वापत्मन्नाधूनोमि
 कुकूननानां त्वापत्मन्नाधूनोमि भन्दनानां त्वापत्मन्नाधूनोमि मध्वन्तमानां त्वा
 पत्मन्नाधूनोमि । शुक्रं त्वा शुक्र आधूनोम्यहो रूपे सूर्यस्य रश्मिषु । कुहू-
 रूपं वृषभस्य रोचने बृहत्सोमः सोमस्य पुरोगाः शुक्रः शुक्रस्य पुरोगाः ।
 यत्ते सोमादाभ्यं नाम जागृवि तस्मै त्वा गृह्णामीति । त्रेशीनां व्रजतो मेघस्यो-
 दरे शेरत इति त्रेश्यो मेघोदरस्था आपस्तासां कुकूननानां कुशब्दमस्यर्थं कुर्व-
 सः शब्दं कुर्वाणा नमन्ति प्रह्वीभवन्तीति कुकूनना मेघ्य आपस्तासां च ।
 भन्दनानाम् । भदि कल्याणे सुखे च । कल्याणकारिण्यः सुखकारिण्यो वा
 भन्दना आपस्तासां च । मध्वन्तमानां मधुवत् स्वादुतमानाम् । एवम्भूतानामपि
 पत्न्य पतने, हे सोम, त्वामाधूनोमि । कम्पयामि । किञ्च । शुक्रं शुद्धमक्लिष्ट-
 कर्माणं त्वां शुक्ले अक्लिष्टकर्माणि शुद्धे निग्राभ्यलक्षणे उदके आधूनोमि
 अहो रूपे दिवसस्य रूपे सूर्यस्य रश्मिषु, हे सोम, त्वाम् आधूनोमि । हे सोम,

वृषभस्य श्रेष्ठस्य तव ककुहं ककुभं छान्दमो हकारः । ककुभमिति महन्नामगु
 षठितम् । महद्रूपम् । यद्वा ककुभो दिशो व्यापि रोचते दीप्यते बृहन् महान्
 सोम एव सोमस्य पुरोगाः पुरोगामी शुक्रस्य शुद्धस्य सोमस्य तव शुक्रस्तेज-
 स्वी आदित्यः पुरोगाः पुरोगामी यस्मादेवं तस्मान्, हे सोम, ते त्वदीयं
 अदाभ्यमनुपहिंसितं जागृवि जागरणशीलं यन्नामास्ति तस्मै त्वा गृह्णामि ॥
 कात्यायनः ॥ तस्मै त इति जुहोतीति ॥ पाठस्तु ॥ तस्मै ते सोम सोमाय
 स्वाहेति ॥ हे सोम, तादृशाय सोमाय ते तुभ्यं हुतमस्तु ॥ २ ॥ ३ ॥ का-
 त्यायनः ॥ अंशून् सोमे निदध्यात्युशिच्छमिति प्रतिमन्त्रमिति ॥ उशिच्छमिति
 मन्त्रत्रयेणांशून् सोमे स्थापयेत् ॥ तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ उशिच्छं देव
 सोमाग्नेः प्रियं पाथोऽपीहीति ॥ हे दीप्यमान सोम, उशिकु कामयमानस्त्वं
 अग्नेः प्रियं पाथोऽन्नमपीहि ॥ द्वितीयमन्त्रपाठस्तु ॥ वशी त्वं देव सोमेन्द्रस्य
 प्रियं पाथोऽपीहि इति ॥ हे दीप्यमान सोम वशी त्वामिन्द्रस्य प्रियमन्नं प्रा-
 णुहि ॥ तृतीयमन्त्रपाठस्तु ॥ अस्मन्मखा त्वं देव सोम विञ्चेपां देवानां प्रियं
 पाथोऽपीहि इति ॥ हे दीप्यमान सोम अस्मन्मखीभूतः त्वं विञ्चेपां देवानाम्
 अभिरुचिन्मन्नं प्राणुहि ॥३॥ इत्यष्टमाध्याये त्रयोविंशोऽनुवाकः ॥८॥२३॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमोहार्दं निवारयेत् ॥

पुमर्थाश्चतुरो दद्याद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

इति श्रीमदराजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबुक्कभूपाल-
 साम्राज्यधुरन्धरेण मायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे काण्व-
 मंहिताभाष्ये अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

अथ शुक्रगजुर्वेदकाण्वमन्त्रभाष्ये नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

यस्य निःश्वमितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलजगत् ॥

निर्ममे तमहं वन्दे विश्वातीर्थमहेऽवरम् ॥ १ ॥

अष्टमे तृतीयसूचनमस्वान्ध्रिनामादित्यग्रहादीनां पौड्यपतिग्राह्यादीनां ग्रहणा-
ऽऽमादनमन्त्रा उक्ताः । नवमे उपांश्वन्तर्यामादीनां ग्रहाणामवेक्षणामन्त्रा
दक्षिणहोमादिमन्त्राश्चोच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ ग्रहानवेक्षयति यथागृहीतमव-
काशान् वाज्जपन् प्राणायाम इति प्रतिमन्त्रमुपांशुमवनं द्वितीयमाश्विनं षष्ठं
शुक्रामन्थिर्नो युगपदिनि ॥ अथपर्थः ॥ ज्ञानिप्रियाणनृचानान् यजमानानव-
काशाख्यान् प्राणायाम इत्यादिमन्त्रान् वाचयेत् । प्रतिमन्त्रग्रहणक्रमेणो-
पांश्वदीन् दर्शयति । उपांशुमवनारुयो ग्रावा द्वितीयो भवति । वहिष्पवमानो-
त्तरकाले याश्विनपष्ठो भवति । शुक्रामन्थिर्नो द्वौ ग्रहौ मन्त्रगतद्विवचनलिङ्गेन
युगपदवेक्षणीयाविति ॥ उपांशुग्रहावेक्षणमन्त्रपाठः ॥ प्राणाय मे वर्चोदा
वर्चमे पवस्वेति ॥ हे उपांशुग्रह, यस्त्वं मे मदीयाय प्राणाय वर्चोदाः । वर्चसो
बलस्य दाता भवसि । स त्वं मदीयाय वर्चमे ब्रह्मवर्चमार्थं पवस्व शुद्धो भव ॥
अयोपांशुमवनान्तर्यामैन्द्रायवग्रहाणामवेक्षणमन्त्रपाठः ॥ व्यानाय मे वर्चोदा
वर्चमे पवस्व । उदानाय मे वर्चोदा वर्चमे पवस्व । वाचे मे वर्चोदा वर्चमे
पवस्वेति ॥ स्पष्टार्थः ॥ १ ॥ अथ मैत्रावरुणग्रहावेक्षणमन्त्रपाठः ॥ क्रतू-
दक्षाभ्यां मे वर्चोदा वर्चमे पवस्वेति ॥ क्रतुः संकल्पो मदीयः कामः । तस्य
समृद्धिर्दक्षः दक्षिणा ताभ्यां, क्रतूदक्षाभ्यां हे मैत्रावरुणग्रह, यस्त्वं बलपदाता-
ऽसि स त्वं मदीयाय ब्रह्मवर्चमार्थं पूतो भव ॥ अथाश्विनावेक्षणमन्त्रपाठः ॥
श्रोत्राय मे वर्चोदा वर्चमे पवस्वेति ॥ स्पष्टार्थः ॥ अथ शुक्रामन्थिग्रहावेक्षण-
मन्त्रपाठः ॥ चक्षुर्भ्यां मे वर्चोदमौ वर्चमे पवेधामिति ॥ हे शुक्रामन्थिग्रहौ
यौ युवां मदीयाभ्यां चक्षुर्भ्यां दीप्तिपदातारौ स्थः । तौ युवां मदीयब्रह्म-
वर्चमार्थं शुद्धौ भवतम् ॥ २ ॥ अथ ग्रवणोक्थध्रुवग्रहावेक्षणमन्त्रपाठः ॥
आत्मने मे वर्चोदा वर्चसे पवस्वौजसे मे वर्चोदा वर्चमे पवस्वायुषं मे वर्चोदा
वर्चसे पवस्वेति ॥ कात्यायनः ॥ पृतभृदाहवनीयौ च विश्वाभ्यो म इति ॥
चशब्दो युगपदित्यस्यानुकर्षार्थः । वाचा यन्नवेक्षतेत्यनुवर्तते । पूर्वपृतभृदा-

हवनीयाख्यौ पत्रमानग्रहावनेन मन्त्रेण दर्शयेदित्यर्थः ॥ विश्वाभ्यो मे प्रजाभ्यो
वर्चोऽसौ वर्चसे पत्रेथामिति ॥ हे पूतभृद् आहवनीयौ, सर्वाभ्यः प्रजाभ्यो
वर्चोऽसौ दीप्तिप्रदातारौ युवां मदीयाय ब्रह्मवर्चसार्थं पत्रेथां प्रवर्तेथाम् ॥ ३ ॥
कात्यायनः ॥ कोऽसीति द्रोणकलशमवक्ष्येदिति शेषः ॥ पाठस्तु ॥ कोऽसि कतमो-
ऽसि कस्यासि को नामासि । यस्य ते नामा मन्महि यं त्वा सोमेनातीतृपामेति ।
हे द्रोणकलश, त्वं कः प्रजापतिरसि कतमोऽसि । अन्यातिशयेन प्रजापतिरसि ।
कस्य प्रजापतेरनन्यभूतोऽसि । अत एव तव कः प्रजापतिरिति नामासि । यस्य
द्रोणकलशरूपप्रजापतेस्ते तव नाम नामधेयं मन्महि । वयं जानीम । द्रोण-
कलशरूप त्वां सोमेनातीतृपाम तर्पितवन्तः । त्वं तादृशो भवसीत्यर्थः ॥ ४ ॥
कात्यायनः ॥ भूर्भुवः स्वरिति जपतीति । उपांश्वादिग्रहावेक्षणानन्तरं भूर्भुवः
स्वरिति मन्त्रं जपेत् ॥ पाठस्तु ॥ भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजया भूयामम ।
सुवीरो वीरैः सुपोपः पोपैरिति ॥ अयं मन्त्रस्तृतीयेऽध्याये व्याख्यातः ॥ इति
नवमेऽध्याये प्रथमोऽनुवाकः ॥ ९ ॥ १ ॥

प्रथमेऽनुवाके उपांश्वादिग्रहावेक्षणमन्त्रा उक्ताः ॥ द्वितीये दाक्षिण-
होमादिमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ शालाद्वार्यं दाक्षिणहोमो वासः प्रवद्धं
हिरण्यं हवन्वामवध्याय चतुर्गृहीतमुदृत्यमिति ॥ वामसि प्रवद्धं सुवर्णं मृचि
चतुर्गृहीताज्यायां प्रक्षिप्योदुत्पमित्यनेन शालामुखीयेऽग्नौ दाक्षिणहोमं जुहु-
यात् ॥ पाठस्तु ॥ उदृत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्य-
मिति ॥ केतवो रश्मयस्त्वां जातवेदसं तमग्निमदृशं सूर्यम् उद्वहन्ति ऊर्ध्वसदृश
एव नयन्ति । किमर्थं विश्वाय कृत्स्नस्य जगतः सूर्यं दृशे द्रष्टुम् ॥ १ ॥ कात्या-
यनः ॥ चित्रं देवानामिति द्वितीयायामिति ॥ उदृत्यमिति यथा प्रथमाहुतिः
शालामुखीये हुता तदपेक्षयेपाऽऽहुतिर्द्वितीया । तां तस्मिन्नेवान्नौ जुहुयादिति
शेषः ॥ पाठस्तु ॥ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्भिन्नस्य वरुणस्याग्नेः ।
आ प्रा द्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेति ॥ चित्रं
रक्तश्वेतादिविविधवर्णं देवानां रश्मीनाम् अनीकं सैन्यसदृशं मण्डलमुदगादु-
दयच्छत् । कीदृशम् । मित्रादिदेवोपलक्षितस्य कृत्स्नस्य प्राणिजातस्येन्द्रिया-
ऽधिष्ठातृत्वाच्चक्षुःस्थानीयम् तन्मण्डलस्थः सूर्यो जगन्मण्डलस्य तस्थुषः स्थाव-
रस्य चात्मा सन् लोकत्रयमाप्ताः सर्वतः पूरितवान् ॥ कात्यायनः ॥ आग्नीध्रे-
ऽग्ने नयेतीति ॥ आग्नीध्रमण्डपस्थे अग्नौ जुहुयादिति शेषः ॥ पाठस्तु ॥ अग्ने नय

सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुरणामेनो
भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेमोति ॥ हे अग्ने, पारलौकिकधनप्राप्त्यर्थम्
अस्मान् सुपथा शोभनमार्गेण नय प्रापय । देव, त्वं विश्वानि वयुनानि सर्वान्
मार्गान् विद्वान् । जानासि । जुहुराणं कुटिलमेनः पापमस्मत्तो युयोधि वियो-
जय । ते तुभ्यं भूयिष्ठां नमउक्तिं नमस्कारोक्तिं विधेमं कुर्वाम ॥ २ ॥ ३ ॥
कात्यायनः ॥ अयन्न इत्यपरमश्रवं तं चेद्युक्तं दद्यात् । अयुक्तं वेति ॥ रथादौ
नियुक्तं केवलं वाऽश्वं यदि दक्षिणात्वेन दद्यात् । अयं न इत्यपरामाहुतिं
आग्नीध्रे जुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥ अयं नोऽअग्निर्वरिवस्कृणोत्वयस्मृधः पुर एतु
प्रभिन्दन् । अयं वाजां जयतु वाजसाता अयं शश्रूं जयतु जर्हृषाणः स्वाहे-
ति ॥ अयमग्निर्नोऽस्माकं वरिवो धनं कृणोतु । अयमेवाग्निर्मृधः । संग्रामाः
पुरः पुरतः प्रभिन्दन् वैरिणो विदारयन्नेतु गच्छतु । अयमेवाग्निर्वाजानन्नानि
शत्रुसंबन्धीनि जयतु स्ववशं कृत्वा तान्यस्मभ्यं ददात्विसर्थः । वाजसातौ
संग्रामेऽयमेवाग्निर्जर्हृषाणः अन्यन्तं हृष्यन् शत्रून् जयतु स्वाहा हुतमस्तु ॥ ४ ॥
कात्यायनः ॥ सहिरण्यो यजमानः शालावहिः पूर्वे तिष्ठन्नभिमन्त्रयते । दक्षिणा
वर्हिर्वेदि तिष्ठन्नभिमन्त्रयते । दक्षिणा वहिर्वेदितिष्ठन्येतीति दक्षिणतो रूपेण
व इतीति । हिरण्यं धारयन् यजमानः प्राग्भंशस्य पुरस्तात् स्थित्वा महावेदे-
र्दक्षिणतोऽपि वहिस्थिता दक्षिणार्था गाः अभिमन्त्रयेत् ॥ पाठस्तु ॥ रूपेण
वा रूपमभ्यागां तुथो वो विश्ववेदा विभजतु । ऋतस्य पथा भेत चन्द्रदक्षिणा
इति ॥ हे दक्षिणाः, रूपेणानेनोदधृताहिरण्येन सह वो वेदेर्दक्षिणभागेऽवस्थितानां
युष्माकं रूपमभ्यागाम आभिमुख्येन प्राप्नोमि । विश्वं वेत्ति वेदयतीति वा
विश्ववेदाः सर्वज्ञः । तुथनामको देवो वो युष्मान् विभजतु । ऋत्विजां यथाहं
विभागं करोतु । ऋतस्य प्रस्तुतस्य यज्ञस्य पथा मार्गेण चन्द्रदक्षिणाः । चन्द्रं
हिरण्यं दक्षिणार्थं प्रधानद्रव्यं यजमानहस्तगतं यासां दक्षिणानां ता युयं भेत
गच्छत ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥ वि स्वरिति । दक्षिणत इति ॥ सदो गच्छेति
शेषः ॥ पाठस्तु ॥ वि स्वः पश्य व्यन्तरिक्षमिति ॥ स्वः स्वर्गं देवयानमार्गं विशे-
षेण पश्य । अन्तरिक्षं अन्तरिक्षलोकं पितृयानं मार्गं विपश्य ॥ कात्यायनः ॥
यतस्वसदस्यैरिति सदस्यानिति ॥ भेक्षतेति शेषः । सदसि सभायां साधवः सदस्याः
तैर्दक्षिणाभिः पूरितैः सह यतस्व यज्ञं प्रति यत्नं कुरु ॥ कात्यायनः ॥ ब्राह्मण-
मथेत्याग्नीध्रगमनमिति ॥ आग्नीध्रमण्डपस्थितमृत्विजं गच्छेत् ॥ पाठस्तु ॥ ब्राह्मणमथ

विदेय पितृमन्तं पैतृमत्यमृषिमर्षेयं सुधातुदक्षिणमिति ॥ अष्टवर्षमारभ्य षोडश-
वर्षपर्यन्तं शिक्षयन्ती माता यस्य स तं मातृमन्तमित्यर्थः । अभिहितं शिक्षकः
पिता विद्यते यस्य स पितृमान् तादृशम् । यस्य पितामहप्रभृतयो विख्याताः
श्रोत्रियाः स पैतृमत्यस्तथाविधम् ऋषिं मन्त्रद्रष्टारम् आर्षेयं जात्या प्रवरैश्च
विख्यातं शोभनो धातुः सर्वधातुभ्य उत्तमं हिरण्यं दक्षिणा यस्यासौ सुधातु-
दक्षिणस्तमेवंगुणविशिष्टं ब्राह्मणमग्रास्मिन् दिनेविदेयं लभेयम् ॥६॥ कात्यायनः
उपाविश्य हिरण्यमस्मै ददात्यस्मद्रातेतीति ॥ यजमानः स्वयमाग्नीध्रमण्डप
उपाविश्य तत्रोपाविष्टायाऽस्मा आग्नीध्राय सदस्याय च हिरण्यं दद्यात् ॥
पाठस्तु ॥ अस्मद्राता देवत्रा गच्छषदातारमाविशेति ॥ हे दक्षिणे त्वमस्मद्राता
अस्माभिः राता दत्ता सती देवत्रा देवान् प्रति गच्छ । देवानभ्येत्य तेषां तृप्तिं
सम्पाद्य यज्ञफलं साधयन्ती प्रदातारं प्रकर्षेण दक्षिणाया दातारं यजमान-
माविश ॥ कात्यायनः ॥ अग्नये त्वेति हिरण्यं प्रति गृह्णीत इति ॥ आग्नीध्र-
सदस्यानुभौ यजमानेन दत्तं हिरण्यमनेन प्रतिगृह्णीयाताम् ॥ पाठस्तु ॥ अग्नये
त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमश्यात् । आयुर्दात्र एधि मयो मह्यं प्रति-
ग्रहीत्र इति ॥ हे दक्षिणे हिरण्यरूपां त्वा त्वाम् अग्नये अग्निरूपाय मह्यं
वरुणो ददातु दद्यात् । स प्रतिगृह्णन् अमृतत्वं विनाशराहित्यम् अश्यात्
प्राप्नुयात् । दक्षिणायाः प्रदात्रे यजमानाय आयुः शतसंवत्सरपर्यन्तं दीर्घा-
युष्यमेधि । प्रतिग्रहीत्रे मह्यं मयः सुखमेधि भव ॥ कात्यायनः ॥ रुद्राय त्वेति
गामिति ॥ प्रतिगृह्णीयादिति शेषः ॥ पाठस्तु ॥ रुद्राय त्वा मह्यं वरुणो ददातु
सोऽमृतत्वमश्यात् । प्राणो दात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्र इति ॥ हे गो, त्वां
रुद्ररूपाय मह्यं वरुणो ददातु स प्रतिग्रहीता अमृतत्वं प्राप्नुयात् । दात्रे यजमानाय
प्राणः प्राणरूप एधि । तव प्रतिग्रहीत्रे मह्यं मयः सुखमेधि ॥ कात्यायनः ॥
बृहस्पतये त्वेति वास इति ॥ प्रतिगृह्णीयादिति शेषः ॥ पाठस्तु ॥ बृहस्पतये त्वा मह्यं
वरुणो ददातु सोऽमृतत्वमश्यात् । त्वग्दात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्र इति ॥
हे वासस्त्वां बृहस्पतिरूपाय मह्यं वरुणो ददातु । सोऽमृतत्वमश्यात् प्राप्नु-
यात् । त्वगिन्द्रियं यजमानाय । तव प्रतिग्रहीत्रे मह्यं मयः सुखम् एधि भव ॥
७ ॥ ८ ॥ कात्यायनः ॥ यमाय त्वेत्यश्वमिति ॥ प्रतिगृह्णीयात् ॥ केचिदश्व-
स्थाने अन्नमिच्छन्ति ॥ पाठस्तु ॥ यमाय त्वा मह्यं वरुणो ददातु सोऽमृत-
त्वमश्यात् । वयोदात्र एधि मयो मह्यं प्रतिग्रहीत्र इति ॥ यमरूपायान्नाय मह्यं

मश्वमश्वं वा त्वां वरुणो दद्यात् । योऽनेन विधिना प्रतिगृह्णाति सोऽमृतन्व-
मश्यात् । प्राप्तुयात् । वयोऽन्नमश्वं वा दात्रे यजमानाय एधि भव प्रतिग्र-
हीत्रे मश्वं सुखं भव ॥ कात्यायनः ॥ कोऽदादित्यन्यदिच्छतो मन्त्रवचनमिति ॥
हिरण्यगवादिष्वतिरिक्तम् अन्यद्रव्यं प्रतिजिघृक्षुः । कोऽदादित्यनेन मन्त्रेण
प्रतिगृह्णीयात् ॥ पाठस्तु ॥ कोऽदात् कस्मा अदात् कामोऽदात् कामायादात् । कामो
दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते तव कामसता भुजजामहा इति ॥ दातुर्दाना-
ऽभिमानाभावाय प्रतिग्रहदोषाभावाय च दातृप्रतिगृहीतारौ देहेन्द्रियादिसङ्घाते
विवेचयति । तत्र कः कस्मा इति प्रश्नद्वयम् । तयोरुत्तरम् । कामः कामायेति । नाहं
प्रतीग्रहीता, न त्वं दाता । किन्तु । हे दातस्त्व कामः कामाभिमानी देवः कामाय
मदीयाय कामाभिमानी देवायैवाऽदात् । दत्तवान् । तदेव स्पष्टयति । कामो
दातेत्यादिना । यत एवमतो हे काम, एतदीयमानं द्रव्यं ते तव, हे काम, वयं
तु तव सम्बन्धिना सता विद्यमानेन भोगजातेन भुजजामहे । भुजजामहि ॥ ९ ॥
इति नवमेऽध्याये द्वितीयोऽनुवाकः ॥ ९ ॥ २ ॥

द्वितीयेऽनुवाके दाक्षिणहोमादिमन्त्रा उक्ताः ॥ तृतीयेऽनुवाके समिष्ट-
यजुराख्यो होमो निरूप्यते ॥ कात्यायनः ॥ समिन्द्र इति नव समिष्टयजूंषि
प्रतिमन्त्रमिति ॥ समिन्द्रेणेत्यादिभिर्नवभिर्मन्त्रैः समिष्टयजुराख्या नवाहुतीर्जु-
ह्यान् ॥ तत्र प्रथममन्त्रपाठः ॥ समिन्द्र णो मनसा नेपि गोभिः सः सूरिभिर्मघ-
वन्तस्स्वस्त्या । सं ब्रह्मणा देवकृतं यदस्ति सं देवानां सुमतौ यज्ञियानामि-
ति ॥ हे इन्द्र त्वमनुग्रहयुक्तेन मनसा नोऽस्मान् गोभिः स्तुतिलक्षणाभिर्वाग्मि-
र्गवादिभिर्वा सन्नेपि सन्नय संयोजय । हे मयवन् विशिष्टधनसम्पन्नेन्द्र सूरिभिः
पण्डितैर्होतृप्रमुखैः संयोजय । स्वस्त्या क्षेमेण संयोजय । ब्रह्मणा वेदेन अर्थ-
ज्ञानसहितेन देवकृतं देवार्थं कर्म यदस्ति तेन संयोजय । यज्ञियानां यज्ञसम्ब-
न्धिनां देवानां सुमतौ सुमत्या अनुग्रहबुद्ध्या संयोजय ॥ १ ॥ अथ द्वितीयः ॥
संवर्चसा पयसा सन्तनूभिरगन्महि मनसा सः शिवेन । त्वष्टा सुदत्रो विदधातु
रायोऽनुमाष्टु तन्वो यद्विलिष्टमिति ॥ वर्चसा ब्रह्मवर्चसेन समगन्महि वयं
सङ्गता भवाम । तथा पयसा क्षीरादिरसेन समगन्महीत्यनुवर्तते । तनूभिरनुष्ठान-
दानैः शरीरावयवैः समगन्महि । शिवेन समीचीनेन कर्मश्रद्धायुक्तेन मनसा
समगन्महि । किञ्च, सुदत्रस्त्वष्टा शोभनदानोपेतस्त्वष्टृनामको देवो रायो
धनानि विदधातु सम्पादयतु । तन्वः शरीरस्यास्पदीयस्य यद्विलिष्टं विशेषेण

न्यूनमङ्गं यदस्ति तदिति शेषः । अनुमाष्टु न्यूनत्वपरिहारेणानुकूलं कृत्वा
 शोधयतु ॥ २ ॥ अथ तृतीयः ॥ धाता रातिः संवितेदं जुषन्तां प्रजापति-
 निधिषा देवोऽग्निः । त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं
 दधात्विति ॥ धाता सविता प्रजापतिरग्निस्त्वष्टा विष्णुश्चेत्येते षट् देवा नो-
 ऽस्माकमिदं हविर्जुषन्तां सेवन्ताम् । कीदृशो धाता रातिर्दानशीलः । कीदृशः
 प्रजापतिर्निधिषाः महापद्मशङ्खपद्मादिनामकानां नवानां निधीनां पालयिता ।
 कीदृशोऽग्निर्देवो दीप्यमानः सोऽयं देवगणो यजमानसम्बन्धिन्या प्रजया
 सह संरराणः सम्यग्रममाणः यजमानाय द्रविणं दधातु प्रयच्छतु ॥ ३ ॥
 अथ तुरीयः ॥ सुगा वो देवाः सदना अकर्म यऽआजग्मेदम्वनं जुषाणाः ।
 भरमाणा वहमाना हवींष्यस्मे धत्त वसवो वसूनीति ॥ हे देवा, ये भवन्त
 इदं सवनमिमं ये जुषाणाः सेवमानाः । आजग्म आजग्मुः । तेषां वो युष्माकं
 अस्मिन् यज्ञे सुगाः सुगमनीयानि सदना सदनानि अकर्म वयमकार्प्यम् । हे
 वसवो निवासहेतवो, हवींषि भरमाणा जोषयन्तो वहमाना रथादिभिश्च नयन्तो
 यूयम् अस्मे अस्मासु वसूनि धनानि धत्त स्थापय ॥ ४ ॥ अथ पञ्चमः ॥
 यांऽआवह उशतो देव देवाऽस्तान् प्रेरय स्मेऽअग्ने सधस्थे । जक्षिवाऽसः
 पापिवाऽसश्च विक्षेऽसुं घर्मस्स्वरा तिष्ठतान्विति ॥ हे अग्ने, हवींषि कामयामानान्
 यान् देवानावह आहूतवानसि । तान् देवान् स्वे स्वकीये सधस्थे सहनिवास-
 स्थाने प्रेरय एवम्भूत, हे देवा यूयं जक्षिवाऽसः सवनीयपुरोडाशान् भक्षित-
 वन्तः । पापिवाऽसः सोमपानं कृतवन्तश्च विक्षे सर्वे यूयम् अनुयज्ञं समाप्त्य-
 ऽनन्तरम् असुं हिरण्यगर्भं प्राणलक्षणं वायुं वायुमण्डलमित्यर्थः । घर्मम् आदित्य-
 मण्डलं वा स्वः द्युलोकं वा आतिष्ठन् आगच्छन् । यस्य यस्य यत्र यत्र गृहाः
 सन्ति तांस्तानातिष्ठनेत्यर्थः ॥ ५ ॥ अथ षष्ठः ॥ वयं हि त्वा प्रयति यज्ञे
 अस्मिन्नग्ने होतारमवृणीमहीह । ऋधगया ऋधगुता शमिष्ठाः प्रजानन् यज्ञमुपया-
 हि विद्वानिति ॥ हि यस्मात् कारणादिहास्मिन् दिने अस्मिन् यज्ञे प्रयति वर्तमाने
 सति होतारं देवानामाह्वतारं होमनिष्पादकं वा त्वां वयमवृणीमहि वृतवन्तः ।
 तस्मात् कारणाद् ऋधक् समृद्धं यथा भवति तथा अपाः अपाजा इष्टवानसि ।
 यज्ञं कारितवानित्यर्थः । उताऽपि च । ऋधक् समृद्धिं प्रजानन् अवगच्छन्न-
 शमिष्ठाः । विघ्नशान्तिक्रमकार्षीः । अतस्त्वं विद्वान् उपयाहि ॥ ६ ॥ अथ
 सप्तमः ॥ देवा गातुविदो गातुमित्वा गातुमित । मनसस्पत इमं देवयज्ञं स्वाहा

वाते धा इति ॥ कै गै रै शब्द इति धातुः । गायन्ते नानाविधैर्वैदिक-
शब्दैः प्रतिपाद्यन्त इति गातुर्यज्ञः । तं विदन्ति जानन्तीति गातुविदः । तादृशाः
हे देवाः, गातुमित्वाऽस्मदीयो यज्ञः प्रवृत्त इति विदित्वा । एतिधातोर्गत्यर्थस्य
ज्ञानार्थत्वमुपचर्यते । गातुमित यज्ञं गच्छत । यद्वा गातुर्गन्तव्यो मार्गः । अस्म-
दीयेन यज्ञेन तुष्टाः सन्तः स्वकीयमार्गं गच्छत । हे मनसस्पते, यष्टुमस्मदीयस्य
मनसः प्रेरणेन पालक परमेश्वर, इममनुष्ठितं यज्ञं स्वाहा त्वद्धस्ते ददामि । त्वं च
वाते वायुरूपे देवे धाः धेहि स्थापय ॥ अथाऽष्टुमः ॥ यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ
स्वांयोनिं गच्छ स्वाहेति ॥ हे यज्ञ, स्वप्रतिष्ठार्थं यज्ञनामकं विष्णुं गच्छ । फल-
प्रदानार्थं यज्ञपतिं यजमानं गच्छ स्वनिष्पत्त्यर्थं स्वां योनिं स्वकारणभृतां वायोः
क्रियाशक्तिं गच्छ । स्वाहा सुहुतमस्तु ॥ अथ नवमः ॥ एष ते यज्ञो यज्ञपते
सह सूक्तवाकः सर्ववीरस्तं जुषस्व स्वाहेति ॥ हे यजमान, एषोऽनुष्ठीयमानस्ते
त्वदीयो यज्ञः सूक्तवाकैः स्तोत्रैः सहितः, सर्ववीरः सोमपथसवनीयचरुपुरोडाशा
वीरा इत्युच्यन्ते । तादृशाः सर्वे वीरा यस्य स तथोक्तः । य एवम्भूतस्तं यज्ञं
जुषस्व स्वाहा सुहुतमस्तु ॥ इति नवमाध्याये तृतीयोऽनुवाकः ॥ ९ ॥ ३ ॥

तृतीयेऽनुवाके समिष्टयजुर्होमोऽभिहितः ॥ चतुर्थेऽवभृथा वर्ण्यते ॥ कात्या-
यनः ॥ कृष्णविषाणमेखले चात्वाले प्रास्यति माहिर्भूर्मा पृदाकुरिति ॥ यजमान-
हस्तं बद्ध्वा कृष्णविषाणाया च मध्ये बद्ध्वा शरमयीमेखला उभे विस्रंस्य चात्वाले
प्रक्षिपेत् ॥ पाठस्तु ॥ माहिर्भूर्मा पृदाकुरिति ॥ अहिः सर्पो माभूर्मा भू-
याः । पृदाकुरजगरः सर्पविशेषः । सोऽपि मा भूयाः ॥ कात्यायनः ॥ उरु-
हीति वाचयति ॥ अवभृथार्थं जिगमिषुरध्वर्युर्यजमानं वाचयेत् ॥ पाठस्तु ॥
उरुहि राजा वरुणश्चकार सूर्याय पंथामन्वेतवा उ । अपदे पादा प्रतिधातवे-
ऽकरुतापवक्ता हृदयाविधाश्चिदिति ॥ उशब्दोऽवधारणे । वरुण एव राजा
सूर्याय सूर्यस्थान्वेतवै अनुक्रमेण गन्तुमपदे निरालम्बेऽन्तरिक्षे उरु पन्था विस्तीर्ण-
मार्गं हि यस्माच्चकार तस्मादस्माकमपि पादा प्रतिधातवे पादं प्रसेप्तुं मार्ग-
म अकः करोतु । उताऽपि च यः शत्रुरपवक्ता निन्दकः यश्च हृदयाविधो
हृदयोपलक्षितं शरीरं तापयति । चिच्छब्दः समुच्चये । सोऽपि प्रतिबन्धमकृत्वा
मार्गं करोत्वित्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ नमो वरुणायेति वाचयत्यपोऽवक्रामय-
मिति । अवभृथस्नानार्था आपः प्रवेशयन् यजमानं वाचयेत् ॥ पाठस्तु ॥
नमो वरुणायाभिष्ठितो वरुणस्य पाश इति ॥ वरुणस्य पाशः अभिष्ठितः ।

आक्रान्तः । तस्मै वरुणाय नमस्कारोऽस्त्विति शेषः ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥
 प्रास्य समिधं चतुर्धृहीतेनाज्येनाग्नेरनीकमिति ॥ अप्सु काञ्चित् समिधं प्रक्षिप्य
 चतुर्धृहीतेनाज्येन ताम् अभिजुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥ अग्नेरनीकमप आवि-
 वेशार्पणपात्प्रतिरक्षन्नसुर्यम् । दमे दमे समिधं यक्ष्यमे प्रति ते जिह्वा घृतमुच्चर-
 ण्यत्स्वाहेति ॥ अग्नेरनीकं सुखम् अपः उदकान्याभिमुख्येन विवेश । हे अपा-
 न्नपात् । एतन्नामकाग्ने । दमे दमे तत्तद्यज्ञगृहे असुर्यम् असुरैः कृतं प्रतिरक्षन्
 समिधं यक्षि । समिधः सङ्गतिं कुरु । अनन्तरं हे अग्ने, ते तव जिह्वा ज्वाला
 घृतं प्रति उच्चरण्यत् । उद्युक्ता भवतु स्वाहा । सुहुतमस्तु ॥ २ ॥ का-
 त्यायनः ॥ समुद्रे त इत्यृजीषकुम्भं ग्रावयतीति ॥ गतसारः सोम ऋजीषः ।
 तेन पूर्णं कुम्भमप्सु प्रक्षिपेत् ॥ पाठस्तु ॥ समुद्रे ते हृदयमप्स्वन्तः संत्वा विश-
 न्तवोषधीरुताऽऽपः । यज्ञस्य त्वा यज्ञपते मृतोक्तौ नमोवाके विधेम यन् स्वाहेति ॥
 हे सोम, ते तव हृदयं समुद्रे समुद्रसमानास्वप्सु अन्तर्मध्ये प्रतितिष्ठत्विति शेषः ।
 ओषधीरोषधयस्त्वां सम्यग्विशन्तु । उत अपि चापो विशन्तु । हे यज्ञपते,
 यज्ञस्य पालक, यज्ञस्य यजनीयं त्वा मृतोक्तौ शोभनवचनोच्चारणेन नमोवाके
 नमस्कारवचनेन विधेम स्थापयाम ॥ यस्मादेवं तस्मात् स्वाहा सुहुतमस्तु ॥
 ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ देवीराप इति विसृज्योपतिष्ठत इति ॥ ऋजीषं विसृज्य
 उपस्थानं कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥ देवीराप एष वो गर्भस्तः सुप्रीतः सुभृतं विभृ-
 तः । देव सोमैष ते लोकः परि च वक्षि शं च वक्षीति ॥ देवीः । हे आपो देव्यः
 युष्माकम् एष सोमो गर्भस्थानीयः । तं तादृशं सोमं सुप्रीतं शोभनप्रीति-
 युक्तं सुभृतं सुपुष्टं विभृत । धारयत । हे दीप्यमान सोम, ते तव एष वक्ष्यो
 लोकः स्थानं तत्रावस्थितस्त्वं परितः समन्तात् शं सुखं वक्षि अस्मान् प्रति
 बह प्रापय । अस्मत्तः सर्वान् सुखं प्रापय । चशब्द इतरेतरसमुच्चयार्थः ॥ का-
 त्यायनः ॥ अवभृथेति मज्जयतीति । यजमानं स्नापयेत् ॥ पाठस्तु ॥ अव-
 भृथ निचुम्पुण निचेरुरसि निचुम्पुण ॥ अव देवैर्देवकृतमेनोऽयासिषमवमर्त्यैर्मर्त्य-
 कृतं पुरुराव्णो देवरिषस्पाहीति ॥ अवाचीनानि पात्राणि जलमध्ये हियन्ते
 यस्मिन् यज्ञविशेषे सोऽयमवभृथः । हे अवभृथ, त्वं निचुम्पुण नितरां मन्दं
 गच्छ । चुपि मन्दायां गतौ इति धातुः । निचेरुरसि नितरां चरणशीलोऽसि
 तथाऽप्यत्र निचुम्पुण नितरां मन्दं गच्छ । किं प्रयोजनमित्युच्यते । देवैर्द्योतना-
 ऽऽत्मकैरस्मदीयैरिन्द्रियैर्देवकृतं हविः स्वासिषु देवेषु कृतमेनः पापं यदस्ति

तदवयासिषमास्मिञ्जलेऽहमवनीतवानस्मि । तथा मर्त्यैर्मनुष्यैरस्मत्सहायभूतै-
र्ऋतिविभिर्मर्त्यकृतं मर्त्येषु मनुष्येषु यज्ञदर्शनार्थमागतेषु कृतमवज्ञारूपं यदेनो-
ऽस्ति तदप्यहमवयासिषमित्यनुवर्तते । इदमस्माभिः परित्यक्तमेनो यथा त्वां न
प्राप्नोति, तथा, हे यज्ञ, मन्दं गच्छेत्यभिप्रायः । हे देव, अवभृथारूपं यज्ञ त्वं
पुरुराब्जः । रा दान इति धातुः । बहुविधविरुद्धफलदायिनो रिषाद्रात्रा
पाहि पालय । ऋषिर्हिसार्थे । विरुद्धफलदायी वधस्त्वत्पसादादस्माकं मा
भूदित्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ आहवनीये समिदाधानं देवानां समिदसीति ॥
स्नानानन्तरमाहवनीयसमीपं गत्वा तस्मिन् समिधमादध्यात् । देवानां सम्बन्धि-
नी समिदिन्धनमसि ॥ ४ ॥ इति नवमेऽध्याये चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ९ ॥ ४ ॥

चतुर्थेऽवभृथो निरूपितः ॥ अनुबन्ध्या यदि गर्भिणी स्यात् तत्र प्राय-
श्चित्तिः पञ्चमेऽनुवाके निरूप्यते ॥ कात्यायनः ॥ निरुद्धमाणमभिमन्त्रयेत् ।
एजतु दशमास्य इतीति ॥ यद्यनुबन्ध्या वशा गर्भिणी तदाविशसनकाले
मातुः सकाशात् पृथक्क्रियमाणं गर्भमभिमन्त्रयेत् ॥ पाठस्तु ॥ एजतु दश-
मास्यो गर्भो जरायुणा सह । यथायं वायुरेजति यथा समुद्र एजसेवायं दश-
मास्यो अस्रज्जरायुणा सहेति ॥ जरायुर्गर्भवेष्टनं तेन सह एजतु कम्पनं चलनं
करोतु । एज कम्पन इति धातुः । यथा येन प्रकारेणायं वायुरेजति चलति ।
यथा समुद्रश्चलति । एवमयं दशमास्यः सम्पूर्णावयवो गर्भो जरायुणा सह
अस्रत् निर्गच्छतु ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ अवदानान्यनुजुहोति यस्यास्त इति ॥
वशावदानानि प्रथमं हुत्वा पश्चाद् गर्भं जुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥ यस्यास्ते यज्ञियो
गर्भो यस्या योनिर्हिरण्ययी । अङ्गान्यह्मता यस्य तं मात्रा समजीगमं स्वाहेति ॥
यस्या वशाया अनुबन्ध्याया गर्भो यज्ञियो यज्ञार्हः । यस्यास्तव योनिर्हिरण्ययी
तादृशी त्वां गर्भे सङ्गमयामीति शेषः । यस्य गर्भस्याङ्गानि अह्मता अह्मतानि
अनवधितानि । तं गर्भं मात्रा अनुबन्ध्यालक्षणया जनन्या समजीगमं सङ्गम-
यामि स्वाहेति होमार्थः ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥ प्रतिप्रस्थाता प्रचरण्यां सर्व-
मेवमवद्यति स्विष्टकृद्धोमे स्वीकृते सति जुहुयात् ॥ पाठस्तु । पुरुदस्मो विपु-
रूप इन्दुरन्तर्महिमानञ्ज धीरः । एकपदीं द्विपदीं त्रिपदीं चतुष्पदीमष्टापदीं
भुवनानुप्रथन्तां स्वाहेति ॥ इन्दुः क्लेदनरूपः । सोमसदृशो गर्भो महिमानं मह-
त्त्वमानञ्ज व्यर्क्तिं करोतु । कीदृशः पुरुदस्मो बहुदानयुक्तः । विपुरुषो बहु-
रूपोऽन्तरुदरेऽवस्थितः । धीरो मेधावी इत्थंरूपं महिमानमानञ्जैत्यर्थः । भुव-

नानि भूतजातानि अनुप्रथन्तां वशाया गर्भं प्रख्यातं कुर्वन्तु । इयं वशा चतु-
ष्पदा सती कथमेकपद्यादिभिरुच्यते । यदा वशासम्बन्धिन्यां वपायां जुहुयात्
तदा एकपदी । यद् यदाङ्गैर्यागस्तदा द्विपदी यदौपयद्दोमः कृतस्तदा त्रिप-
दी । यदा पत्नीसंयाजैर्जुहुयात् तदा चतुष्पदी चतुर्भिः पदैर्युक्ता वा । एवं स्व-
पदैर्गर्भसम्बन्धिभिश्च पादैरष्टापदी एवम्भूतां वशां गणयित्वा अनुप्रथन्तामिति
सम्बन्धः । स्वाहा सुहुतमस्तु ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ समिष्टयजुरन्ते तदा
शामित्र एव जुहुयात् । तिष्ठन्मरुतः स्वाहाकृत्येति । यदि यजमानः । शापाद्वि-
भीयात् तदा समिष्टयजुर्होमानन्तरं शामित्रेऽग्नावेव गर्भं जुहुयात् । मन्त्रान्ते
स्वाहाकारोऽपि न कर्तव्य इति ॥ पाठस्तु ॥ मरुतो यस्य हि क्षये पाया दिवो
विमहसः । स सुगोपातमो जनः ॥ हे देवा, दिवो विमहसः । द्युलोकस्य सम्ब-
न्धिना विशिष्टेन महसा तेजसा युक्ता हे मरुतः, यूयं यस्ययजमानस्य क्षये
यज्ञगृहे पाथः पानं कुरुथ । पा पान इत्यस्य छान्दसं रूपम् । हि यस्मादेवं
तस्मात् स यजमानारूयो जनः, सुगोपातमः सुगोपतमो भवति । युष्मद्युक्तानां
न भयमस्तीत्यर्थः ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥ महीद्यौरित्यङ्गारैरभ्युहतीति ॥ शामित्रे
प्रक्षिप्तं गर्भमङ्गारैः प्रच्छादयेत् ॥ पाठस्तु ॥ मही द्यौः पृथिवीचन इमं यज्ञं मि-
मिक्षताम् । पिष्टां नो भरीमभिः ॥ मही महती द्यौर्युलोकः पृथिवी भूलोकश्च
नोऽस्मदीयमिमं यज्ञं मिमिक्षतां सिञ्चताम् । भरीमभिर्भरणैर्हिरण्यधान्यादिभिः
स्त्रैः स्त्रैर्भागैर्नोऽस्मदीयगृहं पिष्टात् परिपूरयतु ॥ ५ ॥ इति नवमेऽध्याये
पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥ ५ ॥

पञ्चमेऽनुबन्ध्यापशोर्गर्भे सति प्रायश्चित्तमन्त्रा उक्ताः ॥ षष्ठे त्वहर्गण-
संबन्धिनो मन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ द्रोणकलशमेनामाघ्रापयत्याजिघ्रेती-
ति ॥ गर्भविरात्रे गोसहस्रं दक्षिणा । तत्र सहस्रसंख्यापूरणी रोहिणी धेनुः ।
तां द्रोणकलशमाघ्रापयेत् ॥ पाठस्तु ॥ आजिघ्र कलशं मग्ना त्वा विशन्तिवन्दवः ।
पुनरूर्जा निवर्तस्व सा नः सहस्रन्धुक्ष्वोरुधारा पयस्वती पुनर्मा विश-
ताद्रयिरिति ॥ महीति गोनाम । हे महि, हे धेनो, त्वं कलशं द्रोणकलशाख्यं
पात्रम् आजिघ्राभिमुख्येनाघ्राणं कुरु । किञ्च । हे धेनो, त्वाम् इन्दवः सोमाः
आविशन्तु । ऊर्जा विशिष्टरसेन पयोभूतेनास्मान् पुनर्निवर्तस्व । मयैवं या
त्वं स्तुता सा त्वं नोऽस्माकं सहस्रं सहस्रसंख्याकं धेनुं धुक्ष्व देहीसर्धः । कि-
ञ्जातस्त्वत्पसादादुरुधारा बहुपयोयुक्ता पयस्वती धेनुर्मा मां पुनराविशतात् ।

आगच्छत्वित्यर्थः । तथा रविर्धनमपि माम् आविशतात् ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥
 हव्ये काम्य इति दक्षिणेऽस्याः कर्णे यजमानो जपतीति ॥ पूर्वोक्ताया
 धेनोर्दक्षिणे कर्णे यजमानो जपेत् ॥ पाठस्तु ॥ हव्ये काम्यऽइच्छे रन्ते चन्द्रे
 ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति । एता तेऽअघ्न्ये नामानि देवेषु मा मुकृतं
 ब्रूतादिति ॥ सर्वैराहूयत इति हव्या । सर्वैः काम्यत इति काम्या । सर्वैः स्तूयत
 इति इव्या । सर्वै रमयतीति रन्ता । आह्लादयतीति चन्द्रा । ज्वलति प्रकाशयती-
 ति ज्योता । अदितिरनवत्तण्डिता । सरस्वतीति सरः क्षीरं तद्वती सरस्वती ।
 मही महती । विश्रूयत इति विश्रुतिः । अहन्तव्येत्यघ्न्या । एवम्भूते हे धेनो,
 त्वदीयान्येतानि नामान्यतिशययुक्तानि ॥ एवम्भूतैर्नामभिरभिहिता सती
 देवेषु देवेभ्यः मुष्टु कर्म करोतीति मुकृत । तादृशं मा ब्रूता ब्रूहि ॥ २ ॥
 कात्यायनः ॥ शाला द्वार्येन्वारव्येष्विह रतिरिति जुहोतीति ॥ तत्रोत्थानं सर्वेषु
 यजमानेषु परस्परं स्पृष्टेषु सत्सु इदानीन्तनगार्हपत्ये जुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥ इह रति-
 रिह रमध्वमिह धृतिरिह स्वधृतिः स्वाहेति ॥ हे गावो, युष्मदीया रतिः रमणमिह
 यजमानेषु स्याद् अस्त्विहैव यूयं रमध्वम् । युष्माकमिह यजमानेषु धृतिः स्यात्
 स्वकीयानामपि धृतिरिहैव स्यात् । स्वाहा मुहुतमस्तु ॥ कात्यायनः ॥ अप-
 रामुपसृजन्तितीति ॥ तत्रैवैतां द्वितीयामाहुतिं जुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥ उपसृजं
 धरुणं मात्रे धरुणो मातरं धयन्त्रायस्पोषमस्मासु दीधरत् स्वाहेति ॥ धरुणो
 धारयिताऽग्निमात्रे धरुणं मातुः पृथिव्या धारयितारं पितरं दिवम् उपसृजन्
 समीपं प्रापयन् मातरं पृथिवीं धयन् स्वयं पिवन् तत्रोत्पन्नं हविर्भक्षयन्नित्य-
 ऽर्थः । अस्मासु रायस्पोषं पशुधनादिपुष्टिं दीधरत् । अत्यन्तं धारयतु । स्वाहे-
 ति होमार्थः ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ यजमान आत्मानं स्तुवीताऽगन्म ज्योति-
 रिति ॥ पाठस्तु ॥ अगन्म ज्योतिरमृता अभूम दिवं पृथिव्या अध्यारुहा-
 म । अविदाम देवान्स्वज्योतिरिति ॥ यजमाना वयं ज्योतिरादित्यलक्षणं
 अगन्म प्राप्ताः । ततः, अमृता अमरणधर्मा अभूम । पृथिव्याः सकाशादिवं
 शुलोकमध्यारुहाम । देवानिन्द्रादीन् अविदाम पश्याम । ज्योतिःस्वरूपं स्वः
 स्वर्गं पश्याम ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥ युवं तमिति दक्षिणस्याधोऽक्षमिति ॥
 यन्तीत्यनुवर्तते । सर्वे यजमाना अक्षस्याधोभागं प्रतिगच्छेयुः ॥ पाठस्तु ॥
 युवं तमिन्द्रापर्वता पुरोयुधा यो नः पृतन्यातप तं तमिद्धं वज्रेण तं तमिद्धं
 तम् । दूरे चत्ताय छन्तसहहनं यदि नक्षदस्माकं शत्रून् परिशूर विश्वतो दर्मा

दर्शाष्ट विश्वत इति ॥ पुरोयुधौ शत्रूणां पुरतो युद्धस्य कर्तारौ । इन्द्रापर्वता
 इन्द्रापर्वतौ युवं युवां यः शत्रुर्नोऽस्मात् पृतन्यात् संग्रामात् तं शत्रुं युद्धं कार-
 येत् तम् अपहतं युवां विनाशयतम् । किञ्च, तं तमिव । तं तत्समानमेव सर्व-
 मपि शत्रुं विनाशयतम् । तत्रापि विशेष्यते । वज्राख्येनाऽऽयुधेन तं तमेव
 शत्रुं विनाशयतम् । हे शूरेन्द्र, त्वदीयो वज्रः सद्गहनम् असन्तगम्भीरं वनं प्र-
 वेशयामीति।यद्यदा दूरेचत्ताय दूरादागताय शत्रवे कामयते तदा इनक्षत् तं शत्रुं
 व्याप्नुयात् । ततो दर्मा दारणशीलो वज्रोऽस्माकमस्मदीयान् विश्वतः सर्वतः
 आगतान् विश्वतः सर्वान् शत्रून् परिदर्शाष्ट परितो विदार्य दर्शयति स्म ॥
 कात्यायनः ॥ वाग्विसर्जनं भूर्भुवः स्वरिति ॥ वाचो विसर्जनं कुर्यादित्यर्थः ॥
 पाठस्तु ॥ भूर्भुवः स्वः सुप्रजाः प्रजया भूयासम् । सुवीरो वीरैः सुपोषः
 पोषैरिति ॥ व्याख्यातोऽयं मन्त्रः ॥ ५ ॥ इति नवमेऽध्याये षष्ठोऽनुवाकः
 ॥ ९ ॥ ६ ॥

षष्ठे अहर्गणसम्बन्धिनो मन्त्रा उक्ताः ॥ सप्तमे तु सोमसम्बन्धिनो नैमि-
 चिका मन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ परमेष्ठ्यार्दींश्चतुर्विंशतं जुहुयात् ॥
 तत्र प्रथममन्त्रपाठः ॥ परमेष्ठ्यभिधीत इति ॥ यदा सोमो यजमानेनाभिधीतः
 परमेष्ठ्येति नाम्नाभिधीयते ॥ अथ द्वितीयः ॥ प्रजापतिर्वाचि व्याहृतायामि-
 ति ॥ सोमेन यक्ष्ये इति वचस्युच्चारिते सति सोमः प्रजापतिनामको भवति ॥
 अथ तृतीयः ॥ अन्धो अच्छेत् इति ॥ यदा सोमः, अच्छम् आभिमुख्यमितः प्राप्तः
 तदा अन्धो भवति ॥ अथ चतुर्थः ॥ मविता सन्ध्यामिति ॥ सन्ध्यां सोमस्य सम्भक्तौ
 सत्त्वां सोमः सवितृनामको भवति ॥ अथ पञ्चमः ॥ विश्वकर्मा दीक्षायामिति ॥
 दीक्षायां सत्त्वां विश्वकर्मेत्युच्यते ॥ अथ षष्ठः ॥ पूषा सोमक्रयण्यामिति ॥
 सोमक्रये सति पूषेऽभिधीयते ॥ १ ॥ अथ सप्तमः ॥ इन्द्रश्च मरुतश्च क्रया-
 योपोत्थित इति ॥ यदा सोमक्रयार्थमुत्तिष्ठेत् तदा सोम इन्द्रनामको मरुन्नामक-
 श्च भवति ॥ अथाष्टमः ॥ अमुरः पण्यमान इति ॥ यदा सोमो यजमानेन
 पण्यते तदाऽसुरनाम्नाऽभिधीयते ॥ अथ नवमः ॥ मित्रः क्रीत इति ॥ यदा
 सोमो यजमानेन क्रीयते तदाऽसौ मित्रो भवति ॥ २ ॥ अथ दशमः ॥ विष्णुः
 क्षिपिर्विष्टः ॥ क्षिपिर्यज्ञः । तत्र प्रविष्टः ॥ अथैकादशः ॥ ऊरा आसन्नो
 विष्णुर्नरन्धिष इति ॥ ऊरौ उत्सङ्ग आसन्न उत्सङ्गं प्राप्तः सोमो विष्णुर्नरन्धिषो
 भवति ॥ अथ द्वादशः ॥ प्रोक्षमाणः सोम आगत इति ॥ यदा आगतः सोमः

मोहते तदा सोमनामा भवति ॥ अथ त्रयोदशः ॥ वरुण आसन्ध्यामासन्न
 इति ॥ यदा सोम आसन्ध्यामासन्नस्तदा वरुणो भवति ॥ ३ ॥ अथ चतुर्दशः ॥
 अग्निराग्नीध्र इति ॥ सोमो यदाग्नीध्रे वर्तते तदाग्निरित्यभिधीयते ॥ अथ
 पञ्चदशः ॥ इन्द्रो हविर्दाने इति ॥ हविर्दाने वर्तमानः सोम इन्द्रो भवति ॥
 अथ षोडशः ॥ अथर्वोपावहियमाण इति ॥ यदा सोम उपावहियते तदाऽथर्वो
 भवति ॥ अथ सप्तदशः ॥ विश्वेदेवा अशुषु न्युप्यमानेष्विति ॥ अशुषु न्युप्य-
 मानेषु सत्सु विश्वेदेवा एतन्नामको भवति ॥ ४ ॥ अथाष्टादशः ॥ विष्णुराप्तीतपाः
 इति ॥ आप्तीतपाः सोमो विष्णुर्भवति ॥ अथैकोनविंशः ॥ आप्याय्यमानो यम
 इति ॥ आप्याय्यमानः सोमो यमो भवति ॥ अथ विंशः ॥ सूयमानो विष्णुः
 संभ्रियमाण इति ॥ यदा सोमोऽभिषूयते संभ्रियते च तदा विष्णुर्भवति ॥ अथै-
 कविंशः ॥ वायुः पूयमान इति ॥ पूयमानः सोमो वायुर्भवति ॥ अथ द्वाविंशः ॥
 युक्रः पूत इति ॥ पूतः सोमः युक्रो भवति ॥ ५ ॥ अथ त्रयोविंशः ॥ युक्रः
 क्षीरश्रीरिति ॥ क्षीरेण संमिश्रितः सोमः युक्रो भवति ॥ अथ चतुर्विंशः ॥
 मन्थी सक्तुश्रीरिति । सक्तुभिः संमिश्रितः सोमो मन्थी भवति ॥ अथ
 पञ्चविंशः ॥ विश्वेदेवाश्चमसेषूनीत इति ॥ चमसेषूनीतः सोमो विश्वेदेवा
 इति भवति ॥ अथ षड्विंशः ॥ असुर्होमायोद्यत इति ॥ यदा सोमाय
 निष्क्रासितस्तदा असुर्भवति ॥ ६ ॥ अथ सप्तविंशः ॥ रुद्रो हूयमान इति ॥
 यदा सोमो हूयते तदा रुद्रो भवति ॥ अथाष्टाविंशः ॥ वातोऽभ्यावृत्त इति ॥
 यजमानेनाभ्यावृत्तः सोमो वातनामा भवति ॥ अथैकोनत्रिंशः ॥ नृचक्षाः
 प्रतिरूपात इति ॥ प्रतिरूपातः सोमो नृचक्षा इति भवति ॥ अथ त्रिंशः ॥
 भक्षः पीत इति ॥ पीतः सोमो भक्षो भवति ॥ अथैकत्रिंशः ॥ पितरो नारा-
 क्षाः साद्यमान इति ॥ यदा सोमः साद्यते तदा पितरो नाराक्षाः भवति ॥
 अथ द्वात्रिंशः ॥ सिन्धुरवभृथायोद्यत इति ॥ अवभृथार्थं यदा सोम उद्यतस्तदा
 सिन्धुर्भवति ॥ अथ त्रयस्त्रिंशः ॥ समुद्रोऽभ्यवहियमाण इति ॥ यदा
 सोमोऽभ्यवहियते तदा समुद्रो भवति ॥ अथ चतुस्त्रिंशः ॥ सलिलः प्रप्लुतः
 इति ॥ यदा सोमः प्रप्लुतोऽप्सु निमग्नस्तदा सलिलो भवति ॥ ७ ॥ का-
 त्यायनः ॥ स्कन्नमभिमृशति । ययोरोजसेति ॥ पाठस्तु ॥ ययोरोजसा स्क-
 भिता रजांसि वीर्येभिर्वीरितमा शविष्ठा । या पत्ये ते अपतीता सहोभिर्विष्णु
 अगन्वरुणा पूर्वहूताविति ॥ ययोर्विष्णुवरुणयोरोजसा बलेन रजांसि लोकाः स्क-

भिता स्कम्भितानि स्तम्भितानि । किञ्च वीर्येभिर्वीरतमा असन्तवीरौ शविष्ठा
 शविष्ठौ बलवन्तौ यौ विष्णुवरुणौ या पत्येते परस्मैन्पु पततः सहोभिर्वलैरम-
 तीता अप्रतिगमनावनन्यसाध्यौ विष्णुवरुणावित्युभावस्मदीयो यज्ञः पूर्वहूतौ
 पूर्वमाहाने अगन् अगच्छत् ॥ तत्रैव विकल्पितो द्वितीयो मन्त्रः ॥ देवान् दिव-
 मगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु मनुष्यानन्तरिक्षमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु ।
 पितॄन् पृथिवीमगन् यज्ञस्ततो मा द्रविणमष्टु यं कञ्च लोकमगन् यज्ञस्ततो मे
 भद्रमभूत् इति ॥ अयं यज्ञो देवान् आतिवाहिकान् वाय्वादीन् प्राप्य दिवं
 द्युलोकमगन् अगच्छत् । ततस्तत्र स्थिताद्यज्ञाद्, मां द्रविणं विशिष्टभोगसा-
 धनरूपं धनमष्टु व्याप्नोतु । अनेन सृकृतिनामारोहक्रममभिधायेदानीमवरोह-
 क्रममाह । ततो द्युलोकादवरोहणकाले अन्तरिक्षलोकमागत्य मनुष्यानयनम् ।
 यज्ञो मनुष्यलोकमागच्छत्तत्रस्थिताद्यज्ञाद्, मां द्रविणं व्याप्नोतु । दक्षिणायने
 गमनागमनमाह । अयं यज्ञो धूमादिमार्गेण पितॄन् प्राप्य पृथिवीमागच्छत् । तत्र-
 स्थिताद्यज्ञान्मां द्रविणं प्राप्नोतु । यं कपि लोकम् अयं यज्ञोऽगच्छत् । ततस्त-
 स्माद्यज्ञो मम भद्रं कल्याणमभूत् । भूयाद् इति यजमानेनाशास्यते ॥ ८ ॥ ९ ॥
 इति नवमेऽध्याये नवमोऽनुवाकः ॥ ९ ॥ ९ ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्ह निवारयन् ॥

पुमर्थाश्चतुरो दद्याद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक—श्रीवीरबुक्कभूपाल-
 साम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे काण्व-
 संहिताभाष्ये नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

अथ शुक्लयजुर्वेदकाण्वमन्त्रभाष्ये दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

यस्य निश्चसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ॥

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

चतुर्थाध्यायमारभ्य नवमान्तेषु षट्स्वध्यायेषु सोमयागमन्त्रास्तदीय-
प्रासङ्गिकमन्त्राश्च निरूपिताः ॥ दशमाध्याये वाजपेयिका मन्त्रा निरूप्यन्ते ॥
तत्र प्रथमेऽनुवाके सवितृप्रेरणार्थं मन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ देवसवित-
रिति जुहोतीति ॥ वाजपेयमन्त्रान्धि कर्म प्रारभमाणः प्रथममनेन जुहुया-
त् ॥ पाठस्तु ॥ देवसवितः प्रमुव यज्ञं प्रमुवेमं भगाय । दिव्यो गन्धर्वः
केतपाः केतस्रः पुनातु वाचस्पतिर्नो अद्य वाजः स्वदत्विति ॥ हे सवितः देव
सर्वस्य प्रेरकान्तर्यामिन् यज्ञं वाजपेयलक्षणं यागं प्रमुव प्रवर्तय । इमं
यजमानं भगाय भजनीयायानुष्ठानरूपायैश्वर्याय प्रमुव प्रेरय । किञ्च त्व-
त्प्रसादादादित्यो द्वित्रि भवो गन्धर्वो गवां रश्मीनां धारयिता केतपाः ॥ केत-
शब्देनात्राऽन्नमुच्यते । अन्नस्य पालयिता । सूर्यमण्डलवर्ती देवो नोऽस्माकं
केतमश्रं पुनातु शोधयतु । वाचस्पतिः प्रजापतिरपि त्वत्प्रसादादस्मान् दिने दिने
नोऽस्मदीयं वाजं हविर्लक्षणमन्नं स्वदतु ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ पञ्च चैन्द्रान्
ध्रुवसदमिति प्रतिमन्त्रमिति ॥ इन्द्रदेवताकान् पञ्चग्रहान् ध्रुवसदमित्यादिभिः
पञ्चभिर्मन्त्रैः क्रमेण गृह्णीयादिति शेषः ॥ तत्र प्रथममन्त्रपाठः ॥ ध्रुवसदं त्वा
नृषदं मनःसदम् । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय
त्वा जुष्टममिति ॥ हे सोम, त्वम् उपयामयतीत्युपयामो ग्रहस्तेन गृहीतोऽसि ।
इन्द्राय जुष्टं प्रियं त्वां गृह्णामि । कीदृशं त्वां ध्रुवसदम् । ध्रुवे स्थिरलक्षणे ग्रहे
सीदतीति ध्रुवसदं, नृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषदं, मनसि सीदतीति मनः-
सदम् । तादृशम् । एष त इत्यासादनमन्त्रः । हे ग्रह एष खरप्रदेशस्तत्र स्थानम् ।
इन्द्राय प्रियतमं त्वां सादयामीति शेषः ॥ २ ॥ अथ द्वितीयः ॥ अप्सुपदं
त्वा घृतसदं व्योमसदम् । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते
योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टममिति ॥ तद्दुदकघृतामन्तरिक्षेषु सीदन्तं त्वां गृह्णामि ।
क्षेपो व्याख्यातसमानाऽर्थः ॥ अथ तृतीयः ॥ पृथिविसदं त्वामन्तरिक्षसदम् ।
विविसदं देवसदं नाकसदम् । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष

ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टममिति ॥ स्पष्टार्थः ॥ ३ ॥ अथ चतुर्थः ॥ अपा-
 रसमुद्रयसः सूयं सन्तः समाहितम् । अपाः रसस्य यो रसस्तं वो गृह्णा-
 म्युत्तमम् । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा
 जुष्टममिति ॥ हे तुरीयग्रह अपां रसस्य उदकस्य सारभूतः सोमवल्लीरूपेण
 परिणतो यो रसोऽस्ति तस्यापि रसस्य यो रसः सारभूतस्तं तादृशम्, उत्तमम्
 उत्कृष्टतमं रसं वो युष्मदर्थं गृह्णामि । व इति प्रजार्थं बहुवचनम् । अपाः
 रसम् । उदकस्य सारम् । उद्रयसम् । उद्रतं वयोऽन्त्यस्य तं सूयं सन्तं सम्यगाहितम् ।
 शिष्टं स्पष्टम् ॥ अथ पञ्चमः ॥ ग्रहा ऊर्जाहुतयो व्यन्तो विप्राय मतिम् । तेषां
 विशिप्रियाणां वोऽहमिषमूर्जः समग्रभम् । उपयामगृहीतोऽसीन्द्राय त्वा जुष्टं
 गृह्णाम्येष ते योनिरिन्द्राय त्वा जुष्टममिति ॥ हे ग्रहाः, ऊर्जमन्नं येनाहुय-
 न्ति त ऊर्जाहुतयः । ये यूयं विप्राय मेधाविने मतिं विशिष्टबुद्धिं, व्यन्तः ।
 विल्वस्य गतिकर्मणो धातोः शत्रन्तस्य व्यन्त इति रूपम् । व्यन्तोऽवगच्छ-
 न्तोऽनुजानन्त इत्यर्थः । विशिप्रियाणां विविधानि शिप्राणि हनुस्थानीयानि
 पात्राग्राणि तत्तत्पर्यन्ता विशिप्रियास्तादृशानां तेषां वो युष्माकं सम्बन्धिनम् ।
 इषमन्नमूर्जं रसमहं समग्रभं समग्रहं सम्यग्गृह्णामि । उपयामगृहीत इति
 व्याख्यातम् ॥ कात्यायनः ॥ उपर्यक्षमध्वर्युरारयत्यथो नेष्टा संपृचस्थेतीति ॥
 अध्वर्युरूपर्यक्षं सोमग्रहं धारयेत् । नेष्टा अथोऽक्षं सुराग्रहं धारयेत् ॥ पाठस्तु ॥
 संपृचस्थ सं मा भद्रेण पृक्क । विपृचस्थ वि मा पापेन पृक्केति ॥ हे ग्रहाः,
 यूयं संपृचस्थ । संपृक्ताः संस्पृष्टा भवथ । यत एवमतो मा मां भद्रेण भन्दनी-
 येन कल्याणेन संपृक्त संस्पृजत । यतो यूयं विपृचस्थ विगतान्यसंमार्गा
 भवथ । अतो मा मां पापेन विपृक्क वियोजयत ॥ इति दशमेऽध्याये मथमो-
 ऽनुवाकः ॥ ॥ ॥ ॥ प्रथमे सवितृप्रेरणार्था मन्त्रा उक्ताः ॥ द्वितीयेऽनु-
 वाके रथारोहणादिमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ इन्द्रस्य वज्र इति रथापहरण-
 मिति ॥ रथमाहरेत् ॥ पाठस्तु ॥ इन्द्रस्य वज्रोऽसि वाजमास्त्वयायं वाजः
 सेदिति ॥ हे रथाभिमानिदेव, त्वमिन्द्रस्य वज्रसमो भवसि । वज्रभूतेन त्वया
 यजमानो वाजमन्नं सेत् । सनुयात् । समभजत् । अतस्त्वं वाजस्यान्नस्य दाता
 भवसि ॥ कात्यायनः ॥ दक्षिणेन चात्राल आवर्तयति वाजस्येति धूर्गृही-
 तमिति ॥ चात्रालस्य दक्षिणभागे धूर्गृहीतं रथम् आवर्तयेत् ॥ पाठस्तु ॥ वाज-
 स्य तु प्रसवे मातरं महीमदिति नाम वचसा करामहोयस्यामिदं विश्वं भुवन-

माविवेश तस्याश्वो देवः सविता धर्मसा विषमिति ॥ वाजस्याश्वस्य प्रसवे-
ऽनुज्ञायामेव वर्तमाना वयं मातरं जगतो निर्मात्रीं महीं महनीयामदितिमदीनाम्
अखण्डितां वा भूमिं नाम प्रसिद्धं यथा भवति तथा वचसा मन्त्रेण करामहे ।
करवामहे स्तुम इत्यर्थः । यस्यां भूमाविदं विश्वं सर्वं भुवनं भूतजात-
माविवेश तस्यां भूमावेव नोऽस्माकं धर्म धारणभवस्थानं सविता देवः सा
विषक् । षू प्रसव इति धातोर्विचि कृते तदेतद्रूपम् । प्रसवमनुज्ञां करोतु ॥१॥
॥ कात्यायनः ॥ अश्वान् प्रोक्षयत्यपोऽवनीयमानान् स्नातानागतान्प्लवन्तारिति
देवीराप इति वा समुच्चयो वेति । स्नानार्थमप उद्दिश्य नीयमानान् स्नातान्
आगतान् वाश्वान् अप्लवन्तरमृतमिति मन्त्रेण वा, देवीराप इति मन्त्रेण वा
एतन्मन्त्रद्वयेन वा प्रोक्षयेत् ॥ तत्र देवीराप इत्यस्य मन्त्रस्य पाठः ॥ देवीरापो
अपां नपाद्यो व ऊर्मिः प्रतृतिः । ककुम्मान् वाजसास्तेनायं वाजः सेदिति ॥
हे आपो देव्यो, वो युष्मदीयो य ऊर्मिः कल्लोलः अपान्नपात् अपामपत्यं
गर्भभूत इत्यर्थः । कीदृशः प्रतृतिः । प्रकर्षेण त्वरणशीलः । ककुञ्जन्देन
वृषभस्य उन्नतप्रदेश उच्यते । अत्र कल्लोलः । तत्साम्यादुदकानिचयैः संयुक्त-
बहलोद्गतोदकसङ्घातवान् ककुम्मानित्युच्यते । वाजसा अश्वस्य दाता य एवं-
विशिष्टस्तेन अपां विशिष्टरूपेणायमश्वः प्रोक्षितः सन् वाजमन्नं सेत् सम्भजेत्
॥ २ ॥ अथ द्वितीयः प्रोक्षणमन्त्रः ॥ अप्लवन्तरमृतमप्सुभेषजमपामुत प्रश-
स्तिभिः । अश्वो भवत वाजिन इति । अप्लवदकेषु मध्ये । अमृतं सारभूतमपां
स्वरूपं यदस्ति तेनापां सारभूतेनाश्वः संभूताः । अतोऽश्वानां भेषजमारोग्यकरं
पुष्टिकरं चौषधं यदस्ति तदप्लवेव प्रतिष्ठितमिति शेषः । उताऽपिच अपामुदका-
नां प्रशस्तिभिः प्रशंसनैः स्तोत्रैर्वाजिनोऽश्ववन्तो वेगवन्तो वाऽश्वो यूयमेव
स्तुता भवत ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ दक्षिणं युनक्ति वातो वेतीति ॥ दक्षिण-
प्रदेशे प्रथममश्वं योजयेत् ॥ पाठस्तु ॥ वातो वा वो मनो वा गन्धर्वाः सप्त-
विंशतिः । ते अग्रेऽश्वमयुञ्जन्स्ते अस्मिञ्जवमादधुरिति ॥ अत्र वाशब्दः
समुच्चयार्थः । वातो वायुश्च मनश्च गन्धर्वाः सप्तविंशतिः सप्तविंशतिसंख्या युक्ता-
नि नक्षत्राणि च ते एते वातप्रभृतयः । सर्वे अग्रे पूर्वं वयं युष्मान् । बहुवचनं
पूजार्थम् । अश्वं त्वामयुञ्जन् रथे योजितवन्तः । ते च पुनरस्मिञ्जवे त्वयि
जवमतिवेगयुक्तं बलमादधुः स्थापितवन्तः ॥ कात्यायनः ॥ उत्तरं वातरः हा
इतीति ॥ वामभागे द्वितीयमश्वं योजयेत् ॥ पाठस्तु ॥ वातरः हा भव वाजिन

युज्यमान इन्द्रस्येव दक्षिणः श्रियेधि । युजन्तु त्वां मरुतो विश्ववेदसऽथा ते त्वष्टा पत्सु जवं दधात्विति । हे वाजिन् वेगवान् अश्व युज्यमानादुत्तरभागे नियुज्यमानस्त्वं वातरश्हा वायुवद्वेगयुक्तो भव । दक्षिणो दक्षिणभागे स्थितोऽश्वमिन्द्रस्याश्व इव श्रिया शोभया युक्त एधि भव । विश्ववेदसः सर्वज्ञा मरुतः, त्वा त्वां युजन्तु । नियुजन्तु । किञ्च, त्वष्टा त्वष्टृनामको देवः, हे अश्व ते तव पत्सु पादेषु जवं वेगमादधातु स्थापयतु ॥ कात्यायनः ॥ दक्षिणा-
प्राप्तिं जवो यस्त इति ॥ व्यवहितयोरीषयोर्मध्ये प्राप्तिनामकं तृतीयमश्वं योज-
येत् ॥ पाठस्तु ॥ जवो यस्ते वाजिन्निहितो गुहा यः श्येने परीतो अचरच्च
वाते । तेन नो वाजिन् बलवान् बलेन वाजजिचैधि समने च पारयिष्णुरिति ॥
हे वाजिन्, अश्व, ते तव गुहा गुहायां हृदयप्रदेशे यो जवो वेगो निहितो-
ऽवस्थापितः । श्येने श्येनारूपे पक्षिणि यो जवः परीतः प्राप्तः । वाते वायौ यो
जवः अचरत् । हे वाजिंस्तेन बलेन बलवांस्त्वं योऽस्माकं वाजजित् ।
वाजस्याश्वस्य जेता एधि । अश्वस्य धाता भवेत्यर्थः । समने मङ्गले च पार-
यिष्णुः पारङ्गमनशीलो भव ॥ कात्यायनः ॥ बार्हस्पत्यमेतानाग्रायति वाजिन
इतीति ॥ एतान्श्वान् बृहस्पतिदेवताकं चरुमाग्रापयेत् ॥ पाठस्तु ॥ वाजिनो वाज-
जितो वाजः सरिष्यन्तः । बृहस्पतेर्भागमवजिघ्रतेति ॥ वाजजिनोऽश्वस्य जेतारो
वाजमश्वं सरिष्यन्तो वाजिनोऽश्वा यूयं बृहस्पतेर्भागं चरुम् अवजिघ्रत । आघ्राणं
कुरुत ॥ इति दशमेऽध्याये द्वितीयोऽनुवाकः ॥ १० ॥ २ ॥

द्वितीये रथाहरणादिमन्त्रा उक्ताः ॥ तृतीयेऽनुवाके रथचक्रादिरोहणमन्त्रा उच्यन्ते
कात्यायनः ॥ देवस्य वयमिति ब्रह्मा रथचक्रमारोहत्युत्करं नाभिमात्रे स्थाणौ
स्थितमिति ॥ उत्तरप्रदेशे निष्वातस्य नाभिप्रमाणस्य काष्ठस्याग्रे स्थिरं रथ-
चक्रं ब्रह्मा ऋत्विगारोहयेत् ॥ पाठस्तु ॥ देवस्य वयं सवितुः सवे सत्यसवसः ।
बृहस्पतेरुत्तमं नाकं रुहेमेन्द्रस्योत्तमं नाकं रुहेमेति ॥ सत्यसवसः सत्यप्रसवस्य
सत्याभ्यनुज्ञानस्य सवितुः । सर्वप्रेरकस्य देवस्य सवे अभ्यनुज्ञायां वर्तमाना
वयं बृहस्पतेः संबन्धि उत्तममुत्कृष्टं नाकं स्वर्गं रुहेम आरुहेम स्वर्गारोहणं क-
रवाम । तथेन्द्रस्योत्तमं स्वर्गमरुहेम ॥ कात्यायनः ॥ देवस्य वयमिति यजुर्मन्त्र-
युक्तमारोहति यजमान इति ॥ मन्त्रयुक्तं रथं यजमान आरोहेत् ॥ पाठस्तु ॥
देवस्य वयं सवितुः सवे सत्यसवसः । बृहस्पतेरुत्तमं नाकमरुहामेन्द्रस्यो-
त्तमं नाकरुहामेति ॥ सत्याभ्यनुज्ञानस्य सवितुर्देवस्य प्रसवे वर्तमाना वयं बृह-

स्पतेरिन्द्रस्य च संबन्धि उत्तमं स्वर्गमरुहाम आरुहेम ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥
 बृहस्पते वाजमित्येकदुन्दुभिमाहन्तीति ॥ सप्तदशसु दुन्दुभिषु मध्ये प्रथमं मुख्यं
 दुन्दुभिमाहन्पाठः ॥ पाठस्तु ॥ बृहस्पते वाजं जय बृहस्पतये वाचं वदत । बृह-
 स्पतिं वाचं जापयत । इन्द्र वाजं जयेन्द्राय वाचं वदत । इन्द्रं वाजं जापयत ।
 एषा वः सा सत्या संवागभूद्यया बृहस्पतिं वाजमजीजपत । अजीजपत बृह-
 स्पतिं वाचं वनस्पतयो विमुच्यध्वमिति ॥ हे बृहस्पते देव, त्वं वाजमग्नं जय ।
 हे दुन्दुभयो, यूयं बृहस्पतये अर्थाय इत्यम्भृतां वाचं वदत यूयं ब्रूत । बृहस्पतिं
 वाजमग्नं जापयत । उद्गादयत । जप जल्प व्यक्तायां वाचि । हे इन्द्र वाजं जय ।
 इन्द्रायेन्द्रार्थम् इत्यम्भृतां वाचं वदत । वाजं जेष्यामीति । इन्द्रं वाजं जापयत । उद्गा-
 दयत । दुन्दुभिष्वहरति । हे दुन्दुभयः, वो युष्माकं संबन्धिनी सा संवाक् सत्या तथ्या
 यथार्थवादिनी अभूत् । बृहस्पतिं वाजमग्नं यथावाचा अजीजपत जेष्यामीत्यु-
 द्गादितवन्तः । वो युष्मदीया सैषा समीचीना वाक् सत्या यथार्थवादिन्यभूत् ।
 हेवनस्पतयो यूयं विकाराः यूयं यस्मादग्नं जेष्यामीति वदन्तो बृहस्पतिमजीजपत
 वाजजितं कृतवन्तस्तस्माद्वाचं विमुच्यध्वं वाग्विमोचनं कुरुत ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥
 कात्यायनः ॥ ब्रह्मारोहति । देवस्य वयमिति ॥ रथचक्रात् सकाशादवरोहेत् ॥
 पाठस्तु ॥ देवस्य वयं सवितः सवे सत्यसवसः । बृहस्पतेर्वाजजितो वाजं
 जेष्येति ॥ सत्यसवसः सत्यप्रसवस्य सवितुर्देवस्य सवे अभ्यनुज्ञायां वर्तमानाय
 यं वाजजितो वाजमग्नं जयतीति वाजजित् । तस्य बृहस्पतेः सम्बन्धि
 वाजमग्नं जेष्य वयं जितवन्तः ॥ ५ ॥ कात्यायनः ॥ वाजिन इति वाचयति ॥
 यजमानं वाचयेत् ॥ पाठस्तु ॥ वाजिनो वाजं जयताध्वनस्कभ्नन्तः । योजना
 मिमानाः काष्ठां गच्छतेति ॥ हे वाजिनः शीघ्रगामिनोऽश्वा यूयं वाजमग्नं
 जपत वशीकुरुत । किञ्च, अध्वनो मार्गात् । स्कभ्नन्तः । स्तम्भयन्तः पीड-
 यन्तो योजना योजनानि मिमानाः परिच्छिन्दन्तः । शीघ्रगसाल्पानीव कुर्व-
 न्तो यूयं काष्ठामध्वसमार्गं लक्ष्यस्थानं गच्छत प्राप्नुत ॥ ६ ॥ कात्यायनः ॥
 एष स्य इति प्रत्यृचं जुहोत्यनुमन्त्रयते इति वेति ॥ एष स्य वाजी उत स्मेत्ये-
 तन्मन्त्रद्वयेन जुहुयादनुमन्त्रणं वा कुर्यात् ॥ तत्राद्यमन्त्रपाठः ॥ एष स्य वाजी
 क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धोऽपि कक्ष आसनि । क्रतुं दधिक्रा अनु-
 सन्तवीत्त्वत् पथामङ्गाः स्यन्वापनीफणदिति ॥ ग्रीवायां कक्षे आस्ये च तत्त-
 दुचितरञ्जुविशेषैर्बद्ध एष स्य वाजी सोऽयमग्निः क्षिपणिं तुरण्यति कक्षां

त्वरयति बहुधा बहुत्वाद्रथं भञ्जयितुम् इतस्ततो न गच्छति । कक्षायास्त्वरया शीघ्रं धावतीत्यर्थः । दधिक्राः वारकान्मार्गावरोषकान् पाषाणादीनप्यतिक्रमत् । क्रतुं सादिनोऽभिप्रायम् अनुसन्तवीत्वत् सम्यगनुसन्दधानः पथां मार्गाणामङ्गानि लक्षणानि कुटिलानि निम्नोन्नतानि वा । अन्वापनीफणत् । अनुक्रमेण ऋजुत्वं समत्वं वाऽऽपादयन् तुरण्यतीति पूर्वत्रान्वयः ॥ ७ ॥ द्वितीयमन्त्रपाठस्तु ॥ उत स्मास्य द्रवतस्तुरण्यतः पर्णं न बेरनुवाति प्रगर्द्धिनः । श्येनस्येव ध्रजतो अङ्गुसं परि दधिक्राव्णः सहोर्जा तरित्रत इति ॥ उतस्मापि च द्रवतो गच्छतस्तुरण्यतस्त्वरयतः प्रगर्द्धिनः अवार्धं प्राप्तुं काङ्क्षतोऽस्य अश्वस्थाङ्गुसंशृङ्गारचिह्नं वस्त्रचामरादिकं परि सर्वस्मिन्नपि देहे वर्तमानमनुवाति गच्छन्तमश्वमनु उत्क्षिप्तत्वेन दृश्यमानं गच्छति । कस्य किमिव । वेः पक्षिणः, पर्णं न = पक्ष इव । यथा त्वरया गच्छतः पक्षिणः पक्ष उत्क्षिप्तो गच्छन्नवलोक्यते तथा धावतोऽश्वस्यालङ्कारवस्त्रचामरादिकं विस्पष्टमवलोक्यते । पक्षिपावस्य पर्णमङ्गुसं दृष्टान्तत्वेनाभिहितम् । शीघ्रधावने श्येनदृष्टान्त उच्यते । व्रजतो गच्छतः श्येनस्येव स्वचामरादिकं विदधिक्रान्तो धारकपर्वताद्यतिक्रामिणः, ऊर्जा सह अखन्तबलेन सह तरित्रतो भ्रंशतस्ततोऽश्वस्येति योज्यम् ॥ ८ ॥ उत्तरेण तृत्वेनाऽश्वांस्तौतीति ॥ तत्रेयं प्रथमा ॥ शं नो भवन्तु वाजिनो हवेषु देवताता मितद्रवः स्वर्काः । जम्भयन्तोऽर्हि वृकः रक्षांसि सनेम्यस्मद्युयवन्नमीवा इति ॥ वाजिनोऽश्वा नोऽस्माकं शं सुखकरा भवन्तु । हवेषु आह्वानेषु सत्सु देवताता देवास्तन्यन्ते विस्तार्यन्ते यत्र स तथा देवतातौ यज्ञे मितद्रवः मितं परिमितं द्रवन्ति गच्छन्तीति मितद्रवोऽश्वाः । स्वर्काः । मुरुचः । स्वञ्जना वा । अर्हि सर्प वृकम् अरण्यञ्चानं रक्षांसि राक्षसांश्च जम्भयन्तः क्षोभयन्तः । सनेमीति पुराणनाम । इह तु क्षिप्रवचनम् । क्षिप्रमस्मदस्मत्तः अनमीवाः रोगान् युयवन् वियोजितवन्तस्तादृशाः शनो भवन्त्विति सम्बन्धः ॥ ९ ॥ अथ द्वितीयः ॥ ते नो अर्वन्तो हवनश्रुतो हवं विश्वे शृण्वन्तु वाजिनो मितद्रवः । सहस्रसा मेघसाता इव त्मना महो ये धनः समिधेषु जश्निर इति ॥ अर्वन्तो गतिकुशलाः हवनश्रुतः । आह्वानं शृण्वन्तो वाजिनोऽश्ववन्तो मितद्रवो यजमानचिन्तानुकूलतया परिमितगामिनो विश्वे सर्वेऽपि ते अश्वा नोऽस्मदीयं हवनम् आह्वानं शृण्वन्तु । सहस्रसाः सहस्रस्य महतोऽश्वराशोः सनितारो दातारो येऽश्वा मेघसाता इव । मेध्यो यज्ञः । स यत्र सीयते

सेव्यत इति मेघसातिर्यङ्गशाला तस्यामिव समिधेषु संग्रामेषु महो महद्भनं
 त्मना आत्मनाः स्वकीयबलेन जञ्जिरे । आहूतवन्तः । ते अश्वा अस्मदीयमा-
 ह्वानं शृण्वन्त्विति सम्बन्धः ॥ १० ॥ अथ तृतीयः ॥ बाजे बाजेऽवत
 बाजिनेन धनेषु विप्राऽअमृताऽऋतज्ञाः । अस्य मध्वः पिबत मादयध्वं तृप्ता यात
 पथिभिर्देवयानैरिति ॥ बाजे बाजे सर्वऽस्मिन्नन्ने उपस्थिते सति धनेषु
 चोपस्थितेषु हे बाजिनः, अश्वाः, नोऽस्मान् अवत पालयत । विप्रा
 मेघाविनः परिदृष्टकारिणः अमृता अमरणधर्माणः ऋतज्ञाः सत्यज्ञाः अश्वा-
 ऽभिमानिनो देवा यूयम् । अस्य मध्वः इदं धावनात् पूर्वं पश्चाद्यावध्रीय-
 माणं मधुसमानं नैवारं चरुं पिबत । तत् पीत्वा च मादयध्वं तृप्ता भवत ।
 तृप्ताः सन्तो देवयानैर्देवाधिष्ठितपथिभिः मार्गैर्यात गच्छत ॥ ११ ॥
 कात्यायनः ॥ नैवारमालभते तीर्थे स्थितमामावाजस्पेतीति ॥ तीर्थप्रदेशे स्था-
 पितं नीवारसम्बन्धिनं चरुं स्पृशेत् ॥ पाठस्तु ॥ आ मा वाजस्य प्रसवो ज-
 गम्यादेमे द्यावापृथिवी विश्वरूपे । आ मा गतं पितरामातरा युवमा मा सोमो
 अमृतत्वाय गम्यादिति ॥ वाजस्य प्रसव उत्पत्तिर्मा माम् आजगम्यात् । आ-
 गच्छतु । विश्वरूपे विश्वरूपात्मिके इमे द्यावापृथिवी द्यावापृथिव्यावागच्छता-
 म् । पितरामातरा अस्मदीयः पिता माता च युवं युवां चिरम्भावित्वान्मां प्रत्या-
 गतम् । किञ्च सोमश्च अमृतत्वाय मम देवजन्मने मां प्रत्यागम्यादागच्छतु ॥ १२ ॥
 कात्यायनः ॥ यजुर्युक्तानाग्रापयति बाजिन इतीति ॥ मन्त्रेण योजितान्
 अश्वान्नैवारचरुमाग्रापयेत् ॥ बाजिनो बाजजितो बाजः सस्रवाःसः । बृहस्प-
 तेर्भागमवजिघ्रत निमृजाना इति ॥ हे बाजिनोऽश्वाः, बाजजितो बाजस्याश्वस्य
 जेतारो बाजमन्नं जेतुं सस्रवाःसः सस्रवन्तो गच्छन्तो निमृजानाः शुद्धिं कुर्वाणा
 यूयं बृहस्पतेः सम्बन्धिनं भागं चरुम् अवजिघ्रत । अवघ्राणं कुरुत ॥ १३ ॥ इति
 दशमेऽध्याये तृतीयोऽनुवाकः ॥ १० ॥ ३ ॥

तृतीयेऽनुवाके रथारोहणमन्त्रा उक्ताः ॥ चतुर्थे श्रुवाहुत्यादिमन्त्रा नि-
 रुच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ द्वादश श्रुवाहुतीर्जुहुयादापये स्वाहेति प्रतिमन्त्रमिति ॥
 आपये स्वाहेत्यादिभिर्द्वादशभिर्मन्त्रैः प्रत्येकं श्रुवेण द्वादशसंख्याका आहुतीर्जु-
 हुयात् ॥ तन्मन्त्रपाठस्तु ॥ आपये स्वाहा स्वापये स्वाहा पिजाय स्वाहा क्रतवे
 स्वाहा । वसवे स्वाहाऽहर्षतये स्वाहा । अहे मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनःशिनाय
 स्वाहा विनःशिन आन्त्यायनाय स्वाहान्त्राय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये

स्वाहाऽधिपत्ये स्वाहेति ॥ अत्र संवत्सराभिमानी देवः स्तूयते । आमोती-
 त्पापिः तस्मै स्वाहा मुहुतमस्तु । मुक्षोभनमामोतीति स्वापिस्तस्मै मुहुतमस्तु ।
 अप्सु पुनः पुनर्जायत इत्यपिजस्तस्मै स्वाहा । क्रतुः सङ्कल्पो भोगादि-
 विषयो यज्ञो वा तस्मै । वसवे निवासहेतवे । अह्ना वासराणां पतिरहःपतिस्त-
 स्मै । मुह वैचित्ये । मुक्षतीति मुग्धस्तस्मै मुग्धाय । वैनःश्विनाय विनाश-
 संयुक्तेषु वसतीति वैनःश्विस्तस्मै । विनःश्विने नाशयुक्ताय । अन्ते अयने
 भवः आन्त्यायनस्तस्मै । अन्त्ये भवः । आम्त्याय । भुरने भवो भौवनस्त-
 स्मै । तस्य पत्ये जगत्पालयित्रे अधिपत्ये सर्वेषां लोकानां स्वामिने स्वाहा
 मुहुतमस्तु ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ वाचयति वा पदचोत्तरानिति ॥ पूर्वानिति ॥
 पूर्वोक्तमन्त्रान् प्रत्युपरितनानामायुर्यज्ञेनेत्यादीनां षण्णां मन्त्राणां पृथग्यजमानं
 वाचयेदिति शेषः ॥ तेषां पाठस्तु ॥ आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां
 चक्षुर्यज्ञेन कल्पतां श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताम् । पृष्ठं यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन
 कल्पतामिति ॥ मदीयमायुर्वाजपेयाख्येन यज्ञेन कल्पतां क्लृप्तं भवतु । पञ्चदश-
 कः प्राणोऽप्यनेन यज्ञेन क्लृप्तो भवतु । चक्षुरिन्द्रियं यज्ञेन क्लृप्तं भवतु ।
 श्रोत्रं यज्ञेन क्लृप्तमस्तु । पृष्ठं रथन्तरादिकं शरीरस्य पृष्ठं वा यज्ञेन कल्प-
 ताम् । यज्ञेन मदीयेन वाजपेयाख्येन यज्ञात्मको विष्णुः क्लृप्तो भवतु ॥ २ ॥
 कात्यायनः ॥ निश्रेणीं यूपोच्छ्रयान्तरां दक्षिणां वाऽऽरोक्षन् जायामाम-
 न्त्रयते जाय एहि स्वो रोहावेतीति ॥ यूपस्य दक्षिणोत्तरभागयोर्निश्रेणी-
 द्वयमुच्छ्रयेत् । तयोरेकतरायामारोहणं कुर्वन् यजमानो भार्यामामन्त्रयेत् ॥
 पाठस्तु ॥ जाय एहि स्वो रोहावेति ॥ हे जाये, एहि आगच्छ स्वः, स्वर्गे रोहाव
 आवामारोहणं करवाम ॥ कात्यायनः ॥ प्रजापतेरित्यारोहत इति ॥ पत्नी-
 यजमानानारोहणं कुर्याताम् ॥ पाठस्तु ॥ प्रजापतेः प्रजा अभूमेति ॥ वयं
 प्रजापतेः सम्बन्धिन्यः प्रजाः सम्भूताः स्मः ॥ कात्यायनः ॥ स्वरिति गोधूम-
 मालभत इति ॥ गोधूमनिर्मितं चषालं स्पृशेत् ॥ पाठस्तु ॥ स्वर्देवा अगन्मेति ॥
 हे देवा, वयं स्वः स्वर्गम् । अगन्म प्राप्ताः ॥ कात्यायनः ॥ शिरसा यूपमुज्जिहीते
 अमृता इतीति ॥ मृद्ूर्णां यूपमुन्नमयेत् । अभूमेति मन्त्रशेषः ॥ पाठस्तु ॥ अमृता
 अभूमेति ॥ वयम् अमृता मरणरहिताः सम्भूताः ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ अस्मे
 व इति दिशो वीक्षत इति ॥ पाठस्तु ॥ अस्मे वोऽस्त्विन्द्रियमस्मे नृम्णसुत
 क्रतुः । अस्मे वर्चाऽस्ति सन्तु व इति ॥ अस्मे अस्मासु वो युष्मत्सम्बन्धि

इन्द्रियं सामर्थ्यम् अस्तु भवतु । नृम्णम् अस्मत्सम्बन्धिनम् अस्मे अस्मासु भवतु ।
उताऽपि क्रतुरस्मदीयो यज्ञो युष्मदर्थोऽस्तु । वो युष्मत्सम्बन्धीनि वर्चांसि
अस्मे अस्मासु सन्तु ॥ ४ ॥ कात्यायनः ॥ नमो मात्र इति भूमिमवेक्षते ॥
पाठस्तु ॥ नमो मात्रे पृथिव्या इति ॥ मात्रे मातृरूपायै पृथिव्यै नमो नम-
स्कारोऽस्तु ॥ कात्यायनः ॥ उत्तरवेदिमपरेणौदुम्बरीमासन्दीहजचर्मणास्तृणा-
तीयन्त इतीति ॥ उत्तरवेदेः पश्चात् स्थितासुदुम्बरानिमितामासन्दीमजासम्ब-
न्धिना चर्मणा स्तृणुयात् । राडिति मन्त्रशेषः ॥ पाठस्तु ॥ इयं ते राडिति ॥
ते तव इयं राट् राज्यम् ॥ कात्यायनः ॥ स्तुन्वन्तमस्यामुपवेशयति यन्तासी-
तीति ॥ पाठस्तु ॥ यन्तासि यमनः । ध्रुवोऽसि धरुणः । कृष्यै क्षेमाय रय्यै
पोषायेति ॥ त्वं यन्ता सर्वस्य नियन्तासि यमनः स्वयं यमनकर्ता भवसि । ध्रुवः
स्थिरोऽसि । धरुणो धारको भवसि । कृष्यै सकलकृष्यर्थं रय्यै पोषाय धनपुष्ट्यर्थं
त्वां प्रवेशयामीति शेषः ॥ ५ ॥ इति दशमाध्याये चतुर्थोऽनुवाकः ॥ १० ॥ ४ ॥

चतुर्थे स्तुवाहुत्यादिमन्त्रा निरूपिताः । पञ्चमेऽनुवाकेऽन्नहोमा उच्यन्ते ॥
कात्यायनः ॥ स्तुवेण सम्भृताञ्जुहोति वाजस्येममिति ॥ प्रत्यौदुम्बरपात्रे
संपादितान् सप्तदशान्नविशेषान् ॥ पाठस्तु ॥ वाजस्येमं प्रसवः सुषुवेऽग्रे सोमः
राजानमोषधीष्वप्सु । ता अस्मभ्यं मधुमतीर्भवन्तु वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरो-
हिता इति ॥ वाजस्यान्नस्य प्रसव उत्पादकः प्रजापतिरग्रे स्रष्ट्यादौ ओषधी-
ष्वप्सु च भूतमिमं सोमवल्लीरूपं राजानं दीप्तिमन्तं पदार्थं सुषुवे उत्पादया-
मास । ताश्चोषधयश्चास्मभ्यमस्मदर्थं मधुमतीर्माधुर्योपेता भवन्तु । वयमप्यस्मिन्
राष्ट्रे पुरोहिता यागानुष्ठानादौ पुरोगामिनो जागृयाम । जागरूका भूयास्म
॥ १ ॥ अथ द्वितीयः ॥ वाजस्येदं प्रसव आबभूवेमा च विश्वा भुवनानि
सर्वतः । सनेमि राजा परियाति विद्वान् रयिं पुष्टिं वर्द्धयमानोऽस्मे इति ॥
वाजस्य प्रसवः प्रजापतिरिदमनुष्ठीयमानं कर्म आबभूव । भावितवान्
उत्पादितवान् । किञ्च इमा इमानि सर्वाणि भुवनानि सर्वत उत्पादितवान् । स
प्रजापतिः सनेमिश्चिरतनो राजा दीप्तः सन् परितः सर्वतो याति स्वेच्छया
गच्छति । विद्वान् स्वाधिकारं जानन् अस्मे अस्माकं रयिं धनं पुष्टिं वर्द्धय-
मानः अभिवृद्धिं गमयन् ॥ अथ तृतीयः ॥ वाजस्येमां प्रसवः शिश्रिये
दिवमिमा च विश्वा भुवनानि सन्नाट् । अतिस्तन्तं दापयति प्रजानन्तं नो
रयिः सर्ववीरं नियच्छत्विति ॥ वाजस्यान्नस्य प्रसव ईश्वरः, इमां पृथिवीं

दिवं द्योलोकं च इमा इमानि विश्वानि च सर्वाण्यन्यानि च भुवनानि क्षि-
 त्रिये आश्रितवान् । स च सम्राट् सर्वेषां भुवनानां राजा भूत्वा अति-
 त्सन्तं हविर्दानुमिच्छन्तं मां प्रजानश्च गच्छन्स्मदीयबुद्धिमेरणेन हविर्दानुमयति ।
 ततो नोऽस्मभ्यं सर्ववीरं सर्वैः पुत्रभृत्यादिभिर्युक्तं रयिं धनं नियच्छतु नियमेन
 ददातु ॥ ३ ॥ अथ चतुर्थः ॥ अग्रे अच्छा वदेह नः प्रति नः सुमना भव ।
 प्र नो यच्छ सहस्रजित्वं हि धनदा अमीति ॥ हे अग्रे इहास्मिन् कर्मणि
 नोऽस्माकं अच्छाभिमुख्येन वद हितं ब्रूहि । नोऽस्मान् प्रति सुमनाः करुणा-
 द्रवित्तो भवेह सहस्रजित् सहस्राणां जेता हि यस्मात् त्वं स्वभावतो धनदा
 असि । अतस्त्वं नोऽस्मभ्यं धनं प्रयच्छ देहि ॥ ४ ॥ अथ पञ्चमः ॥ सोम-
 राजानमवसेऽग्निमन्वारभामहे । आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पति-
 णि ॥ अवसे रक्षणार्थं सोमं राजानमग्निं वाऽन्वारभामहे । यजमानार्थम-
 न्वारम्भणं करवामहे । किञ्च । आदित्यमभ्यण्डितशक्तेराविर्भूतं विष्णुं सर्व-
 व्यापिनं सूर्यं सर्वमेकं ब्रह्माणं बृहस्पतिं बृहतां मन्त्राणां पालकम् इत्येतान्
 देवान् प्रत्येकमन्वारभामहे इति सम्बन्धः ॥ ५ ॥ अथ षष्ठः ॥ प्र नो यच्छ-
 त्वर्यमा प्रपृषा प्र सरस्वती । प्र वाग्देवी ददातु न इति ॥ अर्यमा एतन्नामकः
 सूर्योऽस्मदभिलषितमर्थं प्रयच्छतु । पृषा प्रयच्छतु ददातु । सरस्वती
 विशिष्टज्ञानोपेता एतन्नामिका देवी नोऽस्मदभिलषितं धनं प्रयच्छतु । वाग-
 ऽभिमानीनी देवी च प्रददातु ॥ ६ ॥ अथ सप्तमः ॥ अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं
 दानाय चोदय । वाचं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनमिति ॥ हे
 ईश्वर, त्वम् अर्यमादीन् देवान् दानाय धनप्रदानार्थं चोदय प्रेरय । सवितारं
 सर्वस्य प्रसवकर्तारं च वाजिनम् अन्नधन्तं च ॥ कात्यायनः ॥ शेषेणाभिषिञ्च-
 ति यजमानं, देवस्य त्वेति ॥ होमानन्तरमौदुम्बरपात्रस्थेन सप्तदशाक्षपयो-
 मिश्रोदकशेषेण यजमानमभिषिञ्चेत् ॥ ७ ॥ पाठस्तु ॥ देवस्य त्वा सवितुः
 प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । सरस्वत्यै वाचो यन् तुर्ये तुर्यं
 दधामि । बृहस्पतेष्ट्वा साम्राज्येनाभिषिञ्चामीन्द्रस्य त्वा साम्राज्येनाभि-
 षिञ्चामीनि ॥ देवस्य त्वेत्यादि गतम् । सरस्वत्यै सरस्वत्या वाग्देवताया वाचो
 यन् तन्माहात्म्यप्रकाशकानि स्तोत्ररूपाणि वचसि गच्छन् प्राप्नुवन् अहं तुर्यं
 तदीये वर्णाभिव्यक्तिरूपे वचसि तुर्यम् अभिव्यक्तिवर्णात्मकं परादिविवक्षया
 चतुर्थस्तुतिरूपं च चोदयामि स्थापयामि । हे अभिषिच्यमान यजमान, त्वा त्वां

बृहस्पतेर्देवस्य साम्राज्येन सद्भावेनाभिषिञ्चामि । एवमुत्तरवाक्येऽपि योज्यम् ।
इन्द्रस्येति तत्र विशेषः ॥ ८ ॥ इति दशमेऽध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ॥ १० ॥ ५ ॥

पञ्चमेऽनुवाकेऽन्नहोमा उक्ताः ॥ षष्ठेऽनुवाके उज्जितमन्त्रा उच्यन्ते ॥
कासायनः ॥ अग्निरेकाक्षरेणेत्यनुवाकमिति ॥ वाचयतीति शेषः ॥ पाठस्तु ॥
अग्निरेकाक्षरेण प्राणमुदजयत्तमुज्जेषमश्विनौ द्व्यक्षरेण द्विपदो मनुष्यानुदज-
यतां तानुज्जेषम् । विष्णुरूपक्षरेण त्रीणिमाल्लोकानुदजयत् तानुज्जेषम् । सोम-
श्चतुरक्षरेण चतुष्पदः, पशूनुदजयत्तानुज्जेषम् । पूषा पञ्चाक्षरेण पञ्चसंख्याकान्
ऋतूनुदजयत्तानुज्जेषम् । सविता षडक्षरेण षडृतूनुदजयत्तानुज्जेषम् । मरुतः सप्ताक्षरेण सप्त-
ग्राम्यान् पशूनुदजयत्तानुज्जेषम् । बृहस्पतिरष्टाक्षरेण गायत्रीमुदजयत्तानुज्जेषम् ।
मित्रो नवाक्षरेण त्रितृप्तः स्तोममुदजयत्तमुज्जेषम् । वरुणो दशाक्षरेण विराजमुदजय-
त्तानुज्जेषम् । इन्द्र एकादशाक्षरेण त्रिष्टुभमुदजयत्तानुज्जेषम् । विश्वेदेवा
द्वादशाक्षरेण जगतीमुदजयत्तानुज्जेषम् । वसवस्त्रयोदशाक्षरेण त्रयोदश-
स्तोममुदजयत्तमुज्जेषम् । रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण चतुर्दशस्तोममुदजयत्तमुज्जेषम् ।
आदित्याः पञ्चदशाक्षरेण पञ्चदशस्तोममुदजयत्तमुज्जेषमिति । षोड-
शाक्षरेण षोडशस्तोममुदजयत्तमुज्जेषम् । प्रजापतिः सप्तदशाक्षरेण सप्तदश-
स्तोममुदजयत्तमुज्जेषमिति ॥ ४ ॥ ओश्रावयेत्यादि सप्तदशाक्षरात्मकप्रजापतिरधि-
दैवमधियज्ञंच समाप्तव्यासाभ्यामुज्जीयते ॥ अग्निरेकाक्षरेण छन्दसा पञ्चवृत्तिकं
प्राणमुदजयत् उत्कृष्टं जयं च लब्धवान् । तथा मह्यपि तादृशं तं प्राणमुज्जेष-
मुत्कृष्टतया जयेयं वशीकुर्यामिति । अश्विनौ द्व्यक्षरेण अक्षरद्वयात्मकेन
छन्दसा द्विपदः पादद्वयोपेतान्मनुष्यानुदजयतामुत्कृष्टं जयं लब्धवन्तौ, तथा-
हमपि तेनैव द्व्यक्षरेण छन्दसा तादृशान्मनुष्यान् उत्कृष्टजयं लभेयम् । विष्णु-
रूपक्षरेणाक्षरत्रयात्मकेन छन्दसा पृथिव्यादीनिमाल्लोकानुदजयत् । अह-
मपि तादृशान् लोकानुज्जेषम् । सोमोऽक्षरचतुष्टयात्मकेन छन्दसा पादचतुष्ट-
योपेतान् पशून् उत्कृष्टजयं लब्धवान् । अहमपि तथा । तेनैव चतुरक्षरेण तादृशान्
पशून् उत्कृष्टं जयं लभेयम् । पूषा देवः पञ्चाक्षरात्मकेन छन्दसा पञ्चसंख्याकान्
ऋतूनुदजयत् तादृशान्ऋतून्हमप्युज्जेषम् । सविता सर्वस्य प्रेरको देवः षडक्षरेण
षडसंख्याकान्ऋतून्लब्धवान् तथा ऋतून्हं लभेयम् । मरुतो देवाः सप्ताक्षरेण
छन्दसा सप्तसंख्याकान् ग्राम्यान् पशूनुदजयन्, तादृशान् सप्तग्राम्यान्हं जये-
यम् । बृहस्पतिरष्टाक्षरात्मकेन छन्दसा गायत्रीमुत्कृष्टजयं लब्धवान् । तथा

तादृशीं गायत्रीमहं लभेयम् । मित्रो देवो नवाक्षरेण त्रिवृतं स्तोममुदजयन्ता-
 दृशं स्तोममहमुज्जेषम् । वरुणो देवो दशाक्षरेण छन्दसा विराजं दशाक्षरा-
 विराडिति प्रसिद्धमातदभिमानीर्नीदेवतामुदजयत् । तथा तेनैव छन्दसा तादृशीं
 विराजमहमुज्जेषम् । इन्द्र एकादशाक्षरेण छन्दसा त्रिष्टुबभिमानीर्नी देवता-
 मुदजयत् तथा तेनैव छन्दसा तामुज्जेषम् । विश्वेदेवा द्वादशाक्षरेण छन्दसा
 जगत्प्रभिमानीर्नीदेवतां तामुत्कृष्टं जयं लब्धवन्तोऽहमपि तादृशीं जगतीमुत्कृष्टं
 जयं लभेयम् । वसवो देवास्त्रयोदशाक्षरेण छन्दसा त्रयोदशं स्तोमं लब्धवन्तः ।
 तत्सदृशं स्तोममहमुज्जेषम् । रुद्राश्चतुर्दशाक्षरेण छन्दसा चतुर्दशं स्तोममुदजयं-
 स्तादृशं स्तोममहमुज्जेषम् । आदित्या देवाः पञ्चदशाक्षरेण छन्दसा पञ्चदशं
 स्तोममुदजयं स्तादृशं स्तोममहमुज्जेषम् । अदितिर्देवमाता षोडशाक्षरेण छन्दसा
 षोडशं स्तोममुदजयत् तथा तेनैव षोडशाक्षरस्तोममुज्जेषम् । प्रजापतिर्देवः
 सप्तदशाक्षरेण छन्दसा सप्तदशाक्षरं स्तोममुत्कृष्टं जयं लब्धवान् । तथा तेनैव
 सप्तदशाक्षरेण तं तादृशं सप्तदशं स्तोममहमुज्जेषम् ॥ १ ॥ २ ॥ ३ ॥ ४ ॥
 इति दशमेऽध्याये षष्ठोऽनुवाकः ॥ १० ॥ ६ ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तपो हार्दं निवारयन् ॥

पुमर्थाश्चतुरो दद्याद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीबुक्कभूपालसाम्राज्य-
 धुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते वेदार्थप्रकाशे काण्वसंहिताभाष्ये दशमो-
 ऽध्यायः ॥ १० ॥

श्रीगणेशाय नमः ।

अथ शुक्लयजुर्वेदकाण्वसंहितायां श्रीसायणाचार्यविरचितभाष्य-
संहितायां द्वितीयदशकं प्रारभ्यते ।

हरिः ॐ

अथराजसूयोवरुणस्यार्धमेवतेपार्थिवमग्निनेत्रेभ्योदेवार्षाण्या-
ध्यायाद्दशाद्यानिदैवान्पग्नेसहस्व देवश्रवादेववातश्चभारतावाग्ने-
यीमनुष्टुभंनुपाःशोस्त्रीणिरेक्षोऽधनानियजूःष्यपोदेवाःआपीत्रिष्टु-
बृष्णऽऊर्मिलिङ्गोक्तदेवतानिंसंमधुमतीरनाघृष्टाऽआपेऽसवितात्वा
यजमानः सोमस्यचर्मर्गनये लिङ्गोक्तदेवतान्यनिभृष्टमार्पःसधमा-
दोवारुणी त्रिष्टुपक्षत्रस्य चतुर्णान्तार्यपांङ्वाधीवासोष्णीषाणी-
द्रस्यत्वयायंभनुमित्रस्यबाहूरुजासिषण्यामिषवं आविःप्राजापत्यं
पराणिलिङ्गोक्तान्यवेष्टामत्युनाशनंप्राचीं पश्चानांयजमानःप्रत्यस्त-
मासुरःसोमस्य सौम्यंमृत्यारोजोसिरुक्मेहिरण्यरूपौमैत्रावरुणी-
त्रिष्टुभ्यजुरंताम्यवसानांसोमस्य त्वासुन्वंन्प्रपर्वतस्यापी त्रिष्टुब्
विष्णोस्त्रीणि लिङ्गोक्तानि प्रजापतेनप्राजापत्यात्रिष्टुब्बुद्रयद्रौद्र-
मिन्द्रस्यलिङ्गोक्तदेवतानिमातेसंवरणःप्राजापत्यऐंद्रीत्रिष्टुभंमग्न-
येलिङ्गोक्तदेवतानिपृथिविमातर्भूमिर्हःसो वामदेवः सौरीःसप्र-
श्चपरब्रह्माभिधायिनीमनिजगतीं यजुरंतामियत्तमानांवुर्गसिशा-
त्वंद्रस्य बाहूंस्थोनास्यासंदीक्षत्रस्याधीवासःस्थोनाःसुन्वंनिषसाद-
शुनःशेपो वारुणीं गायत्रीमभिभूरस्यक्षायजमानोवाब्रह्मस्त्वमा
मन्वणानिपश्चलिङ्गोक्तदेवतानीन्द्रस्यस्फ्योऽग्निःपृथुराग्नेयःस्वाहा-
कृताऽअक्षाःसवित्रालिङ्गोक्तदेवतमथ चरकसौत्रामण्यदिवनौरार्ष-
मदिवभ्यांत्रीणिलिङ्गोक्तदेवतानिवायोः सौमीगायत्रीकुवितृचः
सुकीर्तिःकाक्षीवतऽआद्यासौम्यनिरुक्तात्रिष्टुभ्युवमनुष्टुप्पुत्रमि-
षत्रिष्टुब्दिवसरस्वतीन्द्रदेवत्येऽअदिवसरस्वतीन्द्रदेवत्ये ॥ ११ ॥

इति सर्वानुक्रमणीये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

ॐ एषते । निर्वृते भागस्तं जुषस्व स्वाहा । अग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पुरः-
सद्भ्यः स्वाहा । यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणसद्भ्यः स्वाहा ॥ विश्वदे-
वनेत्रेभ्यो देवेभ्यः पश्चात्सद्भ्यः स्वाहा । मित्रावरुणनेत्रेभ्यो वामरुने-
त्रेभ्यो वा देवेभ्यः उत्तरसद्भ्यः स्वाहा ॥ सोमनेत्रेभ्यो देवेभ्यः उपरि-
श्रीदेवान्तकनरान्तकनिहन्त्रे नमः ।

यस्य निःशसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ॥

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

दशमेऽध्याये वाजपेयिका मन्त्रा निरूपिताः । एकादशे राजसूयसंवाध-
मन्त्रा निरूप्यन्ते । तत्र प्रथमानुवाके नैर्ऋतेऽष्ट्यादिगता मन्त्रा निरूप्यन्ते ।
कात्यायनः ॥ अष्टाकपालोऽनुमत्यै, शम्यायाः पश्चाद्विष्यमग्नः स्तुवेण कृत्वा
दक्षिणाग्नेरुलमुकमादाय दक्षिणा गन्वा स्वयं प्रदीर्णइरिणे वाऽग्नौ जुहोत्येष ते
निर्वृते इति । अस्यायमर्थः । पौर्णमास्यभिमानिदेवता काचिदनुमतिरित्यु-
च्यते । तस्यै पुरोडाशोऽष्टाकपालः कर्तव्यः । तदर्थं तन्दुला इष्यन्ते । तदानीं
पेषणमाधनस्य पाषाणस्याधस्तात् पश्चाद्भागे शम्याभिधः काष्ठविशेष आ-
धारत्वेन स्थापनीयः । पेषणकाले तस्याः शम्यायाः पश्चात्विष्यमाणं हविर्या-
वत्पानितं तावत्स्तुवेण प्रगृह्य दक्षिणाग्नेः मकाशादुलमुकमादाय दक्षिणस्यां दिशि
गत्वा स्वयमेव निष्यन्ने भूच्छिद्र उलूखलप्रदेशे वा स्थिते स्थापिते तस्मिन्नुलमु-
काग्नौ तं हविर्भागमेव त इति मन्त्रेण जुहुयादिति ॥ पाठस्तु ॥ राजसूयमन्त्रान्
वरुणोऽपश्यत्तस्मात् मामान्येन वरुण ऋषिः । तत्रैष त इति वरुणस्यार्थं पृ-
थिवी देवता । अतिशक्करी छन्दः । तं भागं जुषस्व सेवस्व । स्वाहा मुहुतमस्तु ।
अनन्तरं चातुर्मास्यगतानि चत्वारि पर्वाणि अनुष्ठीय पश्चात् परेध्मीयनामकं
कर्मानुष्ठानव्यपम् । तत्र मन्त्रविनियोगमाह ॥ कात्यायनः ॥ आहवनीयं प्र-
तिदिशं वृष्य मध्ये पञ्चस्वग्निषु जुहोति । अग्निनेत्रेभ्य इति प्रतिमन्त्रमिति ।
पूर्वादिषु चतुस्र्यु दिक्षु मध्यभागे चाहवनीयं पञ्चधा विभज्य तादृशेषु प-
ञ्चस्वग्निष्वग्निनेत्रेभ्य इत्यादीनामकैकेन मन्त्रेण स्तुवेण जुहुयात् ॥ तेषां पा-
ठस्तु ॥ अग्निनेत्र इत्यादीनि दैव्यानि यजूंषि । अग्निनेत्रेभ्यो देवेभ्य पुरःसद्भ्यः
स्वाहा । यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणसद्भ्यः स्वाहा । विश्वदेवनेत्रेभ्यो देवेभ्यः
पश्चात्सद्भ्यः स्वाहा । मित्रावरुणनेत्रेभ्यो वा वरुणेभ्यो वा देवेभ्य उत्तरसद्भ्यः
स्वाहा । सोमनेत्रेभ्यो देवेभ्य उपरिसद्भ्यो दुवस्वद्भ्यः स्वाहेति । अग्निनेत्रेभ्यः । अग्नि-

सदृभ्योदुवस्वदृभ्यः स्वाहा ॥ १ ॥ येदेवाऽअग्निनेत्राः पुरःसदस्ते-
भ्यः स्वाहायेदेवायमनेत्रादक्षिणसदस्तेभ्यः स्वाहा॥येदेवाविश्वदेव-
नेत्राः पश्चात्सदस्तेभ्यः स्वाहायेदेवामित्रावरुणेनेत्रावामरुनेत्रावो-
त्तरसदस्तेभ्यः स्वाहा ॥ येदेवाः सोमनेत्राऽउपरिःसदृदुवस्वन्तस्ते-
भ्यः स्वाहा ॥ २ ॥ अग्नेमहस्व । पृतनाऽअभिमानीरपास्यदुष्टर-
स्तरनरातीर्विचोधा यज्ञवाहसि ॥ ३ ॥ देवस्यत्वा । सवितुः प्रस-
वेदिवनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् ॥ उपाः शोर्वीर्येण जुहोमिह-
त रक्षः स्वाहा ॥ रक्षसां त्वावधायावधिष्मरक्षोमुष्यत्वावधायामु-
मवधिष्म ॥ जुष्टाणो ध्वाज्यस्य वेतु स्वाहा ॥ ४ ॥

नेता येषां ते अग्निनेत्रास्तेभ्यः । पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि सीदन्तीति पुरःसदस्तेभ्यो
देवेभ्यः स्वाहा । देवानामार्षाणि । सुहुतमस्तु । यमो नेता येषां तेभ्यो दक्षिणभा-
गेऽवस्थितेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु । विश्वदेवा नेतारो येषां तेभ्यः प-
श्चिमभागेऽवस्थितेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा सुहुतमस्तु । मित्रावरुणौ नेतारौ येषां
तेभ्यो वा मरुन्नेत्रेभ्यो वा उत्तरभागेऽवस्थितेभ्यो देवेभ्यः सुहुतमस्तु । सोमो
नेता येषां तेभ्यो दुवस्वज्यः परिचर्यावज्य उपरिषद्भ्यो देवेभ्यः स्वाहा सुहुतम-
स्तु ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ ममस्य ये देवा इति प्रतिमन्त्रमिति । पञ्चधाविभक्तमाहव-
नीयमेकीकृत्य, ये देवा इत्यादिपञ्चमन्त्राणां मध्ये एकैकमन्त्रेण जुहुयादिति ।
तेषां पाठस्तु ॥ ये देवा अग्निनेत्राः पुरःसदस्तेभ्यः स्वाहा । ये देवा यमनेत्रा
दक्षिणसदस्तेभ्यः स्वाहा । ये देवा विश्वदेवनेत्राः पश्चात्सदस्तेभ्यः स्वाहा । ये
देवा मित्रावरुणेनेत्रा वा मरुन्नेत्रा वोत्तरसदस्तेभ्यः स्वाहा । ये देवाः सोमनेत्रा
उपरिषदो दुवस्वन्तस्तेभ्यः स्वाहेति । व्याख्यातः समानार्थः ॥ २ ॥ कात्यायनः ॥
अग्ने सहस्वेत्युल्मुकादानमिति । अपामार्गहोमार्थमुल्मुकमादद्यात् ॥ पाठस्तु ॥
देवश्रवा ऋषिरग्निदेवत्याऽनुष्टुप् । अग्ने सहस्व पृतना अभिमानीरपास्य । दु-
ष्टरस्तरनरातीर्विचोधा यज्ञवाहसीति । हे अग्ने त्वं पृतानाः शत्रुसंवन्धिनी-
सेनाः सहस्व । अभिभव । तथाभिमानिः अभिमानिनः कर्मविघ्नकारिणः श-
त्रूनपास्य अपनुद । किञ्च । दुष्टरो न केनापि तर्तुं शक्यस्त्वमरातीः शत्रूस्त-
रस्तिरस्कुर्वन् यज्ञवाहसि यज्ञनिर्वाहके यजमानमिति ते वचोधाः अन्नं धेहि ॥ ३ ॥
कात्यायनः ॥ देवस्य त्वेति जुहोति । अपामार्गलक्षणं हविर्जुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥

अपोदेवा । मधुमतीरगृष्णानूर्जस्वतीराजस्वश्चितानाः । या-
भिर्मित्रावरुणाऽभ्यषिञ्चन् याभिरिन्द्रमनघन्नत्यरातीरतिः ॥ १ ॥

देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । उपांशो-
र्वीर्येण जुहोमि हतः रक्षः स्वाहेति । उपांशोरित्यादीनि त्रीणि रक्षोग्रानि
यजूंषि । देवस्य त्वेत्यादि । व्याख्यातः । उपांशोर्नाम प्रथमग्रहस्य वीर्येण
सामर्थ्येनाहं जुहोमि । अत एव राक्षसजातिर्हंतं निहतम् । अनेन नष्टम् । स्वाहा ।
सुहुतमस्तु ॥ कात्यायनः ॥ रक्षसां त्वेति स्तुवमस्यति तां दिशं यस्यां जुहोती-
ति । यस्यां दिशि होमं कुर्यात् तादृशां दिशं प्रति स्तुवं प्रक्षिपेत् । वधायेति
मन्त्रशेषः ॥ पाठस्तु ॥ रक्षसां त्वा वधाय । रक्षसां राक्षसानां वधार्थं त्वा
त्वां, प्रास्यामीति शेषः ॥ कात्यायनः ॥ अवधिष्म इत्यायन्तीति । होमानन्तर-
मिमं मन्त्रमुच्चार्य प्रत्यागच्छेयुः ॥ पाठस्तु ॥ अवधिष्म रक्षोऽमुष्य त्वा व-
धायामुवधिष्मेति । रक्षो राक्षसान् अवधिष्म हतवन्तः । किञ्च रक्षसां वधं
कृतवन्तो वयममुष्य शत्रोर्वधाय वधार्थम् । अमुमिति शत्रुनामग्रहणम् । अमुक-
नामकर्तृशत्रुम् अवधिष्म ॥ कात्यायनः ॥ चतुर्गृहीते जुषाणोऽध्वाज्यस्य वे-
त्विति । अरण्यहविषां मध्ये रुद्रदेवतागवेधुकं चरं हुत्वा ततश्चतुर्वारं स्वीकृ-
तमाज्यं जुहुयादिति । स्वाहेति मन्त्रशेषः । अध्वेति विभक्तिव्यत्ययः । अ-
ध्वानं मार्गं जुषाणः सेवमानः । आज्यस्य वेतु पितृषु स्वाहेति होमार्थः ॥४॥
इत्येकादशेऽध्याये प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

प्रथमेऽनुवाके नैर्ऋतेष्ट्यादिगता मन्त्रा उक्ताः । द्वितीये अभिषेकार्थजल-
विषया मन्त्रा उच्यन्ते । अभिषेचनीयस्य सोमयागस्याऽनुष्ठानं कृत्वा तद्-
ऽभिषेकार्थानि सारस्वतादीनि नानाविधान्युदकान्यानीय तेषां मध्ये प्रथमं
सारस्वतजलग्रहणे विनियोगमाह ॥ कात्यायनः ॥ सारस्वतीर्गृह्णात्यपो देवा
इतीति ॥ पाठस्तु ॥ अपो देवा मधुमतीरगृष्णानूर्जस्वती राजस्वश्चितानाः ।
याभिर्मित्रावरुणा अभ्यषिञ्चन् याभिरिन्द्रमनघन्नत्यरातीरिति । देवा मधुमतीः
मधुरसोपेता ऊर्जस्वतीर्विशिष्टाभरसवती राज्ञः स्यून्ते जनयन्तीति राजस्वः ।
चितानाः । देवतात्मकत्वेन चेतयमाना अपोऽगृष्णान् गृहीतवन्तः । पुनस्ता एव
विशिनष्टि । याभिरद्भिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन्मित्रावरुणयोरभिषेकं कृतवन्तः ।
याभिरद्भिरिन्द्रं देवराजम्, अरातीः शत्रून्तिष्कस्य अनयन् नीतवन्तः । ता अपो-
ऽगृष्णाभिनि पूर्वैर्ण संबन्धः ॥ १ ॥ कात्यायनः ॥ जुहोतुष्वरासु चतुर्गृहीतानि

वृष्णऽऊर्मि । रसिराष्ट्रदाराष्ट्रमेदेहि स्वाहा वृष्णऽऊर्मिरसिराष्ट्र-
 दाराष्ट्रममुष्मैदेहि ॥ वृषसेनोसिराष्ट्रदाराष्ट्रमेदेहि स्वाहा वृषसे-
 नोसिराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदेहि ॥ २ ॥ अर्थे तस्थ । राष्ट्रदाराष्ट्रमे-
 दत्त स्वाहार्थे तस्थ राष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्त ॥ ओजस्वती स्थ राष्ट्रदा-
 राष्ट्रमेदत्त स्वाहौजस्वती स्थ राष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्त ॥ आपः परि-
 वाहिणी स्थ राष्ट्रदाराष्ट्रमेदत्त स्वाहापः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदारा-
 ष्ट्रममुष्मैदत्त ॥ अपां पतिरसिराष्ट्रदाराष्ट्रमेदेहि स्वाहा पां पतिर-
 सिराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदेहि ॥ अपांगभोसिराष्ट्रदाराष्ट्रमेदेहि स्वाहा
 पांगभोसिराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदेहि ॥ सूर्यवर्चसस्थ राष्ट्रदाराष्ट्रमे-
 वृष्ण उर्म्यादिभिः स्वाहाकारान्तैः पूर्वैः पूर्वैः प्रतिमन्त्रम् । उत्तरैरुत्तरैर्गृह्णा-
 तीति । स्वाहाकारान्तैर्वृष्ण उर्मिरसीति प्रभृतिभिः पूर्वैर्मन्त्रभागैः क्रमेण चतु-
 र्वारं गृहीतानि ऊर्म्यादिभिः स्वाहाकारान्तैः पूर्वैराज्यानि ग्राह्यमाणां स्वप्नु
 जुहुयात् । इत्वा च ता अप उत्तरोत्तरैः स्वाहाकाररहितैर्मन्त्रभागैः क्रमेण गृ-
 ह्णीयात् । तेषां मध्ये प्रथममूर्ध्वोदकसंबन्धिहोमग्रहणमन्त्राणां पाठः । लि-
 ङ्गोक्ता देवता । अष्टिः ॥ वृष्ण ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृष्ण
 ऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मैदेहि । वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा
 वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मैदेहीति ॥ वृष्णः सेचनसमर्थस्योदकस्य संब-
 न्धी ऊर्मिस्तरङ्गस्त्वं राष्ट्रदा असि स्वभावत एव राष्ट्रप्रदो भवसि । अतो मे
 मम राष्ट्रं राज्यं देहि स्वाहेति होमार्थः । तादृशस्त्वम् अमुष्मै अमुकनाम्ने
 यजमानाय मम राष्ट्रं देहि । कुल्यारूपेण बहुविधसस्योपकारकत्वादपां राष्ट्र-
 प्रदत्वमस्तीत्युच्यते । हे ऊर्मै वृषसेनः सेचनसमर्थः । सेचना जलराशिरूपा यस्यां
 तादृशस्त्वं स्वभावत एव राष्ट्रप्रदो भवसि । अतो मम राष्ट्रं देहि । स्वाहा हवि-
 र्दत्तमस्तु । तादृशस्त्वममुष्मै यजमानाय राष्ट्रं देहि । एवमुपरितना अपि मन्त्रा
 व्याख्येयाः ॥ २ ॥ पाठस्तु ॥ अग्निं लिङ्गोक्तदैवतानि यजुषि ॥ अर्थे तस्थ
 राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहाऽर्थे तस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त । ओजस्वती स्थ
 राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त । आपः प-
 रिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहापः परिवाहिणी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्र-
 ममुष्मै दत्त । अपां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहाऽपां पतिरसि रा-
 ष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि । अपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहाऽपां गर्भो-

दत्तस्वाहासूर्यवर्चसस्थराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्त॥सूर्यत्वचस्थराष्ट्र-
दाराष्ट्रमेदत्तस्वाहासूर्यत्वचस्थराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्त ॥ व्रज-
क्षितस्थराष्ट्रदाराष्ट्रमेदत्तस्वाहाव्रजक्षितस्थराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मै-
दत्त ॥ वाशास्थराष्ट्रदाराष्ट्रमेदत्तस्वाहावाशास्थराष्ट्रदाराष्ट्रम-
मुष्मैदत्त ॥ मान्दास्थराष्ट्रदाराष्ट्रमेदत्तस्वाहामान्दास्थराष्ट्रदाराष्ट्र-
ममुष्मैदत्त ॥ शकरीस्थराष्ट्रदाराष्ट्रमेदत्तस्वाहाशकरीस्थराष्ट्रदा-
राष्ट्रममुष्मैदत्त ॥ जनभृतस्थराष्ट्रदाराष्ट्रमेदत्तस्वाहाजनभृतस्थरा-
ष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्त ॥ विश्वभृतस्थराष्ट्रदाराष्ट्रमेदत्तस्वाहाविश्व-
भृतस्थराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्त ॥ शैष्ठास्थराष्ट्रदाराष्ट्रमेदत्तस्वाहा-
शैष्ठास्थराष्ट्रदाराष्ट्रममुष्मैदत्त ॥ आपः स्वाराज्ञीस्थराष्ट्रदाराष्ट्र-

ऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि । सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मेदत्त स्वाहा सूर्य-
वर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त । सूर्यत्वच स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त
स्वाहा सूर्यत्वच स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त । व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे
दत्त स्वाहा व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त । वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे
दत्त स्वाहा वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त । मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त
स्वाहा मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त । शकरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे
दत्त स्वाहा शकरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त । जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे
दत्त स्वाहा जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त । विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे
दत्त स्वाहा विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त । शैष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे
दत्त स्वाहा शैष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तेति । हे आपो अर्थ प्रयोजन-
मुद्दिश्य नद्यादेः सकाशाद्यज्ञप्रदेशं यन्ति गच्छन्तीति अर्थेनस्तथाविधाय यूयं रा-
ष्ट्रदाः स्थ । स्वभावतो राष्ट्रदा भवथ । अतो मे मह्यं राज्यं राष्ट्रदास्तादृशयो
यूयममुकनाम्ने यजमानाय राष्ट्रं दत्त । एवं सर्वत्र मन्त्रेषु पूर्वभागा होमार्था उत्त-
रभागा ग्रहणार्थाः । ओजस्वतीरोजसा बलेन युक्ता ओजस्वत्यापः परिवाहिणीः
परितः सर्वतो बहन्तीति परिवाहिण्य आपः । अपां पतिः समुद्रः । अपोऽन्तर्ग-
तभृतस्त्वं राष्ट्रदाः स्वभावतोऽसि । अतो मह्यं राष्ट्रं देहि । सूर्यवर्चो दीप्तिर्या-
सां ताः सूर्यवर्चसः । सूर्यस्य त्वग्दीप्तिर्यासां ताः सूर्यत्वच स्थ । व्रजक्षित इति
मेघनाम । अत्र तदकधारणसाम्यात् कूपे विद्यते । व्रजे क्षियन्ति निवसन्तीति
व्रजक्षितः कूपस्था आपः । वाशा वक्ष्या नीहारगता आपो नीहारोदवाहः ।

समुष्मैदत्त ॥ ३ ॥ संमधुमती । मधुमतीभिः पृच्यन्तां महिक्षत्रं क्षत्रिया-
यां वन्नानाः ॥ अनाघृष्टाः सीदत सहौजसामहिक्षत्रं क्षत्रियाय-
दधतीः ॥ ४ ॥

सुवितात्वा । प्रसुवानां सुवतामग्निर्गृहपतीनां सोमो-
बनुस्पतीनाम् ॥ बृहस्पतिर्वाचं ह्येज्यैष्याय रुद्रः पशूनां मित्रः सत्या-

नदीप्रवाहवन्मनुष्यादिगति न प्रतिबध्नाति ततो वक्ष्यत्वम् । मान्दाः गलभावा-
न्मन्दरूपाः स्यावराः आपः शकरीः शकर्यः शक्ता आपः । जनान् एता वि-
भ्रतीति जनभृतः । विभ्रं विभ्रतीति विश्वभृतः । शैष्टाः शविष्टा विष्टा श्रायः ।
एवं भूता आपः श्रायो यूयं स्वभावतो राष्ट्रमदा भवथ अतो मह्यं राज्यं प्रयच्छथ
॥ कात्यायनः ॥ आपः स्वाराज्ञीरिति मरीचीर्गृहीत्वा अञ्जलिना सर्वासु संसृज-
ति । किरणयुक्ता, आतपवृष्टमञ्जलिना आदाय पूर्वगृहीतासु सर्वासु संयो-
जयेत् ॥ पाठस्तु ॥ आपः स्वाराज्ञी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तेति ॥ स्वारा-
ज्ञीः स्वराज्यमवन्धिन्यः स्वराज्य आपो यूयं राष्ट्रमदा भवथ । अतोऽमुकाय
मह्यं राष्ट्रं दत्त ॥ ३ ॥ कात्यायनः ॥ औदुम्बरे पात्रे सिञ्चत्येनाः संमधुमतीरि-
ति । औदुम्बरवृक्षेण निर्मितपात्रे पूर्वसंगृहीता अप आपः सिञ्चेत् ॥ पाठस्तु ॥
अत्र देवस्या गायत्री । संमधुमतीभिर्मधुमतीभिः पृच्यन्तां महिक्षत्रं क्षत्रियाय
वन्नाना इति । मधुमतीर्मधुरसोपेता आपो धूमधूममिति मधुकरोपेताभिरद्भिः सं-
पृच्यन्तां संसृज्यन्ताम् । महि महत् क्षत्रं बलं क्षत्रियाय च राज्ञे या वन्नानाः
संभर्जमानाः ॥ कात्यायनः ॥ मैत्रावरुणधिष्ण्यस्य पुरस्ताद्विदधत्यनाघृष्टाः
सीदतेति । पूर्वोक्ता अपो मैत्रावरुणाख्यधिष्ण्यस्य पूर्वभागेऽवस्थापयेत् ॥
पाठस्तु ॥ गायत्री । अनाघृष्टाः सीदत सहौजसा महि क्षत्रं क्षत्रियाय दध-
तीरिति ॥ हे आपः अनाघृष्टाः केनाप्यतिरस्कृता युयमोजसा करणेन क्षत्रियाय
राज्ञे महि महत् क्षत्रं बलविशेषं दधतीः दधत्यः सीदत उपविशत ॥ ४ ॥
इत्येकादशेऽध्याये द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

द्वितीयेऽभिषेकार्थोदकविषया मन्त्रा उक्ताः । तृतीयेऽनुवाके देवसुवासं-
बन्निहविषामङ्गभृता मन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ सविता त्वेत्याह यजमान-
बाहुं दक्षिणं गृहीत्वेति । यजमानस्य दक्षिणं बाहुं गृहीत्वा, सविता त्वेत्यनु-
वाकं पठेत् ॥ पाठस्तु ॥ यजमानदेवस्या शकरी यजुर्वा । ज्यैष्ठ्यायेत्यादि, ८

यत्ररुणोधर्मपतीनाम् ॥ १ ॥ इमं देवाऽअसपत्नः सुवध्वं महेते क्षत्रा-
यमहेते ज्यैष्ठ्याय ॥ इमममुममुष्यं पुत्रममुष्याः पुत्रमस्यैविशे ॥ २ ॥
एषवः । कुरवो राजैषवः पंचालराजा ॥ सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां
राजा ॥ ३ ॥

सोमस्य त्विषि । रस्यग्नेस्वाहा सोमाय स्वाहा सवित्रे स्वाहा
ब्राह्मणानां राजेति । ततो मन्त्रः । सविता सर्वस्य प्रेरको देवः सविता त्वा
प्रसवानां सुवतामभिर्गृहपतीनां सोमो वनस्पतीनाम् । बृहस्पतिर्वाच इन्द्रो
ज्यैष्ठ्याय रुद्रः पशूनां मित्रः सत्याय वरुणो धर्मपतीनामिति ॥ प्रसवानामभ्य-
नुज्ञानामाधिपत्ये इति शेषः । त्वां वा यजमानं सुवतामभ्यनुज्ञातुं सर्वप्राणि-
नामानन्तरं करोत्वित्यर्थः । गृहपतीनां गृहोपलक्षिताग्निसाध्यसर्वकर्माधिप-
तिमाधिपत्ये स्वयं गृहपत्यभिमानी अग्निस्त्वां यजमानं सुवताम् । अहष्टपूर्वं एव
फलवन्तो वनस्पतयस्तेषामाधिपत्ये वनस्पत्यधिपतिः सोमस्त्वां यजमानमभि-
जानातु । चतुर्विधाया वाच आधिपत्ये वाचस्पतिर्बृहस्पतिस्त्वां यजमानं सु-
वताम् । इन्द्रो ज्यैष्ठ्याय ज्यैष्ठ्यभावाय सुवताम् । रुद्रो देवः पशून् अर्थाय
त्वां सुवताम् । मित्रो देवः सत्यार्थं त्वां यजमानमभ्यनुजानातु । धर्मपतीनां धर्मपरि-
पालकानाम् । आधिपत्ये धर्मपरिपालको वरुणस्त्वां यजमानमभ्यनुजानातु ॥ १ ॥
हे देवाः सवित्रादयो यूयं यजमानमसपत्नं सुवध्वं निःसपत्नो भूयादिष्यभ्य-
नुजानीत । किमर्थं, महेते प्रभृताय क्षत्राय क्षत्रियधर्माय महेते ज्यैष्ठ्याय ज्ये-
ष्ठभावाय । अतः पूर्वं पश्चाच्चैव तत्सदृशो नास्तीत्येतदर्थम् इमं यजमानं सुव-
ध्वम् । अमुष्या इत्येतदभ्युदक्षरद्वयेन यजमानस्य मातापितराबुच्येते । तयोरे-
तद्यजमानमातापित्रोरिमं यजमानं पुत्रं यथा सुवध्वं तथाऽस्य यजमानस्यैतद्-
यजमानमदृशं पुत्रमभ्यनुजानीत । किमर्थम् । अस्यै विशे । आसां सर्वासां
प्रजानां परिपालनार्थमित्यर्थः ॥ २ ॥ हे कुरवः ! वो युष्माकम् एष यजमानो
राजाऽस्तु । हे पाञ्चालाः, वो युष्माकम् एष राजाऽस्तु । ब्राह्मणानामस्माकं
सोमो राजाऽस्तु ॥ ३ ॥ इत्येकादशेऽध्याये तृतीयोऽनुवाकः ॥ १ ॥

तृतीयेऽनुवाके देवमुवांसंबन्धिहविषामङ्गभूता मन्त्रा उक्ताः ॥ चतुर्थे
राज्याभिषेकार्थं व्याघ्रचर्मस्तरणमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ व्याघ्रचर्मा-
स्तृणाति सोमस्य त्विषिरितीति । आस्तरणं कुर्यात् । असीति मन्त्रशेषः ॥
पाठस्तु ॥ सोमस्य त्विषिरसीति । हे व्याघ्रसंबन्धिनि त्वक् त्वं सोमस्य त्विषिरसि

दीप्तिरिति ॥ कात्यायनः ॥ अग्नये स्वाहेति षट् जुहोति प्रतिमन्त्रमिन्द्राय स्वाहेति प्रतिमन्त्रामिति । अभिषेकात् पूर्वमग्नये स्वाहेत्यादिभिः षडभिर्मन्त्रैः क्रमेण जुहुयात् । अभिषेकस्य पश्चादिन्द्राय स्वाहेत्यादिभिः षडभिर्मन्त्रैः क्रमेण जुहुयात् । तेषां पाठस्तु ॥

अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा सवित्रे स्वाहा सरस्वत्यै स्वाहा । पूष्णे स्वाहा बृहस्पतये स्वाहा । इन्द्राय स्वाहाऽशाय स्वाहा जलोकाय स्वाहा घोषाय स्वाहा भगाय स्वाहार्यम्भे स्वाहंति ॥

स्पष्टार्थः ॥ कात्यायनः ॥ ताभ्यामुत्पुनात्यपः सवितुर्व इतीति । हिरण्येन संस्कृताभ्यां पवित्राभ्यां द्वाभ्यामुत्पन्नं कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥

सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यछिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः । अनिभृष्टमसि वाचो बन्धुस्तपोजाः सोमस्य दात्रमसि स्वाहा राजस्वः इति ॥

सवितुः सर्वस्य प्रेरकस्य परमेश्वरप्रमवेभ्योऽनुज्ञायास्थितोऽहं हे आपः वो युष्मानछिद्रेण छिद्ररहितेन समीचीनपवित्रेण सूर्यस्य किरणैरुत्पुनामि उत्पन्नं करोमि । हे उदक ! त्वमनिभृष्टं केनाप्यनाभृष्टमसि । किञ्च सोमस्याभिषेककाले दानं दत्तमसि । हे आपः तपोजाः सन्तापयतो अमेर्जाता यूयं वाचो बन्धुर्वचस्वन्धुभृता भवथ । राजानं सुवते जनयंतीति राजभ्वस्ता राजजनका यूयं स्वाहाकारेण पूतास्थः ॥ कात्यायनः ॥ अभिषेचनीये एता आर्षिचति सधमाद इतीति । अभिषेकार्थमानीतेषु सारस्वत्यादिषूदकेषु एता उत्पूता आप आर्षिचेत् ॥ पाठस्तु ॥

सधमादो शुम्निनीराप एता अनाभृष्टा अपस्यो वसानाः । पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थमपाशिशुर्मातृतमास्वन्तरिति ॥

सधमादः सधमादनशीला शुम्निनीः शुम्निन्यः तेजोवसः एता या आपः सिञ्चन्ति । किदृश्यः अनाभृष्टाः केनाप्यनभिभृताः । अपस्यः कर्मयोग्याः वसाना आछादयन्त्यो मातृस्थानीयानामर्षिपुत्रस्थानीयो वरुणः । पस्त्यासु गृहस्थानीयासु मातृतमासु । अतिशयेन जगदनिर्बित्रीषु तास्वन्तर्मध्ये सधस्थं चक्रे सहास्थितं कृतवान् ॥ कात्यायनः ॥

तार्थ्यप्रभृतीनि शत्रस्येति प्रतिमन्त्रमिति । तार्थ्यं घृताक्तं वस्त्रन्तत्प्रभृतीनि क्रमेण परिधापयेदिति शेषः ॥ पाठस्तु ॥

क्षत्रस्योत्बमसि क्षत्रस्य जराष्वसि क्षत्रस्य नाभिरसि
क्षत्रस्य योनिरसीति ॥

हेतार्थ्य ! त्वं क्षत्रस्य राजस्थानीस्य यजमानस्य गर्भत्वेनो-
पचर्यमाणस्य उल्लं आवरणभूतोसि उल्लावृत्तो गर्भ इति श्रुतेरिति हि
जरायुगर्भवेष्टनं । तादृग्भूतोसि । नाभ्यां मन्त्रद्वौ गर्भो जायत इत्युक्तत्वा-
न्नाभिभूतोसि । योनिर्गर्भमम्भवस्थानन्तादृगसि ॥ कात्यायनः ॥ इन्द्रस्य-
वार्जघ्नमिति धनुरातनोतीति । आह्न्यादमीति मन्त्रशेषः ॥ पाठस्तु ॥

इन्द्रस्य वार्जघ्नमिति ॥

हेधनुः त्वमिन्द्रस्य सम्बन्धि वृत्रो येन हन्यत इति वृत्रघ्नस्तद्धनुर-
सि ॥ कात्यायनः ॥ धनुः प्रयच्छति त्वयायामितीति । आतनज्यधनुः
प्रदद्यात् ॥ पाठस्तु ॥

त्वयायं वृत्तं बध्यादिति ॥

हेधनुस्त्वयायं यजमानः वृत्तं शत्रुं बध्यात् ॥ हन्यात् ॥ कात्यायनः ॥
मित्रस्य वरुणेत्यस्य बाहुदिभाष्टीति । मित्रस्य वरुणस्येति मन्त्रद्वयेन यजमा-
नस्य दक्षिणोत्तरबाहुविमार्जनं कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥

मित्रस्यासि वरुणस्यामीति ॥

हेदक्षिणबाहो ! त्वं मित्रस्य सम्बन्धी भवसि । हेवामबाहो !
त्वं वरुणस्य सम्बन्धी भवसि ॥ कात्यायनः ॥ रुजामीति प्रतिमन्त्रमा-
दाय तिस्र इष्टुः प्रयच्छतीति । रुजासीत्यादिभिर्मन्त्रैस्त्रीन् शरानादाय
यजमानाय प्रयच्छेत् ॥ तेषां पाठस्तु ॥

रुजासि द्रवासि क्षुपासीति ॥

हेदृपो ! त्वं रुजासि । रुजोभद्रइति धातुः । शत्रुणाम्भद्रकरो भव-
सि । क्षुपासीति । क्षुपा शत्रुकदनकारीपुरसि । क्षुपं विधूयत इति धातुः ॥
कात्यायनः ॥ पातैनमित्यभिष्टुश्रयतीति यजमानमभिष्टुशेत् ॥ पाठस्तु ॥

पातैनं प्राचं पातैनं प्रत्यञ्चम्पातैनन्तिर्यचन्दिग्भ्यः पातेति ॥

हेश्वरः ! प्राचं पूर्वभागेवस्थितमेनं यजमानं पातं पालयत । प्रत्यंचं

पश्चिमदिश्यवस्थितमेनं पात । तिर्यचान्तिर्यग्गतमेनं पात । पालयत ॥
कात्पायनः ॥ आविर्मर्या इति वाचयतीति ॥ पाठस्तु ॥

आविर्मर्या आवित्तो अग्निर्गृहपतिरावित्त इन्द्रो वृद्धश्र- १.
वा आवित्तः पूषा विश्ववेदा आवित्तो मित्रावरुणौ धृतरतौ ।
आविते यावापृथिवी विश्वशम्भू आवितो दितिरुरुशर्मति ॥

हेमर्या ! मनुष्यकृत्विजः युयमाविरभूत । अभ्यगन्त तिष्ठत ।
युष्मदनुष्ठितेन कर्मणा अग्निर्गृहपतिर्भूत्वा आवित्तोपलब्धः । इन्द्रो
वृद्धश्रवाः मृददकीर्तिभूत्वा आवित्तोपलब्धः पूषा देवः विश्ववेदाः सर्व-
ज्ञो भूत्वा आवित्तः । मित्रावरुणौ देवौ धृतरतावधारितकर्माणौ भूत्वा
आवित्तौ ॥ तथा यावापृथिवी यावापृथिव्यौ विश्वस्य शम्भू सुखाभ्यां
भवतीति विश्वशम्भू तथाविधे भूयाः । आवित्ते अदितिरदीना देवमा-
ता । उरुशर्मा उरु महन् । शर्म शरणं मुख्यं वा यस्याः मा तथाविधा भूता
आवित्ता लब्धा ॥

इत्येकादशोऽध्याये चतुर्धाऽनुवाकः ॥

चतुर्थेऽनुवाके राजामिपेकार्थं व्याघ्रचर्गास्तरणमन्त्रा उक्ताः ॥
पञ्चमे दिगाक्रमणस्य मन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्पायनः ॥ अवेष्टा इति लोहायममा-
विड्यति केशपाशापमदे । त उग्रविष्टायेति मदीन्तः स्थिताय केशमंस्कृष्टिणे
पुरुषायायोमयं लोहं निरस्येत् ॥ पाठस्तु ॥

अवेष्टा दंशशूका इति ॥

दंशशूकाः सर्पपटशा यक्षविघ्नकारिणो राक्षसादयः अवेष्टा
विनाशिता । अवत्तिवति शेषः ॥ कात्पायनः ॥ सुन्वेतमाक्रमयन् दि-
शः प्राचीमारोहेति वाचयति प्रतिमन्त्रमिति दिशं यथान्तिङ्गमिति ॥ यजमा-
नन्दिशामाक्रमणं कारयन्नध्वर्युरेकैकेन मन्त्रेण ॥ तत्रपाठस्तु ॥

प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु । रथन्तरासाम त्रिवृ-
त्स्तोमो वसन्तऋतुर्ब्रह्म द्रविणमिति ॥

हेयजमान ! त्वं प्राचीदिशं आरोह । आक्रमस्व । तथाविधं त्वां छन्दसां
मध्ये गायत्रीछन्दः अवतु रक्षतु । साध्नां मध्ये अभित्वाशूरनोतु मेत्यस्यामृच्यु-
त्पन्नं रथन्तराख्यं साम रक्षतु । स्तोमानांमध्ये त्रिवृत्स्तोमः पालयतु । ऋतूनां
मध्ये वसन्तऋतुः पालयतु । ब्रह्म ब्राह्मणजातिस्त्वां रक्षतु त्वदीयं द्रविणन्धनं

रसतु । त्रिवृत्स्तोमस्य रूपं सामब्राह्मणे समाप्नोतं । तिसृभ्यो हिङ्करोतीति स-
मथमया तिसृभ्यो हिङ्करोति समध्यमया तिसृभ्यो हिङ्करोति स उत्तमयोद्यतीति
वृत्तो विष्टुतिरिति । अस्यायमर्थः । उपास्मै गायतेत्यादीनि कृत्वात्मकानि त्री-
णि सूक्तानि सति तेषु तिसृभिर्ऋग्भिर्हिकरोति गायेत् । काभिस्त्रिभिः प्रथमया-
त्रिष्वपि सूक्तेषु या या प्रथमा तथा उद्गाता गायेत् । तथा सति तिसृभिर्गीतिं सोऽथ
प्रथमपर्यायः । द्वितीये सूक्तत्रयगतया मध्यमया गायेत् । तृतीये पयो सूक्तत्रय-
गतयोत्तमयागायेत् । अनेन प्रकारेण त्रिवृत्स्तोमसम्बन्धिनी विशिष्टास्तुतिः
सम्पद्यते । सेयं स्तुतिरुच्यतीति नाम्नाभिधीयते ॥ द्वितीयमंत्रपाठस्तु ॥

दक्षिणामारोह त्रिष्टुप् त्वावतु । बृहत्साम पञ्चदश-
स्तोमो व्रीष्मक्तुः क्षत्रन्द्रविणमिति ॥

पूर्वन्यायेन योजनीयं । त्वामिद्धि हवामह इत्येतस्यामुच्युत्पन्नबृहत्साम
पञ्चदशस्तोमत्वे च समाप्नोतः । पञ्चभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एक-
कपाल एकया पञ्चभ्यो हिङ्करोति स तिसृभिः स एकया पञ्चभ्यो हिङ्करोति
पञ्चपवनीः पञ्चशस्य विष्टुतिरिति पूर्वोक्तत्रिवृत्स्तोम एक एव सूक्तत्रयनिष्पा-
द्यः । अन्ये तुस्तोमा एकैकनैककृत्वात्मकेन सूक्तेन निष्पाद्यन्ते तत्रायं क्रमः ।
प्रथमपर्याय आहूतिः सा च त्रिऋग्भिर्गायेत् । इतरे द्वे सकृत्सकृद्गायेत् ॥ द्विती-
यया या प्रथमा सकृत्सकृद्गायेत् । तृतीयपर्याये मध्यमा सकृद्गायेत् । सेयमेक-
विंशतिस्तोमसबन्धिनी विष्टुतिः । मसमसनीत्यभिधीयते । पञ्चदशस्तोमश्च त्वाम
वतु । क्षत्रं क्षत्रियजातिस्त्वामवतु । द्रविणं धनञ्च त्वामवतु । एवंतृतीयचतुर्थौ-
मन्त्रौ व्याख्येया ।

प्रतीचीमारोह जगनी त्वावतु । वैरूपं साम सप्तदशस्तो-
मो वर्षाक्तुर्विष्टु द्रविणमिति ॥

जगती नाम छन्दः अवतु । वैरूपं साम चावतु । सप्तदशस्तो-
मश्चावतु । वर्षारूपो ऋतुस्त्वामवतु । विद्वैश्यजातिस्त्वामवतु । द्रविणं धनं
च त्वामवतु ॥ उदीचीनामारोहानुष्टुप्त्वावतु । वैराजसामैकाविंशः
स्तोमः शरदतुः फलं द्रविणमिति । तत्त्वा अनुष्टुप्त्वावतु । वैराजछन्दस्त्वाम-
वतु । एकविंशस्तोमश्च त्वामवतु । शरत्साम ऋतुश्च त्वामतु । सर्वश्च फलरूपं
द्रविणं च त्वामवतु । पञ्चममन्त्रपाठस्तु ॥

ऊर्ध्वामारोह पक्तिस्त्वावतु । शाक्कररैवतै सामनी त्रिण-

वत्रयस्त्रिंशौ स्तोमौ हेमन्तशिशिराऽश्रुतौ वचौ द्रविणमिति ॥

वर्चः तेजोभिपानी देवो धनं रक्षतु । प्रोथदस्मैपुरो रथं इत्येतस्यामृ-
च्युत्पन्नं सामशाकरं तीर्णः सधमाद् इत्येतस्यां ऋच्युत्पन्नं सामरै-
वतन्त्रिणवस्तोम एवाम्मनातः ॥ नवभ्यो हिं करोति स तिसृभिः
सपंचभिः स एकया नवभ्यो हिं करोति स एकया तिसृभिः पञ्चभिः
नवभ्यो हिं करोति स पञ्चभिः स एकया स तिसृभिर्वज्रो वैरिण इति । प्रथम-
पर्याये प्रथमान्निर्गायेत् । मध्यमां पञ्चकृत्वोर्गायेत् । उत्तमां सकृद्गायेत् ।
द्वितीयपर्याये प्रथमां सकृद्गायेत् । मध्यमां त्रिर्गायेत् । तृतीयपर्याये उत्त-
मां पञ्चकृत्वो मध्यमांसकृद्गायेत् । उत्तमान्निर्गायेत् । सोयन्त्रिराष्टौ नव
संख्योपेतत्वात्रिषुणवनामको वज्रमानः त्रयस्त्रिंशस्तोम एवाम्मनातः । एका-
दशभ्यो हिं करोति स तिसृभिः सप्तभिः स एकयैकादशभ्यो हिं करोति
स एकया स तिसृभिः स सप्तभिः एकादशाभ्यो हिं करोति स सप्तभिः । स
एकया स तिसृभिरितो वै त्रयस्त्रिंश इति प्रथमपर्याये प्रथमां त्रिर्गायेत् ।
मध्यमां सप्तकृत्व उत्तमां सकृत् ॥ द्वितीयपर्याये प्रथमां सकृत् । मध्यमां त्रि-
त्तमां सप्तकृत्वस्तृतीयपर्याये प्रथमां सप्तकृत्वो मध्यमां सकृदुत्तमां त्रिः सोयन्त्र-
यस्त्रिंशः सर्वेषां स्तोमानामन्तः ॥ ॥ कात्यायनः ॥ ॥ पादेन सीमन्निरस्यति
प्रत्यस्तमिति । नमुचेः शिरः इति मन्त्रशेषः । प्रतिगृह्य अस्तन्निःक्षिप्तं नमुचे-
रसुरस्य शिरः ॥ ॥ कात्यायनः ॥ ॥ व्याघ्रचर्मोरोहति । अभिषेकार्थं राजानं
व्याघ्रचर्मण्यवस्थापयेत् ॥ पाठस्तु ॥

सोमस्य त्विषिरसि तव च मेत्विषिर्भूयादिति ॥

हेव्याघ्रचर्म ! त्वं सोमस्य त्विषिरसि दीप्तिरसि । ते तव यथा
दीप्तिर्भवति तथा मे ममापि दीप्तिर्भूयात् ॥ कात्यायनः ॥ रुक्ममधस्पर्दं
कुरुते मृत्योरिति पादतले हिरण्यं कुर्यात् । याहीति मन्त्रशेषः । हेसुवर्ण ! त्वं
मृत्योः सकाशात्मां पाहि पालय ॥ कात्यायनः ॥ शिरसि नवकृत्वो रुक्मं
ओजोसीति । नवसंख्यायुक्तनिष्कपरिमितं च सुवर्णं यजमानस्य शि-
रसि कुर्यादिति मन्त्रशेषः ॥ पाठस्तु ॥

ओजोसि सहोऽस्यमृतमसीति ॥

हेहिरण्य ! त्वमोजस्तेजोयुक्तमसि सहोसि बलमसि अमृतमसि
माणबलमसि ॥ कात्यायनः ॥ बाहू उदृष्ट्वाति । हिरण्यरूपा इति मन्त्रेण

मित्रोमीत्यनेन बाहुद्वयमुत्तानं कुर्यात् ॥ तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥

हिरण्यरूपा उषसो विरोकः उभा इन्द्रा उदिनः सूर्यश्च ।
आरोहन्तं वरुणमित्रगर्तन्ततश्चक्षाधामदितिं दितिं चेति ॥

हेवरुण ! हेमित्र ! शत्रुनिवारक दक्षिणहस्तौ हिरण्यरूपौ
सुवर्णखचिनौ अतिशयेन भासमानौ इन्द्रौ समर्थौ । उभौ युवां गर्तं
रथस्योपरिभागं गर्तमदृशमारोहन्तं । परकीर्णमाणेभ्यो रक्षितुं । पितरश्च
कर्मकरत्वादिभिराच्छादिने मति रथस्योपरि भागो गर्तमदृशो भवति ।
आरोहणं कदा कर्तव्यमित्युच्यते । उपमः कालानन्तरं विरोकः विशिष्ट-
दीप्तिः सूर्यश्च उदित उदयं प्राप्तस्तदा आरोहन्तमित्यर्थः । ततो रथा-
रोहणादूर्ध्वं अदितिमखण्डितां स्वमेवादितिं खण्डितां परमेवां चक्षाथां
क्रमेणानुग्रहनिग्रहं दृष्ट्वा समीक्षायां । मित्रोमिवरुणोमीति वैकल्पिकद्वि-
तीयमन्त्रो व्याख्यातः ॥

इत्येकादशेऽध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ॥

पञ्चमे दिगादिकमणादिमन्त्रा उक्ताः ॥ पष्ठेऽनुवाकेऽभिषेकादिमन्त्रा उच्यन्ते
॥ कात्यायनः ॥ स्थितं प्राञ्चन्तरोऽध्वर्युर्वा पुरस्तात्पलाशेन प्रथमं पश्चादितरो
द्वितीयेन तृतीयेन मित्रो राजन्यो वैश्यश्चतुर्थेन सोमस्यत्वान्मुञ्चेनेति प्रतिमन्त्रम-
भिषिंचामीति मन्त्रत्र साकाङ्क्षत्वात् क्षत्राणां क्षत्रपतिरेधीति चेममामुप्येति चेति ।
रुक्ममहिते व्याघ्रचर्मणि अवस्थितं प्राङ्मुखं राजानं पुरोहितादयः पुर-
स्तादवस्थाप्य अभिषिचेयुः । अभिषेकजलपात्राणि चतुर्विधानि । पलाशो
दुम्बरन्यग्रोधाश्चस्थानि । तत्र पलाशपात्रेण पुरोहिताध्वरोरन्यतरः प्रथम
मभिषिचेत् । उदुम्बरपात्रेणाध्वर्युर्व्यतिरिक्ता ऋत्विजोऽभिषिचतुः । ततो-
न्यग्रोधपात्रेण स्वकीयो बन्धुः कश्चिदभिषिचेत् । तत अश्वत्थपात्रेण मि-
त्रभूतः कश्चित्क्षत्रियो वैश्यश्चाभिषिचेत् । चतुर्विधानामेतेषामभिषेकतृणां
क्रमेण सोमस्याग्रेः सूर्यस्येन्द्रस्येत्येते चत्वारो मन्त्रा द्रष्टव्याः । मरुतामोजमे-
त्यं चतुर्थमन्त्रशेषः । अभिषिंचामीति पदमुपरितनेषु त्रिषु मन्त्रेष्वनुवर्तते ।
क्षत्राणामित्येतावुभौ मन्त्रशेषौ इति मन्त्रमावर्तनीयौ ॥ एतेषां पाठस्तु ॥

सोमस्य त्वा मुञ्चेनाभिषिंचाम्यग्रेभ्राजसा सूर्यस्य वर्च-
सा । इन्द्रस्येन्द्रियेण मरुतामोजसा क्षत्राणां क्षत्रपतिरेध्यति-
दिद्यू पाहि । इमन्देवा असपत्नश्सुबध्वं महते क्षत्राय महते

ज्येष्ठयाय महते जानराज्याय इमममुष्य पुत्रममुष्याः पुत्रम-
स्यै विशे । एष वः कुरवो राजैषवः पञ्चाला राजा सोमोऽस्मा-
कं ब्राह्मणानां राजेति ॥ १०/१

हेयजमान ! त्वां सोमस्य दिद्युम्नेन द्योतनेन तेजसाभिषिचामि ।
अग्नेर्भ्राजसा दीप्तया त्वामभिषिचामि । सूर्यस्य वर्चसा शोचिषा
त्वामभिषिचामि । इन्द्रस्येन्द्रियेण त्वामभिषिचामि । मरुतामोजसा
बलेन त्वामभिषिचामि । एवं सर्वैरभिषिक्तः सन् क्षत्राणां क्षत्र
पतिरेधि सर्वेषां क्षत्रियाणामधिपतिर्भव । अतिदिद्युन् । दोऽवखण्डने धा-
तो रूपं । अवखण्डनमामर्थयुक्तानतीत्यातिक्रम्यापमार्येन यजमानं हे देव-
वैश्व ! त्वं पाहि पालय । एष वो दिद्यव इति श्रुतेः । यद्वा शत्रुप्रयुक्तान्
सर्वान्वाणादीनपमार्य । हेयजमान ! त्वं सर्वं भुवम्पालय महते प्रभृताय जान-
राज्याय जनानां मन्वन्धि राज्यं जानराज्यं तदर्थं । हे देवाः इमं यजमानं
भुवध्वं शिष्टं पूर्ववज्जालयेयं ॥ कात्यायनः ॥ अभिषेकेण प्रलिपने
प्रपर्वतस्येतीति । अभिषेकमन्वन्धोदकशेषेण प्रलेपनं कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥

प्रपर्वतस्य वृषभस्य पृष्ठान्नावश्चरन्ति स्वसिच इयानाः ।
ता ताववृत्रक्षधरागुदक्ता अहिं बुध्न्यमनुरीयमाणा इति ॥

वृषभस्य दर्पणममर्थस्य पर्वतमदृशस्य मेघस्य पृष्ठान् उपरिभावान्नावः
नौयोग्यावहुत्वा आपश्चरन्ति गच्छन्ति । कीदृश्यः स्वसिचः । स्वमात्मीयं
यजमानं क्षत्रं मिश्रन्तीति स्वसिच इयाना आगच्छन्त्यो बाहुल्येन म-
र्वत्र वहन्त्यः । न हीयत इत्यहिरुत्तमाङ्गं बुध्नस्य पादस्याग्रमाबुध्न्यः शिरः
प्रभृति पादाग्रपर्यन्तं अनुक्रमेण रीयमाणागच्छन्त्यस्ता अपिः अधाराक् अ-
धीगता अववृत्रन् पुनः पुनरावृत्र स्थितास्ताप्तादृश्य आउदगृध्वं गता
आववृत्रन् ॥ कात्यायनः ॥ चर्मणि त्रिविक्रमयन्ति विष्णोरिति प्रतिम-
न्त्रमिति । विष्णोरिति मन्त्रत्वयेण आस्तीर्णं व्याघ्रचर्मणि त्रिवारं पाद-
प्रक्षेपणं कुर्यात् ॥ तेषां पाठस्तु ॥

विष्णोर्विक्रमणमसि विष्णोर्विक्रान्तमसि विष्णोः
क्रान्तमसीति ।

यजमानस्य मम प्रथमक्रमत्वं विष्णोर्व्यापनशीलस्य जगदी-
श्वरस्य त्रिविक्रमावतारस्य प्रक्रमणमसि । प्रथमपदा प्रक्षेपेण जितो

भूलोकोसि । हेद्वितीयप्रक्रम ! त्वं विक्रान्तमसि । विष्णोर्द्वि-
तीयपादप्रक्षेपेण जितमन्तरिक्षमसि । हेतृतीयप्रक्रमण ! त्वं क्रान्तं वि-
ष्णोः पराक्रमेण जितान्त्रिविष्टपमसि । इमं मन्त्रत्रयं लोकत्रयविजये तै-
त्तिरीया अप्यामनन्ति । विष्णुर्विक्रमान् क्रमते विष्णुरेव भृश्वेमांल्लोकानभि-
जयतीति ॥ कात्यायनः ॥ शालाद्वार्ये जुहोति पुत्रेऽन्वारब्धं प्रजापतेऽनेनेति ।
पूर्वं तेनाहवनीयमीदानीन्तेन गार्हपत्यं शालाद्वार्यं तस्मिञ्जुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विद्वा रूपाणि परितामभूव ।
यत्कामास्तैर्जुहुमस्तन्नाऽ अस्तु वयस्स्यामपतयो रयीणामिति ॥

हेप्रजापते ! त्वदन्यः कोऽपि पुरुषः त्वत्तः एतानि विश्वा
विश्वानि सर्वाणि रूपाणि न परिवभूव परिभाषितुं समर्थो ना-
भूत् । परिवभूवः सृष्टेस्पृष्टपञ्चमं । सृष्टिमंदारयोः अशक्त इत्यर्थः । अतस्ते
वयं यत्कामा जुहुमः नाऽऽत्माकं तत्फलमस्तु । किञ्च वयं रयीणां पतयः
स्याम स्वामिनो भवेम ॥ कात्यायनः ॥ आग्नीध्रिये पालाशेन शेषाणि जुहो-
ति रुद्र यन इति । पालाशपात्रेणाभिषेकशेषभृतान्युदकान्याग्नीध्रं सवन्धीनि
जुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥

रुद्र यत्ते कविपरं नाम । तस्मै हुतमस्यमेष्टमसि स्वाहेति ॥

हेरुद्र ! ते तव कविर्हिमाकरणायोग्यं जगद्विरोधिनां हिमाकर्तृकं मज्ज-
नानान्तु पुरुषार्थस्य करणभूतं यन्नामास्ति तस्मै नाम्ने हुतमस्तु । अभिषेक
शेषभूतं पात्रस्थमुदकं हुतमस्तु । तच्चाऽमेष्टममि अमाशब्दोत्र गृह्णाची मदीये
गृहे दत्तमस्तु स्वाहेति होमार्थः ॥

इत्येकादशध्याये षष्ठोऽनुवाकः ॥

षष्ठेऽनुवाके अभिषेकादिमन्त्रा उक्ताः ॥ मस्यै रथावरोहणमन्त्रा
उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ अग्निवाजपेयवद्रथमवहृत्येति । अग्निचयनवाजपेये
यथा राराहणं कृतं तद्वदत्रापि रथमवरोहेत् ॥ पाठस्तु ॥

इन्द्रस्य वज्रोऽसीति ।

हेरथ ! इन्द्रस्य वज्रमदृशो भवसि ॥ कात्यायनः ॥ युनक्ति पूर्ववत्
भिन्नावरुणयोरिति । वाजपेये यथा रथसंयोजनं कृतं तद्वदत्रापिरथेऽववा-
संयोजयेत् ॥ पाठस्तु ॥

मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशाम्नाः प्रशिषा युनग्मीति ।

प्रशास्त्रोराज्ञापयित्रोर्मित्रावरुणयोः प्रशिषा प्रशामनेन यज्ञमम्बन्धि-
निमित्तरथे त्वामश्वंयुनग्मि युञ्ज्याम् ॥ कात्यायनः ॥ अव्ययायै त्वेति सु-
न्वन्तमारोहतीति । संयोजिते रथे यजमान आनिष्ठेत् ॥ पाठस्तु ॥

अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वारिष्टः फल्गुन इति ॥

अरिष्टः अनुपहिंसितः फल्गुनोऽर्जुन इन्द्र इत्यर्थः अर्जुनो वै
नामैन्द्र इति श्रुतेः । एवम्भूत इन्द्रः हेरथ ! त्वा त्वां अव्ययायै भयर-
हिताय व्रजिनरहिताय वा आरोहयत्वितिशेषः । स्वधायै अन्नरमाय
त्वामारोहयतु ॥ कात्यायनः ॥ मरुतामिति दक्षिणाध्वर्युं प्रयोजयतीति ।
युगस्य दक्षिणभागत्राहकमश्वं प्रयोजयेत् ॥ पाठस्तु ॥

मरुताम्प्रसवेन जयेति ॥

मरुतां सम्बन्धिनां प्रसवेनानुज्ञया वर्तमानोश्वस्त्वं अस्मच्छत्रून
जय ॥ कात्यायनः ॥ गवां मध्ये स्थापयत्यापा मेति । प्रगल्भं
प्रयच्छन्तमश्वं गोसमुद्देशवस्थापयेत् । मनमेति मन्त्रशेषः । वयं मनसा सह
आपामप्राप्तवन्तः ॥ कात्यायनः ॥ धनुषोऽवस्पृशति गां यजमानः समिन्द्रि-
येणेतीति । यजमानो धनुष्कोट्या गामुपस्पृशेत् । वयमिन्द्रियेण वीर्यं स-
ङ्गताः स्म ॥ कात्यायनः ॥ पूर्वेण यूयम्परीत्यान्तः पात्यदेशे स्थापयति
मा न इन्द्र इतीति ॥ पाठस्तु ॥

मा न इन्द्र ते वयन्तुराषालयुक्तास्मो अब्रह्मता विदसा-
म । तिष्ठा रथमधिमद्वज्रहस्ता रश्मी देव युवसे स्वश्वानिति ।

तूर्णं सहते शत्रूनभिवतीति । तुराषाद् तस्य सम्बोधनं हेतुराषाद् !
इन्द्र ते तव स्वभृतास्ते त्वदधीनत्वेन प्रमिद्धा वयं अयुक्तासः त्वया अव-
युक्ताः । अब्रह्मतापरिवृद्धं त्वदुद्देश्यकं कर्म तद्रहितत्वाय मा विदसाम
विविधमुपक्षीणा न भवामः । किन्तु तव यष्टारः हेवज्रहस्तेन्द्र ! देव
रश्मीनश्चबन्धनप्रग्रहान् स्वश्वान् शोभनानिच्छानुमारिणोऽश्वान् यद्य-
स्मिन्नये आयुवसे सर्वतो मिश्रयसि तं रथमधितिष्ठ आश्रय अस्मदाग-
मनार्थमारोहेत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ अग्नये गृहपतय इति चत्वारि रथवि-

मोचनीयानि जुहोति प्रतिमन्त्रमिति रथविमोचनाहान् चतुःसंख्याकाना-
हुतिविशेषानेकैकेन मन्त्रेण जुहुयात् ॥ तेषां पाठस्तु ॥

अग्नये गृहपतये स्वाहा सोमाय वनस्पतये स्वाहा ।

इन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहा मरुतामोजसे स्वाहेति ॥

गृहाधिपतयेऽग्नये स्वाहा हविर्दत्तमस्तु । वनस्पतिरूपिणे सोमाय
हविर्दत्तमस्तु । इन्द्रमस्वन्धिने इन्द्रियाय अग्नये स्वाहा हविर्दत्तमस्तु ।
मरुतामोजसे मरुतां मस्वन्धिने ओजमे बलाय स्वाहा मुहुतमस्तु ॥ का-
त्यायनः ॥ भूमिमवेक्षणे पृथिवि मातरितीति ॥ पाठस्तु ॥

पृथिवि मातर्मा हिंस्मीर्माऽअहं त्वामिति ।

हेमातर्जगन्निर्मात्रि ! हे पृथिवि ! भूमे त्वं मां मा हिंसीहि मां मा
कार्पीः । अहमपि त्वां पृथिवीं मा हिंसीष्टु ॥ कात्यायनः ॥ अव-
रोहति हंसः शुचिषदितीति । रथात्मकाशादवरोहणं कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥

हंसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसङ्घाता वेदिषदतिथिर्दुरो-
णसत् । नृषद्वरसदृत्सङ्घामसद्वजा गोजा ऋतजा अद्रिजा
ऽऋतं बृहत् इति ।

हन्ति पृथिवीमिति हंसो रथः शुचां देवयजने रथवाहने च सीद-
तीति शुचिषत् । स्वभ्यावरि यजमानं वामयतीति वसुः । तरुगुल्माद्यन-
वरुद्धेन्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षमत् । द्योता द्यौर्नृसमानस्तदेव कथमित्यु-
च्यते । वेद्यां सीदतीति वेदिषत् । अतिथिशब्दश्च तदपि कथमित्युच्यते ।
दुरोणेषु सीदतीति दुरोणसत् । यो यस्तमारोढुं नयानि तस्य तस्य गृहेषु
सीदतीति दुरोणमत् । नृषु मनुष्येषूपकारं कर्तुं सीदतीति नृषत् । वरे
श्रेष्ठे राजगृहे सीदतीति वरमत् । ऋते यज्ञे वाजपेयादौ सीदतीति ऋतमत् ।
सूर्यं वोढुं व्योमन्याकाशे सीदतीति व्योममत् । अप्सु योनिर्वा अश्व
इति श्रुतेः । अद्भ्यो जातैरश्वैरुपेतत्वाद्वजाः । गोजाः गोशब्दवाच्याद्वा-
ज्राज्जायत इति गोजाः । रथस्य वज्रजनकत्वं तैत्तिरीयैः समाभ्यातम् ।
इन्द्रो वृत्राय वज्रं प्राहरत् । मन्त्रेणाव्यभवत् स्फ्यस्तृतीयः रथं तृतीय-
मिति । पृष्ठवाहिरूपत्वेन ऋतं यज्ञमुद्दिश्य जातत्वाद्वजाः । पाषाणम-
होभ्यो दृढकाष्ठेभ्यो जातत्वाद्विजाः । ईदृशो रथो बृहदने पौढं राजन्-

ययज्ञं सम्पादय इति शेषः ॥ कात्यायनः ॥ उपस्पृशति समाना वियदसीति ।
शतसंख्यानिष्कपरिमितौ रुक्मविशेषा उपस्पृशेत् ॥ पाठस्तु ॥

इयदस्यायुरस्यायुर्मे देहि युङ्क्तसि वर्चोऽसि वर्चो मे १,
देहि इति ॥

हेरुक्मविशेष ! त्वमियदमि । एतावत्परिमाणोऽमि । अत्र तत्परि-
माणहस्तेनाभिधीयते । परिमितत्वादेव आयुःस्वरूपोऽमि । तस्मादा-
युर्मे यच्छ । युङ्क्तमि धारयितुं योग्योऽमि । धारिते सति वर्चोऽसि ।
तेजस्वी भवामि । अतो मे कान्तिं प्रयच्छ ॥ कात्यायनः ॥ ऊर्गमीति
शाखामुपस्पृशतीति । औदुम्बरीशाखामुपस्पृशेत् ॥ पाठस्तु ॥

ऊर्गस्यूर्जं मायि धेहीति ।

हे औदुम्बरी शाखे ! त्वं ऊर्गमि । अन्नरूपा भवामि । तत् ऊर्जमसं
मायि धेहि स्थापय ॥ कात्यायनः ॥ इन्द्रस्य वामित्यवहरेत् बाहू इति ।
पूर्वं हिरण्यरूपा उपम इति मन्त्रेण यजमानस्य बाहू उद्गृहीतौ तयोरि-
दानीमथस्तादुपावहरणमुच्यते ॥ पाठस्तु ॥

इन्द्रस्य वाँ बाहू वीर्यकृता उपावहरामीति ॥

वीर्यकृतो वीर्यकारिणः इन्द्रस्य परमैश्वर्ययुक्तस्य यजमानस्य
सम्बन्धिनौ वाँ युवाँ बाहू उपावहरामि ।

इत्येकादशेऽध्याये समर्पणोऽनुवाकः ॥

समेऽनुवाके रथाचरणादिमन्त्रा उक्ताः ॥ अष्टमेऽनुवाके आमन्दी-
स्थापनादिमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ खादिरीयामन्दीं राज्ञर्क्षीं व्या-
घ्रचर्मदेशे निदधाति स्योनामीति । राज्ञोः सम्बन्धिनौ खादिरवृक्षनिर्मिता-
मामन्दीं व्याघ्रचर्मदेशे निदध्यात् । मुखदामीति मन्त्रशेषः । हे
आमन्दि ! त्वं स्योनासि सुखकारी भवामि । सुखदामि सुखेनोपवेष्टुं यो-
ग्यामि ॥ कात्यायनः ॥ अधिवासं तस्यामास्तृणानि क्षत्रस्य योनिरसीति ।
अस्यामासंघां उपर्याच्छादकं वस्त्रमास्तृणीयात् । असीति मन्त्रशेषः । हे-
अधिवास ! त्वं क्षत्रस्य क्षत्रियस्य योनिः । मातृवद्धारकत्वेन कारणमसि ॥
कात्यायनः ॥ मुन्वन्तयस्यामुपवेशयति स्योनामासीदिति । यजमानमास-
म्यामवस्थापयेत् ॥ पाठस्तु ॥

स्योनामासीदसुखदामासीदक्षत्रस्य योनिमासीदेति ॥

हेमदीयशरीर ! स्योनां सुखकारिणीमतामासन्दीं युज्यासीद् उप-
विश । सुखदां सुखेनोपवेष्टुं योग्यामासन्दीमासीदक्षत्रस्य कारणभूतामुप-
विश ॥ कात्यायनः ॥ निषसादेत्पुरोस्य लभत इति । अस्य यजमानस्योरः
संसृशेत् ॥ पाठस्तु ॥

निषसाद धृतवतो वरुणः पस्थास्वा । साम्राज्याय
सुकतुरिति ॥

असौ यजमानो धृतवतः स्वीकृत्यज्ञो वरुणोऽनिष्टनिवारको भूत्वा
निषसाद । अस्यामामन्ध्यामुपवेशमस्यासु बहुषुनैरिष्टहेषु आगत्य साम्राज्यं
कर्तुं सुकतुः शोभनमंकलो भवतु ॥ कात्यायनः ॥ अभिभूरित्यस्मै पञ्चा-
क्षात्मणिधायेति पञ्चमंख्याकान् धृतमाधनभूतान् कर्षदकादीन् यजमानस्य
हस्ते निदध्यात् ॥ पाठस्तु ॥

अभिभूरस्य यानामेतास्ते पञ्चदिशः कल्पन्तामिति ।

हे अक्षदेव त्वं ते अयानां गन्त्युपलक्षितमन्त्रकर्मणां अभिभूरसि ।
अभिनो व्याप्नो भवामि । एताः प्राच्यादयो दिशः ते त्वर्धं कल्पन्तां
स्वस्य प्रयोजनममर्था भवन्तु ॥ कात्यायनः ॥ ब्रह्मन्नित्यामन्त्रयत्ने पञ्च-
कृत्वः प्रत्याहव्यस्यामन्त्रयत्ना वरुणः इन्द्रो रुद्र इति त्वं ब्रह्मासीत्यादि
भिरादिनेवान्तं । प्रियं करोति च ह्यन्यैवं नामानमिति । आमन्ध्यामुप-
विष्टो यजमानो राजा स्वमेवार्थं भूमा उपविष्टानध्वर्युप्रभृतीश्चतुर्ऋत्विजः
क्रमेण ब्रह्मन्नित्यनेन संबोधनं प्रथमैकवचनान्तरूपेण पदेनामन्त्रयेत् । तास्व-
ऋत्विजः यक्षुरपञ्चमं पुरोहितमापत्यं पुरुषं प्रियंकरमित्यनेन नाम्ना
संबोधयेत् । एवं पञ्चकृत्वः संबोधने भवति ऋत्विजो मन्त्रेण प्रत्यु-
त्तराणां चतुर्णां मन्त्राणां अन्ते त्वं ब्रह्मासीत्येवंरूपः प्रयोगभाग
उत्तरभागश्चतुर्णां चतुर्विधः । मवितासि सत्यप्रमव इति प्रथमस्य मन्त्रस्योप-
रितनो भागः । द्वितीयो वरुणोमि सत्योजा इति तृतीयस्येन्द्रस्य विशी-
जा इति । चतुर्थस्य रुद्रोऽमि सुशेव इति । व्यत्यासमित्यस्यापमर्थः ।
एवं सम्बोध्य तेन प्रत्युत्तरे दत्ते पश्चाद्द्वितीयं सम्बोधयेत् । एवमुत्त-
रत्रापि । तथा सति सम्बोधनप्रत्युत्तरं योज्यं तस्य सत्यस्यानुष्ठानं भ-

वति । आदिनेवेत्यस्यापमर्थः । प्रथमे प्रत्युत्तरमन्त्रः त्वं ब्रह्मासीति प्रथमभागं पठित्वा सवितेत्यादिके उत्तरभागस्तथा पठितः । एवमुत्तरमन्त्रेष्वपि त्वं ब्रह्मा अमीत्येवमेव प्रथमभागे पठित्वा तदुत्तरभागान् वदेदिति । तेषां मन्त्रपाठस्तु ॥

ब्रह्मस्त्वं ब्रह्मासि । सवितासि सत्यप्रसवो वरुणोसि सत्यौजाः । इन्द्रोसि विश्वौजा रुद्रोसि सुशेवः । प्रियंकर श्रेयस्कर भूयस्करेति ॥

हेवृक्षन् ! अध्वर्युरूप ब्राह्मण ! ब्रह्मन् त्वं ब्रह्मासि । एवं चतुर्णामुत्तिजामामन्त्रणरूपमन्त्र उक्त्वेदानीं प्रथममामन्त्रितस्यर्त्विज उत्तरं ब्रूते हेराजन् ! त्वमेव ब्रह्मासि ब्राह्मणो भवसि । न त्वहम् । कुतः । यतस्त्वमेव सवितासि । ब्राह्मणधर्मान् पालयन् अस्माकमनुष्ठानायानुज्ञातोऽसि । त्वमेव सत्यप्रसवः । अमोघानुज्ञः । अतो ब्राह्मणवर्णाश्रमधर्माणां त्वदधीनत्वाच्चमेव ब्रह्मासि । द्वितीयमन्त्रितस्य ऋत्विजः उत्तरं ब्रूते । हेराजन् उत्तरमन्त्रस्योत्तरभागं व्याचष्टे । राजन् वरुणः अनिष्टनिवारकोसि । सत्यौजाः अमोघवीर्योऽसि । तृतीयमन्त्रितस्य ऋत्विज उत्तरं मन्त्रस्योत्तरभागं ब्रूते । हेराजंस्त्वमेव रुद्रोसि सुशेवः परमैश्वर्यवानसि विश्वौजा इति छान्दमं रूपं विश्व प्रजासु ओजो बलं यस्य स विश्वौजास्तादृशोऽसि । चतुर्थमन्त्रस्यर्त्विज आह । हेराजंस्त्वमेव रुद्रोऽसि । सुशेवः सुष्टु सुखे तावत् त्वमसि । पञ्चमं पुरोहितमाह प्रियं करोतीति प्रियङ्करः । तस्य सम्बोधनं । हे श्रेयस्करोतीति श्रेयस्करस्तस्य सम्बोधनं । हे श्रेयस्कर ! भूयो बहुतरं करोतीति भूयस्करः । एवम्भूतकल्याणानाम्नामाह्वयेत् ॥ कात्यायनः ॥ स्वयमस्मै प्रयच्छति पुरोहितोऽध्वर्युर्वेन्द्रस्य वज्र इतीति ॥ अध्वर्युपुरोहितयोरन्यतरः अस्मै यजमानाय स्वयं प्रयच्छेत् ॥ पाठस्तु ॥

इन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मेरध्येति ।

हेस्य त्वमिन्द्रस्य सम्बन्धी वज्रोऽसि वज्रो वै स्य इति श्रुतेः । श्रुतेर्यस्मादेवंभूतस्त्वन्तेन कारणेन मदर्थोरध्यः द्यूतस्थानं परिलेखनरूपं कार्यं साधय ॥ कात्यायनः ॥ द्यूतभूमौ हिरण्यं निषायाभिजुहोति चतुर्घृहीतेनाग्निः पृथुरिति । द्यूतप्रदेशे हिरण्यं स्थापयित्वा तस्मिंश्चतुर्वारं गृहीतेनाग्नयेन जुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥

अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिर्जुषाणो अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिः ।
आज्यस्य हविषो वेतु स्वाहेति ॥

होमार्थः ॥ कीदृशोऽग्निः पृथुर्देवानां प्रथयत्वात्पृथुः । अग्निर्वै-
देवानामवम इति श्रुत्यन्तरात् । धर्मणस्पतिर्जगतो धारणस्य धर्मस्य स्वामी
जुषाणः हूयमानं हविः सेवमानः । अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिरिति पुनः पा-
ठः आदरार्थः ॥ कात्यायनः ॥ अक्षत्रिवपति स्वाहाकृता इति ॥ द्यूत-
साधनभूतानक्षान् स्थापयेत् ॥ पाठस्तु ॥

स्वाहाकृताः सूर्यस्य रश्मिभिर्यतध्वं सजातानां मध्य-
मेष्टयायेति ॥

हेअक्षाः ! स्वाहाकृताः । स्वाहाकारपूर्विकया आहुत्या तर्पिताः
संतः सजातानां सजातीयानां मध्यमेढ्यां मध्यमदेशे यजमानावस्थानाय
सूर्यस्य रश्मिभिर्यतध्वं स्पर्द्धां कुरुते ॥

इत्येकादशेऽध्यायेऽष्टमोऽनुवाकः ॥

अष्टमे आसन्दीस्थापनादिमन्त्रा उक्ताः ॥ नवमेऽनुवाके मन्त्रपर्या-
हविषामङ्गभूता मन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ सोमपानां संख्यापस-
पर्णं सपवित्रेत्पनुवाकमुक्त्वेति ॥ अनुवाकपाठस्तु ॥

सवित्राप्रसवित्रासरस्वत्यावाचा । त्वष्टारूपैः पूष्णाप-
शुभिरिन्द्रयास्मै । बृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणेनौजसाग्निना ते-
जसा सोमन राज्ञा । विष्णुना देवतया दशम्ये मंथजं विष्णुमाप्स-
वानीति ॥

प्रसवित्रा प्रसवकारिणा सवित्रा देवेन सह सर्पामीति शेषः ।
वाचा वाग्रूपया सरस्वत्या सह प्रसर्पाणि रूपैरपलक्षितेन त्वष्ट्रा सह
पशुभिरुपलक्षितेन पूष्णा देवेन सह सर्पामि । अस्यै अनेनेन्द्रेण सह
प्रसर्पामि । ब्रह्मणा ब्रह्माभिमानिना बृहस्पतिना सह प्रसर्पामि । वलवता
वारुणेन सह प्रसर्पामि । तेजस्विनाग्निना सह प्रसर्पामि । यजमानेन
सोमेन सह प्रसर्पामि । दशम्या दशसंख्यापूर्विकया विष्णुनामिकया देवतया
सह प्रसर्पामि । इमं प्रकृतत्वेन पुरोवर्तितं यज्ञात्मकं विष्णुमाप्सवानि ।
प्राप्नुयाम् ।

इत्येकादशेऽध्याये नवमोऽनुवाकः ॥

नवमे सः सृषां हविषामङ्गभूता मन्त्रा उक्ताः ॥ दशमेऽनुवाके राजसूयान्तर्गतसौत्रामणिमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ पक्वौदनं विरूढा-
श्चूर्णं कृत्वाश्विभ्यां पच्यस्वेति संसृजतीति । विशेषणप्रवृद्धान्ग्रीहीन् वर्द्ध-
नास्थूलतरानित्यर्थः । तांश्चूर्णयित्वा सम्यक् पच्यमानेऽग्ने सन्ध्यात् ॥
पाठस्तु ॥

अश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सूत्राम्णे ।
पच्यस्वेति ।

अश्विभ्यामस्विनोरर्थाय पच्यस्व पार्कं कुरु । सरस्वत्यै देव्यै पार्कं
कुरुष्व । इन्द्राय सूत्राम्णे शोभनत्राणाय । सूत्रातव्याय वा । भैषज्यं
हीदं कर्तव्यम् ॥ कात्यायनः ॥ केशैः परिरुक्तं पुनानि वायोः पूत इति ॥
पाठस्तु ॥

वायांः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्ग सोमो अतिस्मृतः । इन्द्रस्य
युज्यः सन्वेति ।

वायोः सम्बन्धी सोमः पवित्रेण कुशमयेन पूतः शोधितः सोमः
प्रत्यङ्ग अभोमुखः सन् । अतिस्मृतः । अतिक्रमनगतः । कीदृशः सोमः
इन्द्रस्य युज्यः योगार्हः सखा सखिभूतः ॥ कात्यायनः ॥ गृहे गृह्णातीति
कुविदङ्ग्रेतीति ॥ पाठस्तु ॥

कुविदङ्गयवमन्तो यवं चित्रथादान्त्यनुपूर्वं विपूय । इहे-
हैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नम उक्तिं न जग्मुः । उप-
याम गृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सूत्राम्णे ।
युवः सुरामश्विना नमुचा आसुरसचा । विपिनाशुभस्पती
इन्द्रं कर्मस्वावतम् । पुत्रमिव पितरा अश्विनो भेन्द्रावधुः
काव्यैर्दः सनाभिः । यत्सुरा मंघ्यपिबशर्चाभिः सरस्वती
त्वा मघवन्नभिष्णगिति ।

अग हेसोम ! यथा केचिज्जना यवमन्तो बहुवयसम्पन्नाः सन्तः
कुर्वन्तु बहुलं यवं चित्रम्बं यवमयं सस्यं अनुपूर्वम् आनुपूर्वेण विपूय

पृथक् कृत्य दांति लुनन्ति । यथा ये यजमाना बर्हिषो यज्ञस्य नम उक्तिं नमस्कारवचनं हविलक्षणान्नम् च वचनम् वा न जग्मुः । न प्राप्नुवन्ति । एषां यजमानानां सम्बन्धीनि भोजनानि संभोग्यानि धनानि इह एतस्मिन् यजमाने कृणुहि कुरु । अतः आश्विनमरश्वत्पादिदेवतार्थे त्वं सोम उपयामेन पात्रेण गृहीतो भवामि । अभ्यपादिदेवतार्थे त्वां सादयामीति बोधः । हेअश्विना ! अश्विनौ युवं युवां नमुचौ आसुरे अमुरे स्थितं सुरामं सुष्टुरमणीयं सोमं स चासह विपिपाना विविधं पिबन्तौ शुभस्वती शोभनस्य कर्मणः पालकौ कर्मसु निमित्तभूतेषु इन्द्रमवतं रक्षतम् । पुत्रमिव पितरौ यथा मातापितरौ पुत्रं पालयतः । तथा उभा उभावप्यश्विनौ हेइन्द्र ! त्वा त्वाम् । आवथुः । अवतुः । पालितवन्तौ काव्यैः कवीनां मन्त्र-द्रष्टृणां सम्बन्धिभिर्मन्त्रैर्द॑मनाभिः कर्मभिः आश्विनाविन्द्रस्य रक्षणं कृतवन्ताविति कथमवगम्यते । तदुच्यते । यद्यस्मात् कारणात् । हेइन्द्र ! त्वं शचीभिः कर्मभिः सनमुचिवधादिकर्माणि कुन्वेत्यर्थः । सुरामं सुष्टु रमणीयं सोमं व्यपिवः विशेषेण पानं कृतवानमि । हेमयवन् ! इन्द्र त्वा त्वां सरस्वती देवी अभिष्णकं शुद्धं कृतवती तस्मादश्विनौ त्वामवतामिति सम्बन्धः ॥

इत्येकादशऽध्याये दशमोऽनुवाकः ।

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ॥

पुमर्थाश्चतुरो दद्याद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्री-

वीरवृक्षभूपालसाम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्य-

विरचिते वेदार्थप्रकाशे काण्वसंहिता-

भाष्ये एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

अथ शुक्लयजुर्वेदकाण्वमन्त्रभाष्ये द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

यस्य निश्चसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ॥

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

एकादशाध्याये राजसूयमन्त्रा निरूपिताः ॥ अथ द्वादशाध्यायप्रभृति-
ष्वेकोनविंशान्तेष्वष्टस्वध्यायेष्वग्निचयनाङ्गभूता मन्त्रा निरूप्यन्ते ॥ तत्र द्वादशे-
ऽध्याये उष्वासम्भरणादिमन्त्रा वर्ण्यन्ते ॥ तत्र प्रथमेऽनुवाके सावित्रहोमा-
भ्यादानमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ अष्टगृहीतं जुहोति सकृद् गृह्णन्
युञ्जान इति ॥ जुह्वामष्टवारं गृहीतमाज्यम् अजस्रं धारापातं यथा भवति तथा
हस्तमुन्नतं कुर्वञ्जुहुयात् । अत्रेदं चिन्तनीयम् । युञ्जान इत्यादीनां मध्ये
किंपैकैकं मन्त्रमुच्चार्य जुहुयात् । अहोस्विन् सर्वान्मन्त्रानुच्चार्येति । तत्राह ।
यो उपादयौ उभौ पक्षौ क्रमेण । तैत्तिरीये प्रहश्येते ॥ यं कामयेत् पापीयान्
स्यात् स्यादित्येकैकस्य जुहुयादाहुतीभिरेवैतं गृह्णानि पापीयान् भवति । भवत्यथ
यो यज्ञस्यैषानि क्रान्तिरिति ॥ अस्यायमर्थः ॥ पापीयानतिदरिद्र इत्यर्थः ।
एकैकमन्त्रम् उच्चार्य होमे सति श्रेष्ठाभावात् परस्परमपरक्ताभिराहुतिभिरेनं
यजमानमपगृह्णाति । धनादपेतं करोति । ततो दरिद्रो भवति । वर्मायान्
वसुमन्तरः । सर्वाण्युच्चार्य होमे तु मन्त्राणां परस्परसंश्लेषादेकपेवाऽऽहुत्या
यजमानमभिक्रमयति । अभिव्याप्तं करोति । ततो धनिको भवति । अपिच
येयम् अभिक्रमणे हेतुरेकाहुतिरेषा यज्ञस्यैवाग्निचयनरूपस्याऽभिक्रान्तिः स्वा-
धीनता भवति । तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ युञ्जानः प्रथमं मनस्तत्त्वाय सविता
धिया । अग्नेज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरदिति ॥ सविता सर्वस्य
प्रेरकः परमेश्वरः प्रथमम् अग्निचयनविषये मनो युञ्जानः समाधानो
धिया इष्टकादिविषयाणि ज्ञानानि तत्त्वाय तनित्वा विस्तार्य । अग्नेज्योतिर्नि-
चाय्य निवीयमानस्य सम्बन्धि तेजः सकलानां कर्मणां साधनभूतं निश्चिन्त्य
पृथिव्या अध्याभरत् भूमेरुपर्यानीतवान् ॥ अथ द्वितीयः ॥ युक्तेन मनसा वयं
देवस्य सवितुः सवे । स्वर्गेयाय शक्त्येति ॥ सवितुर्देवस्य सवे प्रसवे वर्तमाना
वयं युक्तेन इन्द्रियेभ्यो नियमितेन मनसा स्वर्गेयाय स्वर्गे लोके गीयमानस्या-
ऽग्नेः सम्पादनाय शक्त्या यथासामर्थ्येन प्रयत्नं कुर्म इति शेषः ॥ अथ तृती-

यः ॥ युक्ताय सविता देवान्स्वर्यतो धिया दिवम् । बृहज्ज्योतिः करिष्यतः
 सविता प्रमुवाति तानिति ॥ सविता तानिन्द्रियविशेषान् प्रकर्षेण मुवाति ।
 किं कृत्वा । देवान्मनसा युक्ताय क्रीडापरत्वेन चपलानिन्द्रियविशेषान्मनसा
 विपयेभ्यो युक्ताय नियम्य । कीदृशानिन्द्रियविशेषान् स्वर्यतः स्वर्गं गच्छतः ।
 स्वर्गप्राप्त्यर्थमुद्यतानित्यर्थः । बृहज्ज्योतिः मौढं चीयमानस्याग्नेस्तेजोऽधिया
 दिवं करिष्यतः । तच्चदिष्टकादिविषयया प्रजया द्योतमानं कर्तुमुद्यतान् ॥
 अथ चतुर्थः ॥ युञ्जते मन उत युञ्जते धियो विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
 विहोत्रा दधे वयुना विदेक इन्मही देवस्य सवितुः परिप्टुतिरिति ॥ विप्रस्य
 ब्राह्मणस्य यजमानस्य सम्बन्धिनौ विप्रा ऋत्विजो मनो युञ्जते प्रथमं स्वकीयं
 मनो विषयभ्यो निवर्त्य समाहितं कुर्वन्ति । उत अपिच धियः । इष्टकादि-
 विषयाणि ज्ञानानि युञ्जते सम्पादयन्ति । कीदृशस्य विप्रस्य बृहतः । प्रभू-
 ताग्निचयनोद्योगेनाभिवृद्धस्य विपश्चितो विदुषः प्रयोगाभिज्ञस्य । कीदृशा
 विप्राः होत्रा होमशीलाः कर्मण्यालस्यराहिता इत्यर्थः । एक एव सविता विदधे
 सर्वमिदं निर्मितवान् । कीदृशः । वयुनावित् । ऋत्विग्यजमानाभिप्रायाभिज्ञः ।
 कथमेक एव सर्वमिदं कृतवानिति न विस्मयेतव्यम् । यतः सवितुर्देवस्य परि-
 प्टुतिर्मही परितः सर्वेषु देवेषु श्रूयमाणाऽस्तु ॥ अथ पञ्चमः ॥ युजे वां
 ब्रह्म पूर्वं नमोभिर्विश्लोक एतु पथ्येव सूरः । शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य
 पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुरिति ॥ यजमानः पत्नी चेत्युभौ
 वां युवयोरर्थं पूर्वं पुरातनैर्महर्षिभिरनुष्ठितम् । ब्रह्म पश्चिमवृद्धमग्नि-
 चयनारूपं कर्म नमोभिर्नमस्कारपूर्वकैरिष्टकोपधानादिभिर्युजे सम्पादयामि ।
 तस्मिन् सम्पादिते मणि सूरः पण्डितस्य यजमानस्य श्लोकः कीर्तिर्वेतु ।
 लोकद्वयं प्राप्नोतु । पथ्येव पथोऽनपेता पथ्या यज्ञमार्गप्रवर्तिका आदृतिर्यथा लोक-
 द्वयं व्याप्नोति तद्वत् । अमृतस्य मरणगहितस्य प्रजापतेः पुत्रा ये देवा दिवि
 भक्षन्ति दिव्यानि धामानि स्थानानि आतस्थुर्मधिष्ठितवन्तस्ते विश्वं सर्वं देवा
 अस्य यमानस्य क्लोकं शृण्वन्तिवति सम्बन्धः ॥ अथ षष्ठः ॥ यस्य प्रयाण-
 मन्वन्व इद्ययुर्देवा देवस्य महिमानमोजमा । यः पार्थिवानि विपमे स एतशो
 रजाःमि देवः सविता महित्वनेति ॥ यस्य सवितुः प्रयाणं प्रवृत्तिम् अन्ये
 सर्वे देवा अनुषयुरित् एव यमनुगच्छन्त्येव । अस्य देवस्य महिमानं महत्त्वं
 यः ओजमा बलेन अनुषयुः । यः सविता पार्थिवानि पृथिवीगतानि रजांसि

परमाणुन् विममे विशेषेण गणयित्वा निश्चितवान् । स सविता देवो महित्वना
महत्त्वेन एतशो व्याप्तवान् । एति सर्वत्र गच्छतीत्येतशः ॥ अथ सप्तमः ॥ देवसवितः
प्रसुव यज्ञं प्रसुव यज्ञपतिं भगाय । दिव्यो गन्धर्वः केतपूः केतन्नः पुनातु वाचस्पति-
र्वा वन्नः स्वदत्विति ॥ हे सवितर्देव प्रसुव प्रकर्षेण प्रेरय, यज्ञपतिं यजमानं च प्रसुव
किमर्थं भगाय सौभाग्याय । दिव्यः दिवि स्वर्गे भवः कश्चिद्गन्धर्वः केतपूः
केतं परकीयचित्ते वर्तमानं ज्ञानं पुनाति शोधयतीति केतपूः । स च नो-
ऽस्माकं केतं चित्तवर्तिज्ञानं पुनातु भ्रान्तिपरिहारेण शोधयतु । वाचस्पतिर्नो-
ऽस्मदीयां वाचं स्वदतु स्वादयतु ॥ अथाष्टमः ॥ इमन्नो देव सवितर्यज्ञं प्रणय
देवाव्यम्सखिविदं सत्राजितं धनजित् स्वर्जितम् । ऋचा स्तोमं समर्धय
गायत्रेण रथन्तरं बृहद्गायत्रवर्तनि स्वाहेति ॥ हे सवितर्देव नोऽस्मानिमं यज्ञं
प्रणय प्रापय । कीदृशं देवाव्यम् । देवानामवनाहो देवाव्यस्तम् । सखिविदं
स्वनिष्पादकं यजमानं वेत्तीति सखिवित् तं सखिविदम् । सत्राणि द्वादशाहा-
दीनि यजति वशीकरोतीति सत्राजित् तं सत्राजितम् । तानि हि चीयमान-
मग्निमपेक्षन्ते । धनं जयति फलरूपेण सम्पादयतीति धनजित् तं धनजितम् ।
स्वः स्वर्गं जयति फलत्वेन सम्पादयतीति स्वर्जित् तं स्वर्जितम् । किञ्च
ऋचा स्तोत्रहेतुमामाधानभूतया यया ऋचा स्तोमं स्तोत्रं समावृत्तिरूपं सङ्घातं वा
समर्धय समृद्धं कुरु । गायत्रेण साम्ना सह रथन्तरं साम समर्धय । गायत्र-
सामैव वर्तनी मार्गो यस्य बृहत्तः साम्नस्तद्गायत्रवर्तनि गायत्रमाममहितं बृहत्
साम समर्धय ॥ कात्यायनः ॥ देवस्य त्वेत्याभ्रिमादायेति ॥ अत्राभ्रिशब्देन
उभयतस्तीक्ष्णीकृतोऽरत्रिममाणको वैणवो दण्डविशेष उच्यते । तं गृह्णीयादि-
त्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ता-
भ्याम् । आददे गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वत् । पृथिव्याः सधस्थ्यादग्निं पुरी-
ष्यमङ्गिरस्वदाभर । त्रेण्डुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत् । अभ्रिरसि नार्यसि त्वया
वयमग्निः शकेम खनितुम् । सधस्थ आ जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वादिति ॥ सवितु-
र्देवस्य प्रसवे प्रेरणे सति अश्विनोः सम्बन्धिभ्यां बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्यां
साङ्गुलिभ्यां हस्ताभ्यां साधनभूताभ्यां सहायभूतेन गायत्रेण छन्दसा युक्तः
सन्नाददे स्वीकरोमि । तत्र दृष्टान्तः । अङ्गिरस्वत् । अङ्गिरस ऋषयः पूर्वं
यथा त्वां स्वीकृतवन्तस्तद्वत् । हे अभ्रे, त्वं पृथिव्याः सधस्थादुत्सङ्गात् पुरी-
ष्यमग्निमाभर पुरीषशब्देन पांसुभूता शुष्का मृदुच्यते । तदर्हतीति पुरीष्यो-

ऽग्निः । मृदमादायोखां कृत्वा तस्यामग्निरेव स्थाप्यते । अतो मृदग्न्योरभे-
दोपचारेण मृदाहरणमेवाग्न्याहरणमिति विवक्षित्वा पुरीष्यमग्निमाहरेत्युच्यते ।
अयं चोपचारोऽग्निचयनप्रकरणे सर्वत्रानुवर्तिष्यति । तथा त्रैष्टुभेन छन्दसा
मृदाहरणमिति । अङ्गिरस्वादिति दृष्टान्तः पूर्ववत् । अङ्गिरसि । उखां निर्मातुं
खननीया खननेदुः काष्ठविशेषोऽसि । नार्यसि । स्त्रीरूपा चाऽसि । यद्वा न
विद्यते अरिर्यस्याश्च सेयं नारीति छान्दसं रूपम् । खननकाले पाषाणादिना
तव नास्ति कुण्ठीभाव इत्यर्थः । किञ्च त्वया युक्ता वयं सधस्थे पृथिव्या
उत्सङ्ग आसमन्ताद् अग्निं पुरीष्यं खनितुं जागतेन छन्दसा वयं शकेम शक्ता
भवेम । अङ्गिरस्वादिति पूर्ववत् ॥ कात्यायनः ॥ हस्त आधाय सेतेनाभिमन्त्र-
यतीति ॥ पाठस्तु ॥ हस्त आधाय सविता विश्वदध्निः हिरण्मयीम् । अग्ने-
ज्योतिर्निचारय पृथिव्या अध्याभरदानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वादिति ॥ सविता
मेरकः परमेश्वरो हस्ते हिरण्मयीं सुवर्णमयीम् । अङ्गिरम् । आधाय स्थापयि-
त्वा विश्वदधारयन् । अग्नेः सम्बन्धि ज्योतिर्निचारय निश्चिष्य पृथिव्या
अधि भूमेः सकाशादानुष्टुभेन छन्दसा आभरत् । आहृतवान् । अङ्गिरस्वादि-
ति पूर्ववत् ॥ इति द्वादशेऽध्याये प्रथमोऽनुवाकः ॥ १.२ ॥ १ ॥

प्रथमेऽनुवाके सावित्रहोमाऽध्यादानमन्त्रा उक्ताः ॥ द्वितीये तु मृदा-
क्रमणमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ अश्वप्रभृतींश्च प्रत्यृचं प्रतूर्तं युआथां
योगे योग इतीति । चशब्दादनुमन्त्रयत इत्यनुवर्तते । तृणेनाश्वगर्दभाजान्
प्रतूर्तमिति । एतासां मध्ये क्रमेणैकैकयर्चा अभिमन्त्रयते ॥ प्रथमाया ऋचः
पाठस्तु ॥ प्रतूर्तं वाजिन्नाद्रव वरिष्ठामनुमन्त्रयत् । दिवि ते जन्म परममन्तरिक्षे
तव नाभिः पृथिव्यामधिपोनिरिदिति ॥ संबन्धते मम्यगूभज्यते मृदग्रहणा-
ऽर्थं मेच्यते इति खननयोग्या भूमिः संवत् । मा च पाषाणाद्यभावेनाति-
प्रशस्तत्वाद्वरिष्ठेत्युच्यते । हे वाजिन् क्षीघ्रगामिन्नश्व, वरिष्ठां संवत्तमनु-
लक्ष्य प्रतूर्तमाद्रव क्षीघ्रमागच्छ । ते तवाश्वस्य दिवि द्युलोके परमम् उत्कृष्टं
जन्म रोहितादिदेवाश्वरूपेण द्युलोके जन्म प्रसिद्धम् । रोहितेन त्वाग्निर्देवता
गमयन्विस्वाद्यैर्हते वै देवाश्वा इति हि श्रुत्यन्तरेणास्मात्तम् । तथा तव नाभि-
रन्तरिक्षे वर्तते । नियुञ्जामका हि वायोरश्वास्तदीयं रथं वहन्तोऽन्तरिक्षे स-
ञ्चरन्ति । तद्रूपेणाऽस्यान्तरिक्षवर्तित्वम् । नाभिश्चन्द्रेण कृत्स्नं शरीरमुपलक्ष्यते ।
इदमपि पृथिव्यामधिपोनिर्भूमेरुपरि तव निवासस्थानम् । तत्तु प्रत्यक्षमेव दृश्य-

ते । एवमहिमा त्वं शीघ्रमागच्छेति पूर्ववान्वयः ॥ अथ द्वितीयः ॥ युञ्जा-
था२ रामभं युवमस्मिन् यामे वृषण्मू । अग्निं भरन्तमस्मयुमिति ॥ हे वृषण्मू
यागनिष्पादनद्वारा फलागिवर्षणनिमित्तभूतं वमु धनं ययोस्तौ तत्सम्बोधनम् ।
एवं भूलोके दम्पती युवं युवाम् । अस्मिन् यामे । यामो मृदग्रहणरूपो नियम-
विशेषः । तस्मिन्निमित्तभूते सति रामभं गर्दभं युञ्जाथां बध्नीतम् । कीदृशं
रामभम् । अग्निं भरन्तम् । अग्निहेतुं मृदं बोधुं समर्थम् । अस्मयुम् । अस्मान्
आत्मनात्मन इच्छन्तम् । अस्मद्विनापिणमिसर्थः ॥ अथ तृतीयः ॥ योगे योगे
तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे । सखाय इन्द्रमृतय इति ॥ युज्यतेऽनुग्रीयत इति
योगः कर्म । योगे योगे तत्तत्कर्मणि तवस्तरं बलवत्तरम् । अजमिन्द्रम् ।
इन्द्रियपदम् ऊनये रक्षणाय वाजे वाजे तत्तदन्नप्राप्तिनिमित्तं सखायः
परस्परमल्यं प्रामा ऋन्विग्यजमाना वयं हवामहे । आहुयामः ॥

कात्यायनः ॥ अनुपस्पृशन्ननुक्रमयेत्तानुचः प्रतिमन्त्रं प्रतूर्वन्तूर्वनरिक्षं
पृथिव्याः सधस्थादितीति ॥ अश्वादीनां स्पर्शनमकुर्वन्नध्वयुः प्रतूर्वन्नित्येषां
क्रमेणैकैकेन मन्त्रेण एतान् अश्वादीन्मृदाक्रमणार्थं निर्गमयेत् ॥ तत्र
प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ प्रतूर्वन्नित्येषां क्रमशस्तीरुद्रस्य गाणपत्यं मयोभूरस्माकं
ति ॥ हे अश्व एवागच्छ । किं कुर्वन् प्रतूर्वन् । विरेकिनः शत्रून् हिम-
न् । अशस्तीरवक्रामन् भ्रतूर्वयः क्रियमाणा अपकीर्तीर्निवारयन् । रुद्रस्य
क्रूरदेवस्य यद्गाणपत्यं पशुममृदपतित्वं तस्माद्गाणपत्यादागत्य मयोभूरस्माकं
सुखं भावयन्नेवागच्छ ॥ अथ द्वितीयः ॥ उर्वन्तरिक्षं बीहि स्वास्तिगव्यृति-
रभयानि कृष्णन् पूष्णा मयुजा महेति ॥ स्वस्तीत्यविनाशी । विनाशगहितो
गव्यृतिः क्रोशद्रयोपलक्षितो मार्गो यस्य स स्वास्तिगव्यृतिः । हे गर्दभ, तादृश-
स्त्वं मयुजा । महायभूतो वर्तत इति मयुकृ तादृशेन पूष्णा पोषकेण सह
अभयानि कृष्णन् व्याघ्रादिभ्यो भयपरिहारं कुर्वन्तुरु विस्तीर्णमन्तरिक्षं बीहि
विशेषेण प्राप्नुहि ॥ अथ तृतीयः ॥ पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यमङ्गिरस्व-
दाभरेति ॥ हे अङ्गिरः, त्वं पृथिव्याः भूमेः सधस्थात् खानितुं योभ्यात्
कृत्स्नापि मृत्तिका सह तिष्ठति मिलित्वा वर्तते यत्रेति सधस्थः प्रदेशविशेष-
स्तस्मात् प्रदेशात् पुरीष्यं पांशुरूपं शुष्कमृत्तिकायोग्यम् । यद्वा, पुरीष्यं
पशव्यं पशुषु हितम् । पशवो वै पुरीषमिति श्रुतेः । तादृशमग्निमन्यवस्थान-
हेतुभूतां मृदम् आभराहर । तत्र दृष्टान्तः । अङ्गिरस्वन् । यथा पूर्वतद्विरस

ऋषयोऽग्निमाहृतवन्तस्तद्रु ॥ कात्यायनः ॥ अग्निषु ज्वलत्सु पिण्डं गच्छन्त्यग्निं
पुरीष्यमितीति ॥ अग्निषु ज्वलितेषु सत्सु उच्यते चतुरस्रे अग्नेऽवस्थिते
मृन्मयपिण्डं मसध्वर्त्वादयो गच्छेयुः ॥ पाठस्तु ॥ अग्निं पुरीष्यमाद्भिरस्व-
दञ्जेम इतीति ॥ पुरीषार्हमग्निम् अद्भिरस्वत अञ्जेमः । अभिगच्छामः ॥

कात्यायनः ॥ पुरुषमीक्षते अग्निं पुरीष्यमितीति ॥ वं कञ्चित् पुरुषं पश्येत् ॥
पाठस्तु ॥ अग्निं पुरीष्यमाद्भिरस्वद्विरिष्याम इतीति ॥ भरिष्यामः सम्पादया-
मः । शेषं पूर्ववत् ॥ कात्यायनः ॥ बल्मीकवपामीक्षतेऽन्वग्निरिति ॥ बल्मीक-
स्य योऽवयवस्तत्रत्येनाभिदृढः सयं वपा । तां छिद्रमहितां वपां स्वीकृत्य
तस्याश्छिद्रेण मृन्मयपिण्डं पश्येत् ॥ पाठस्तु ॥ अन्वग्निरुपमाग्रमन्वग्न्यदन्वहानि प्रथमो
जातवेदाः । अनुसूर्यस्य पुरुषा च रक्षीननुद्यावापृथिवी आतन्त्येति ॥ अय-
मग्निरुपमाग्र उषःकालानामग्रमुपक्रमन्वग्न्यदनुक्रमेण प्रकाशितवान् । जाते
वेत्ति वेदयतीति वा जातवेदाः अयमग्निः । प्रथमो मुख्यः सन्नहान्यप्यन्व-
ग्न्यत् । किञ्च सूर्यस्य पुरुषा पुरुषं बहून् रक्षीनन्वग्न्यत् । किञ्च द्यावा-
पृथिव्यादुभे अप्यनुक्रमेणातन्त्य आततान सर्वतो व्याप्तवान् ॥ कात्यायनः ॥
आगत्येत्यभिपन्नयनेऽश्वमिति ॥ पाठस्तु ॥ आगत्य वाज्यवानः सर्वा मृधो
विधूनुते । अग्निः सधस्थे महति चक्षुषा निचिकीषते इति ॥ वाजी वेगवानय-
मश्वः अध्वानं मार्गम् आगत्य प्राप्य सर्वा मृधः मार्गश्रमादीन् सर्वान् वाय-
कान् विधूनुते विकम्पयति विनाशयतीत्यर्थः । यत्र पांभवः महावतिष्ठते
तन्स्थानं सधस्थम् । महति विस्तीर्णे सधस्थे अयमश्वश्चक्षुषा दृष्ट्वा अग्निमाग्नेहेतुं
मृदं निचिकीषते नितरां चेयहेतुं सम्पादयितुमिच्छति ॥ कात्यायनः ॥ आ-
क्रम्येत्यनेन पिण्डमधिष्ठापयतीति ॥ आक्रम्येत्यनेन मन्त्रेण पिण्डस्योपरि
अश्वस्य पादप्रक्षेपणं कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥ आक्रम्य वाजिनं पृथिवीमग्निमिच्छ
रुचा त्वम् । भूमेर्दृत्वाय नो ब्रूहि यतः खनेम तं वयमिति ॥ हे वाजिन्नश्व-
त्वं पृथिवीं भूमिमाक्रम्य पादस्पर्शेन परीक्ष्य रुचा स्वकीयेन तेजसा पानम-
हानेनेत्यर्थः । अग्निमिच्छ अग्निहेतुं मृदं निश्चेतुम् । भूमेर्दृत्वाय वरणं कृत्वा
दृष्ट्वेत्यर्थः । नोऽस्माकं ब्रूहि । अयं प्रदेशोऽग्निहेतुर्मृदयोग्य इति कथय । यतो-
ऽस्मात् प्रदेशात् तादृशी मृल्लभ्यते तं प्रदेशं वयं खनेम खननमवधारणं
करवामः ॥ कात्यायनः ॥ द्यौस्त इति पृष्ठस्योपरि पाणि धारयतीति ॥
अश्वस्य पृष्ठभागे समाननार्थं हस्तमवस्थापयेत् ॥ पाठस्तु ॥ द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी

सधस्थमात्मान्तरिक्षं समुद्रो योनिः । विख्याय चक्षुषा त्वमभितिष्ठ पृत-
न्यत इति ॥ हे अश्व, द्यौर्भूलोकस्ते तव पृष्ठं, पृथिवी भूलोकस्तव सधस्थम्
अग्निना सहावस्थानम्, अन्तरिक्षलोकस्तव मध्यशरीरवर्ती जीवात्मा, समुद्र-
स्तव योनिर्जन्मकारणम् । अप्सुयोनिर्वा अश्व इति श्रुतेः । एवं स्तूयमानस्त्वं
चक्षुषा विख्याय उखायोग्यां मृदं विलोक्य पृतन्यतः संग्रामं कर्तुमिच्छतः शत्रून्
राक्षमादींस्तस्यां मृदि गूढरूपेणावस्थितानभितिष्ठ पादेनाक्रम्य विनाशय ॥
कात्यायनः ॥ अनुपस्पृशन्नुत्क्रामेत्युत्क्रामयतीति ॥ अश्वस्पर्शनमकुर्वन्नस्मात्
स्थानात् तप अश्वं निर्गमयेत् ॥ पाठस्तु ॥ उत्क्राम महते सौभगायास्मा-
दास्थानाद् द्रविणोदा वाजिन । वयं स्याम सुमती पृथिव्या अग्निं खनन्त
उपस्थे अस्या इति ॥ हे राजिन्नश्व, द्रविणोदा धनप्रदस्त्वं मे महते सौभगा-
यास्मद्भाग्याभिवृद्ध्यर्थमस्मादास्थानात् खननप्रदेशादुत्क्राम उद्गतो भव । वयं
तु पृथिव्याः सुमतावनुग्रहे चित्ते स्याम तिष्ठम । कीदृशा वयम् । अस्या
उपस्थे पृथिव्या उपरिभागे । अग्निहेतुं मृदं खनन्तः खनितुमुद्योगं कुर्वन्तः ॥
कात्यायनः । अयैनमश्वमुत्क्रमन्तमभिमन्त्रयन्ते ॥ पाठस्तु ॥ उदक्रमीद् द्रविणो-
दा वाज्यर्वाकः मुलोकः मुकृतं पृथिव्याम् । ततः खनेम सुमतीकमग्निं स्वो-
रुहाणा अधिनाकमुत्तममिति ॥ द्रविणोदाः यागकरणे धनप्रदः, वाजी तथैव
अन्नप्रदः । अर्वा गमनकुशल इत्यर्थः । तादृशोऽयमश्वः, अस्मात् स्थानादु-
दक्रमीदुदगच्छत् । म उत्क्रान्तोऽश्वः मुकृतः आक्रमणेन विरुद्धराक्षमानपहत्य
सुपृष्ठं कृतं मुशोभनं लोकं खननप्रदेशं, पृथिव्याम् । आ अकः अकरोत् ।
ततस्तस्मात् प्रदेशादग्नियोग्यां मृदं वयं खनेम । कीदृशमग्निम् । सुमतीकं
सुमुखम् । खनितारो वयं कीदृशाः । स्वः सर्गमधिरुहाणा आरोहणं कुर्मः ।
कीदृशं स्वर्गं, नाकम् । कं मुखम् अकं दुःखं तद्रहितम् । उत्तमम् । उत्कृष्टम् ॥
कात्यायनः ॥ मृदमभिजुहोत्या त्वा जिघर्षीति । व्यतिषक्ताभ्याम् ऋग्भ्यामिति ॥
संश्लिष्टाभ्याम्, आ त्वा जिघर्षीति द्वाभ्याम् ऋग्भ्यां पूर्वोक्तां मृदमभिलक्ष्य
जुहुयात् ॥ तत्र प्रथमाया ऋचः पाठः ॥ आ त्वा जिघर्षि मनसा घृतेन प्रति-
क्षियन्तं भुवनानि विश्वा । पृथुं तिरश्चा वयमा बृहन्तं व्यचिष्टमग्नौ रभसं
दृशानामिति ॥ हे अग्ने, त्वामहं मनसा ध्यायन् घृतेनाज्येनाजिघर्षि आक्षारयामि
दापयामि वा । कीदृशं त्वाम् । विश्वाभुवनानि प्रतिक्षियन्तं सर्वेषु लोकेषु प्रत्येक-
मेव निवसन्तम् । तिरश्चा पृथुं तिर्यक्प्रमाणेन विस्तृतम् । वयसा बृहन्तं

वयउपलक्षितेन कालेन प्रौढम् । पृथग्लिखनेन बहुदेश-व्याप्तिः । अनेन च बहुकालव्याप्तिः । व्यचिष्टम् अतिशयेन विविधमञ्जनं गमनं यस्य तादृशम् । अत्रैः श्रद्धया निक्षिप्तैर्घृतादिभिर्हविर्भिः शीघ्रमेव दृशानं पुनर्वर्द्धमानतया दर्शनीयम् ॥ अथ द्वितीया ॥ आविश्वतः प्रत्यचं जियर्म्यरक्षमा मनसा तज्जुपेत । मर्यश्रीः स्पृहयद्र्णोऽग्निर्नाभिमृशे तन्वा जर्भुराण इति ॥ अहं विश्वतः सर्वतः प्रत्यञ्चं जियमिं अरक्षमा मनसा प्रत्यगात्मनया प्रतीयमानमग्रिमाजियमिं घृतेन हविषा अक्षारयामि । सोऽप्यग्निः । अरक्षमा मनसा क्रौर्यरहितेन चित्तेन तदघृतं जुपेत सेवताम् । अयमग्निः मर्यश्रीः । मर्यैर्मनुष्यैराश्रयणीया श्रीर्यस्य सः । स्पृहयद्र्णः । यजमानैः स्पृहणीयरूपः । नाभिमृशे अभिमर्शनं कर्तुं न शक्यः । कीदृशः । तन्वा शरीरेण जर्भुराणः । जृभि गात्रविनामे । इतस्ततश्च गच्छन् । ईदृशमग्रिम । आजियमीति योजना ॥ कात्यायनः ॥ अभ्या पिण्डं त्रिः परिन्विवति परिव्राजपतिरिति वहिरुत्तरग्येति ॥ खननमाधनभृतयाभ्या मृत्पिण्डस्थः । तो रेखात्रयं कुर्यात् । तत्प्रकार उच्यते । परिव्राजपतिरित्येतयर्चा प्रथमा रेखा । ततो वहिस्तस्या उत्तरग्या परि त्वाग्ने इत्यनयर्चा द्वितीया रेखा । ततोऽपि च तथा अप्युत्तरग्या त्वमग्ने इत्यनयर्चा तृतीया रेखेति ॥ तत्र मध्यमायाः पाठः ॥ परिव्राजपतिः कविरग्निर्हव्यान्पक्रमीत् । दधद्रन्तानि दाशुप इति ॥ अयमग्निर्हव्यानि परितः अक्रमीत् स्वीकृतवान् । कीदृशोऽग्निर्वाजपतिर्वाजम्यान्त्रस्य पालयिता । कविः क्रान्तदर्शी । किं कुर्यात् । दाशुपे हविर्दत्तवने यजमानाय रत्नानि रमणीयानि धनानि दधन् प्रयच्छन् ॥ अथ द्वितीयः ॥ परि त्वाग्ने पुरं वयं विपश्महस्य धीमहि । धृषद्र्णं दिवे दिवे भेत्तारं भङ्गुरावतामिति ॥ हे महस्य, बलेन मध्यमानोऽग्निः सहस्यः । हे तादृशाग्ने, वयं त्वां परित्रीमहि परितः स्वीकुर्यः । कीदृशं त्वां पुनः अपेक्षितफलानां पूरयितारं, विप्रं ब्राह्मणजात्यभियानम् । देवं धृषद्र्णं दिवे दिवे प्रतिदिनं भङ्गुरावतां भेत्तारम् । भञ्जनीयं पापं भङ्गुरं, तदेवामस्तीति भङ्गुरावन्तो विघातकारिणो राक्षसादयः । तेषां विनाशयितारम् ॥ अथ तृतीयः ॥ त्वमग्ने द्युभिस्त्वमाशुशुक्षणिस्त्वमज्यस्त्वममनस्परि । त्वं वनेभ्यस्त्वमोषधीभ्यस्त्वन्वृणान्त्वृपते जायसे शुचिरिति ॥ हे अग्ने, त्वं द्युभिः स्वर्गनिमित्तभूते तत्र तत्र यागशालासु जायसे । किञ्च त्वम् आशुशुक्षणिः । आर्द्रा भूमिं शीघ्रमेव शोषयिता जायसे । त्वमज्यो वर्षधाराभ्योऽशानिरूपेण जायसे । त्वममन-

स्पर्श पाषाणस्योपरि पाषाणान्तरमंग्रहतेन जायमे । त्वं बनेभ्यो दावाग्नि-
रूपेण जायसे । त्वम् ओषधीभ्यः । ओषधिकार्येभ्यो भेषजेभ्यस्त्वं जायमे ।
यद्वा वंशद्वयसंघर्षणादिभ्यो जायसे । नृणां नृपते सर्वेषामपि मनुष्याणां पालक
त्वं गृहे गृहे शुचिः शुद्धिहेतुः सञ्जायसे । पुनर्दाहेन मृन्मयमित्यादिश्रुतिः ॥
इति द्वादशेऽध्याये द्वितीयोऽनुवाकः ॥ १२ ॥ २ ॥

द्वितीयेऽनुवाके मृदाक्रमणमन्त्रा उक्ताः ॥ तृतीये तु मृत्खननमन्त्रा
उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ अभ्या पिण्डं खनति देवस्य त्वेतीति ॥ पाठस्तु ॥
देवस्य त्वा सवितुः प्रसवेऽश्विनोर्बाहुभ्यां पूष्णो हस्ताभ्याम् । पृथिव्याः
सधस्थादग्निं पुरीष्यमाङ्गिरस्वत् खनामि । ज्योतिष्मन्तं त्वाग्ने सुप्रतीक-
मजस्रेण भानुना दीद्यतम् । शिवं प्रजाभ्योऽहिष्मन्तं पृथिव्याः सधस्थादग्निं
पुरीष्यमाङ्गिरस्वत् खनाम इति ॥

देवस्य त्वेत्यादिव्यख्यातः समानार्थः । हे अग्ने, पृथिव्याः सधस्थादुपरिपदे-
शात् पुरीष्यं पांसुयोग्यमग्निं त्वाम् अङ्गिरम् इव वयं खनामि । कीदृशं
त्वाम् । ज्योतिष्मन्तं ज्वालायुक्तम् । सुप्रतीकं सुमुखम् । अजस्रेण भानुना
निरन्तरं वर्तमानेन रश्मिना दीद्यतं प्रकाशमानम् । प्रजाभ्यः परोपकारार्थं शिवं
शान्तम् । अत एवाऽहिष्मन्तं हिमामकुर्वन्तं, पृथिव्याः सधस्थादग्निं पुरीष्यं
पशुभ्यो हितम् । अङ्गिरसा तुल्यं खनामः ॥ कात्यायनः ॥ तस्मिन्त्यनेन तदेव
शोधयेत् ॥ तत्र पाठस्तु ॥ अपां पृष्ठममि योनिरग्नेः समुद्रमभितः पिन्वमानम् ।
वर्धमानो महाऽआ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिष्णा प्रथस्वेति ॥ हे पुष्करपर्ण
त्वमपां पृष्ठममि पृष्ठवदुपरिभागे वर्तमानमसि । तथा अग्नेर्योनिरसि । अग्नि-
हेतोर्मृदः कारणमसि । तथा समुद्रमभितः पिन्वमानं समुद्रममानस्य तटाक-
जलस्य परितः प्रीतिकरम् । किञ्च वर्द्धमानो महानिति लिङ्गव्यत्ययः । पुष्करे
उदके आसमन्तान्महत्प्रभूतं सद्रद्धमानं वृद्धियुक्तमसि । एवम्भूतस्त्वं वरिष्णा
वरिष्ठया दिवो मात्रया आकाशस्य परिमाणेन प्रथस्व । विस्तृतं भव ॥ का-
त्यायनः ॥ आलभते उभे शर्म च स्थ इतीति ॥ उभे कृष्णाजिनपुष्करपर्णे
संस्पृशेत् ॥ पाठस्तु ॥ शर्म च स्थो वर्म च स्थोऽच्छिद्रे बहुले उभे । व्यच-
स्वती संवसाथां भृतमग्निं पुरीष्यम् । संवसाथाः स्वाविदा समीची उरसा
त्मना । अग्निमन्तर्भरिष्यन्ती ज्योतिष्मन्तमजस्रमिति ॥ हे कृष्णाजिनपुष्कर-
पर्णे, उभे युवां शर्म च स्थः । अग्नेः सुखकारिणी अपि भवथः । तथा वर्म

च स्थः । कवचवद्रक्षके अपि भवथः । कीदृशे अच्छिद्रे छिद्ररहिते बहुले वि-
स्तीर्णे व्यचस्वती आच्छादनप्रकारवती पुदिकादिमदृशे इत्यर्थः ॥ तथाविधे
युवां संवसाथां सम्यगिदमाच्छादयतम् । ततः पुरीष्यमग्निं भृतं धारयतम् ।
किञ्च युवां त्मना स्वयमेव परनिरपेक्षे सती उरमा उरःमदृशेन भवदीयस्वरू-
पेण संवसाथां सम्यगाच्छादयतम् । कीदृशे युवाम् । स्वर्विदा स्वर्गविदा
स्वर्गलाभमाधने इत्यर्थः । समीची मृद्वन्धनायानुकूले । अजस्रमित् निरन्तर-
मेव ज्योतिष्मन्तं तेजस्विनमग्निम् । अन्तं स्वोदरे भरिष्यन्ती धारयिष्यन्ती ॥
कासायनः ॥ पिण्डं पुरीष्योऽमीति पाणिभ्यां परिगृह्णातीति ॥ उखानिर्माण-
योग्यं मृन्मयं पिण्डं हस्ताभ्यां गृह्णीयात् ॥ पाठस्तु ॥ पुरीष्योऽसि विश्व-
भरा अथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने इति ॥ हे मृत्पिण्ड, त्वं पुरीष्योऽसि ।
पुरीषस्य बहलस्य पांसोर्योग्योऽसि । अत एव विश्वभरा इति । विश्वं
कृत्स्नम् उखारूपं विभर्तीति विश्वभरा । हे अग्ने, अथर्वाख्य ऋषिः प्रथमः
इतरेभ्यः पूर्वभावी मन् त्वां निरमन्थत् । निःशेषेण मथितवान् । अत्रापि
अथर्वणः प्रथमनिर्मथनं नाम प्रथमदर्शनमित्यभिप्रायं तैत्तिरीये दर्शयति ॥
अग्निर्देवेभ्यो निलीय तमर्थवान्प्रपश्यदथर्वा त्वा प्रथमो निरमन्थदग्ने इत्याह य
एवैनमन्प्रपश्यत्तेनैव सम्भरतीति ॥ कासायनः ॥ त्वामग्न इति षडभिः सर्वं
सकृदधृत्वा पुष्करपर्णे निदधाति । त्वामग्न इत्यादिमन्त्रपदकेन मृन्मयं पिण्डं
निःशेषमेकवारमपहृत्य पञ्चपत्रे निदध्यात् ॥ तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ त्वामग्ने
पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत् । मृद्मो विश्वस्य वाघत् इति ॥ हे अग्ने, अथर्वाख्य
ऋषिः पुष्कराद् अधि पञ्चपत्रस्योपरि त्वां निरमन्थत् । निःशेषेण मथितवान् ।
अत एव तैत्तिरीयैः समास्नातम् । पुष्करपर्णे ह्येतमुपश्रितमविदन्मिति ॥ की-
दृशात् पुष्करात् । मृद्वर्धे उत्तमाङ्गवत्प्रशस्तात् । विश्वस्य वाघतः सर्वस्य जगतो
बाहकात् । इहेति पुष्करपर्णे अग्निमथनेन यज्ञनिष्पादनद्वारेण सर्वं जगन्निर्वह-
ति ॥ अथ द्वितीयः ॥ तमु त्वा दध्यङ्क्वः पुत्र ईधे अथर्वणः । वृत्रहणं
पुरन्दरमिति ॥ हे अग्ने अथर्वणः पुत्रो दध्यङ्गनामक ऋषिः । तमु त्वा ईधे
तमेव त्वां प्रज्वालितवान् । कीदृशं त्वां वृत्रहणं मेघनाशिनम् । पुरन्दरं रुद्र-
रूपेणामुरसम्बन्धिनां त्रयाणां पुराणां विदारयितारम् ॥ अथ तृतीयः ॥
तमु त्वा पाध्यो वृषा समीधे दस्युहन्तमम् । धनञ्जयः रणे रण इति ॥ हे
अग्ने, पाध्यनामकः कश्चिदृषिः तष्टु त्वा समीधे तमेव त्वां प्रज्वालितवान् ।

कीदृशः पाथ्यः । वृषा श्रेष्ठः । कीदृशं त्वाम् । दस्युहन्तमं तस्कराणामति-
शयेन हन्तारम् । रणे रणे धनञ्जयं तेषु तेषु संग्रामेषु धनस्य जेतारम् । अथ
चतुर्थः ॥ सीद होतः स्व उ लोके चिकित्वान्त्सादया यज्ञं सुकृतस्य योनौ ।
देवावीर्देवान् हविषा यजास्यग्ने बृहद्यजमाने वयोधा इति ॥ हे होतः होम-
निष्पादकाग्ने चिकित्वान् अभिज्ञः त्वं स्व उ लोके स्वकीय एव स्थाने उत्तर-
वेदिरूपे सीद उपविश । यज्ञं च मे सुकृतस्य योनौ पुण्यकर्मणोपयोग्यस्थाने
सादय स्थापय । देवानेति कामयत इति देवावीर्देवप्रियः । तादृशस्त्वं देवान्
हविषा यजामि पूजयामि । किञ्च, हे अग्ने, त्वं यजमाने दीर्घमायुः धाः
स्थापय ॥ अथ पञ्चमः ॥ नि होता होतृषदने विदानस्त्वेपो दीदिवांऽअमदत्सु-
दक्षः । अदब्धव्रतप्रमनिर्वमिष्ठः सहस्रम्भरः शुचिजिह्वोऽअग्निरिति ॥ हे होतृ-
षदने होमनिष्पादकस्य योग्यस्थाने उत्तरवेदिरूपे अग्निर्नितराममदत्समीपे
स्थितवान् । कीदृशोऽअग्निर्होता । देवानामाह्वता । विदानः स्थानाऽअभिज्ञः ।
त्वेपो दीप्तिमान् । दीदिवान् देवेभ्यो हविषो दाता । मुदक्षः । कुशलः ।
अदब्धव्रतप्रमनिः । अहिंमिने कर्मणि प्रकृष्टा मनिर्यस्य स तथाविधः । वमिष्ठो-
ऽतिशयेन वामयिता । सहस्रमंखयाकानि हवींषि पोषयतीति सहस्रम्भरः
शुचिः शुद्धा होमयोग्या जिह्वा ज्वाला यस्यामौ शुचिजिह्वः ॥

अथ षष्ठः । सःसीदस्व महांसि शोचस्व देववीतमः । विधूममग्ने अरुषं
मियेध्य सृज प्रशस्त दर्शतमिति ॥ हे अग्ने, त्वमस्मिन् पुष्करपर्णे सीदस्व ।
सम्यगुपविश । त्वमनेन क्रतुहेतुत्वान्महानसि । देवान् वेति गच्छतीति देव-
वीः । अतिशयेन देववीरिति देववीतमः । तादृशस्त्वं शोचस्व दीप्यस्व । हे
मियेध्य मेघार्ह । प्रशस्त उत्कृष्टाग्ने । दर्शतं दर्शनीयम् अरुषमारोपणमत्युग्रं धूमं
विशेषेण सृज ॥ इति द्वादशोऽध्याये तृतीयोऽनुनाकः ॥ १२ ॥ ३ ॥

तृतीयेऽनुवाके मृत्वननमन्त्रा उक्ताः । चतुर्थे मृदाहरणमुच्यते ॥ कात्यायनः ॥ अपः
इव भ्रेऽवनयत्यपोदेवीरिति ॥ अवटे उदकान्यासिञ्चेत् ॥ पाठस्तु ॥ अपो देवीरूपसृजं
मधुमतीरयक्ष्माय प्रजाभ्यः । तासां मास्थानादुज्जिह्वतामोपधयः सुपिप्पळा इति ॥
हे अश्वर्यो, त्वं देवीः देवनशीला अपः उपसृज अस्मिन्नवटप्रदेशे आसिञ्च ।
कीदृशीरपः मधुमतीः मधुरसोपेताः । किमर्थम् । अयक्ष्माय प्रजाभ्यः प्रजाना-
मारोग्याय । तासां सिक्तानामपां स्थानात् सुक्षेत्ररूपादस्मात् खननमदे-
शात् सुपिप्पळाः शोभनफलाः ओषधय आसमन्तादुज्जिह्वताम् । उत्पद्यताम् ॥

कात्यायनः ॥ सं त इति जलमवाक्षिपतीति ॥ पाठस्तु ॥ सं ते वायुर्मातरिश्वा
 दधातूत्तानाया हृदयं यद्विकस्तम् । यो देवानां चरसि प्राणथेन कस्मै देव
 वषळस्तु तुभ्यमिति ॥ हे पृथिवि, उत्तानाया ऊर्ध्वाभिमुखेनावस्थितायास्ते
 तव हृदयं हृदयसदृशं खननस्थानं विकस्तम् । अवतरूपेण विकसितं तत्स्थानं
 वायुः सन्दधातु पूर्वोक्तेन जलप्रक्षेपणेन तृणादिपूरणेन च वायुर्यथा पूर्वं तथा
 सम्यक्करोतु । कीदृशो वायुर्मातरिश्वा । मातर्यन्तरिक्षे सर्वप्राणिनां नियन्तरि
 परिच्छेदकारिणि क्षेत्रे तिष्ठतीति मातरिश्वा । हे देव, द्योतनादिगुणयुक्त
 वायो, यस्त्वं देवानामग्न्यादीनां प्राणथेन प्राणभावेन चरसि व्यवहरसि
 तस्मै प्रजापतिरूपाय तुभ्यं वषळस्तु । वषट् भवतु ॥ कात्यायनः ॥ पुरस्ता-
 त्पश्चादक्षिणउत्तरश्चास्तीर्णयोरन्तानुगृह्णाति मुजात इति ॥ पूर्वदिचतुर्दिक्षु प्र-
 सारितकृष्णाजिनपुष्करपर्णयोरन्तानूर्ध्वाभिमुखं समूहेत् ॥ पाठस्तु ॥ मुजातो
 ज्योतिषा सह शर्म वरूथमामदस्वरिति ॥ मुष्टृप्त्रोऽग्निर्ज्योतिषा स्वकीय-
 तेजसा सह शर्म सुखं यथा भवति तथा । स्वः स्वर्गमदृशं वरूथं कृष्णाजिन-
 निर्मितं गृहम् । आमदन् आमीदतु ॥ कात्यायनः ॥ त्रिवृता मुञ्जयोक्त्रेणो-
 पनक्षति वामो अग्रे इति ॥ त्रिगुणेन मुञ्जनिर्मितेन दाम्ना बध्नीयात् ॥
 पाठस्तु ॥ वामो अग्रे विश्वरूपं संव्ययस्व विभावमो इति ॥ हे विभावमो
 विभैव वसु दीप्तिर्वसु धनं यस्याऽसौ विभावमुष्मादृशस्त्वं हे अग्रे, विश्व-
 रूपं बहुप्रकाररूपं वामः कृष्णाजिनरूपं वस्त्रं संव्ययस्व । सम्यक्परि-
 धानं कुरु ॥ कात्यायनः ॥ उत्तिष्ठेत् पिण्डपादापोदु तिष्ठेतीति ॥ मृत्पिण्डं
 स्वीकृत्य उत्तिष्ठेत् ॥ पाठस्तु ॥ उदु तिष्ठ स्वध्वराऽत्रा नो देव्या धिया ।
 दृशे च भामा बृहता सुशुकनिराग्ने याहि सुशस्तिभिरिति ॥ हे स्वध्वर,
 सुष्टुषागविधारकाग्ने, उदु तिष्ठ उत्तिष्ठैव । उत्थाय च नोऽस्मान् देव्या
 देवनस्वभावया क्रीडापरया बुद्ध्या अव पालय । हे अग्रे, बृहता भामा प्रौढ-
 तेजसा सुशुकनिः सुष्टुयुवां रश्मीनां वनिता यः सोऽयं सुशुकनिः । तादृशः
 सन् सुशस्तिभिः शोभनीयकीर्तिभिः सह दृशे सर्वैः प्राणिभिर्द्रष्टुमायाहि आगच्छ ॥
 कात्यायनः ॥ ऊर्ध्वबाहुः प्राचं प्रगृह्णात्यूर्ध्व ऊपुण इतीति ॥ बाहुद्रयम्पूर्वा-
 ऽभिमुखे कृत्वा मृत्पिण्डं प्रागञ्चनं स्वीकुर्यात् ॥ ऊर्ध्व ऊपुण ऊतये तिष्ठा देवो
 न सविता । ऊर्ध्वो वाजस्य सनिता यदाग्निभिर्वापिर्वाविह्वयामह इति ॥ हे
 अग्ने, नोऽस्माकम् । ऊतये रक्षणाय ऊर्ध्व ऊपु तिष्ठ ऊर्ध्व एव सञ्चरस्थितो भव ।

क इव । देवो न सविता । यथा देव ऊर्ध्वः सन् अस्मान् रक्षति तद्वत् । यस्त्वमूर्ध्व-
स्सन् बाजस्य सनिताऽन्नस्य दाता भव । यद्यस्मात् कारणाद् अजिभि-
र्मात्राभिर्यज्जैर्वाघाज्जिह्ववाहकैर्ऋग्भिर्विह्वयामहे । वयमेवंविधं त्वामाह्वयामः ।
तस्मादूर्ध्व एव तिष्ठेति पूर्वत्रान्वयः ॥ कात्यायनः ॥ अश्वमभृतिभिर्मन्त्रयते
सज्जान स्थिरो भव शिवो भवेतीति । सज्जान इति मन्त्रत्रयेण त्रीन्अश्वरासभा-
ऽजान् क्रमेणाभिमन्त्रयेत् ॥ तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ सजातो गर्भोऽसि रोदस्योरग्रे
चारुर्विभृत ओषधीषु । चित्रः शिशुः परितमाऽस्यक्तून् प्र मातृभ्यो
आधिकनिक्रदद् गा इति ॥ हे अग्रे, स त्वं रोदस्योर्द्यावापृथिव्योर्गर्भः सन् इदानीं
जातः । कीदृशस्त्वम् । चारुः पूजनीयः । ओषधीषु विभृतः पूज्यमानोऽस्योषधी-
षु दृश्योऽग्निरूपः सन् विशेषेण पोषिताश्चित्रो नानावर्णाभिस्त्राभिर्विविध-
रूप इदानीमुत्पन्नत्वाच्छिशुः । अक्तूनि लिङ्गव्यत्ययः । अक्तूनि राज्युप-
लक्षितानि तमांसि परिहरन् तादृशस्त्वं मातृभ्य ओषध्यर्थं वाऽधिकनिक्रदद् ।
अधिक्रन्दन् । प्रगाः । प्रकर्षेण गच्छेः । यथा लोके शिशुर्मातरमुद्दिश्य क्रन्दन्ना-
गारेण गच्छेत्तद्वदित्यर्थः ॥ अथ द्वितीयः ॥ स्थिरो भव वीड्वङ्गोऽआशुर्भव
वाज्यर्वन् । पृथुर्भव सुपदस्त्वमग्रे पुरीषवाहण इति ॥ अग्रे हेतुभूतं पुरीषं यो गर्दभो
बहति । तादृश हे गर्दभ, इयति गच्छतीत्यर्वन् गमनकुशलस्त्वं स्थिरो भव चलन-
रहितः । कीदृशः । वीड्वङ्गो दृढकायः । आशुर्वेगवान् । वाजी अन्नहेतुश्च ।
पृथुर्विस्तीर्णपृष्ठः । सुपदोऽग्नेः सुखामनश्च । पुरीषशब्देन पांसुरूपा सुरूपा
सुदुच्यते । तां बहतीति पुरीषवाहणः । तादृशश्च भव ॥ अथ तृतीयः ॥
शिवो भव प्रजाभ्यो मानुषीभ्यस्त्वमङ्गिरः । मा द्यावापृथिवी अभिशोचीर्मा-
ऽन्तरिक्षं मा वनस्पतीनि ॥ अङ्गिरोभिर्ऋषिभिः पूर्वं सम्पादितत्वादङ्गसौष्ठव-
वत्त्वाद्वाऽयमग्निरङ्गिरः । अग्ने योऽज इत्यभिधानात् । हे अङ्गिरो, मे त्वं
मानुषीभ्यो मनोः सम्बन्धिनीभ्यः प्रजाभ्यः शिवः शान्तो भव । किञ्च, त्वं
द्यावापृथिव्यावभिलक्ष्य माभिशोचीः । शोकं सन्तापं माकर्षीः । तथान्तरिक्षं
माभिशोचीः । तथा वनस्पतीन् माभिशोचीः ॥ कात्यायनः ॥ धारयत्येषा-
मुपरिपिण्डमुपस्पृशन् प्रैतु वाजी वृषाग्निमित्तस्त्वखरयोरिति ॥ अश्वादीनां
त्रयाणाम् उपरिभागे मृन्मृयं पिण्डं स्पर्शनमकुर्वन्नध्वर्युर्धारयेत् । तत्राश्वगर्दभ-
योरुपरि प्रैतु वाजी वृषाग्निमित्येतद्द्रव्येन मन्त्रेण धारयेत् ॥ तत्र प्रथममन्त्र-
पाठस्तु ॥ प्रैतु वाजी कनिक्रदन्नानदद्रासभस्पत्वा । भरन्नग्निं पुरीष्यं मा

पाद्यायुषः पुरेति ॥ अयं बाजी तुरगः प्रैतु प्रकर्षेण गच्छतु । किं कुर्वन् ।
 कानिक्कदत् । अत्यन्तं द्वेषितं कुर्वन् । रासभश्च प्रैतु । नानदत् । गर्दभनादिनेन
 नादयन् पत्वा पतनशीलः । पुरीष्यमग्निं दाहकं भरक्षपि । आकर्मसमाप्तेः
 स्वकीयादायुषः पुरा मापादि । अपमृत्युना मृतो नाभूत् ॥ अथ द्वितीयः ॥
 वृषाग्निं वृषणं भरक्षपां गर्भं समुद्रियमिति ॥ वृषा वीर्येण सेचने समर्थो
 गर्दभः वृषणं फलाभिवर्षणसमर्थमग्निं भरन् वहन् गच्छन्निति शेषः । कीदृश-
 मग्निम् । अपां गर्भं मेघस्थानां जलानां मध्ये विशुद्धपम् । समुद्रियं समुद्रे
 बडवाऽग्निरूपेणोत्पन्नम् ॥ कात्यायनः ॥ अग्न आयाहीत्याहृत्य खरादिति ॥
 गर्दभात् सकाशान्मृत्पिण्डमाहरेत् । वीतय इति मन्त्रशेषः ॥ हे अग्ने, त्व
 वीतये प्रजननाद्यर्थम् आयाद्यागच्छ ॥ कात्यायनः ॥ छागस्य ऋतः सत्यमित्य-
 ऽभिधारयअपतीति ॥ अजस्योपरि खरादाहृतं मृत्पिण्डं धारयन् प्राग्द्वार-
 षर्यन्तादागच्छेयुः ॥ पाठस्तु ॥ ऋतः सत्यमृतः सत्यमिति ॥ अत्र ऋतसत्य-
 शब्दाभ्याम् आदित्वाग्नी विवक्षितौ । तादृगुभयरूपमध्याहरमिति शेषः ।
 ऋतः सत्यमिति पुनर्वचनमादरार्थम् ॥ कात्यायनः ॥ पुरुषमीक्षते पूर्ववदग्निं
 पुरीष्यमिति ॥ अङ्गिरस्वद्धाराम इति मन्त्रशेषः । पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥
 कात्यायनः ॥ उत्तरत आहवनीयस्योद्धूतावोक्षिते सिकतोपकीर्णे परिहृते
 प्राग्द्वारे पिण्डं निदधात्योषधय इतीति ॥ आहवनीयस्योत्तरभागे यस्मिन् देशे
 मृत्पिण्डो निधीयते तस्मिन् देशे उच्छिष्टादिशङ्कोपेतस्योपरितनृणाद्युपेत-
 मृद्भागस्यापसारणं कर्तव्यम् । तदेतदुद्धननं कृत्वा उदकेनावक्ष्य सिकतां प्रसार्य
 तस्य देशस्य परितः प्रावरणं कृत्वा प्राग्द्वारं कुर्यात् । तस्मिन् द्वारे, ओषधय
 इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां मृत्पिण्डं निदध्यात् ॥ अत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥
 ओषधयः प्रतिमोद्ध्वमग्निमेतः शिवमायन्तमभ्यत्र युष्माः । व्यस्यन् विश्वा
 अनिरा अमीवा निषीदन्नो अपदुर्मनि जहीति ॥ हे ओषधयः, अत्रास्मिन् देशे
 युष्मानभिमुखीकृत्य आयन्तमागच्छन्तं शिवं शान्तमेनं प्रतीयमानम् अग्निं
 प्रतिमोद्ध्वम् । हे अग्ने, निषीदन्नस्मिन् प्रदेशे निविशमानस्त्वं विश्वाः सर्वाः
 न त्रिद्यते इरा अन्नं याभिस्ताः । अनिरा अनावृष्ट्यादयस्ता व्यस्यन् निरस्य
 अमीवाः व्याधीश्च निरस्यन् नोऽस्माकं दुर्मतिं प्रमादालस्यादियुक्तां बुद्धिम्
 अपज्जहि ॥ अथ द्वितीयः ॥ ओषधयः प्रतिमृञ्णीत पुष्पवतीः सुपिप्पलाः ।
 अयं वो गर्भं ऋत्विषः प्रजः सधस्यमासददिति ॥ पुष्पवतीः प्रजास्तपुष्पोपेताः

सुपिप्पलाः शोभनफलोपेताः, हे ओषधयः, एनमग्निं प्रतिगृह्णीत स्वीकुरुत ।
 अयमग्निर्वो युष्माकं ऋत्विजः । ऋतुकालीनो गर्भो भूत्वा मत्तं पुरातनं सधस्थं
 गर्भयोग्यस्थानम् आसदत् । प्राप्तवान् ॥ कात्यायनः ॥ विपाजसेति प्रमुच्यैन-
 मिति ॥ एनं मुञ्जयोक्त्रेण बद्धं मृत्पिण्डं त्रिस्त्रिमेव ॥ पाठस्तु ॥ विपाजसा
 पृथुना शोथुचानो बाधस्व द्विषो रक्षो अमीवाः । सुशर्मणो बृहतः शर्मणि स्वा-
 मग्नेरहः सुहवस्य प्रणीताविति ॥ हे अग्ने, पृथुना विस्तृतेन पाजसा बलेन
 शोथुचानोऽखन्नं दीप्यमानस्त्वं द्विषः शत्रून् रक्षो राक्षसान् अमीवा रोगांश्च
 विशेषेण बाधस्व । अहं सुशर्मणः शोभनमुखस्य बृहतः प्रौढस्य सुहवस्य
 मुखेनाह्वातुं शक्यस्याग्नेः प्रणीतौ परिचर्यायां सत्त्वां तस्मिन् मुखे स्यां सर्वदा-
 ऽवतिष्ठेयम् ॥ इति द्वादशाध्याये चतुर्थोऽनुवाकः ॥ १२ ॥ ४ ॥
 चतुर्थानुवाके मृत्पिण्डाहरणमुक्तम् । पञ्चमे उग्वानिर्माणमुच्यते ॥ कात्यायनः ॥
 आपो हि ष्ठेति पर्णकषायपक्वमुदकमसिञ्चतीति ॥ पालाशसम्भवं कषायं तैल-
 मुदकम् आपो हि ष्ठेति तृचेन मृन्मयपिण्डे आसिञ्चेत् ॥ तत्र प्रथमायाः पाठस्तु
 आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जं दधातन । महेरणाय चक्षस इति ॥ हि-
 शब्द एवकारार्थः, प्रसिद्धार्थो वा । हे आपः, यूयमेव मयोभुवः स्थ । मुख-
 स्य पानादिहेतुत्वेन मुखोत्पादकत्वं प्रसिद्धम् । तास्तादृश्यो यूयं नोऽस्मानूर्जे
 रसाय भवदीयरसभावपिष्ट्यो भवथ । अनुभवार्थं दधातन स्थापयत । किञ्च
 महे महते रणाय रमणीयाय चक्षमे दर्शनाय दधातन अस्मात्परतः साक्षात्कार-
 योग्यान् कुरुतेत्यर्थः ॥ अथ द्वितीयः ॥ यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजय-
 ते इ नः । उशतीरिव मातर इति ॥ वो युष्माकं शिवतमः सुखैकहेतुर्यो रसो-
 ऽस्ति स इहास्मिन् कर्मणि नोऽस्मान् तस्य भाजयत । तत्र दृष्टान्तः । उश-
 तीरिव मातरः कामयमानाः प्रीतियुक्ता मातरो यथा स्वकीयास्तन्यं पाययन्ति
 तद्वत् ॥ अथ तृतीयः ॥ तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ । आपो
 जनयथा च न इति ॥ तस्मा अरं गमाम वः । अलं भृशं प्राप्नुमः । क्षयायेति
 षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । यस्याहुतिपरिणामभूतस्य क्षयस्य निवासस्यैकदेशेन यूयं जिन्वथ
 तर्पयथाकिञ्च, हे आपो, यूयं नोऽस्मान् जनयथ । प्रजोत्पादनं कुरु ॥ कात्यायनः ॥
 अजलमग्निं सृजति । मित्रः सृज्येति ॥ पाठस्तु ॥ मित्रः सृज्य पृथिवीं
 भूमिं च ज्योतिषा सह । सृजातं जातवेदसमयक्ष्माय त्वा सृजामि प्रजाभ्यः
 इति ॥ मित्र आदित्यो देवः पृथिवीं विस्तृतं शुलोकं भूमिं च भूर्लोकं ज्योतिषा

ज्वलनाख्येन तेजसा सःसृज्य एकीकृत्य मध्यम अध्वर्यवे प्रयच्छत्विति शेषः । अह-
मपि मुजातं जातवेदसम् अजलोमाख्यमग्निं त्वां प्रजाभ्यः प्रजानाम् अयस्माय
रोगाभावाय सःसृजामि ॥ कात्यायनः ॥ शर्करयोरसाश्मचूर्णे रुद्राः सःसृ-
ज्येतीति ॥ पाषाणसहिता मृत्तिका शर्करा । तथा अयःसारेण अश्मचूर्णेः
संसृजेत् ॥ पाठस्तु ॥ रुद्रा सःसृज्य पृथिवीं बृहज्ज्योतिः समीधरे । तेषां
भानुरजस इच्छुक्रो देवेषु रोचत इति ॥ रुद्रनामकदेवाः पृथिवीम् उखानिष्पा-
दकां मृदं संसृज्य बृहज्ज्योतिः प्रौढमग्निं समीधरे सम्यग्दीपितवन्तः । तेषां
रुद्राणां चायमग्निर्भानुना समानः अजस्रं निरन्तरं शुक्रो दीप्तियुक्तो देवेषु
रोचते शोभते ॥ कात्यायनः ॥ सःसृष्टामिति संयौति ॥ सःसृष्टामिति मन्त्रत्रय-
स्य प्रतीकमिदम् । पूर्वोक्तामजलोमशर्करादियुक्तां मृदमुखाकरणाय मृदु यथा
भवति तथा हस्ताभ्यां संयवनं कुर्यात् ॥ तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ सःसृष्टां
वसुभी रुद्रेर्धरैः कर्मण्यां मृदम् । हस्ताभ्यां मृद्रीं कृत्वा मिनीवाली कृणो तु
तामिति ॥ पूर्वमन्त्रे रुद्रशब्देन वसवोऽप्युपलक्षिताः । अतो धीरैर्बुद्धिमाद्भि-
र्वसुभी रुद्रेश्च सःसृष्टां शर्करादिभिः संयोजितां कर्मण्याम् उखां कर्मयोग्यां मृदं
मृत्तिकां । मिनीवाली इन्दुकलायुक्ताऽमावस्याभिमानिनी देवता । पुनरपि
स्वहस्ताभ्यां तां मृदं मृद्रीं मृदुरूपां कृत्वा कृणोतु । उखां कृणोतु ॥ अथ
द्वितीयः ॥ मिनीवाली मुकपर्दा मुकुरीरा स्वौपशा । मा तुभ्यमदिने ममोखां
दधातु हस्तयोरिति ॥ मिनीवाली मुकपर्दा । कपर्देति स्त्रीणामुचितः ।
केशवन्धधिया शोभनः कपर्दो यस्याः सा मुकपर्दा । मुकुरीरशब्देन स्त्रीभिः
शृङ्गारार्थं शिरसि धार्यमाणं कालकमुच्यते । शोभनं कुरीरं यस्याः सा मु-
कुरीरा । उपनतं कुरुते यैरवयवविशेषैस्ते सर्वेऽप्युपशास्तेषां समूह औपशः ।
शोभन औपशो यस्याः सा स्वौपशा । हे महि, प्रौढे अदिने अखण्डनीये ।
अदितिरदितिर्देवमातेतियास्कवचनात् । तादृशि हे भूमे । सा मिनीवाली तुभ्यं तव
हस्तयोः उखामादधातु स्थापयतु ॥ अथ तृतीयः ॥ उखां कृणोतु शक्त्या बाहुभ्या-
मदितिर्धिया । माता पुत्रं यथोपस्थे साऽग्निं विभर्तु गर्भं एति ॥ यामदितिर्धिया
बुद्धिकौशलेन बाहुभ्यां हस्तकौशलेन च मामुखां कृणोतु । यथा लोके माता स्वकीयं
पुत्रम् उपस्थे उत्सङ्गे विभर्ति तथेयमदितिर्गर्भे उत्सङ्गे तमग्निमाकर्मसमाप्तेर्विभर्तु
धारयतु ॥ कात्यायनः ॥ यजमान उखां करोति मृदमादाय मत्स्यं शिर
इतीति ॥ यजमानोऽध्वर्युणा दत्तां मृदं मृदीत्वोखां कुर्यात् ॥ असीति मन्त्र-

शेषः । हे मृत्पिण्ड, त्वं मत्स्य यज्ञस्य शिरः स्थानमसि ॥ कात्यायनः ॥ वसव-
स्त्वेति प्रथयतीति ॥ वसवस्त्वेत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रथितामुखां कुर्यात् ।
उखानिर्माणे तेषाम् अवान्तरविनियोगस्तु कात्यायनसूत्रे द्रष्टव्यः ॥
तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ वसवस्त्वा कृण्वन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद्
ध्रुवासि पृथिव्यासि धारया मयि प्रजाः रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यं
सजातान् यजमानायेति ॥ हे उखे त्वां वसवो देवाः सहकारिणो गायत्रेण
छन्दसा सह अङ्गिरस्वत् अङ्गिरस इव कृण्वन्तु निष्पादयन्तु । अतस्त्वं
ध्रुवासि दृढासि । पृथिवीरूपा चासि । किञ्च मयि उखाकर्तारि प्रजां पुत्रादि-
कां धारय स्थापय । तथा रायस्पोषं धनस्य पुष्टिं च धारय । गौपत्यं गवां
पतित्वं च मयि स्थापय । तथा सुवीराणां कर्म सुवीर्यम् । तच्च मयि स्थापय ।
सजातान् समानोदरे जातान् भ्रातृन् यजमानाय मह्यं धारय ॥ अथ द्विती-
यः ॥ रुद्रास्त्वा कृण्वन्तु वैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवास्यन्तरिक्षमसि धार-
या मयि प्रजाः रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यं सजातान् यजमानायेति ॥ पूर्व-
वद् व्याख्येयम् । अथ तृतीयः ॥ आदित्यास्त्वा कृण्वन्तु जाग्रे । छन्दसाङ्गिर-
स्वद् ध्रुवासि द्यौरसि । धारया मयि प्रजाः रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यं
सजातान् यजमानायेति ॥ पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ अथ चतुर्थः ॥ विश्वे
त्वा देवा वैश्वानराः कृण्वन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वद् ध्रुवासि दिशोऽसि ।
धारया मयि प्रजाः रायस्पोषं गौपत्यं सुवीर्यं सजातान् यजमानायेति ॥
विश्वेषां नराणां सम्बन्धिना वैश्वानरा एवम्भूता विश्वे देवाः, हे उखे, त्वां
कृण्वन्तु । अन्यत् समानम् ॥ कात्यायनः ॥ वर्तिः सर्वतः करोत्यदित्यै रास्ने-
तीति ॥ रसनासदृशी तादृशी गलतः रेखा वर्तिस्ताम् उखायाम् उत्तरभागे
सर्वतः कुर्यात् । असीति मन्त्रशेषः । हे रज्जो, त्वम् अदित्यै भूमिरूपाया
उखाया रास्नासि काञ्चीगुणस्थानीयरशना भवसि ॥ कात्यायनः ॥ बिलं वि-
गृह्णासदितिष्ट इतीति ॥ उखाया अन्तश्छिद्रं कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥ अदितिष्टे
बिलं गृह्णासदिति ॥ हे उखे, ते तव बिलम् अन्तश्छिद्रमदितिर्भूमिर्गृह्णातु
करोतु ॥ कात्यायनः ॥ कृत्वायेति निदधातीति ॥ निष्पन्नामुखां स्थापयेत् ॥
पाठस्तु ॥ कृत्वाय सा महीमुखां मृन्मयीं योनिमग्नये । पुत्रेभ्यः प्रायच्छददितिः
श्रपयानितीति ॥ सेयमदितिः मृन्मयीं मृत्कायां योनिम् अग्नये अग्नेः कारण-
भूतामुखां कृत्वा फलं निष्पाद्य पुत्रेभ्यः स्वपुत्रसदृशेभ्यः श्रपणकारिभ्यः

प्रायच्छत् । प्रादात् । किं ब्रुवन्ती । तदुच्यते । श्रपयानिति । श्रपयन्तु भवन्त इति ब्रुवन्ती ॥ कात्यायनः ॥ सप्तभिरश्वशकृद्भिरुखां धूपयति । दक्षिणा-
ऽग्निदीप्तिरेकैकेन वसवस्त्वेति प्रतिमन्त्रमिति ॥ वसवस्त्वेत्यादिभिर्मन्त्रैः क्रमणैकैकेन मन्त्रेण दक्षिणेनाग्नौ प्रज्वलितैरश्वसम्बन्धिभिः शकृद्भिः उखां संधूपयेत् ॥ तेषां पाठस्तु ॥ वसवस्त्वा धूपयन्तु गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद् रुद्रास्त्वाधूपयन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत् । आदित्यास्त्वा धूपयन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद्विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा धूपयन्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत् । इन्द्रास्त्वा धूपयतु वरुणस्त्वा धूपयतु विष्णुस्त्वा धूपयत्विति ॥ हे उखे त्वामष्टौ वसवः सहकारेण गायत्रेण छन्दसा सहाङ्गिरस इव धूपयन्तु । अश्वशकृ-
ज्जन्पेन धूमेन धूपयन्तु संस्कुर्वन्तु । एवमुत्तरेष्वपि षट्सु योज्यम् ॥ इति द्वादशोऽध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ॥ १२ ॥ ५ ॥

पञ्चमे उखानिर्माणमुक्तम् ॥ षष्ठेऽनुवाके तु तन्मंस्कार उच्यते ॥ कात्यायनः ॥ आभ्या श्वभ्रं चतुरस्रं खनत्यदिनिष्टेति ॥ खननमाधनेन काष्ठविशेषेण अग्निचतुष्टयोपेते तमवटं खनेत् ॥ पाठस्तु ॥ अदिनिष्टा देवी विश्वदेव्या-
वती । पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वत् खनत्ववेति ॥ विश्वेषु देवेषु साधवो विश्वदेवाः । तेऽस्यां मन्तीति विश्वदेव्यावती तादृशीयम् अदिनिर्देवी पृथिव्याः सधस्थे भूम्या उपरि हे अवट त्वा त्वामङ्गिरस्वत् । अङ्गिरस इव खनतु । अनेन मन्त्रेण अदितेरेव खननकर्तृत्वमिति तैत्तिरीयेऽपि श्रूयते ॥ अदितिस्त्वे-
त्याह्वयम् अदितिरदित्यास्या अक्रूरकारणाय हिंस्रः मर्द्दिनस्तीति ॥ अस्पाय-
मर्थः । इयं भूमिरेवादिनिशब्देन विवक्षिता । अवटखननमपि भूम्यामेव । ततोऽदितेः खनने कर्तृत्वे सती भूमेर्हिमा न भवति । न हि लोके कश्चिदपि स्वयं स्वात्मानं हिनस्ति । तस्मात् खननलक्षणक्रूरकार्यकरणाभावायेत्यपदि-
कर्तृत्वं सम्पद्यत इति ॥ कात्यायनः ॥ श्रपणमास्तीर्य तस्मिन्नुखां यथाकृतां स्थापयेत् ॥ पाठस्तु ॥ देवानां त्वा पत्नीर्देवी विश्वदेव्यावती । पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वदयतुखे इति ॥ विश्वदेव्यावतीः विश्वेषां देवानां योग्या विश्वेषु देवेषु साधवो वा विश्वदेव्यः । तैः सहिता विश्वदेव्यावत्यः । एव-
म्भूता देवानां पत्न्यो देव्याः पृथिव्याः सधस्थे उपरि अङ्गिरस इव, हे उखे त्वां दधतु स्थापयन्तु ॥ कात्यायनः ॥ उखां न्युज्जां श्रपणेनावच्छाद्य दक्षिणा-
ऽग्निना दीपयति । धिषणास्त्वेति ॥ अर्वाचीनमुखां श्रपणसाधनेन तृणा-

दिना प्रच्छाद्य दक्षिणाग्रेसरानीतेन वह्निना दीपयेत् ॥ पाठस्तु ॥ धिषणास्त्वा
 देवीर्विश्वदेव्यावतीः । पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वदभीन्धतामुखे इति ॥
 विद्याभिमानिन्यां देवता धिषणास्ता देव्यो, हे उखे, त्वाम् अभीन्धताम् । इधि
 दीप्तौ ॥ कात्यायनः ॥ वरूत्रीष्ट्वा इति श्रपयति ॥ पाठस्तु ॥ वरूत्रीष्ट्वा देवी-
 र्विश्वदेव्यावतीः । पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिरस्वच्छपयन्तूव इति ॥ हे उखे
 कृष्णन्तिवतीति वरूत्रयोऽहोरात्राणि । अहोरात्राभिमानिन्यो देवताः । अहो-
 रात्राणि वै वरूत्रयोऽहोरात्रं ह्रीदं सर्वं वृत्तमिति श्रुतेः ॥ एवम्भूता वरू-
 त्रयः, हे उखे, त्वा श्रपयन्तु ॥ कात्यायनः ॥ पचति ग्रा जनय इति द्वाभ्या-
 मिति ॥ पाठस्तु ॥ ग्नास्त्वा देवीर्विश्वदेव्यावतीः पृथिव्याः सधस्थे अङ्गिर-
 स्वत् पचन्तूखे इति ॥ छन्दोसि वै ग्ना छन्दोभिर्हि स्वर्गं लोकं गच्छतीति
 श्रुतिः ॥ द्वितीयमन्त्रः ॥ जनयस्त्वाऽच्छिन्नपत्रा देवीर्विश्वदेव्यावतीः । पृथिव्याः
 सधस्थे अङ्गिरस्वत् पचन्तूखे इति ॥ जनयो नक्षत्राणि । अच्छिन्नपत्रा अनवच्छिन्न-
 पतनाः ॥ नक्षत्राणि जनय इति श्रुतेः ॥ कात्यायनः ॥ आचरति मित्रस्येति ॥ आचरण-
 मुपचरणं तत् कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥ मित्रस्य चर्षणीधृतो वो देवस्य सानमि ।
 द्युम्नं चित्रश्रवस्तममिति ॥ मित्रस्य देवस्य सानमि । सनातनं पुरातनं द्युम्नं
 यशस्तु वयं स्तुम इति शेषः । कीदृशं यशः । अवो रक्षणम् । चित्रश्रवस्तमम्
 अतिशयेन श्रवणीयम् । कथम्भूतस्य मित्रस्य । चर्षणीधृतो मनुष्याणां धार-
 यितुः । यद्वा अवो यशश्च यजमानेष्टं साधयतु ॥ कात्यायनः ॥ उद्रपति श्रपणं
 देवस्त्वेति ॥ पकानि श्रपणानि उद्रामयेत् ॥ पाठस्तु ॥ देवस्त्वा सवितोऽद्रपतु
 सुपाणिः स्वङ्गुरिः सुबाहुस्त शक्त्येति ॥ हे उखे, सविता देवः स्वकीयया
 शक्त्या त्वाम् उद्रपतु । आच्छादितश्रपणात् प्रकाशीकरोतु । उत समुच्चये ।
 किम्भूतः सविता । सुपाणिः स्वङ्गुरिः शोभनाङ्गुलिः । रेफस्य लादेशः ।
 सुबाहुः । मुन्नत्वाम् ॥ कात्यायनः ॥ उत्रामुत्तानां करोत्यव्यथमाना व्यथामपानु-
 वती सति पृथिव्यां स्थिता आशा दिशं विदिशश्चापृण पूरयाहुतिरसेन ॥
 कात्यायनः ॥ उत्थायेति उद्यच्छति । अत्राद् बहिरुत्थामानयेत् ॥ पाठस्तु ॥
 उत्थाय बृहतीभवोदु तिष्ठ ध्रुवा त्वमिति ॥ ध्रुवा स्थिरा भव ॥ उ पादपूरणः ॥
 कात्यायनः ॥ पात्रे करोति मित्रैतामिति ॥ अत्रादूर्ध्वमानीतामुखां पात्रे स्थापयेत् ॥
 पाठस्तु ॥ मित्रैतां त उखां परिददाम्यभिच्या एषा मा भेदीति ॥ हे मित्र, एता-
 मुखां ते तव परिददामि परित्राणाय प्रयच्छामि । किमर्थम् । अभिच्यै अभेद-

नाय । एषा उखा गृहीता सती मा भेदि मा भिद्यताम् ॥ कात्यायनः ॥ अजा-
पयसा च सिञ्चति वसवस्त्वेति प्रतिमन्त्रमिति ॥ वसवस्त्वेत्यादिभिश्चतुर्भि-
र्मन्त्रैः पृथक्पृथग्जाक्षीरेणोखामासिञ्चेत् ॥ पाठस्तु ॥ वसवस्त्वाच्छृन्दन्तु
गायत्रेण छन्दसाङ्गिरस्वद्द्रास्त्वाच्छृन्दन्तु त्रैष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वत् । आदिस्वा-
स्त्वा छृन्दन्तु जागतेन छन्दसाङ्गिरस्वद्विश्वे त्वा देवा वैश्वानरा आच्छृन्द-
न्त्वानुष्टुभेन छन्दसाङ्गिरस्वदिति ॥ हे उखे वसुनामका देवा अङ्गिरस इव त्वां
सिञ्चन्तु । एवमुत्तरत्र योज्यम् ॥ इति द्वादशोऽध्याये षष्ठोऽनुवाकः ॥ १२ ॥ ६ ॥

षष्ठेऽनुवाके उखासम्भार उक्तः ॥ सप्तमे त्वौद्ग्रहणमन्त्राः समिदाधान-
मन्त्राश्चोच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ प्राकृतान्यौद्ग्रहणानि हुत्वा सप्ताग्निकान्या-
ऽऽकृतिमिति प्रतिमन्त्रमिति ॥ दीक्षाकाले सोमपागकर्तव्यान्याकृत्यै प्रयुजेऽग्नये
स्वाहेत्यौद्ग्रहणानि हुत्वा पश्चादग्निचयनसम्बन्धीनि आकृतिमग्निं प्रयुज-
स्वाहेत्यादीनि सप्तौद्ग्रहणानि प्रत्येकं जुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥ आकृतिमग्निं
प्रयुज- स्वाहा मनोमधामग्निं प्रयुज- स्वाहा । चित्तं विज्ञातमग्निं प्रयुज-
स्वाहा वाचो विधृतिमग्निं प्रयुज- स्वाहा । प्रजापतये मनवे स्वाहाऽग्नये
वैश्वानराय स्वाहा । विश्वो देवस्य नेतुर्मर्तो वुरीत सख्यम् । विश्वो राय इषु-
ध्यति शुम्नं वृणीत पुण्यसे स्वाहेति ॥ आकृतिरस्मदीयः सङ्कल्पोऽनुष्ठान-
विषयः । तं प्रतियुजं प्रेरकमुद्दिश्य स्वाहा सुहुतमस्तु । अनुष्ठेयस्मरणसाधनं
यन्मनः श्रुतयोर्मन्त्रतन्त्रयोर्धारणशक्तिर्यामेधा तदुभयं प्रति योजकमग्निमुद्दिश्य
सुहुतमिदमस्तु । अविज्ञातस्यानुष्ठानज्ञानस्य ज्ञानसाधनं यच्चित्तं, यदपि तेन
मच्चित्तेन ज्ञानमनुष्ठानं तदुभयं प्रति प्रेरकमग्निमुद्दिश्य सुहुतमस्तु ॥ वाचो
मन्त्रपाठरूपाया विधृतिर्विधारणं प्रति प्रेरकमग्निमुद्दिश्य सुहुतमस्तु ; मनवे च
मनुष्याणां जनकाय प्रजापतये सुहुतमस्तु । विश्वेषां नराणामनुग्राहकत्वेन
वैश्वानरायान्नये सुहुतमस्तु । विश्वः मर्तः नेतुः फलप्रापकस्य देवस्य दाना-
दिगुणयुक्तस्य सख्यं सखिभावं वुरीत वृणुते प्रार्थयते । किञ्च, विश्वः सर्वो
जनः । राये धनाय इषुद्धयति । प्रार्थयते । तत्कर्मस्वऽयं धातुः पठितः ।
किञ्च पुण्यसे पोषणाय शुम्नं यशोऽञ्च वा । यास्केनोक्तत्वात् । वृणीत सर्वो
जनः प्रार्थयते । स्वाहा तस्मै प्रेरकाय देवाय सुहुतमस्तु ॥ कात्यायनः ॥
अध्वर्युयजमानयोरन्यतर उखामाहवनीयेऽभिश्रयति मा सु भित्था इति ॥ मा
सु भित्था इति मन्त्रद्वयस्य प्रतीकग्रहणमिदम् । अनेन मन्त्रेण, दृष्टस्वेत्युत्तरेणा-

ऽध्वर्युयजमानयोरन्यतर उखा माहवनीये स्थापयेत् ॥ तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥
 मा सु भित्था मा सुरिषोऽम्ब धृष्णु वीरयस्व सु । अग्निश्चेदं करिष्यथ इति ॥
 हे उखे, त्वं मा भित्थाः भिक्षा मा भव । तदिदमभिन्नत्वं सुष्ठु कर्तव्यम् ।
 तथा मा रिषः । स्फुटनेनाऽपि हिंसिता मा भव । तदेतदस्फुटनं सुष्ठु कर्त-
 व्यम् । सर्वात्मना द्वैधीभावो भेदः । लेशस्य पृथग्भावः स्फुटनम् । तदुभयं ते
 तव मा भूदित्यर्थः । धृष्णु धर्वणयुक्ते ! हे अम्ब, हे मातः, उखे, त्वं वीरयस्व
 शोभनमग्निधारणलक्षणं वीरकर्म कुरुष्व । किञ्चाग्निश्च त्वं च मिलित्वेद-
 मस्मदीयं कर्म करिष्यथः ॥ अथ द्वितीयः ॥ दृष्ट्व देवि पृथिवि स्वस्त्य
 आसुरी माया स्वधया कृताऽसि । जुष्टं देवेभ्य इदमस्तु हव्यपरिष्ठा त्वमुदिहि
 यज्ञे अस्मिन्निति ॥ हे पृथिवि देवि । मृत्कार्यत्वात् पृथिवीरूपत्वम् । मन्त्रै-
 निष्पादित्वादेवतात्वम् । तथाविधे हे उखे, स्वस्त्ये यजमानस्य क्षेमार्थं दृष्ट्व
 दृढा भव । आसुरीमाया शम्बराद्यसुरनिर्मितमायेव स्वधया कृताऽसि ।
 कव्यप्रधानया विना स्वधाशान्नमात्रमुपलक्ष्यते । तेन निमित्तभूतेन तद्धेतु-
 यागमिद्व्यर्थं निष्पादिता आसुरी माया । यद्रदचिन्सरचनारूपं चित्रं वसु
 सहसा भुत्वा प्रतिभाति तद्रत्नमपि द्विस्तनत्वादिरचनया युक्ता निष्पन्ना-
 ऽस्मीत्यर्थः । त्वन्मुवान्निष्पत्स्यमानमिदं हव्यं जुष्टं प्रियमस्तु । त्वमपरिष्ठा
 केनाप्यहिंसा मयी अस्मिन् यज्ञे उदिहि । उद्गता भव ॥ कात्यायनः ॥
 त्रयोदशप्रदेशमात्राः समिध आदधाति घृताक्तां कार्मुकीं दून्न इतीति ॥
 अस्यां तप्यमानायामुखायां प्रादेशपरिमितास्त्रयोदशसंख्याकाः समिध आद-
 ध्यात् । तत्र प्रथमकार्मुकमम्बन्धिनीं घृतेनाक्तां समिधं, दून्न इत्येतेनादध्यात् ॥
 पाठस्तु ॥ दून्नः सर्पिरासुतिः प्रत्नो होता वरेण्यः । सहसस्पुत्रो अद्भुत
 इति ॥ अत्रोत्पत्स्यमानोऽग्निरेतैर्विशेषणैः प्रशस्यते । दृशब्देन वृक्षा उच्यन्ते ॥
 दुषदमिखाह वनस्पतीच्छो नार्मवैतेन यजत इति श्रुत्यन्तरात् । दुषदो वृक्षा
 एवान्नं यस्यासौ दून्नः । द्रु गतौ । द्रवन् अन्नं यस्य सः । सर्पिः घृतम् आसुति-
 रवस्थानं यस्येति वा, सर्पिरेव आहारत्वेन सूयते प्रक्षिप्यते यस्मिन्निति सा
 सर्पिरासुतिः । पुरातनो होता देवानामाह्वाना । वरेण्यो वरणीयः । सहस्रो
 बलस्य पुत्रः प्रथमहेतुना बलनोत्पद्यमानत्वाद् अद्भुत आश्चर्यरूपः । एवम्भूत
 उखायां तिष्ठन्नभिः कार्मुकीं समिधं मक्षयत्विति शेषः ॥

कात्यायनः ॥ वैकङ्कतीं परस्या इति ॥ वैकङ्कतवृक्षसम्बन्धिनीं समिधं

परस्या इत्यनेनादध्यात् ॥ पाठस्तु ॥ परस्या अधि संवतोऽवरांऽध्यात्तर ।
 यत्राहमस्मि तांऽअवेति ॥ सम्यग्वचनुते देवान् यजते यस्यां क्रियायां सा क्रिया
 संवत् तस्याः संवतः । परस्याः संवतोऽपि उत्कृष्टाया इष्टेरधिष्ठानायास्त्वमवरान्
 निष्कृष्टानप्यस्मान् अभ्यात्तर । आभिमुख्येनागत्य दुःखानि तारय । यत्र
 येषु बन्धुष्वहमस्मि तानपि बन्धूनव रक्ष ॥ कात्यायनः ॥ औदुम्बरीं परमस्या
 इतीति ॥ उदुम्बरवृक्षसम्बन्धिनीं समिधमादध्यात् ॥ पाठस्तु ॥ परमस्याः
 परावतो रोहिदश्व इहागहि । पुरीष्यः पुरुषियोऽग्रे त्वं तरा मृध इति ॥ इहा-
 गहि आगच्छतु । कीदृशस्त्वम् । रोहिदश्वः । लोहितवर्णोऽश्वो यस्यामौ
 रोहिदश्वः । इत एवान्यत्रास्नायते । रोहितेन चाग्नेर्देवानां गच्छति । पुरीषम्
 उवाहेतुभृतं पांसुं वहतीति पुरीष्यः । पुरुणां बहूनां यजमानानां प्रियः
 पुरुषियः । तादृशस्त्वं मृधस्तर शत्रूनतिलङ्घय ॥ कात्यायनः ॥ परशुट्कर्णां
 यदग्ने इतीति ॥ परशुना छिन्नां समिधमादध्यात् ॥ पाठस्तु ॥ यदग्ने कानि
 कानिचिदा ते दारुणि दधमि । सर्वं तदस्तु ते घृतं तज्जुषस्व यन्निष्ठयेति ॥
 हे अग्ने, त्वदर्थं यद्यानि कानिचिद्दारुणि । दारुशब्देनात्र कुठारच्छंदरहितमन्-
 दारितं काष्ठमुच्यते । तादृशीनि कानि कान्यप्यरण्ये पतितानि काष्ठान्यानीय
 दधमि धारयामः । तत्सर्वं काष्ठजातं त्वदर्थं घृतं प्रियमस्तु । हे यन्निष्ठय
 सुवतम्, तद्दारुजातं जुष सेवस्व ॥ कात्यायनः ॥ अथःशयां यदक्ष्युपेयीति ॥
 स्वयमेव भूमौ पतितां समिधमादध्यात् ॥ पाठस्तु ॥ यदक्ष्युपहिका यद्रूपो-
 ऽभतिमर्पति । सर्वं तदस्तु घृतं तज्जुषस्व यन्निष्ठयेति ॥ प्रौढा प्रधाना
 ज्वाला जिह्वा । तत्समीपवर्तिनी शुद्धज्वालोपजिह्विका । अस्माभिरानीतेषु
 दारुषु मध्ये यद्दारु महारण्ये दावाग्नेरुपजिह्विका असल्पज्वाला अत्ति भक्षयति
 ईषद्वतीत्यर्थः । वर्मशब्दः पिपीलिकामदृशं क्षुद्रजीवमाचष्टे । स च यन्काष्ठ-
 मतिमर्पति । अतिशयेन प्राप्नोति । काष्ठावयवेषु तत्र तत्र मारं भक्षयतीत्यर्थः ।
 तत्सर्वं घृतमस्त्वित्यादिपूर्ववत् ॥ कात्यायनः ॥ पालाशीः प्रत्यृचमहरहरित्यु-
 पोत्तमां क्षत्रियस्योत्तमां पुरोहितस्योभे स्वाहाकारः सर्वास्विति ॥ त्रयोदश-
 संख्यासु मध्ये द्रूक्ष इत्यादिभिर्मन्त्रैः कार्मुकयादीन् पञ्च मभिद्विशेषाः सन्धाय
 इत उत्तरेरहरहरित्यादिकैर्मन्त्रैः क्रमेण पलाशसम्बन्धिनीः समिध आदध्यात् ।
 यदि क्षत्रियो यजमानः स्यात्तत्र उपोत्तमामादध्यात् । यदि हि पुरोहितः स्या-
 त्त्वान्तिमामादध्यात् । यदि क्षत्रियपुरोहिताभ्यामुभाभ्यां व्यतिरिक्तः स्या-

क्षत्रोपोत्तमामन्त्रिणे उभे समिधावाद्ध्यत् । सर्वास्त्वष्टु स्वाहाकारः प्रयोक्त-
व्यः । त्रयोदशसंख्यापक्षोऽहरहरित्ययं षष्ठो मन्त्रः ॥ अहरहरप्रयावं भरन्तो-
ऽश्वायेव तिष्ठते घाममस्मै । रायस्पोषेण समिषा मदन्तोऽग्ने मा ते प्रतिवेशा
रिषामेति ॥ हे अग्ने, ते तव प्रतिवेशाः प्रत्यासन्ना वयं मा रिषाम हिंसनं मा
प्राप्नुमः । किं कुर्वन्तः । रायस्पोषेण धनपुष्ट्या इषाऽन्नेन च मदन्तो हर्षं कुर्व-
न्तः । तथा अहरहरप्रयावं प्रतिदिनं पृथग्भावमकृत्वा एकमपि दिनमवर्जयि-
त्वेत्यर्थः । अस्मै अग्नये घासं समिद्रूपं भक्ष्यं भरन्तः सम्पादयन्तः । तत्र
दृष्टान्तः । तिष्ठतेऽश्वायेव । वाजिशालायां बद्ध्वा स्थापिताय प्रौढायाश्वाय
एकमपि दिनमवर्जयित्वा यथा घासं प्रयच्छन्ति तद्वत् ॥ अथ सप्तमः ॥ नाभा
पृथिव्याः समिधाने अग्नौ रायस्पोषाय बृहते हवामहे । इरम्मन्दं बृहदुक्थं
यजत्रं जेतारमग्निं पृतनासु मामहिमिति ॥ नाभा पृथिव्याः पृथिवीरूपाया
उन्वाया मध्ये समिधाने सम्पद्दीप्यमानेऽग्नौ एतावदभिमानिनं देवं हवामहे ।
आह्वयामः । किमर्थम् । बृहते प्रौढाय रायस्पोषाय धनस्य पोषाय । कीदृश-
मग्निम् । इरम्मदम् इरयान्नेन माद्यतीतीरम्मदः । तथाविधं बृहन्ति प्रौढान्यु-
क्थानि प्रशंसनानि यस्यासौ बृहदुक्थः । तादृशं यजत्रं यागहेतुं जेतारं राक्ष-
सादिविषये जयशीलं पृतनासु सङ्ग्रामेष्वस्मच्छत्रूणामतिशयेन सोढारम् ॥
अथाष्टमः ॥ याः सेना अभीत्वरीराव्याधिनीरुगणा उत । ये स्तेना ये च
तस्करास्तास्तेअग्नेऽपिदधाम्यास्पइति ॥ याःकाश्चित् परकीयसेना अभीत्वरीः
अस्मदाभिमुख्येनागमनशीलाः । आव्याधिनीः सर्वतोऽस्मान् पीडयन्त्यः ।
उगणाः उत्कृष्टगणोपेता बहुस्तोमा इत्यर्थः । एवंविधा याः सेनाः
सन्ति । उत अपिच ये स्तेना गुप्तनौरा ये च तस्करास्तान् सर्वान् हे
अग्ने, ते तवास्ये मुखे अपिदधामि प्रक्षिपामि ॥ अथ नवमः ॥ दक्ष्णाभ्यां
मलिम्लं जम्भ्यैस्तस्करां उत । हनुभ्यास्तेनान् भगवस्तास्त्वं खाद सुखा-
दितानिति ॥ गुप्ताः प्रगटाश्च ये द्विविधाश्चौराः । प्रकटा अपि पुनर्द्विविधाः ।
अरण्येषु मार्गमध्येऽपहृत्य प्रत्यहमेव पलायमानाः प्रकटाः । ततोऽप्यति-
प्रकटा निर्भया ग्रामेष्वगस्त वन्दीकाराः । तेऽप्यत्र मलिम्लुच इत्युच्यन्ते ।
मलं पापा धीर्धैर्यमस्तीति मलिनः । तथाविधा भूत्वा म्लायन्ति चौर्धं
कुर्वन्तीति मलिम्लुचः । दन्तपाङ्क्तिमध्ये याभ्यां तीक्ष्णदन्ताभ्यां क्रमुकादि-
फलं भक्ष्यते ते दंष्ट्रे । ततः पुरोवर्तिनो दृश्यमाना दन्ता जम्भ्याः । अन्तर्लिने च

हन् । तत्र मलिम्लुचं दंष्ट्राभ्यां पीडयित्वा जम्भयैस्तस्करानपि पीडयित्वा हन्-
 भ्यां स्तेनान् पीडयित्वा, हे भगवः, पूजनीयाग्ने, तान् सर्वान् सुष्ठुखादितान् पुन-
 र्जीवनरहिता यथा भवन्ति तथा त्वं खाद भक्षय ॥ अथ दशमः ॥ ये जनेषु
 मलिम्लवस्तेनासस्तस्करा वने ये कक्षेष्वायवस्तास्ते दधामि जम्भयोरिति ॥
 ग्रीष्मवर्तिषु जनेषु वने गच्छत्सु च येऽनेकविधाः पूर्वोक्ताश्चौराः सन्ति, ये चान्ये
 व्याघ्रादयः कक्षेषु कुजेषु स्थित्वा अघायवो भवन्ति । अघं पापं हिंसन-
 मिच्छन्तीत्यघायवस्तान् सर्वास्ते तव जम्भयोर्दधामि स्थापयामि ॥ अथैकाद-
 शः ॥ योऽस्मभ्यमरातीयाद्यश्च नो द्वेषते जनः । निन्दाद्यो अस्मान् धिप्माञ्च
 सर्वं तं मस्मसाकुर्विति ॥ पूर्वं चौरभेदा दक्षिणाः । इदानीं शत्रुभेदा उच्यन्ते ।
 ते च त्रिविधाः । अरातयो द्वेषिणो निन्दकाश्चेति । तत्र दातव्यत्वेन प्राप्तं
 धनं यो न ददाति सोऽयमरातीः । कार्यविघातं यः करोति स द्वेषी । चागू-
 दौर्जन्यमात्रं यः करोति निन्दकः । हन्तुकामश्चतुर्थः । तत्र योऽस्मभ्यमरा-
 तीयात् अरातित्वमिच्छति । यश्च नोऽस्मान् द्वेष्टि तत्कार्यनाशेन बाधते । यः
 अन्यो निन्दात् निन्दति । यश्चापरोऽस्मान् धिप्मान् । दमेः सन्नन्तस्याभ्यासस्य
 लोपः । दभितुं हिमितुमिच्छति । यश्च नोऽस्मान् द्वेषते कार्यनाशेन बाधते ।
 तत्सर्वं जनं मस्मसाकुरु चूर्णेन जनितस्य शब्दस्यानुकरणं मस्ममेति । चूर्णीकुर्वि-
 त्यर्थः ॥ अथ द्वादशः ॥ सञ्शितं मे ब्रह्म सञ्शितं वीर्यं बलम् । सञ्शितं
 क्षत्रं जिष्णु यस्याहमस्मि पुरोहित इति ॥ मे मदीयं ब्रह्म ब्राह्मण्यं सञ्शितं
 सम्यक्तीक्ष्णीकृतम् । शास्त्रीयमार्गवर्ति कृतमित्यर्थः । तथा वीर्यं शक्तिः, बलं
 शरीरशक्तिस्तदुभयं सञ्शितं स्वकार्यक्षमं कृतम् । तथा यस्य क्षत्रियस्याहं
 पुरोहितोऽस्मि, मे मदीयं तदक्षत्रं जिष्णु जयशीलं यथा भवति तथा सञ्शित-
 म् ॥ अथ त्रयोदशः ॥ उदेषां बाहू अतिरमुर्द्वर्चोऽथो बलम् । क्षिणोमि
 ब्रह्मणाऽमित्रानुन्नयामि स्वाऽअहमिति ॥ एषां स्वकीयानां राजब्राह्मणादीनां
 मध्य एकैकस्य बाहू उदतिरम् । उत्कर्षेण वर्द्धितवानस्मि । लौकिकोक्तिरि-
 यम् । लोके हि यस्मादुत्कृष्टो भवति तं जना एवमाहुः, स्वकीयं हस्तमुपरि-
 तनं कृतवानिति । वर्चः कान्तिः तामप्युदतिरम् । अथो अपिच बलं
 शरीरशक्तिमप्युदतिरम् । ब्रह्मणा मन्त्रसामर्थ्येन अमित्रान् शत्रून् क्षिणोमि
 क्षीणान् करोमि । स्वान् स्वकीयान् पुरुषानहमुन्नयामि उत्कर्षं प्रापयामि ॥
 एवं त्रयोदशमन्त्रानुक्त्वाथोत्तमौ द्वौ वैकल्पिकमन्त्रावुच्येते ॥ तत्र प्रथममन्त्रः ॥

अन्नपतेऽन्नस्य नो देहानमीवस्य शुष्मिणः । प्र प्रदातारं तारिष ऊर्जे नो धेहि
द्विपदे चतुष्पदे । विश्वकर्मणे स्वाहेति ॥ हे अन्नपते, अग्ने, अनमीवस्य
रोगरहितस्य शुष्मिणो बलहेतोरन्नस्य प्राप्तं धेहि । प्र प्रदातारं प्रकर्षेण हविषो
दातारं यजमानं प्रतारिषः प्रकर्षेण दुरितानि तारय । नोऽस्माकं द्विपदे मनु-
ष्याय चतुष्पदे पशवे च ऊर्जे बलम् अन्नं वा धेहि सम्पादय । विश्वकर्मणे
समस्तजगत्पृष्टिस्थित्यादिकर्मकर्त्रे तुभ्यं स्वाहा सुहुतमस्तु ॥ अथ द्वितीयः ॥
पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः समिन्धतां पुनर्ब्रह्माणो वसुनीथ यज्ञैः । घृतेन त्वं
तन्वं वर्धयस्व सखाः सन्तु यजमानस्य कामाः स्वाहेति ॥ हे अग्ने त्वामादिष्या
रुद्रा वसवश्च पुनः समिन्धताम् । उपशान्तं पुनर्दीपयन्तु । हे वसुनीथ, वसूनां धना-
नां नेतः प्रापयितः, ब्रह्माणो ब्राह्मणा ऋत्विजो यज्ञैर्निमित्तभूतैस्त्वां पुनः
समिन्धताम् । त्वं च घृतेन तुष्टः सन् तन्वमात्मीयं शरीरं वर्द्धयस्व । ततस्त्वायि
तुष्टे सति यजमानस्य कामाः सखाः सन्तु ॥ स्वाहेति होमार्थः ॥ इति द्वादशो-
ऽध्याये सप्तमोऽनुवाकः ॥ १२ ॥ ७ ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तपो हार्दं निवारयन् ॥

पुमर्थीश्चतुरो दद्याद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्राजाऽधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबुक्कभूपाल-
साम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे काण्व-
सूहिताभाष्ये द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

अथ त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

यस्य निश्वासितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ॥

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

द्वादशोऽध्याये उखासम्भरणादिमन्त्रा उक्ताः । त्रयोदशे तु रुक्मधारणा-
दिमन्त्रा उच्यन्ते । तत्र प्रथमोऽनुवाके आसन्ध्यामुख्याग्निस्थापनं प्रतिपाद्यते ॥
कात्यायनः ॥ यजमानकण्ठे रुक्मं प्रतिमुञ्चते दृशानो रुक्म इतीति ॥ सुवर्ण-
निर्मितः फलकाकार आभरणविशेषो रुक्मः । तं कण्ठे बध्नीयात् ॥ पाठस्तु ॥
दृशानो रुक्म उर्व्या क्वयौद् दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः । अग्निरमृतोऽभव- ७

द्वयोभिर्यदेनं द्यौरजनयत् सुरेता इति ॥ दृशानो दर्शनीयरूपो रुक्मः आ-
भरणविशेषः । उर्व्या महत्या दीप्त्या व्यद्यौत् । विद्योतते । किं कुर्वन् ।
दुर्मर्ष केनाप्यतिरस्कार्यमायुर्जीवनं श्रिये श्रयितुं रुचानो वाञ्छन् । तथाविधो-
ऽग्निर्वयोभिरन्नलक्षणैर्हविर्भिरमृतोऽभवत् । यद् यस्माद् एनमग्निं द्यौर्द्युलोक-
वासी देवगणः सुरेताः सन् अजनयत् । तस्मादमृतत्वमुक्तम् ॥ कात्यायनः ॥
परिमण्डलाभ्यामिन्द्राभ्यामुखां परिगृह्णाति नक्तोषासेतीति ॥ वर्तुल्याभ्या-
मुखाधारणसाधनभूताभ्यामिन्द्राभ्यामुखां गृह्णीयात् ॥
पाठस्तु ॥ नक्तोषासा समनमा विरूपे धापयेते शिशुमेकं समीची । द्यावा
क्षामा रुक्मोऽन्तर्विभाति देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदा इति ॥ नक्तं चोषाश्च
नक्तोषसौ रात्रिदिवसावित्यर्थः । समनमा परस्परमैकमस्ययुक्तौ विरूपे रात्रिः
दिवसः कृष्णा शुक्ल इत्येवं विलक्षणरूपे समीची समीच्यावतुकूलं सत्यम् एकं
शिशुम् अग्निरूपं धापयेते यजमानकर्तृकमग्निधारणं सम्पादयतः ॥ कात्यायनः ॥
हरति द्यावा क्षामेति ॥ परिगृहीतामुखामाहवनीयदेशस्य प्राचीनदेशं प्रसाहरेत्
॥ पाठस्तु ॥ द्यावा क्षामा रुक्मोऽन्तर्विभाति ॥ द्यावा द्युलोके, क्षामा क्षितौ भुलोके,
अन्तस्तदुभयमध्यवर्त्यन्तरिक्षे रुक्मो रोचमानोऽग्निर्विभाति विशेषेण प्रकाशते ॥
कात्यायनः ॥ आहवनीयस्य पुरस्तादुद्गात्रामन्दी चतुरस्रायां शिष्यवत्सां निद-
धाति देवा अग्निमितीति ॥ आहवनीयस्य प्राग्देशे त्वोद्गात्रामन्दी चतुरस्रा-
युक्ता याऽऽमन्दी स्थिता तस्या उपरि स्थिते शिष्ये आहृतामुखां स्थापयेत् ॥
पाठस्तु ॥ देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदा इति ॥ दीव्यन्ति व्यवहरन्तीति
देवाः प्राणास्ते च द्रविणोदाः यागद्वारेण द्रविणं धनरूपं फलं प्रयच्छन्ति ।
तादृशा यजमानस्य प्राणा अग्निमेतं धारयन् । अधारयन् । अत्र देवशब्दस्य
प्राणत्वं तैत्तिरीया आमनन्ति ॥ देवा अग्निं धारयन् द्रविणोदा इति ॥ कात्या-
यनः ॥ शिष्यपाशं प्रतिमुञ्चति पटुश्रमं विश्वा रूपाणीति ॥ षडूर्ध्वाभिमुखा
रज्जवो यस्मिन् तथाविधं शिष्यपाशं बन्नीयात् ॥ पाठस्तु ॥ विश्वा रूपाणि
प्रतिमुञ्चते कविः प्रामावीर्द्धं द्विपदे चतुष्पदे । विनाक्रमण्यत्सविता वरेण्यो-
ऽनुप्रमाणमुषसो विराजतीति ॥ कविर्विद्वान् वरेण्यः श्रेष्ठः सविता विश्वा
रूपाणि समस्तानि जगद्रूपाणि प्रतिमुञ्चते स्वास्मिन् स्वीकरोति प्रकाशयतीत्यर्थः ।
द्विपदे चतुष्पदे मनुष्याणां पशूनां च भद्रं स्वस्वव्यवहारप्रकाशनरूपं श्रेयः प्राप्ता-
धीत् सम्पादितवान् । नाकं स्वर्गं विशेषेणारूप्यत्प्रकाशितवान् । उषसः प्रमाणमनु

उषःकाले वितते सति विराजते विशेषेण प्रकाशते ॥ कात्यायनः ॥ सुपर्णो-
ऽसीत्यभिमन्त्रयत इति ॥ पाठस्तु ॥ सुपर्णोऽसि गरुत्माऽस्त्रिवृत्ते शिरः ।
गायत्रं चक्षुर्बृहद्रथन्तरे पक्षौ । सोम आत्मा छन्दाऽस्यज्ञानि यजूंषि नाम
साम ते तनूर्वामदेव्यं यज्ञायज्ञियं पुच्छं धिष्ण्याः शफाः । सुपर्णोऽसि गरुत्मा-
दिवं गच्छ स्वः पनेति ॥ अग्रे, त्वं सुपर्णः पक्षिरूपोऽसि पक्ष्याकारेण धेष्ण्य-
मानत्वान् । अत एव तैत्तिरीयैरास्त्रायते ॥ वयमां वा एष प्रतिमा या चीयते
यदग्निरिति ॥ तत्र दृष्टान्तः । गरुत्मान् यथा पक्षिराजस्तद्वन् पक्षाकारस्या-
वयवाः सम्पद्यन्ते । त्रिवृत्ते शिरः । बहिष्पवमानस्तोत्रे योऽयं त्रिवृत्स्तोमः स
एव शिरःस्थानीयः । प्रजापतिमुखजत्वेनोत्तमं यद् यद् गायत्राख्यं साम तत् ।
त्वदीयं चक्षुः यद् बृहद्रथन्तराख्ये सामानी ते तत्र पक्षस्थानीये । यः पञ्चद-
शस्तोमः स तवात्माऽन्तःकरणम् । यानि गायत्रादीनि छन्दामि तानि तत्र
हृदयाद्यङ्गस्थानीयानि । यानि यजूंषि तानि तत्र नामस्थानीयानि । यद्वाग्देवाख्यं
साम तत् तत्र तनूः शरीरस्थानीयम् । यद्यज्ञायज्ञियाख्यं साम तत् तत्र
पुच्छस्थानीयम् । ये सौमिकवेद्यां होमादिधिष्ण्यास्ते तत्र शफस्थानीयाः ।
हे अग्रे, एवम्भूतस्त्वम् । यतो गरुत्मान् गरुड इव सुपर्णः पक्षिरूपोऽसि ।
अतो दिवम् आकाशं प्रति गच्छ तत्रापि स्वः पत स्वर्गलोकं प्राप्नुहि ॥ का-
त्यायनः ॥ विष्णुक्रमान् क्रमते विष्णोरिति प्रतिमन्त्रं चतुर्थे दिशो वीक्षते
दिशोऽनुक्रमस्वेतीति ॥ विष्णोः क्रमोऽसीत्यादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैः क्रमेण
चतुरः पादविन्यामान् कुर्यात् । तत्र चतुर्थमन्त्रगतेन दिशोऽनुविक्रमस्वे-
ति मन्त्रशेषेण ॥ तेषां पाठस्तु ॥ विष्णोः क्रमोऽसि सपत्रहा गायत्रं
छन्दोऽ आरोह । पृथिवीमनुविक्रमस्व । विष्णोः क्रमोऽस्यभिमातिहा त्रैष्टुभं छन्द
आरोह । अन्तरिक्षमनुविक्रमस्व । विष्णोः क्रमोऽस्यरातीयतो हन्ता जाग-
तं छन्द आरोह । दिवमनुविक्रमस्व । विष्णोः क्रमोऽसि शत्रूयतो हन्ताऽऽनु-
ष्टुभं छन्द आरोह । दिशोऽनुविक्रमस्वेति ॥ यज्ञप्रयोगं कृत्स्नं व्याप्नोती-
ति विष्णुर्यजमानः । यद्वा विष्णुना परमेश्वरेणाभेदोपचारं कृत्वा विष्णुरि-
त्युच्यते । हे प्रथमपादविन्यास, त्वं विष्णोः सपत्रहां शत्रुघाती क्रमोऽसि ।
तादृशस्त्वं गायत्रं छन्द आरोह अनुप्राहकत्वेन स्वीकुरु । ततः पृथिवीमनु-
विक्रमस्व भूदेवतारूपम् इमं प्रदेशं विशेषेण व्याप्नुहि । एवमुत्तरेष्वपि
योज्यम् । अभिमातिहा पापघाती । पाप्मा वा अभिमातिरिति श्रुत्यन्तरा-

व ॥ अरातिर्दातव्यस्य दानाऽभावः । तमात्मन इच्छतीत्यरातीयत् । तस्य
 हन्ता विनाशकः । प्रहारे हन्तृत्वं तदिच्छतीति शत्रूयत् तस्य हन्ता विनाश-
 कः । अत्र सर्वत्र यजमानः स्वात्मानं विष्णुत्वेन भावयेत् । चतुर्णां प्रक्रमा-
 णां प्रदेशान् पृथिव्यादिलोक रूपत्वेन भावयेत् । गायत्र्यादिछन्दोऽभिमानि-
 देवतास्तेषां प्रक्रमाणामनुग्राहिकाः ॥ कासायनः ॥ प्रागुदञ्चं प्रगृह्णात्पक्रन्दद-
 भिरिति ॥ अग्निं पिण्डवारप्रगृह्णाति ॥ पाठस्तु ॥ अक्रन्ददग्निस्तनयन्निव द्यौः
 क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन् । सद्यो जज्ञानो विहीमिद्धो अरुयदारोदसी
 भानुना भात्यन्तरिति ॥ अयमग्निरक्रन्दत् अस्मदरिष्टनिवारणार्थं गर्जतु । कि-
 मिव । स्तनयन्निव द्यौः । यथा शुलोकस्थो मेघो गर्जन् सस्यशोषणभीर्ति
 निवारयति तद्वत् । किं कुर्वन् । क्षाम दाहकमस्मद्विरुद्धं रेरिहत् लेलिहानः ।
 वीरुधः समञ्जन् । पुष्पलतावदस्मदनुकूलानि सम्यगभिव्यज्यन् । हि यस्मा-
 त् । जज्ञानः उत्पद्यमानः । सद्यः इदानीमेव इद्धो दीप्तो व्यख्यन् विविधं ज-
 गत्प्रकाशयति । रोदसी द्यावापृथिव्योरतः भानुना रात्रिना स्वयमाभाति समन्तात्
 प्रकाशते ॥ कात्यायनः ॥ अवहरत्यग्रेऽभ्यावर्तिन्निनीति ॥ अग्रेऽभ्यावर्तिन्निनी-
 दिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैः उरुयमग्निमवहरेत् ॥ तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ अग्नेऽभ्या-
 वर्तिन्निभि मा निर्वर्तस्वायुषा वर्चसा प्रजया धनेन । सन्या मेधया रय्या पोषेणे-
 ति ॥ आभिमुख्येनावर्तितुं शीलमस्यास्नीत्यभ्यावर्ता । तादृश हे अग्ने,
 आयुरादिभिः सह मामभिलक्ष्य वर्तस्व आवर्तस्व । आयुरपमृत्पुनरहितं वर्चः कान्ति-
 र्बलं चायुःप्रजापुत्रादिधनं रत्नमुवर्णादिराशिं बद्ध्वा दिग्भ्यः सम्पादितस्य
 दानम् । मेधा श्रुतार्थधारणाशक्तिरपि पञ्चादिः पोषः पञ्चादेः पुष्टिः । एतैः
 सर्वैरायुरादिभिः सह मां शीघ्रमागच्छेत्सर्वः ॥ अथ द्वितीयः ॥ अग्रे अङ्गिरः
 शतं ते सन्त्वावृतः सहस्रं तऽउपावृतः । अथा पोषस्य पोषेण पुनर्भो नष्टमाकृधि
 पुनर्नो रयिमाकृधीति ॥ हे अङ्गिरः, अङ्गसौष्टवयुक्ताग्रे ते तवावृतः शतं सन्तु ।
 आवृत्तिशक्तयः शतसंख्याका भवन्तु ॥ तथा ते तत्रोपावृत्तिशक्तयः शतसंख्या
 भवन्तु । स्वस्यैवावर्तनमावृत्तः समीपवर्तिनां पुरुषाणां द्रव्यविशेषाणां वा
 वर्तनमुपावृत्तः अस्मात् स्नेहातिशयेन त्वमपि पुनः पुनरावर्तस्व त्वदीयाः पुरुषा-
 स्त्वदीयानि च द्रव्याणि पुनः पुनरावर्ततामिदर्थः । अथापि च शतसहस्रसंख्याका-
 नामावृत्त्युपावृत्तिशक्तीनां यः पोषः समृद्धिस्तस्यापि पोषस्यान्यः पोषो मूल-
 लक्ष्यादिसंख्याकादिदृष्टिस्तादृशेन पोषेण नोऽस्मदीयं नष्टं धनं पुनर्भूयोऽप्याकृ-

भि आदृतं कुरु । पुनर्भूयोऽपि नोऽस्मदीयं पूर्वममम्पादितं धनमाकृषि सर्वतः
सम्पादितं कुरु ॥ अथ तृतीयः ॥ पुनरूर्जा निवर्तस्व पुनरग्ने इषायुषा ।
पुनर्भः पाह्यः इति ॥ हे अग्ने, त्वम् ऊर्जा क्षीरादिरसेन सह पुनर्निव-
र्तस्वात्रागच्छ । अनेन आयुषा जीवनेन इषाग्नेन च सह पुनरागच्छ । आगत्य
च नोऽस्मान् पुनः कृतादंशः पापात् पाहि रक्ष ॥ अथ चतुर्थः ॥ सदृश्या
निवर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया । विश्वप्स्या विश्वतस्परीति ॥ हे अग्ने, इत्या धनेन
सह निवर्तस्व । एसा भक्षण इति धातुः । विश्वैः पस्यायते भक्षयते पीयत इति
विश्वप्सी । तादृश्या दृष्टिवारया विश्वतस्परि सर्वेषां तृणधान्यलतापादपाना-
मुपरि पिन्वस्व मित्र ॥ कात्यायनः ॥ उपरिनाभि धारयन्नात्माहर्षमित्यभि-
मन्त्रयत इति ॥ उक्त्यमर्गिन् नामेकं धारयेत्तमभिमन्त्रणं कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥
आ त्वाहर्षमन्तरभृश्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः । विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्र-
मभिभ्रशदिति ॥ हे अग्ने त्वामाहर्षम् आहृतवानास्मि । त्वं चोत्वायामन्तर-
भुः । अवस्थितोऽसि । अविचाचलिः । अन्यन्तचलनरहितो ध्रुवस्तिष्ठ । सर्वा
विशः प्रजास्त्वा वाञ्छन्तु । त्वत्त इदं राष्ट्रं मा अभिभ्रशत शत्र्यं मा भूयात् ।
त्वमस्मिन् राष्ट्रे स्थित्वा सर्वाः प्रजाः पाहीत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ पाशादुन्मु-
च्योदुत्तममितीति ॥ शिख्यपाशं विस्रंमेत् ॥ पाठस्तु ॥ उदुत्तमं वरुणपाशमस्म-
दवाधमं विमध्यमं श्रथाय । अया वयमादित्यव्रते तवानागसोऽदितये
स्यामेति ॥ हे वरुण, उदुत्तमम् उत्तमाङ्गे शिरसि स्थापितं त्वदीयं पाशम्
उत्कृष्य श्रथाय विनाशय । अधममधमाङ्गे पादप्रदेशे स्थापितं पाशमवकृष्य
विनाशय । मध्यमं मध्यप्रदेशे स्थापितं पाशं विच्छेदय । अथ पाशत्रयविनाशना-
नन्तरं, हे आदित्य, अदिनिपुत्र, वरुण, वयमनागसः पापरहितास्तव व्रते
त्वदीयकर्मणि अदितये अखण्डितत्वाय स्याम योग्या भवेम ॥ कात्यायनः ॥
प्रशृङ्गात्यग्रे बृहन्नितीति ॥ पाठस्तु ॥ अग्रं बृहन्नुपसामूर्ध्वोऽअस्थान्निर्जग-
न्वातमसो ज्योतिषाऽऽगात् । अग्निर्मानुना रुशता स्वङ्ग आजातो विश्वा-
सन्नान्यथा इति ॥ अयमग्निर्वृहन्महानुपसामग्रे उपमां मुखे ऊर्ध्वोऽअस्थात् ।
अग्निहोत्रादौ बोध्यमान उत्तिष्ठति । ज्योतिषा स्वकीयेन तेजसा तमसा नि-
र्जगन्वात् निर्गतः सन्नागात् । इहागतः कीदृशोऽग्निः । रुशता तपो हिंसता
भानुना रश्मिना स्वङ्गः शोभनशरीरः । किञ्च, जात उत्पन्नमात्र एव विश्वा
सन्नानि सर्वाणि स्थानानि अपाः । स्वकीयेन तेजना सर्वत्र प्रसृतवान् ॥

कात्यायनः ॥ अवहरति ह॑सः शुचिषादिति । आसन्धां करोति बृहदिति ॥
 ह॑सः शुचिषादित्यनेन मन्त्रेण उखामवहृत्वा बृहदितितस्योत्तमेन पदेन आस-
 न्धां स्थापयेत् ॥ पाठस्तु ॥ ह॑सः शुचिषद्वमुरन्तरिक्षमद्धोता वेदिषदतिथि-
 र्दुरोणसत् । नृषद्वरसद्वतसद्योमसद्वज्जागोजाऽक्रतजा अद्रिजा ऋतं बृहादिनि ॥
 अयं मन्त्रः पूर्वमेकादशेऽध्याये व्याख्यातः ॥ कात्यायनः ॥ उपतिष्ठते सीद
 त्वमितीति ॥ सीद त्वमित्यादिभिस्त्रिभिर्मन्त्रैरुपस्थानं कुर्यात् ॥ तत्र प्रथममन्त्र-
 पाठस्तु ॥ सीद त्वं मातुरस्या उपस्थे विश्वान्यग्ने वयुनानि विद्वान् । मैनां
 तपसा माचिषाऽभिशोचीरन्तरस्या२ शुक्रज्योतिर्विभाहीति ॥ हे अग्ने, त्वं
 मातृसमानाया अस्या उखाया उपस्थे उत्सङ्गे सीद त्वमुपविश । कीदृश-
 स्त्वम् । विश्वानि वयुनानि सर्वान् ज्ञानोपायात् विद्वान् जानन् । एतामुखां
 तपसा सन्तापेन माभिशोचीः अन्यन्तं मा दीपय । अचिषा ज्वालाया मा शोचीः
 तपः कार्यम्, अचिः कारणम् । कार्येण भूयोऽस्नापो भवति । कारणेन न्नी-
 षत् । तदुभयं मा कुर्वित्यर्थः । अस्यामुखायाप अन्नः शुक्रज्योतिः निर्मलप्र-
 काशः सन् विभाहि विशेषेण दीप्यस्व ॥ अथ द्वितीयः ॥ अन्तरग्रे रुचा
 त्वमुखायाः सदने स्वे । तस्यास्त्वः हरमा तपज्जातवेदः शिवा भवेति ॥ हे
 अग्ने, त्वम् उखाया अन्तर्मध्ये स्वे सदने स्वकीये स्थाने रुचा दीप्या युक्तः स-
 न् सीदिति शेषः । हे जातवेदः, त्वं तस्या उखायाः शिवो भव सुखप्रदो
 भव । किं कुर्वन् । हरमा तेजसा तपन् प्रज्वलन् ॥ अथ तृतीयः ॥ शिवा
 भूत्वा मष्टमग्ने अथो सीद शिवस्त्वम् । शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनि-
 मिहामद इति ॥ हे अग्ने, मष्टं मदर्थं शिवः शान्तो भूत्वा अनन्तरं त्वं शिवः
 सीद । सर्वान् प्रति शान्तः सन्नुपविश । सर्वा दिशः शिवाः शान्ताः कृत्वा
 इहास्यामुखायां स्वं योनिं स्वकीयं स्थानम् अमदः आगत्योपविश ॥ इति
 त्रयोदशेऽध्याये प्रथमोऽनुवाकः ॥ १३ ॥ १ ॥

प्रथमेऽनुवाके बह्वेरासन्धां स्थापनमुक्तम् ॥ द्वितीये तस्याग्रेरुपस्थान-
 मुत्पत्ते ॥ कात्यायनः ॥ वात्सप्रेण च दिवस्परीत्येकादशभिरनुवाकेनैक इति ॥
 अत्र च-शब्देनोपतिष्ठत इत्यनुवर्तते । वात्सप्रकृपेः संबन्धी वात्सप्रो दिवस्परी-
 त्यमनुवाकः । तत्र केचिदेकादशभिर्मन्त्रैरासन्ध्यामुपरिस्थितम् उरुयमाग्निमुप-
 तिष्ठेदिति वदन्ति । अन्ये तु वात्सप्रेण सर्वेणानुवाकेनोपस्थानं कुर्यादिति
 वदन्ति ॥ अत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ दिवस्परी प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद्द्वितीयं परि

जातवेदाः । तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीरिति ॥ अग्निः
प्रथमं दिवस्परि द्युलोकस्योपरि प्रथमं जज्ञे । अस्मद्यज्ञे प्रसिद्धवाहिरूपेण
द्वितीयं जन्म प्राप्तवान् । अप्सु समुद्रे तृतीयं जज्ञे । वडवानलरूपेणोत्पन्नः ।
अजस्रं त्रिष्वपि जन्मसु नृमणाः नृषु यजमानेषु मनोऽनुग्रहबुद्धिर्यस्यासौ नृम-
णाः । एनमीदृशमग्निमिन्धानः पुरोडाशादिना दीपयन् । स्वायत्तचित्तो, ज-
रते जीर्यते जरापर्यन्तं पचतीत्यर्थः ॥ अथ द्वितीयः ॥ विद्या ते अग्ने त्रेधा त्र-
याणि विद्या ते धाम विभृता पुरुत्रा । विद्या ते नाम परमं गुहा यद्विद्या त-
मुन्मं यन् आजगन्थेति ॥ हे अग्ने, यानि पूर्वस्मिन्मन्त्रे दिवस्परीक्षादिना त्रेधा
स्वरूपाण्युक्तानि आदिताग्निवाडवानलरूपाणि तानि त्रिसंख्याकानि ते
तव सम्बन्धीनि रूपाणि वयं विद्मः । किञ्च, ते तव सम्बन्धीनि विभृता बहुषु
प्रदेशेषु गार्हपत्याहवनीयान्वाहार्यपचनशामिन्नाग्नीध्रीयरूपेषु बृंहितानि धामानि
स्थानान्यपि विद्मः । किञ्च, ते तव परममुत्कृष्टं गुहा गुह्यं गोप्यं देवेद्धोमान्वि-
द्ध इत्यादिमन्त्रमभिपाद्यं नाम षदस्ति तदपि विद्मः । देवादीनां नामत्वं मन्त्रा-
न्तरे सम्बोधनबलादवगम्यते ॥ अग्रं देवेद्धमन्विद्धमन्द्रजिह्वेति मन्त्रान्तरम् ।
किञ्च, यत् उत्साहरूपात् प्रसन्नवणादाजगन्ध वैद्युतरूपेण त्वमागतोऽसि तमप्यु-
न्मं विद्मः ॥ अथ तृतीयः ॥ समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तर्नृचक्षा ईधे दिवो ।
अग्न ऊधन् । तृतीये त्वा रजसि तस्थिवाः समपामुपस्थे महिषा अवर्धन् इति ॥
हे अग्रं, त्वामीधे यजमानोऽहं दीपयामि । कीदृशो यजमानः । नृमणाः ।
नृषु मनुष्येषु कर्मानुष्ठानपरेष्ठित्वस्तु मनोऽनुमन्धानकारणं चित्तं यस्याऽसौ
नृमणाः । नृचक्षाः । नृषु पुरुषेषु वेदपारङ्गतेषु मध्ये चष्टे मन्त्रान् विस्पष्टं
वक्तीति नृचक्षाः । कीदृशं त्वाम् । तस्थिवांसम् । वाडवानलरूपेणावस्थितम् ।
तथा अप्सु वृष्टिरूपास्वन्तर्वैद्युतरूपेणावस्थितम् । तथा दिवो द्युलोकस्य ऊधन्
ऊधःस्थानीये तृतीये समुद्रे वृष्ट्यपेक्षया त्रयः स्थाने रजसि रजनात्मके तेजो-
मण्डले सूर्यरूपेण तस्थिवांसं महिषा महान्तो यजमाना अपामुपस्थे उत्सङ्गे
अवर्धन् अवर्धयन् ॥ अथ चतुर्थः ॥ अक्रन्ददग्निस्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरि-
हद्रीरुधः समञ्जः । सद्यो जज्ञानो विहीमिद्धोऽअख्यदारोदसी भानुना भासन्त
इति ॥ पूर्वाऽनुवाकेऽयं मन्त्रो व्याख्यातः ॥

अथ पञ्चमः ॥ श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः ।
वसुः सनुः सहसो अप्सु राजा विभासग्र उपसामिधान इति ॥ श्रीणां

गवाश्वादीनां संपदाम उदार उत्कर्षेण प्रापयिता, रथीणां धनानां धरुणो धार-
यिता मनीषाणामपेक्षितानां स्वर्गादिफलानां प्रार्पणः प्रार्पयिता । सोमगोपाः
यजमानेनाऽनुष्ठेयस्य सोमयागस्य रक्षिता । वसुः सर्वस्य निवासहेतुः ।
सहस्रः मृतुः मन्थनादौ वेगरूपस्य बलस्य पुत्रः । अप्सु वृष्टिरूपासु राजा
वैद्युतरूपेण दीप्यमानः उपमामग्रे प्रातःकाले इन्धानः अग्निहोत्रेऽतिदीप्यमानो-
ऽग्निर्विभाति विशेषेण भामते ॥ अथ षष्ठः ॥ विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भं
आरोदसीऽअपृणाज्जायमानः । वीळुञ्चिदद्रिमभिनत् परायञ्जना यदाग्निमयजन्त
पञ्चेति ॥ विश्वस्य केतुः सर्वस्य जातो ज्ञाता । भुवनस्य लोकस्य गर्भो गर्भ-
वदन्तरेव स्थितः । जायमानो जायमान एव रोदसी द्यावापृथिव्यौ आपृणान्
सर्वतः स्वतेजसा पूरयति । पञ्च यजमानसंहिता ऋत्विग्गृपाः पञ्चमं ग्वाका
जना अग्निमयजन्त । तदानीं परायन् आहुतिरूपेणादित्यममीपं गच्छन् वीळु-
ञ्चिन् दृढमेव अद्रिं पर्वतममानं मेघम् अभिनत् । विदारितवान् ॥ अथ सप्तमः ॥
उशिकपावकोऽअरतिः सुमेधा मर्तेष्वग्निग्मृतो निधायि । इयतिधूममरुपं भरिभ्र-
दुच्छुक्त्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन्निति ॥ अग्निर्यागगह्वरेषु प्रीतिरहितः । शोभना
मथा मेवकाभिप्रायधारणशक्तिर्यस्याऽसौ सुमेधाः । अमृतो मरणरहितस्तादृशो-
ऽग्निर्मतेषु मनुष्येषु यजमानेषु निधायि निहितः । अरुपमरोपं चक्षुराद्युपद्रवरहितं
धूमं भरिभ्रत् अतिशयेन धारयन् । शुक्लेण शोचिषा निर्मलेन तेजसा प्रभाकरूपेण
द्यामाकाशम्, इनक्षन् व्याप्नुवन् उदियति ऊर्ध्वं प्रमारयति ॥ अथाऽष्टमः ॥
दृशानो रुक्मऽउर्व्या व्यद्यौद् दुर्मर्मायुः श्रिये रुचानः । अग्निग्मृतोऽअभव-
द्गोभिर्यदेनं द्यौरजनयन् मुग्ता इति ॥ पूर्ववद् व्याख्येयम् ॥ अथ नवमः ॥
यस्ने अथ कृणवद्भद्रशोचे यूयं देव घृतवन्तमग्ने । प्र तन्नय पतरं वस्यो
अच्छाभिमुन्तं देवभक्तं यविष्ठेति ॥ हे भद्रशोचे, कल्याणदीप्ते, अग्ने देव, ते
तव अथाऽस्मिन् दिने घृतवन्तं यूयम् । उपस्तरणाभिघारणोपेतं पुरोडाशं
यो यजमानः कृणवत् करोति । हे यविष्ठ युवतम्, देवभक्तं देवेषु भक्तियुक्तं
तं पुरोडाशकारिणं यजमानम् । अभि मुन्तम् । अभिमनं मृखं प्राप्तुं प्रकर्षण
नय प्रेरय । कीदृशं मुन्तं पतरं प्रकृष्टतरम् । वस्योऽतिशयेन निवासकारण-
म् ॥ अथ दशमः ॥ आ तं भज सौश्रवमेष्वग्ने उक्थ उक्थ आभज शस्यमाने ।
प्रियः सूर्ये प्रियो अग्ना भवात्युज्जातेन भिनदद्भुज्जनिवैरिति ॥ शोभनं श्रवः
कीर्तिः सुश्रवः, तस्य सम्बन्धीनि तत्तत्कारणानि कर्माणि सौश्रवसानि । तेषु

कर्मसु उक्थे निष्केवल्यस्य प्र उगादिरूपे तत्तच्छस्त्रे शस्यमाने सति तं देव-
भक्तं यजमानम् आभज सर्वतः सेवय । निरन्तरं कर्मानुष्ठायिनं कुर्वित्यर्थः ।
आभजेति द्विरुक्तेर्वाक्यद्वयमिदं कर्तव्यम् । कर्मसु प्रेरयेत्येकं वाक्यम् । तत्त-
च्छस्त्रे प्रेरयेति द्वितीयम् । अयं यजमानः सूर्ये प्रियो भवति भवतु । अग्नावपि
ब्रह्मावपि प्रियो भवतु । तथा जनेनोत्पन्नेन पुत्रेणाभिनन्ददुज्जेदमपि वृद्धिं प्राप्नो-
तु । तथा जनित्वैः जनिष्यमाणैः पौत्रादिभिश्च उद्दिनत् ॥ अथैकादशः ॥ त्वामग्ने, १
यजमाना अनुशून् विद्वा वसु दधिरे वार्याणि । त्वया सह द्रविणमिच्छमाना
व्रजं गोमन्तमुशिजो विवव्रुरिति ॥ हे अग्ने, यजमानाः सर्वे शून् प्रतिदिनं
त्वामनु त्वामेवानुगच्छन्तो वार्याणि वरणीयानि विद्वा विद्वानि सर्वाणि वसु
वसुनि धनानि दधिरे धृतवन्तः । त्वया महावस्थितास्ते यजमाना । द्रविणमिच्छ-
मानाः पुनरप्यधिकं द्रव्यं काङ्क्षन्तः । उशिजो धनमाध्यानि कर्माणि कामय-
मानाः, गोमन्तं गोभिर्युक्तं व्रजं गोनिवासस्थानं विवव्रुः विशेषेण वृतवन्तः ॥
अथ द्वादशः ॥ अस्ताव्यग्निरनारं सुशेवो वैश्वानर ऋषिभिः सोमगोपाः ।
अद्रेपे द्यावापृथिवी हुवेम देवा धत्त रयिमस्मे सुवीरमिति ॥ अग्निर्ऋषिभि-
र्ऋत्विग्यजमानैरस्तावि स्तुतोऽभूत् । कीदृशोऽग्निः । नरां नराणां मनुष्याणां
सुशेवः शोभनमुखयिता । वैश्वानरः विश्वानरसम्बन्धी सोमगोपाः सोमस्य
रक्षिता । अद्रेपे द्वेपरहिते द्यावापृथिवी हुवेम वयमाह्वयामः । हे देवाः, यूयं सुवीरं
शोभनपुत्रोपेतं रयिं धनम् अस्मे अस्मामु धत्त स्थापयत ॥ इति त्रयोदशो-
ऽध्याये द्वितीयोऽनुवाकः ॥ १३ ॥ २ ॥

द्वितीयेऽनुवाके बह्वैरुख्यस्योपस्थानमुक्तम् ॥ अथ तृतीये चयनार्थस्य
देवयजनस्य परिग्रहोऽभिधीयते ॥ कात्यायनः ॥ उख्यस्योत्तरतः समिदा-
धानं समिधाग्निमितीति ॥ प्राग्देशे शकटावस्थापनानन्तरमुख्याग्नेरुत्त-
रतः समिधाग्निमित्यनेन मन्त्रेण समिधमादध्यात् ॥ पाठस्तु ॥ समिधाग्निं
दुवस्यत घृतैर्बोधयतातिथिम् । आर्स्मि हव्या जुहोतनेति ॥ हे ऋत्विग्यजमाना
एतमग्निं समिधा दुवस्यत परिचरत । घृतैरेतस्यैष्टरतिथिमेवैतं बोधयत ।
ततश्चास्मिन् हव्यानि हवींषि आजुहोतन । साकल्येन जुहुत ॥ कात्यायनः ॥
उद्यम्योदुत्वेति दक्षिणतोऽनासि करोति स्थाल्यामिति ॥ आसन्ध्यामवस्थित-
मुख्याग्निमुदधृत्य शकटस्य दक्षिणभागे स्थालीमवस्थाप्य तस्यामवस्थापयेत् ॥
पाठस्तु ॥ उदु त्वा विश्वे देवा अग्ने भरन्तुचितिभिः । स नो भव शिवस्त्व ॥

सुप्रतीको विभावसुरिति ॥ हे अग्ने, विश्वे सर्वेऽपि देवाः प्राणरूपाश्चित्ति-
भिरुद्यमनकुशलिभिर्धौतचित्तिभिः, उत ऊर्ध्वमेव त्वां भरन्तु । धारयन्तु । स त्वं
नोऽस्माकं शिवः शान्तः सुप्रतीकः सुमुखो विभावसुः प्रभाया वासायिता च
भव ॥ कात्यायनः ॥ गार्हपत्यं पश्चाद्वान्वाहौ युक्त्वा प्रेदग्ने इति प्राङ्मूलात्वे-
ति ॥ पूर्वमवस्थापितशकटे गार्हपत्यस्य पश्चिमे भागे द्वौ बलीवर्दौ प्रतिमुच्य
पश्चात् प्रगच्छेत् ॥ पाठस्तु ॥ प्रेदग्ने ज्योतिष्मान् पाहि शिवेभिरर्चिभिश्च ॥
बृहद्भिर्भानुभिर्भासन्मा हिंसीस्तन्वा प्रजा इति ॥ हे अग्ने, शिवेभिरर्चिभिः
शान्ताभिर्ज्वालाभिर्ज्योतिष्मान् प्रकाशयुक्तस्त्वं प्रेद याहि । यजनदेशं प्रयाहोवं
बृहद्भिर्भानुभिः प्रौढै रधिभिर्भासयजगदवभासयन् तन्वा स्वकीयेन दाहकेन
शरीरेण प्रजा मा हिंसीः ॥ कात्यायनः ॥ अक्षे खर्जत्यक्रन्ददग्निरिति जपतीति ।
प्राग्गमनकाले शकटस्याक्षे ध्वनिं कुर्वति सति इमं मन्त्रं जपेत् ॥ पाठस्तु ॥
अक्रन्ददग्नस्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन । सद्यो जज्ञानो
विहीमिद्धोऽअख्यदारोदसी भानुना भात्यन्त इति ॥ पूर्ववद्वाख्येयम् ॥ कात्या-
यनः ॥ उत्तरतः समिदाधानं प्रमेतीति ॥ प्रयाणानन्तरं शकटमवस्थाप्य उ-
ख्याप्रेरुत्तरभागे समिधमादध्यात् ॥ पाठस्तु ॥ प्रयायमग्निर्भरतस्य शृण्वे वि-
यत् सूर्यो न रोचते बृहद्गाः । अभि यः पूरुं पृतनासु तस्थौ दीदाय दैव्यो
अतिथिः शिवो न इति ॥ अयमग्निर्भरतस्य हविर्भरणवतो यजमानस्याह्वानं
शृण्वे शृणोतु । यत् योऽग्निः, सूर्यो न = सूर्य इव, भाः भाममानः सन् बृह-
द्रोचने दीदाय अत्यन्तं दीप्यते । योऽग्निः पृतनासु संग्रामेषु पूरुं जयपूर्तिम्
अभितस्थौ सर्वतः करोति । सोऽग्निर्नोऽस्माकम् अतिथिर्भवतु । अतिथिरेव
समागच्छतु । कीदृशोऽग्निः । दैव्यः । देवेभ्यो हितः शिवः परममङ्गलरूपः ॥
कात्यायनः ॥ अप्सूख्यभस्मावपनं पलाशपुटेनापो देवीरित्येकया ततो द्वाभ्या-
मिति ॥ आपो देवीरित्येकयर्चा तस्या उत्तराभ्यामप्स्वय इत्युभाभ्याम् ऋग्भ्यां
च पलाशपत्रनिर्मितेन पात्रेण च उख्याग्नेरुपरि स्थितं भस्म जलेषु प्रक्षिपेत् ॥
तत्र प्रथमायाः पाठस्तु ॥ आपो देवीः प्रतिगृभ्णीत भस्मैतत् स्योने कृणुध्वं
सुरभा उ लोके । तस्मै नमन्तां जनयः सुपत्नीर्मातेव पुत्रं विभृताप्स्वेनत् इति ॥
हे आपो देवीर्दैव्यः, भस्म उख्याग्नेरुपरि सञ्चितं भस्म प्रतिगृभ्णीत । एतत्
प्रतिगृहीतं भस्म स्योने सुखकरे सुरभौ सुगन्धियुक्त एव लोके स्थाने
कृणुध्वं स्थापयत । शोभनः पतिर्वरुणरूपो यासां ताः सुपत्न्यः । आपो

धरुणस्य पत्रय आसन्निति ह्यन्यत्रास्नातत्वात् । जनयोऽग्नेर्जनन्य
 आपः । वाडवं वैद्युतरूपमग्निं प्राति अपां जननीत्वम् । ईदृश्य आपस्तस्मै
 भस्मरूपायाग्नये नमन्तां प्रह्वीभवन्तु । तमग्निं पालयितुमवश्यं सावधाना भव-
 न्त्वित्यर्थः । हे आपो, यथा लोके माता पुत्रं पोषयति तद्वदेनमिमं भस्मरूप-
 मग्निम् अप्सूदकरूपाम्बु युष्मास्ववस्थाप्य विभूत पोषयत ॥ अथ द्वितीयः ॥
 अप्सवग्ने सधिष्ठव सौषधीरनुरुद्धयसे । गर्भे सज्जायसे पुनरिति ॥ हे अग्ने, तव
 सधिः सहो बलं भस्मरूपमप्सु वर्तते स त्वम् । ओषधीरनुरुद्धयसे । व्रीहि-
 यवाद्योषधीरनुरञ्जसि जाठराग्निरूपेण तत्स्वीकारात् । अरण्योर्गर्भे स्थितः
 पुनः पुनर्जायसे ॥ अथ तृतीयः ॥ गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।
 गर्भो विश्वस्य भूतस्याग्ने गर्भो अपामसीति ॥ हे अग्ने, त्वं भेषजरूपैरोषधि-
 विश्लेषैरुत्पत्स्यमानस्य प्राणिजातस्य जठरे वर्तमानत्वाद् गर्भोऽसि । तथा वाडव-
 वैद्युतरूपेणाऽपां गर्भोऽसि ॥ कात्यायनः ॥ अनामिकायाः प्रास्तादादत्ते प्रस-
 र्येतीति । उदकेषु प्रक्षिप्ताद्भस्मनः सकाशादनामिकयाङ्गुल्या किञ्चिद्भस्म
 प्रसर्पेत्पादिभिश्चतुर्भिर्मन्त्रैरादद्यात् ॥ तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ प्रसद्य भस्मना
 योनिमपश्च पृथिवीमग्ने । सःसृज्य मातृभिष्टुं ज्योतिष्मान् पुनरासद इति ॥
 हे अग्ने, भस्मना सह योनिं कारणभूतां पृथिवीं प्रसद्य प्रपद्य । किं पृथिवीमेव ।
 नेत्याह । अपश्च योनिभूताः प्रतिपद्य । किञ्च मातृभिरद्भिः पृथिव्या च
 सःसृज्य एकीभूय त्वं भृशं ज्योतिष्मान् संपन्नः पश्चात् स्वयमेव स्थानमुत्ताम
 आसदः आसीद ॥ अथ द्वितीयः ॥ पुनरासद्य सदनमपश्च पृथिवीमग्ने । शेषे
 मातुर्यथोपस्थेऽन्तरस्याः शिवतम इति ॥ हे अग्ने, अपः पृथिवीं च सदनं
 पुनरासद्याऽऽस्थाय शिवतमः सन् अस्वामुत्तायाम् अन्तर्मध्ये मातुरुपस्थे इव
 शेषे स्वपिपि ॥ अथ तृतीयः ॥ पुनरूर्जा निवर्तस्व पुनरग्न इषायुषा । पुनर्नः
 पाह्यः हस इति ॥ अग्ने, त्वम् ऊर्जा क्षीरादिरमेन सह पुनर्निवर्तस्वाऽज्वागच्छ ।
 इषा अग्नेन आयुषा सह पुनरागच्छ नोऽस्मान् पुनः कृतादंहसः पाहि पालय ॥
 अथ चतुर्थः ॥ सह रय्या निवर्तस्वाग्ने पिन्वस्व धारया विश्वप्स्या विश्वतस्प-
 रीति ॥ हे अग्ने, रय्या धनेन सह निवर्तस्व । प्सा भक्षण इति धातुः । विश्वैः सर्वैः
 प्सायते भक्षयते पीयत इति विश्वप्स्नी । तादृश्या धारया विश्वतस्परि सर्वेषां
 तृणधान्यलतापादपानामुपरि पिन्वस्व सिञ्च ॥ कात्यायनः ॥ प्रास्योत्तायामुप-
 तिष्ठते बोधाम इतीति ॥ अनामिकया स्वीकृतं प्रक्षिप्य, बोधाम इति द्वाभ्यां

मन्त्राभ्यामुख्याग्रेरुपस्थानं कुर्यात् ॥ तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ बोधा मे अस्य
वचसो यविष्ठ मंहिष्ठस्य प्रभृतस्य स्वधा वः । पीयति त्वो अनु त्वो गृणाति
वन्दारुष्टे तन्वं वन्दे अग्न इति ॥ हे स्वधावः, स्वधोपलक्षितान् यस्य तत् ।
यविष्ठ युवतम । हे अग्ने, मदीयस्यास्य वचसः स्तुतिरूपस्य बोध तात्पर्यं बुध्यस्व ।
कीदृशस्य वचसः । मंहिष्ठस्यातिशयेनाभिवृद्धिहेतोः । प्रभृतस्य प्रकृष्टेन अद-
रेण सम्पादितस्य । प्यायी वृद्धावित्यस्य धातोर्निष्पन्नः पीयतिशब्दः ।
त्वशब्द एकशब्दार्थे वर्तते । भवदीयस्तुतिकारिणोर्द्विपौर्यजमानत्विजोर्मध्ये एकः
स्तोता वृद्धमधिकं वक्ति । उचितोक्तिमुलङ्घयानिन्दारूपेणातिपशंसारूपेण वा
यत्किञ्चिदुक्तितः, एकः स्तोता अनुगृणाति अनुकूलमुचितमेव वक्ति । अतो-
ऽस्मदभिप्रायं बुध्यस्वेति प्रार्थ्यते । वन्दारुरभिवादनपरोऽहं ते त्वदीयं शरीरं
तन्वं वन्दे ॥ अथ द्वितीयः ॥ स बोधि सूरिर्मघवा वसुपते वसुदावन । युयो-
ध्यस्मदद्रेषांसीति ॥ हे वसुपते, धनपते, हे वसुदावन अन्नप्रदाऽग्रे, स त्वं
बोधि अस्मदभिप्रायं बुध्यस्व । कीदृशस्त्वम् । सूरिर्विद्वान् मघवा अन्नवान् ।
तादृशस्त्वं, द्वेषामि शत्रुभिः कृतान् द्वेषान् अस्मद् युयोधि अस्मत्तः पृथक्कुरु
॥ कात्यायनः ॥ आज्यं विश्वकर्मण इति जुहोतीति ॥ स्वाहेति मन्त्रशेषः ।
विश्वकर्मणे समस्तजगत्सृष्टिस्थित्यादिकर्मकर्त्रे तुभ्यं स्वाहा मुहुतमस्तु ॥ कात्या-
यनः ॥ उत्थायादधानि समिधं पुनस्त्वेति ॥ पाठस्तु ॥ पुनस्त्वादित्या रुद्रा वमवः
समिन्धतां पुनर्ब्रह्माणो वसुनीथ यज्ञैः । धृतेन त्वं तन्वं वर्धयस्व सखाः सन्तु
यजमानस्य कामाः स्वाहेति ॥ हे अग्ने, त्वा आदिस्या रुद्रा वमवश्च पुनः
समिन्धताम् उपशान्तं पुनः मन्दीपयन्तु । हे वसुनीथ, वसूनां धनानां नेतः
ब्रह्माणः ब्राह्मणा ऋत्विजः यज्ञैर्निर्मितभूतैस्त्वां पुनः समिन्धतां धृतेन तुष्टः
सन् तन्वं शरीरं वर्धयस्व ततस्त्वयि तुष्टे सति यजमानस्य कामाः सत्याः
सन्तु ॥ इति त्रयोदशेऽध्याये तृतीयोऽनुवाकः ॥ १३ ॥ ३ ॥

तृतीयेऽनुवाके बह्वैरुक्त्यस्य चयनदेशं प्रति नयनमुक्तम् ॥ अथ चतुर्थे
गार्हपत्यचयनमुच्यते ॥ कात्यायनः ॥ पलाशशाखया गार्हपत्यं व्यूह्यपेत
वीतेतीति ॥ पालाशशाखया गार्हपत्यस्थानव्यूहनं संमार्जनं कुर्यात् ॥ पाठ-
स्तु ॥ अपेत वीत वि च सर्पतान्तो येऽत्र स्थ पुराणा ये च नूतनाः । अदा-
द्यमोऽवसानं पृथिव्या अक्रन्निमं पितरो लोकमस्मा इति ॥ यमस्य सर्वभूम्य-
धिपतित्वात् तद्भूताः पृथिव्याः सर्वत्र वर्तन्ते । हे यमभूत्याः, अत्र देवयजनः

स्थाने पुरातना ये यूयं स्थ । नूतनाश्च ये यूयं स्थ ते सर्वेऽप्येते अस्मात्
स्थानादपगच्छत । वीत अत्यन्तविदूरं गच्छत विसर्पत च । अतोऽस्मात्
स्थानादपेत्य सङ्घातं परित्यज्य विविधे गच्छत । यमः पृथिव्या इदमवसानं
स्थानमस्मभ्यमदात् । पितरश्चास्मै यजमानायेमं लोकम् अक्रन् । एतच्च यजन-
स्थानं कृतवन्तः ॥ कात्यायनः ॥ उखान्नितपति सज्ज्ञानमितीति ॥ ऊखर-
प्रदेशस्थान् पांसून् गार्हपत्यस्थाने निवपेत् ॥ पाठस्तु ॥ सज्ज्ञानमसि काम-
धरणं मयि ते कामधरणं भूयादिति ॥ हे ऊखरस्वरूप, त्वं संज्ञानं पशु-
सम्बन्धिसम्पगुज्ञानममि । पशवो ह्याघ्राणेन सम्पगु ज्ञात्वा तमूखरप्रदेशं लिह-
न्ति । तथा कामधरणमसि । यदमुष्या यज्ञियमासीच्चदस्यामदधात् ऊखा
अभवन्निति श्रुत्यन्तरे यज्ञिपांशत्वेनोक्तत्वाद्यज्ञद्वारा कामानां धारकमसि ।
अतस्ते तत्र यत्कामधारणसामर्थ्यं तन्मयि भूयात् ॥ कात्यायनः ॥ सिकता-
श्चाग्नेर्भस्मेतीति ॥ पाठस्तु ॥ अग्नेर्भस्मास्यग्नेः पुरीषमसीति ॥ हे सिकता-
स्वरूप, त्वमग्नेर्भस्म भासकमसि । सिकताधारो ह्यग्निरतिनीक्ष्णो भवति ।
तथा त्वमग्नेरवस्थानाय पुरीषममि पांसुरूपमसि ॥ कात्यायनः ॥ परिश्रिद्धिः
परिश्रयति चित् स्थेतीति ॥ परिश्रयणनाधनाभिः शर्कराभिः प्रसारयेत् ॥
पाठस्तु ॥ चित् स्थ परिचित् ऊर्ध्वचितः श्रयध्वमिति ॥ चीयन्ते भूमौ प्रक्षि-
प्यन्त इति चितः । हे शर्कराः, यूयं चित् स्थ । भूमौ प्रक्षिप्ता भवथ । परि-
चितः परितः प्रक्षिप्ता ऊर्ध्व चितः सिकतानामूर्ध्वं प्रक्षिप्ताः । तादृश्यो यूयं श्रय-
ध्वम् । इदं गार्हपत्यायतनं सेवध्वम् ॥ कात्यायनः ॥ चतस्रो दक्षिणोत्तराः
प्राचीरुपदधाति दक्षिणत उदयगयः सो अग्निरिति तत्प्रत्युचमिति ॥ गार्हपत्यस्य
मध्यप्रदेशे दक्षिणमारभ्य उत्तरापवर्गाः प्रागग्राश्चतस्र इष्टका दक्षिणतः स्थित्वा
उदङ्मुखः सन्, अयः सो अग्निर्यस्मिन्सोममिन्द्रः सुतं दधे जठरे वाक्शानः ॥
तत्र प्रथमः ॥ अयः सोऽअग्निर्यस्मिन्सोममिन्द्रः सुतं दधे जठरे वाक्शानः ॥
सहस्रियं वाजमसन्न सप्तिः ससवान्सन्स्तूयसे जातवेद इति ॥ यस्मिन् गार्हपत्य-
वति रूपेऽग्नौ सति वाक्शानः कामयमानः इन्द्रः सुतमभिषुतं सोमं जठरे
दधे स्वोदरे धारयिता स तादृशोऽयमग्निरिदानीमिष्टकाभिश्चीयत इति शेषः ।
हे जातवेदोऽग्ने, त्वम् असं न सप्ति = सन्ततगमनकुशलमश्वमिव, सहस्रियं सहस्र-
संख्याकेन धनेन समितं वाजमसन्नं ससवान् दत्तवान् यजमानेन स्तूयसे ॥ अथ
द्वितीयः ॥ अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वा यजत्र । येनान्त-

रिक्षमुर्वीततन्थ त्वेषस्स भानुरर्णवो नृचक्षा इति ॥ हे यजत्र, हे यज्ञनिष्पाद-
केष्टकारूपाम्रे, ते तव यद्वर्चः तेजो दिवि द्युलंके सूर्यरूपेण वर्तते । पृथिव्यां
बह्विज्वालारूपेण वर्तते । तथा यत्तेजः ओषधीषु परिपावकत्वाकारेण वर्तते ।
अप्सु वडवानलरूपेण वर्तते । येन त्वदीयवर्चसा विद्युद्रूपेणोरु विस्तीर्णमन्तारि-
क्षमाततन्थ सर्वतो विस्तारितवानसि प्रकाशितवानमीत्यर्थः । त्वेषः त्विषां दीप्तिर्ना
स त्वदीयवर्चः समूहो भानुर्भासकः अर्णवः समुद्र इव विस्तीर्णः । नृचक्षा मनुष्यान्
प्रख्यापयिता तथाविधस्तेजोरूपामिष्टकामुपदधामीति शेषः ॥ अथ तृतीयः ॥
अग्ने दिवो अर्णमच्छा जिगास्यच्छा देवां ऊचिषे धिष्ण्या ये । या रोचने परस्तात्
सूर्यस्य याश्चावस्तादुपतिष्ठन्त आप इति ॥ हे इष्टकारूपाम्रे, दिवः सकाशा-
दर्णम् उदकम् अच्छाभिमुख्येन जिगासि प्राप्नोषि । यागद्वारेण दृष्टिं संपाद-
यसीत्यर्थः । ये देवा धिष्ण्या धारास्तान् देवानच्छाभिमुख्येन ऊचिषे हविः
स्वीकुरुषे । त्वय्यज्ञोपहितायाम् आहूता इव देवा आगत्य हविः स्वीकरिष्य-
न्तीत्यर्थः । सूर्यस्य देवस्य रोचने दीप्तिरूपे मण्डले सति या आपः पर-
स्तादूर्ध्वदेश उपतिष्ठन्ते वर्तन्ते । याश्चावस्तादधोभागे वर्तन्ते ताः सर्वास्त्वय्यु-
पहितायामिह गामभ्येप्यन्तीति शेषः ॥ अथ चतुर्थः ॥ पुरीष्यामोऽअग्नयः
प्रावणेभिः सजोषसः । जुपन्तां यज्ञमद्रुहोऽनमीवा इषो महीरिति ॥ एते
अग्नय इष्टकारूपा अस्मदीयमिमं यज्ञं जुपन्तां सेवन्ताम् । कीदृशा अग्नयः
पुरीष्यासः पुरीषे पांसुरूपे भवाः प्रावणेभिः प्रकर्षेण सम्भजनशीलैर्मनोभिः
सजोषसः परस्परं समानप्रीतयः । अद्रुहो हिंसारहिताः । अनमीवा रोगरहिताः ।
इषोऽभीष्टप्राप्तिहेतवः । महीः प्रौढाः । तथाविधा अग्निरूपा इष्टका उपदधामीति
शेषः ॥ कात्यायनः ॥ इळामग्न इति पश्चिमे प्रतिमन्त्रमुत्तरत इति ॥ स्वयमु-
त्तरतः स्थित्वा गार्हपत्यस्य पश्चिमभागे इळामग्नेऽयं ते योनिरित्यन्ताभ्या-
म् ऋग्भ्यां द्वे इष्टके उपदध्यादिति शेषः ॥ तत्र प्रथमायाः पाठः ॥ इळ्य-
मग्ने पुरुदंस् सनि गोः शश्वत्तमं हवमानाय साध । स्यान्नः स्रनुस्तनयो
विजावाऽग्ने सा ते सुमतिर्भूत्वस्मे इति ॥ हे अग्ने, हवमानाय होतुं प्रवृत्ताय
यजमानाय गोः सनि गवादिपशूनां दातारं साध सम्पादय । कीदृशं दाता-
रम् । इळ्यं सर्वैरीळ्यं प्रशंसनीयं पुरुदंसं बहुधा दर्शनीयं शश्वत्तममत्यन्तमविच्छे-
देन वर्तमानम् । किञ्च त्वत्पसादाभ्योऽस्माकं स्रनुः स्यात् । पुत्रो भवतु । की-
दृशस्तनय औरस इत्यर्थः । पुत्रसामान्यस्य स्रनुशब्देनोक्तत्वाद् अन्यपुत्रादि-

व्याहृतये विशेषविवक्षया तनयशब्दः प्रयुज्यते । विजावा विविधानां जन-
यिता । हे अग्ने, ते तव सा सुमतिः तथाविधा अनुग्रहबुद्धिः अस्मे
भूतु । अस्मासु भवतु ॥ अथ द्वितीयः ॥ अयं ते योनिर्ऋत्वियो यतो १२
जातोऽअरोचथाः । तं जानन्नग्न आरोहाथा नो वर्धया रयिमिति ॥ हे अग्ने,
अयम् इष्टकारूपः पदार्थः, ते तव योनिरुत्पत्तिहेतुर्ऋत्वियः ऋतुकालीन-
स्त्रीपुरुषसङ्गम इव । अतो योनेर्यत उत्पन्नस्त्वम् अरोचथाः दीप्यमानोऽसि ।
तं तथाविधं योनिं जानन्नवगच्छन्नारोह माप्नुहि । अथाऽनन्तरं नोऽस्माकं
रयिं धनं वर्धय ॥ कात्यायनः ॥ चिदसीति पूर्वदक्षिणः प्रतिमन्त्रमिति ॥
दक्षिणतः स्थित्वा पूर्वभागे चिदसीति मन्त्रद्वये इष्टे उपदध्यात् ॥ तत्र प्रथम-
मन्त्रपाठस्तु ॥ चिदसि तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीदेति ॥ भोगाँश्चिनोति १२
सम्पादयतीति चित्र । हे इष्टके, त्वं चिदसि या देवता त्वामभिमन्यते तथा
देवतयाऽनुगृहीता त्वं ध्रुवा स्थिरा भूत्वा सीद तिष्ठ । तत्र दृष्टान्तः । अङ्गिर-
स्वत् । अङ्गिरोऽभिरूपद्वितेष्टका यथा ध्रुवा भवति तद्वत् ॥ अथ द्वितीयः ॥
परिचिदसि तयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा सीदेति । परितो भोगाँश्चिनोति सम्पादय-
तीति परिचित्र । शेषं पूर्ववत् ॥ कात्यायनः ॥ तिसृषु लोकम्पृणासु मन्त्रो
दशसु चेति ॥ अत्र मन्त्रे इत्येतल्लोकम्पृण ता अत्येत्येतन्मन्त्रद्वयस्य प्रतीकम् ।
लोकम्पृणमञ्जुका यास्त्रयोदशेष्टकाः तामामुपधानकाले एतन्मन्त्रद्वयं प्रयोक्त-
व्यम् ॥ तत्रायं प्रथमः ॥ लोकम्पृण छिद्रं पृणाथो सीद ध्रुवा त्वम् । इन्द्राग्नी १२
त्वा बृहस्पतिरस्मिन् योनाऽअसीषदन्निति ॥ हे इष्टके लोकं गार्हपत्यचयनार्थं
प्रदेशे पूर्वोक्ताभिरिष्टकाभिरनाक्रान्तमवशिष्टमवसानं पृण पूरय । तथा छिद्रं
पृण । किञ्चिदपि छिद्रं यथा न दृश्यते तथा पूरय । अत्यन्तं संश्लिष्टा भवे-
त्यर्थः । अयोऽपि च दृढा सती सीदाऽवतिष्ठस्व । इन्द्राग्नी बृहस्पतिश्चैते
देवा अस्मिन् योनौ स्थाने त्वामसीषदन् सादितवन्तः ॥ अथ द्वितीयः ॥
ताऽअस्य सूददोहसः सोमः श्रीणन्ति पृथनयः । जन्मं देवानां विशस्त्रिष्व १२
रोचने दिव इति ॥ दिवो रोचने स्वर्गस्य प्रकाशके अस्य यजमानजन्मनिमि-
त्तभूते सति देवानां सम्बन्धिन्यो विशः प्रजारूपाः पृथनयोऽल्पगोसदृशाः सूद-
दोहसोऽन्नस्य दोहयिष्यस्ता इष्टकास्त्रिषु प्रातःसवनदिषु सवनेषु आसमन्तात्
सोमं श्रीणन्ति पक्वं कुर्वन्ति ॥ कात्यायनः ॥ चात्वालदेशात् पुरीषं निव-
पतीदं विश्वा इतीति ॥ चात्वालदेशाच्छुष्कं पांसुमादायाऽस्मिन् गार्हपत्य-

चयने निवपेत् ॥ पाठस्तु ॥ इन्द्रं विश्वाऽअग्नीवृधन्त्समुद्रव्यचसं गिरः । रथी-
तमः रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिमिति ॥ विश्वाः सर्वा गिरोऽस्मदीयाः
स्तुतयः इन्द्रमग्नीवृधन् वद्धितवन्तः । कीदृशमिन्द्रम् । समुद्रव्यचसं समुद्रवद्
व्याप्तवन्तम् । रथीनां रथयुक्तानां योद्धृणां मध्ये रथीतमपतिशयेन रथयुक्तं
वाजानामन्तानां पतिं स्वामिनमासत्पतिं सन्मार्गवर्तिनां पालकम् ॥ कात्यायनः ॥
उक्थ्यं निर्वपति समितमितीति ॥ समितमित्यादिभिश्चतसृभिर्ऋग्भिस्तस्मिन्
गार्हपत्यचयने उरुयार्गिन् निर्वपेत् ॥ तत्र प्रथमायाः पठस्तु ॥ समितः सङ्कल्पे-
थाः संप्रियौ रोचिष्णू सुमनस्यमानौ । इषमूर्जमभिसंवसाना इति ॥ यदिद्
गार्हपत्यचयनमभिहितं तस्मिन्नुत्वाग्निनिर्वपनवेलायां द्वावग्नी सम्पद्येते । पूर्व-
सिद्धोऽग्निरेकः, उरुयोऽग्निरपरस्तायुभौ सम्बोध्येदमुच्यते । हे भग्नी, युवा-
मुभौ समितं सङ्गतौ भवतमासङ्गत्य च सङ्कल्पेथां सम्पद्यज्ञस्य कल्पनं निष्पा-
दनं कुरुतम् । कीदृशौ युवाम् । संप्रियौ सम्पक् परस्परं प्रीतियुक्तौ, रोचिष्णू
दीप्यमानौ सुमनस्यमानौ परस्परं मौमनस्यं प्राप्तौ । इषमन्नमूर्जं रसं वाऽभि-
संवसानौ अभितः सम्पक्संपादयन्तौ ॥ अथ द्वितीयः ॥ सं वां मनाःसि
सं व्रता समु चित्तान्याकरम् । अग्ने पुरीष्याधिपा भव त्वं न इषमूर्जं यज-
मानाय धेहि इति ॥ हे पूर्वोक्तावग्नी, वां युवयोर्मनांसि मनोजन्यान् संकल्पान्
समाकरं सर्वतः सङ्गतानि करोमि । तथा व्रतानि कर्माणि समाकरम् । तथा
चित्तानि कर्मविषयज्ञानानि समाकरम् । हे पुरीष्य, पांसुयुक्ताग्ने मिलितोभ-
याग्निस्वरूप नोऽस्माकमधिपा भव अधिकं पालयिता भव । तादृशस्त्वं यज-
मानाय इषमन्नमूर्जं रसं च धेहिदेहि ॥ अथ तृतीयः ॥ अग्ने त्वं पुरीष्यो रयिमान्
पुष्टिमांऽअसि । शिवाः कृत्वा दिशः सर्वाः स्वं योनिमिहामद् इति ॥ हे
अग्ने भगवन्, त्वं पुरीष्यः पुरीपादिभिः पांसुयुक्तः । रयिमान् धनवान् ।
पुष्टिमानप्यसि । सर्वा दिशः शिवाः शान्ताः कृत्वा इहास्मिंश्चयने स्वं योनिं
स्वकीयस्थानमासदः प्राप्नुहि ॥ अथ चतुर्थः ॥ भवतन्नः समनसौ सचेतसोऽरे-
पसौ । मा यज्ञं हिंसिष्ट । मा यज्ञपतिं जातवेदसौ शिवौ भवतमद्य न इति ॥
योऽग्निः पुरातनो यश्चोख्यस्तौ युवां नोऽस्मदर्थं समनसौ मनसा सहितौ स-
चेतसौ परस्परं समानचित्तयुक्तौ अन्यविषयं मनः परित्यज्यास्मदनुग्रहाभि-
मुखत्वं समनस्त्वम् । तस्मिन्ननुग्रहे परस्परप्रतिपत्तिराहित्यं सचेतस्त्वम् ।
अरेपसौ पापराहितौ अस्मद्विषये प्रामादिकेनापराधेनापि कोपाभावः पापराहि-

सम् । भवतं यथोक्तगुणयुक्ताबुधौ तिष्ठतम् । पापराहित्यमेव स्पष्टीक्रियते ।
यज्ञं मा हिंसीष्टम् । अस्मदीयं कर्म मा विनाशयतम् । हे जातवेदसाबुधवर्धी,
युवाम् अद्यास्मिन्ननुष्ठानदिने नोऽस्मदर्थं शिवौ शान्तौ भवतम् ॥ कात्यायनः ॥
मातेव पुत्रमिति शिष्याद्विमुच्येति ॥ उखामित्यनुवर्तते ॥ पाठस्तु ॥ मातेव ?
पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निं स्वे योना अभारुखा । तां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः
प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमुञ्चत्विति ॥ यथा लोके माता पुत्रं विभर्ति तथा
पृथिवीरूपेयमुखा स्वे योनौ स्वकीयगर्भस्थाने पुरीष्यमेतमग्निम् अभाः अभा-
र्षीत् धारितवती । दुभृञ्प्रथमपुरुषस्य रूपं विभर्ति । तामुखां प्रजापतिर्वि-
मुञ्चतु शिष्यपाशान्मुक्तां करोतु । कीदृशः प्रजापतिः । विश्वैर्देवैर्ऋतुभिश्च
संविदान एकमत्वं गतः । विश्वसृष्टिरूपं कर्म यस्यासौ विश्वकर्मा ॥ इति त्रयोदशो-
ऽध्याये चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥ ॥ चतुर्थेऽनुवाके गार्हपत्यचयनमुक्तम् ॥
पञ्चमेऽआहवनीयचयनार्थं भुवः कर्षणमुच्यते ॥ कात्यायनः ॥ अनुपस्पृश-
न्नमुन्वतमिति प्रत्यृचमिति ॥ तुषाग्निना प्रदग्धाः कृष्णवर्णा निर्ऋतिदेवताका-
स्तिस्त्र इष्टका नैर्ऋत्यदेशे, अमुन्वतमिति तृचनोपदध्यात् ॥ तत्र प्रथमायाः
पाठस्तु ॥ अमुन्वतमयजमानमिच्छ स्तेनस्येयामान्विहि तत्करस्य । अन्यमस्म-
दिच्छ सा त इया नमो देवि निर्ऋते तुभ्यमस्त्विति ॥ हे निर्ऋते देवि, यः
सोमयागं न करोति यश्च हविर्यज्ञान्न करोति तादृशममुन्वतम् अयजमानं च
ग्रहीतुमिच्छ । किञ्च यस्तेनः प्रच्छन्नचारः, यश्च तत्करः प्रकटचोरस्तयोरित्यां
गतिम् अन्विहि अनुगच्छ । पृष्ठतो गत्वा तावपि गृहाणेत्यर्थः । सर्वथा सोमं
मुन्वज्यो हविर्यज्ञैश्च यष्टृभ्योऽस्मदन्यमिच्छ सा ते दुष्टशिक्षा तव इत्या गतिश्चर्या ।
एवम्भूतायै तुभ्यं नमोऽस्तु ॥ अथ द्वितीया ॥ नमः सु ते निर्ऋते तिग्मतेजो-
ऽयस्मयं विचृता बन्धमेतम् । यमेन त्वं यम्या संविदानोत्तमे नाकेऽधिरोह-
यैनमिति ॥ हे निर्ऋते, दक्षिणपश्चिममध्यस्थिताऽवान्तरादिगभिमानिनि देवते,
तिग्मं तीक्ष्णं तेजो यस्याः सा तिग्मतेजाः । सम्बोधनं, हे तिग्मतेजः, तुभ्यं
सुष्ठु नमोऽस्तु । अयस्मयम् अस्मदीयम् अयोनिमितं शृङ्खलावद् दृढम् एतं
बन्धं स्वर्गप्राप्तिबन्धकम् इमं पाप्मानं विचृतं विनाशयत । ततस्त्वं यमेनाग्निना
यम्या च पृथिव्यैव संविदानैकमत्यं गता सती एनं यजमानम् उत्तमे नाके
सर्वमुखोपेते दुःखमात्रराहिते स्वर्गे अधिरोह्य स्थापय ॥ अथ तृतीया ॥
यस्यास्ते घोर आसं जुहोम्येषां बन्धानामवसर्जनाय । यां त्वा जनो भूमिरिति

प्रमन्दते निर्ऋतिं त्वाहं परिवेद विश्वत इति ॥ हे घोरे क्रूररूपे निर्ऋतिदेवि,
यस्यास्ते तव आसन् आसनि आस्ये मुखे जुहोमि आहुतिवदिष्टकामुपदधामि
किमर्थं बन्धानां यजमानस्य परलोकप्राप्तिबन्धकानामेषां पाप्मनाम् अवसर्ज-
नाय विनाशार्थम् । यां त्वा जनो अनुमात्ररूपः शास्त्रसंस्काररहितो भूमिरिति
प्रमन्दते स्तौति । भूमिर्निर्ऋतिदेवीति । अहं तु शास्त्राभिज्ञतया तादृशीं त्वां
विश्वतः सर्वथाऽपि निर्ऋतिमेव परिवेद सम्यग् जानामि । तत्रतावन्निर्ऋति-
रित्येतद्देवताया नामधेयम् । अवयवार्थश्चैवं व्युत्पादनीयः । सर्वदेवसाधारणाद्देव-
पाजनान्निष्कृष्य स्वतन्त्रे देशे निर्ऋतिः प्राप्तिर्यस्याः सा निर्ऋतिस्तदिदं
प्रकारद्वयमभिप्रेक्ष्य विश्वत इत्युक्तम् ॥ कात्यायनः ॥ शिष्यरुक्मपाशेन्द्रास-
न्दीपरेणास्यति यं त इतीति ॥ शिष्यादीन् प्रक्षिपेत् ॥ पाठस्तु ॥ यं ते देवी
निर्ऋतिरावबन्ध पाशं ग्रीवास्ववितृप्त्यम् । तं ते विष्याम्यायुषो न मध्यादारभ्य न भवति
पितुमद्भिः प्रसूत इति ॥ हे यजमान, ते तव ग्रीवासु ग्रीवायाः सम्बन्धिषु प्रदेश-
विशेषेषु यं पाशं निर्ऋतिदेवी आवबन्ध आसमन्ताद् बन्धितवती । कीदृशं पा-
शम् । अवितृप्तं विनाशयितुमशक्यं दृढमित्यर्थः । ते त्वदीयं ग्रीवास्थं तं पाशं
विष्यामि विमुञ्चामि । तच्च विमोचनं त्वदीयस्यायुषो मध्यादारभ्य न भवति
किन्तु कृत्स्नोऽप्यायुषि । अथ पाशविमोचनानन्तरं प्रसूतोऽभ्यनुज्ञातस्त्वम् अय-
मग्निनिवेशनः एतं पितुम् एतदन्नमद्भिः भक्षय ॥ कात्यायनः ॥ उत्तिष्ठन्ति
नमो भूत्या इतीति ॥ उत्थानं कुर्युः ॥ पाठस्तु ॥ नमो भूत्यै येदं चकारेति ॥
या देवी इदमग्निलक्षणं कर्म चकार कृतवती तस्यै भूम्यै श्रीरूपिण्यै देव्यै
नमोऽस्तु ॥ कात्यायनः ॥ शालाद्वार्योपस्थानं निवेशन इतीति ॥ पाठस्तु ॥
निवेशनः सङ्गमनो वसूनां विश्वा रूपाभिचष्टे शचीभिः । देव इव सविता
सत्यधर्मोन्द्रो न तस्थौ समरे पथीनामिति ॥ अयमग्निर्निवेशनो यजमानानां
स्वगृहे निवेशयिता, वसूनां सङ्गमनः प्रजापशुरूपाणां द्रव्याणां प्रापकः ।
तादृशः सन्, शचीभिः स्वकीयाभिः शक्तिभिर्विश्वा रूपा सर्वाणि रूपाणि
प्रकाशयति । तद्वत् । कीदृशोऽग्निः । सत्यधर्मा सत्योऽवश्यम्भाविफलपेत्तो
धर्मोऽग्निहोत्रादिलक्षणो यस्यासौ सत्यधर्मा । इन्द्रः परमैश्वर्यवान् । अत एव
पथीनां समरे न तस्थौ परिपन्थिनां शत्रूणां युद्धे स्वयमागत्य न तिष्ठति किन्तु
स्वकीयनामग्रहणमात्रेण ते पलायन्त इत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ नियुज्यमानमभि-
मन्त्रयते सीरा युज्जन्तीति ॥ बलीवर्देः सह नियुज्यमानं सीरा युज्जन्तीत्यादि-

मन्त्रद्वयेनाभिमन्त्रयेत् ॥ तत्र प्रथमायाः पाठः ॥ सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा १
 वितन्वते पृथक् । धीरा देवेषु सुम्नयेति ॥ कवयः कृषिकर्माभिज्ञाः, सीरा
 सीरं लाङ्गलं युञ्जन्ति सज्जीकुर्वन्ति । तथा, युगा सुष्ठु द्वादश वा
 कक्ष्याविशेषेष्वपेक्षितानि युगानि तन्वते । एकैकं विस्तारयन्तु । कीदृशाः ।
 कवयः । धीराः धैर्ययुक्ता अनलमा इत्यर्थः । तथा देवेषु देवताविषयेषु सुम्नया
 मुन्नं सुखमिच्छन्तीति मुन्नायवः ॥ अथ द्वितीयः ॥ युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं १
 कृते योनौ वपनेह बीजम् । गिरा च सृष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः
 पकमेयादिति ॥ हे कर्षकाः, सीरा युनक्त लाङ्गलं योजयत । युगा वितनुध्वं
 युगानि विस्तारयत । कृतेन कर्षणेन संस्कृते इहास्मिन् योनौ स्थाने बीजं
 प्रीक्षादिकं वपत । किञ्च तद्वीजं गिरा आशीर्वादरूपेण मङ्गलवाक्येन युक्त-
 मिति शेषः । सृष्टिस्तत्र निष्पन्नस्तम्बो, नोऽस्मदर्थं सभरा अमत् फलभारयु-
 क्तोऽस्तु । पकं फलं नेदीय इत् अन्निकमेव अल्पकालनिष्पाद्यमेव सत् सृण्यः
 सृण्या लवनसाधनेन दात्रेण लूनं स आइयात् । अस्मत्समीपम् आगच्छतु ॥
 कात्यायनः ॥ कर्षति युनः सुफाला इति प्रत्युचमिति ॥ युनः सुफाला इत्या-
 दिभिश्चतसृभिर्ऋग्भिः कर्षणं कुर्यात् ॥ तत्र प्रथमः ॥ युनः सुफाला विकृषन्तु १२
 भूमिः युनं कीनाशा अभियन्तु वाहैः । शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला
 ओषधीः कर्तमस्मे इति ॥ सुफालाः । त्रिकला विशरणे । शोभनं फलम्
 अधिरोपणम् आकर्षणं येषां ते सुफालाः । भूमिं युनं सुखं यथा भवति तथा
 विकृषन्तु कर्षणं कुर्वन्तु । कीनाशाः हलिनः कर्षकाः, वाहैर्वलीवदैः सह युनं
 सुखं यथा भवति तथा अभियन्तु अभितः प्रवर्तयताम् । हे शुनासीराः, युनो
 वायुः सीर आदिन्यः तावुभौ युवामेवं क्षेत्रे कृष्टे सति हविषा उदकेन तोश-
 माना तोशमानौ भूमिं निघ्नन्तौ, सुपिप्पलाः शोभनफलोपेताः ओषधीः, अस्मे
 अस्मभ्यं कर्तं कुरुत बीजावापं कुरुतमित्यर्थः ॥ अथ द्वितीयः ॥ घृतेन सीता १
 मधुना समज्यतां विशैर्वैदेवैरनुमता मरुद्भिः । ऊर्जस्वती पयसा पिन्वमाना-
 ऽस्मान्सीते पयसाऽभ्यावदत्स्वेति ॥ इयं सीता लाङ्गलपद्धतिर्मधुना मधुरेण
 घृतेनोदकेन समज्यतां संसिच्यताम् । अतः सा सीता विशैर्वैदेवैर्मरुद्भिश्चानुमता
 समीचीनेयमित्यङ्गीकृता सा पुनरूर्जस्वती रसवती पयसा पिन्वमाना जलेना-
 ऽऽप्यायिता वर्तते । हे सीते जलेनाप्यायिता त्वम् अस्मान् प्रसभ्यावदत्स्व
 अभितः आहृता भव ॥ अथ तृतीयः ॥ लाङ्गलं पवीरवत् मुशेवः सोमपि-

त्सरु । तदुद्रपति गामार्वे प्रपूर्व्यं च पीवरीं प्रस्थावद्रथवाहणमिति ॥ इदं
लाङ्गलमुद्रपति उद्धृतानि प्रौढलोष्ठानि यथा भवन्ति तथा कर्षणं कुर्यादित्य-
र्थः । कीदृशं लाङ्गलं, पवीरवत् वज्रवत्तीक्ष्णोपेतं, सुशेवं कर्षकैः सुष्ठु सेवितुं
शक्यम् । अतितीक्ष्णत्वेन सहसा भूमिभेदात् कर्षकाणां नास्ति प्रयास इत्यर्थः ।
सोमपित्सरु । सोमं पिबतीति सोमपा यजमानः । यजमानरूपायां भूमौ सरण-
शीलम् । अनेन कर्षणेन फलाधिक्ये सति गवादिकं यजमानः प्राप्नोत्विति
शेषः । तत्र गौरविरित्युभयं प्रसिद्धमाप्रपूर्व्यं प्रथमवयस्कां कन्यां पीवरीं पुष्टार्द्धी,
प्रस्थावत् प्रयाणसमर्थं रथवाहनं रथं वोढुं योग्यमश्वादिकम् । यदा हि ऋषिः
समृद्धा भवति तदानीमेतत्सर्वं यजमानस्य सुलभम् ॥ अथ चतुर्थः ॥ कामं कामदुघे
धुक्ष्व मित्राय वरुणाय च । इन्द्रायाश्चिभ्यां पूष्णे प्रजाभ्य ओषधीभ्य इति ॥
काम्यन्त इति कामा भोगास्तान् कामान् दोग्धि सम्पादयतीति कामदुघा
लाङ्गलपद्धतिः । हे कामदुघे, मित्रादीनामोषध्यन्तानां काममपेक्षितं भोगं धुक्ष्व
सम्पादय ॥ कात्यायनः ॥ अनडुहो विमुच्यध्वमितीति ॥ बलीवर्द्धान् विसृजे-
त् ॥ पाठस्तु ॥ विमुच्यध्वमन्या देवयाना अगन्म तमसस्वारमस्य । ज्योति-
रापामेति ॥ हे अध्वन्याः, अहन्तव्या गावो बलीवर्दाः, यूयं विमुच्यध्वम् । युगा-
नि मुञ्चत । देवयाना देवतार्थं कर्मकारिणो यूयम् अस्य क्रियात्मकस्य
तमसः पारं तीरं वयमगन्म पारं गतास्मेति सन्दध्वमिति शेषः । अतो वयं
ज्योतिः सुखाभिव्यञ्जकं यज्ञलक्षणम् आपाम प्राप्तवन्तः ॥ कात्यायनः ॥
अभिजुहोति सजूरब्द इतीति ॥ कुशस्तम्बे जुहुयात् ॥ पाठस्तु ॥ सजूरब्दो
अयत्रोभिः सजूरुषा अरुणीभिः । सजोपसा अश्विना दक्षोभिः सजृः सूर
एतशेन सजूर्वैश्वानर इळया घृतेन स्वाहेति ॥ अयत्रोभिरित्यनेन पदेन मासा-
श्चार्द्धमासाश्चोच्यन्ते । तैरब्दः संवत्सरः सजृः समानप्रीतियुक्तो भवत्विति
शेषः । तथा उषा अरुणीभिः अरुणवर्णाभिः सजृः समानप्रीतियुक्ताः । तथा
अश्विना अश्विनौ देवौ दक्षोभिः कर्मभिः रसं सजोपसौ समानप्रीतियुक्तौ । तथा
सूर आदित्यः, एतशेन एतन्नाम्ना ऋषिणा शेन वा समानप्रीतियुक्तः । तथा
वैश्वानरोऽग्निः, इळया अन्नरूपेण हविषा सजृः समानप्रीतियुक्तो भवतु ।
एवंविधेभ्यः सर्वेभ्यो देवेभ्यो घृतेनाहुतिरूपेण क्षरणरूपेणाज्येन स्वाहा सुहुत-
मस्तु ॥ इति त्रयोदशोऽध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ॥ १३ ॥ ५ ॥

पञ्चमेऽनुवाके भुवः कर्षणमुक्तम् ॥ षष्ठे ओषधीवापोऽभिधीयते ॥

कात्यायनः ॥ या ओषधीरिति प्रत्युचैर्वपतीति ॥ या ओषधीरित्यादिभिः
 पञ्चदशसंख्याकाभिर्ऋग्भिः पञ्चतृचानि संपद्यन्ते । तैस्तृचैः सर्वा ओषधीर्नि-
 र्वेपेत् ॥ तत्रेयं प्रथमा ॥ या ओषधीः पूर्वा जाता देवेभ्यस्त्रियुगं पुरा । मनैनु १
 बभ्रूणामहं शतं धामानि सप्त चेति ॥ युगशब्दः कालवाची । त्रियुगं वर्षा
 शतसप्त इति कालत्रयमुद्दिश्य पुरा सृष्ट्यादौ देवेभ्यः सकाशाद् या ओषधयः
 पूर्वाः प्रथमा जाता उत्पन्ना बभ्रूणां प्राणिभरणसमर्थानां परिपाकेण
 पिङ्गलवर्णानां वा तासामोषधीनां शतं धामानि शतसंख्याकानि भेदात् सप्त च ।
 विशेषाकारेण ग्राम्यानारण्यैश्च सप्तधान्यभेदात् । अहं मनैनु मन्ये जानामि ॥
 अथ द्वितीया ॥ शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः । अथा शतक्रत्वो २
 यूयमिमं ये अगदं कृतेति ॥ हे अम्ब, मातृस्थाना ओषधयो, वो युष्माकं
 धामानि जातिभेदाः क्षेत्राणि वा शतं सन्ति उत अपि च वो युष्माकं रुहः
 प्रोहा अङ्कुराश्च सहस्रं सन्ति । शतमहस्रमित्याभ्यामपरिमितत्वमुपलक्ष्यते ।
 अथाथैवं बहुभेदापेक्षितत्वे सति शतसंख्याका ऋतवो याभिर्युष्माभिर्निष्पाद्यन्ते
 तादृश्यः शतक्रत्वो यूयं मे मदीयमिमं यजमानम् अगदं कृतं क्षुत्पिपासादि-
 रोगरहितं कुरुत ॥ अथ तृतीया ॥ ओषधीः प्रतिगृष्णीत पुष्पवतीः प्रसूवरीः ३
 अथा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णव इति ॥ ओषधीः प्रतिगृष्णीत यूयं
 प्रतिगृष्णीत । कीदृश्यः पुष्पवतीः । पुष्पैरुपेताः । प्रसूवरीः फलप्रसववतीः ।
 अथा इव सजित्वरीः । सङ्ग्रामे यथा अथा जयशीलाः, तद्वत् फलपर्यन्त-
 त्वाज्जयशीलाः, वीरुधो लतारूपाः पारयिष्णुफलकान्तत्वं परित्यज्य पारं
 बहुसंवत्सरावमानं प्राप्तुं शीलं यासां तास्तथाविधाः ॥ अथ चतुर्थः ॥ ४
 ओषधीरिति मातरस्तद्वो देवीरुपब्रुवे । सनेयमश्वं गां वास आत्मानं तव
 पूरुषेति ॥ हे मातरो मातृममाना देवीः देव्यः । इतिशब्दोऽत्र हेत्वर्थे वर्तते ।
 यस्मादोषधीर्युयमोषधयः, तस्माद्वो युष्मानुपब्रुवे प्रार्थये । कथं प्रार्थनमिति
 तदुच्यते । हे पूरुष, तव त्वदीयं सनेयं सह नेतव्यमश्वं, त्वदीयं गां पशुं वास-
 स्त्वदीयं वस्त्रं स्थाने वा आत्मानं त्वदीयं शरीरम् एतत्सर्वमोषधयोऽभिष्टद्धिं
 प्रापयन्त्विसहस्रमोषधीः प्रार्थये । हे ओषधयो, वो यूयं यजमानाऽऽवादिक्म-
 भिष्टद्धिं प्रापयतेत्यर्थः ॥ अथ पञ्चमः ॥ अश्वत्थे वो निषदनं पर्णे वो वस- ५
 तिष्कृता । गोभाज इत्किलासथ यत्सनवथ पूरुषमिति ॥ हे ओषधिदेवताः, वो
 युष्माकमश्वत्थे निषदनम् अश्वत्थवृक्षच्छायायामुपवेशनस्थानं भवति । पर्णे

पलाशवृक्षे वो युष्माकं वसतिः कृता निवासकारणं गृहं कृतम् । देवताधिष्ठित-
त्वादेव लोकेऽश्वत्यवृक्षः प्रदक्षिणानमस्कारादिभिः पूज्यते । पलाशवृक्ष-
श्चेध्मादिरूपेण । इदृशोऽपि यूयं गोभाज इव भवदीयेन स्थावररूपेण भूमिभाज
एवं भूत्वा अस्य किल स्थिताः । इतरल्लोके प्रसिद्धम् । तत्किमर्थमिति तदुच्यते ।
यद् यस्मात् कारणात् पूरुषम् इमं यजमानं मनुष्यं सनवथ अन्नदानेन
पोषयथ । तस्मात् स्थावररूपाद् इदं स्थानमित्यर्थः ॥ अथ षष्ठः ॥ य-
जौषधीः समम्मत राजानः समिता इव । त्रिपः स उच्यते भिषग्रक्षोहा-
ऽमीवचातन इति ॥ यत्र यस्मिन् क्षेत्रे ओषधीरोषधयो यूयं समम्मत
फलप्रदानाय सङ्गता भवत । तत्र दृष्टान्तः । राजानः समिता इव । यथा
युद्धे प्रतिपक्षिणः सेनां जेतुं परस्परमनुकूला राजानः संगच्छन्ते । एवं
संगताश्चौषधीषु विप्रो मेधावी रसवीर्यत्रिपाकाभिज्ञो यः पुरुषः स भिषगुच्य-
ते । क्षुधादिरोगस्य चिकित्सक इत्यभिधीयते । कथं भिषक्त्वमिति तदुच्यते ।
रक्षोहा पक्षाभिरेताभिरोषधीभिः पुरोगमं रक्षोघ्नं कृत्वा रक्षमां हन्ता तदुपद्रव-
रूपरोगं निवारयति । अमीवचातनः । ओषधीजन्यपथ्यादिभिर्ममीवान्
रोगांश्चातयति नाशयतीत्यमीवचातनः ॥ अथ सप्तमः ॥ अश्वान्वतीः सोमावती-
मूर्जयन्तीमुदोजसम् । आवितिम् सर्वा ओषधीरस्माऽअरिष्टनातय इति ॥
काचिदोषधीजातिरश्वान्वती । अश्वान्वी अस्यां मन्तीत्यश्वान्वती ताम् । छान्दमो
दीर्घः । ओषधिसमृद्धौ सखां धनद्वारेणाश्वान्वान्ते इत्यर्थः । अन्या काचि-
दोषधीः सोमावती सोमयागोऽस्यामस्तीति भूमोभा तद्वती सोमयागः कर्तुं
शक्यत इत्यर्थः । अपरा जातिरुर्जयन्ती उर्जं बलं प्राणचेष्टां वा करोती-
त्यर्थः । अन्वा जातिरुदोजा उन्कृष्टमोजोधातुरङ्गे यस्याः सा उदोजाः । अन्न-
द्वारेण शरीरधातुं पोषयतीत्यर्थः । तास्सर्वा ओषधीः अहम् आवितिम् सर्वतो
लब्धवानस्मि । किमर्थम् । अस्मा अरिष्टनातये अरिष्टस्य भावः अरिष्टनातिः ।
अस्य यजमानस्य हिंमारादित्यायेत्यर्थः ॥ अथाऽष्टमी ॥ उच्छुष्मा ओषधीनां
गावो गोष्ठादिर्वरेते धनं सनिष्यन्तीनामात्मानं तत्र पूरुषेति ॥ ओषधीनां शुष्मा
तदुपभोगजन्यबलविशेषा उदीरते उद्गच्छन्ति । तत्र दृष्टान्तः, गावो गोष्ठा-
दिव । यथा गावः स्वनिवासस्थानाद् गृहादेररण्यदेशं प्रति उद्गच्छन्ति तद्वत् ।
कीदृशीनामोषधीनाम् । हे पुरुष, तव त्वदीयमात्मानं शरीरं प्रति धनं सनिष्य-
न्तीनां धनं दातुमिच्छन्तीनाम् ॥ अथ नवमी ॥ इष्टकृतिर्नाम वो माता-

ऽथो यूयं स्थ निष्कृषीः । सीराः पतत्रिणीः स्थ न यदामपतिनिष्कृषेति ॥
हे ओषधयः, वो युष्माकम् इष्कृतिर्नाम । नकारलोपश्छान्दसः । निष्कृतिः
निष्कृषणं क्षुधादिविनाशनमेव माता मातृवदुत्पत्तिनिमित्तम् । क्षुधादिकं
निवारयितुमेव हि भवतीनामुत्पत्तिः । अथो अपिचैवं सति, यूयं निष्कृतिः
स्थ निष्कृत्यः क्षुधादिविनाशका भवथ । सीराः । क्षुधादीनामपसारयिष्यः ।
पतत्रिणीः पतत्रं पतनम् अस्मान् प्रत्यागमनम् । तेनागमनेनोपेताः स्थ न, भवत ।
यत् क्षुधादिकमामयति रोगवद् बाधते तद् निष्कृत्य विनाशयत ॥ अथ दशमी ॥ ४२ -
अतिविदग्धाः परिष्ठा स्तेन इव व्रजमक्रमुः । ओषधीः प्राचुच्यवुर्यत्किञ्च तन्वो
रपः इति ॥ परिष्ठाः शरीरस्योपरिस्थिता उदरमध्ये प्रविष्टाः, विश्वाः सर्वाः
ओषधयः अति जीर्णादिदोषमतिलङ्घ्य अक्रमुः । क्रान्ता देहे व्याप्ता इत्यर्थः ।
तत्र दृष्टान्तः । स्तेन इव व्रजम् । यथा रात्रौ गुप्तचोरो गोष्ठ उपविश्य गाम-
पहर्तुं सावधानं गोशालायां सर्वतो व्याप्नोति तद्वत् । तन्वः शरीरस्य सम्ब-
न्धी यत्किञ्च रूपः शरीरे शिरोव्यथागुल्मातिमारादिरूपं पापफलं यत्किञ्चि-
दस्ति सर्वमोषधीरोषधयः प्राचुच्यवुः विनाशितवसः ॥ ॥ अथैकादशी ॥ ४२ -
यदिमा वाजयन्त्रहमोषधीर्हस्त आदधे । आत्मा यक्ष्मस्य नश्यति पुरा जीव-
युनो यथेति ॥ यद्यदाहं वाजयन्त्रमिच्छन्निमा ओषधीर्हस्त आदधामि
तदानीमेव यक्ष्मस्य क्षुदादिदोषस्यात्मा स्वरूपं पुरा नश्यति । भोजनात्
मागेव नष्टमदृश्यो भवति । तत्र दृष्टान्तः । यथा लोके धीधरैर्जीविस्य
ज्ञानादेर्ग्रहणात् पुरा भीतः शशः कर्णाभ्यां नेत्रे पिपाय भूमिं संश्लिष्टो मृत
इव निष्ठति तद्वत् ॥ ॥ अथ द्वादशी ॥ ॥ यस्मै ओषधीः प्रसर्पथाङ्गमङ्गं ४२ -
परुष्परुः । ततो यक्ष्मं त्रिबाधध्वमुग्रो मध्यमशीरिवेति ॥ यस्य रोगिणः अङ्ग-
मङ्गं सर्वाण्यङ्गानि परुष्परुः परुःशब्दः पर्ववचनः । सर्वाणि पर्वाणि च,
हे ओषधीः, ओषधयो यूयं प्रमर्पथ प्रगच्छत व्याप्नुत । ततोऽनन्तरमेव यक्ष्मं
व्याधि त्रिबाधध्वमात्स्मादङ्गपर्वसमुदायाद् व्याध्यपगमं कुरुध्वमात्र दृष्टान्तः ।
उग्र उद्गूर्णबलः सत्रियः, मध्यमशीरिव मध्यमं मर्मभागं शृणोति विध्यति
हिनस्तीति मध्यमशीर्मर्मघातकः सन् यथा शत्रुन् बाधते, एवमोषधो यूयमपि
रोगिणो रोगं बाधध्वमित्यर्थः ॥
अथ त्रयोदशी ॥ साकं यक्ष्मं प्रपत चाषेण किकिदीविना । साकं वा तस्य ४२ -
घ्राज्या साकं नश्य निहाकयेति । श्लेष्मावरुद्धकण्ठजन्यध्वनेरनुकरणार्थ-

ऽयं किकिशब्दः । किकिना ध्वनिविशेषण दीव्यति व्यवहरतीति रोगविशेषः
 किकिदीविः । स च श्लेष्मजन्यः । चाषः कश्चित् पक्षिविशेषः । तद्वत् तीव्र-
 त्वात् पित्तजन्यो रोगश्चाषः । हे यक्ष्मराज यक्ष्मादिरोग, त्वं श्लेष्मजन्येन
 पित्तजन्येन च बाधेन साकं प्रपत प्रकर्षेण नष्टो भव । तथा तस्य भ्राज्या
 वातरोगस्य गत्या व्याध्या सह नश्य नष्टो भव । तथा यया पीडया निहतोऽस्मि
 हा कष्टमिति शब्दं करोति सा निहाका तथा साकं नश्य नष्टो भव ॥ अथ
 चतुर्दशी ॥ अन्या वो अन्यामवत्वन्यान्यस्या उपाऽवत् । ताः सर्वाः संविदाना
 इदं मे प्रावता वचः इति ॥ हे ओषधयो, युष्माकं मध्ये अन्या काचिदोषधी-
 व्यक्तिरन्यामितरामोषधीव्यक्तिम् । अवतु तथा रक्षिता सान्या अन्यस्या रक्षि-
 काया उपावत् समीपमागत्य तामप्यवतु । संहसकारित्वात् परस्पररक्षकत्व-
 मुचितम् । ताः सर्वास्तथात्रिधा ओषधयो यूयं संविदानाः परस्परमैकमखं
 गताः सखो मे मदीयमिदं वचो वाक्यं मार्थनारूपं प्रावत प्रकर्षेण रक्षत ॥
 अथ पञ्चदशी ॥ याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पणीः । बृहस्पति-
 प्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वहस इति ॥ या ओषधयः फलिनीः फलिन्यः फल-
 युक्ताः । याश्चाफलाः फलरहिताः । याश्चापुष्पाः पुष्परहिता । याश्च पुष्पणीः
 पुष्पयुक्ताः । सर्वा बृहस्पतिप्रसूताः । बृहस्पतिना प्रेरिताः सखो नो-
 ऽस्मान् अंहसः पापान्मुञ्चन्तु मोचयन्तु ॥ एवमोषधिवापार्थानि पञ्च तृचान्या-
 म्नातानि ॥ अथाऽत्रैव विकल्पिता दशर्च आम्रायन्ते ॥ ॥ अथ प्रथमः ॥
 मुञ्चन्तु मा शपथ्यादथो वरुण्यादुत । अथो यमस्य पट्टीशात् सर्वस्मादेव-
 किल्विषात् इति ॥ शपथ्यात् शपथे भवं शपथ्यम् । तस्मात्किल्विषान्मामोषधयो
 मुञ्चन्तु । अथो अपिच वरुण्याद् वरुणे भवं वरुण्यं तस्माद्वरुणापराधानिमित्ता-
 त् पापान्मां मुञ्चन्तु । उनाऽपिच यमस्य सम्बन्धिनः पट्टीशात् पट्टीशशब्दो-
 ऽत्र बन्धनवाची । बन्धननिमित्तात् पापान्मां मुञ्चन्तु । अथोऽपिच सर्वस्मादेव
 किल्विषादेवतापराधानिमित्तात् पापान्मां मुञ्चन्तु ॥

अथ द्वितीयः ॥ अवयसीः समवदन्त दिव ओषधयस्परि । यं जीवमश्रवामहै
 न स रिष्याति पूरुष इति ॥ द्युलोकात् पतन्तो वृष्टिबिन्दव ओषधि-
 रूपेणोत्पद्यन्ते । तथाच तैत्तिरीयेऽग्निहोत्रब्राह्मणैः समाभ्यायते । यावन्तस्तोका
 आपः अपोऽवद्यन्ते तावतीरोषधयो जायन्ते इति । अतोऽत्रापि दिवः परि स्वर्ग-
 स्योपरितनमदेशादवयसीरवयत्यः अधस्ताद् भूषौ पतन्त्य ओषधयः समवदन्त

परस्परं सम्यगेतद्वचनमुक्तवत्यः । कीदृशं वचनमिति तदुच्यते । यं जीवं प्राणिनमश्नन्नामहै व्याप्नुमः स पुरुषो न रिष्यति नैव विनश्यतीति ॥ अथ तृतीयः ॥ या ओषधीः सोमराज्ञीर्विह्वीः शतविचक्षणाः । तासामसि त्वमुत्तमा- १२-
ऽरं कामाय शः हृद इति ॥ सोमराज्ञीः सोमो राजा यासां ताः सोमराज्ञीः बह्वीर्विह्वयः शतविचक्षणाः शतं विचक्ष्यन्ते प्रोच्यन्ते इति शतविचक्षणाः । एवम्भूता या ओषधीरोषध्यः सन्ति तासामोषधीनां मध्ये हे ओषधीः, उत्तमा उत्कृष्टा त्वं कामाय अरम् अलं समर्थाऽसि । ततो हृदे हृदयाय शं सुख-
कारिणी भवेति शेषः ॥ अथ चतुर्थी ॥ या ओषधीः सोमराज्ञीर्विष्टिताः पृथिवीमनु १२-
बृहस्पतिप्रसूता अस्यै सन्दत्त वीर्यमिति ॥ पृथिवीमनु विष्टिताः बृहस्पति-
प्रसूता बृहस्पतिना प्रेरिताः सोमराज्ञो या ओषधयो यूयम् । अस्यै पृथिव्यै वीर्यं सामर्थ्यं सन्दत्त सम्यक् प्रयच्छन् ॥ अथ पञ्चमी ॥ याश्चेदमुपशृण्वन्ति याश्च १२-
दूरं परागताः सर्वाः सङ्गम्य वीरुषोऽस्यै सन्दत्त वीर्यमिति ॥ याश्चोषधिदेवता इदं मदीयं प्रार्थनं समीपस्थाः सत्यः शृण्वन्ति । याश्चान्या ओषधिदेवता दूरं यथा भवति तथा परागता व्यवहिताः सत्य ईषच्छृण्वन्ति । हे वीरुषो लता-
रूपाः सर्वा ओषधयो यूयं सङ्गम्य सङ्गता भूत्वा अस्यै पृथिव्यै वीर्यं सामर्थ्यं पृथग्दत्त ॥ ॥ अथ षष्ठी ॥ नाशयित्री बलासस्यार्शस उपचिनामसि । १२-
अथो शतस्य यक्ष्माणां पाकारोरसि नाशनीति ॥ हे ओषधि, त्वं बलासस्य बलमस्यति क्षिपतीति बलक्षयस्तस्य अर्शसो मूलव्याधेर्नाशयिष्यसि । किञ्च उपचिनां शरीरे उपचीयन्तेऽन्ये ये रोगास्ते उपचितः, तेषामपि नाशयिष्यसि । अथो अपिच शतस्य यक्ष्माणां व्याधीनां शतस्यापि नाशनी त्वमसि । पाकारोः क्षयव्याधेरपि नाशनी त्वमसि ॥ ॥ अथ सप्तमी ॥ मा वो रिषत् खनिता १२-
यस्मै चाहं खनामि वः । द्विपञ्चतुष्पदस्माकं सर्वमस्त्वनानुरमिति ॥ हे ओषधयो, वो युष्माकं खनिता चिकित्सायै युष्मदीयमूलं ग्रहीतुं खननस्य कर्ता मा रिषत् । मा विनश्यतु । अहं च यस्मै रुग्णाय चिकित्सार्थं वः खनामि युष्मन्मूलं ग्रहीतुं करोमि सोऽहमपि मा विनश्यामि । किं बहुना, अस्माकं सम्बन्धि द्विपञ्चतुष्पद्वा प्राणिजातं युष्मानुपजीवति तत्सर्वमनानुरं रोगरहित-
मस्तु ॥ अथाष्टमी ॥ ओषधयः संवदन्ते सोमेन सह राज्ञा । यस्मै कृणोति १२-
ब्राह्मणस्तः राजन् पारयामसीति ॥ ओषधयः ओषधिदेवताः स्वकीयेन स्वाभिना सोमेन राज्ञा सह संवदन्ते वादं कुर्वन्ति । कथं संवाद इत्युच्यते ।

यस्मै रुग्णाय चिकित्सामस्पदीयमूलादिना ब्राह्मणः कृणोति करोति, हे राजन् तमातुरं पारयामसि । वयं पारयामः । व्याधेरुत्तारयामः ॥ अथ नवमी ॥ त्वां गन्धर्वा अखनःस्त्वामिन्द्रस्त्वां बृहस्पतिः । त्वामोषधे सोमो राजा विद्वान् यक्ष्मादमुच्यतेति ॥ हे ओषधे, त्वां गन्धर्वाः स्वापेक्षितकार्यसिद्धयर्थम् अखनन् खननमकुर्वन् । त्वामिन्द्रोऽपि अखनत् । तथा बृहस्पतिश्चाऽखनत् । विद्वान् ओषधिसामर्थ्यं जानन् सोमो राजा त्वामखनत् । अतस्त्वामयं सम्भुज्य यक्ष्माद्रोगादमुच्यत मुक्तो भवतु ॥ अथ दशमी ॥ त्वमुत्तमास्योषधे तव वृक्षाऽउपस्तयः । उपस्तिरस्तु सोऽस्माकं योऽस्मां अभिदामतीति ॥ हे ओषधे, त्वमुत्तमा उत्कृष्टासि । चूतादयः उपस्तयः त्वदीयवाधापरिहारार्थं वृक्षास्तिष्ठन्तीति उपस्तयो भवन्तु । योऽस्मानभिदासति अभिहन्ति स पुरुषोऽस्माकम् उपस्तिरस्तु । अस्मदुपद्रवपरिहाराय स्थिरो भवतु ॥ इति त्रयोदशेऽध्याये षष्ठोऽनुवाकः ॥ १३ ॥ ६ ॥

षष्ठेऽनुवाके ओषधिनिवापोऽभिहितः ॥ अथ सप्तमे लोकेष्टकोपधानादिमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ मा मा हिंसीदिति प्रत्यृचं प्रदिशमिति ॥ मा मा हिंसीदित्यादिभिश्चतसृभिर्ऋग्विः पूर्वादिदेहक्रमेण लोकेष्टकसंज्ञका लोक-
 २ रूपा इष्टका उपदध्यादिति शेषः ॥ तत्र प्रथमा ॥ मा मा हिंसीज्जनिता यः पृथिव्या यो वा दिवः सत्यधर्मा व्यानद् । यश्चापश्चन्द्राः प्रथमो जजान कस्मै देवाय हविषा विधेमेति ॥ यः प्रजापतिः पृथिव्या जनिता उत्पादकः, यो वा प्रजापतिः सत्यधर्मा अविद्यधारणशक्तिः सन् दिवं द्युलोकं व्यानद् व्याप्तवान् । पुनरपि यः प्रजापतिः प्रथमो मुख्यः शतचन्द्रः आल्हादिकारिणीः, आपः उदकानि जजान उत्पादयामास तादृशाय कस्मै प्रजापतये देवाय हविषा विधेम वयं परिचरेम । एवम्भूतः प्रजापतिः मा मा हिंसीत् हिंसां मा करोतु ॥ अथ द्वितीया ॥ अभ्यावर्तस्व पृथिवि यज्ञेन पयसा सह । वपां ते अग्निरिषितो अरोहदिति ॥ हे पृथिवि, यज्ञेनाघ्रातव्येन पयसा च तत्फलभूतेन सह अभ्यावर्तस्व । अस्मदाभिमुख्येनागच्छ । इषित इच्छावानतोऽग्निः ते वपां त्वदीयं
 ४ वपासदशमिमं प्रदेशम् अरोहत् । आरोहतु स्वीकरोतु ॥ अथ तृतीया ॥ अग्ने यत्ते शुक्रं यच्चन्द्रं यत्पूर्तं यच्च यज्ञियम् । तद्देवेभ्यो भरामसीति ॥ हे अग्ने ते त्वदीयं त्वदङ्गं शुक्रं दीप्तिम् । यच्चान्यदङ्गं चन्द्रम् आल्हादकरं यदप्यन्यदङ्गं यज्ञियं यज्ञार्हं तत्सर्वं लोष्टरूपं देवेभ्यो देवानामर्थे भरामसि सम्पादयामः ॥

अथ चतुर्थी ॥ इषमूर्जमहमित आदमृतस्य योनिं महिषस्य धाराम् । आ मा १२-
गोषु विशत्वातनूषु जहामि सेदिमनिराममीवामिति ॥ ऋतस्य यज्ञस्य योनि
स्थानं महिषस्य महतोऽग्नेः धारणं च इषमश्रम ऊर्जे रसं च इतोऽस्मात् प्रदे-
शादहमादं स्वीकरोमि । एतत् सर्वं मा माम् आविशतु । आगत्य प्रविशतु ।
किञ्च, तनूषु मदीयपुत्रादिशरीरेषु मदीयगोषु च आविशतु ॥ कात्यायनः ॥
सिकताः प्रमाष्टिं जहामीतीति ॥ तत्र स्थिता बालुकाः प्रमार्जयेत् ॥ पाठस्तु ॥
जहामि सेदिमनिराममीवामिति ॥ अनिरामन्नरहिताममीवां रोगयुक्तां सेदि
सिकतारूपां भूमिं जहामि परित्यजामि ॥ कात्यायनः ॥ कुशस्तम्बेऽग्ने तवेति
सिकता न्युप्येति ॥ कुशस्तम्बेऽग्ने तवेत्यादिभिः षड्भिर्ऋग्भिः सिकताः
प्रक्षिप्येत्यर्थः ॥ तत्र प्रथमा ॥ अग्ने तव श्रवो वयो महि भ्राजन्ते अर्चयो १२-
विभावसो । बृहद्भानो शवसा वाचमुक्थ्यं दधामि दाशुषे कव इति ॥ विज्यते
प्राणिभिरश्यत इति वयोऽन्नम् । हे अग्ने, तव श्रवः त्वदीयत्वेन श्रूयमाणं
वयोऽन्नं महि महदस्ति । विभा दीप्तिरेव वसु धनं यस्याऽसौ विभावसुः । हे
विभावसो, अर्चयस्त्व दीप्तयो भ्राजन्ते दीप्यन्ते । बृहन्तो भानवो रश्मयो य-
स्याऽसौ बृहद्भानुः कविर्विद्वान् यजमानाभिप्रायज्ञः । तादृश हे अग्ने, दाशुषे
हविर्दत्तवते वज्रमानाय उक्थ्यं शस्त्राद्युपेतं यज्ञयोग्यं वाजमन्नं शवसा त्वदी-
येन बलेन दधामि स्वयमादयसि ॥ अथ द्वितीया ॥ पावकवर्चाः शुक्रवर्चा १२-
अनूनवर्चा उदिर्यपि भानुना । पुत्रो मातरा विचरन्नुपावसि पृणक्षि रोदसी
उभे इति ॥ पावकवर्चाः शोधकदीप्तिः, शुक्रवर्चा निर्मलदीप्तिः अनूनवर्चा
ईदृशस्त्वं भानुन्न भासा उदिर्यपि उत्कर्षं गच्छसि । उभे रोदसी द्यावापृथिव्यौ वि-
चरन् परिचरन्नुपावसि समीपमागत्य रक्षसि । पृणक्षि च । तयोः सम्पर्क-
मापि करोषि । परिचरणं दृष्टान्तः । पुत्रो मातरा यथा । लोके शास्त्रीयमार्गेणा-
ऽनुशिष्टः पुत्रो मातरौ परिचरति तद्वत् ॥ अथ तृतीया ॥ ऊर्जो नपाज्जातवेदः १२-
सुशस्तिभिर्मन्दस्वधीतिभिर्हितः । त्वे इषः सन्दधुर्भूरिवर्षमश्चित्रोतयो वाम-
जाता इति ॥ ऊर्जोऽन्नस्य नपाद् अविनाशयिता तादृश, हे जातवेदः, धीतिभि-
र्हितः दीप्तिभिर्युक्तः सन् सुशस्तिभिः शोभनाभिः स्तुतिभिर्मन्दस्व हृष्यस्व ।
भूरिवर्षसः नानारूपयजमानाः । त्वे त्वाये इषो हविर्लक्षणानि अन्नानि सन्द-
धुः सम्पादितवन्तः । ईदृशा यजमानाः, चित्रोतयः विचित्रास्त्वया कृता
उतयो रक्षा येषां ते चित्रोतयः वामजाताः वननीये सम्भजनीये देशे कुले

चोत्पन्नाः ॥ अथ चतुर्थी ॥ इरज्यज्ञने प्रथयस्व जन्तुभिरस्मे रायो अमर्त्यम् ।
 स दर्शतस्य वपुषो विराजसि पृणसि सानसि क्रतुमिति ॥ हे अमर्त्य मरण-
 रहिताग्ने, जन्तुभिः पुरोडाशादिहविःप्रदैः प्राणिभिरिरज्यन् दीप्यमानः सन्
 अस्मे अस्मासु रायो धनानि प्रथयस्व विस्तारय । स त्वं दर्शितस्य वपुषो दर्श-
 नीयस्य चित्वाग्रिरूपस्य शरीरस्य मध्ये विराजसि विशेषेण दीप्यसे सानसि
 बहुविधनानाईक्रतुमस्मदीययज्ञं पृणसि पूरय पारं गमयेत्यर्थः ॥ अथ पञ्चमी ॥
 इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तं राधसो महः । रातिं वामस्य सुभगां मही-
 मिपं दधासि सानसि रायिमिति ॥ अध्वरस्य इष्कर्तारं यजमानस्य निष्पाद-
 कम् । प्रचेतसं प्रकृष्टचित्तयुक्तं क्षयन्तं विशिष्टस्थाने निवसन्तं यजमानं वाम-
 स्य वननीयस्य महो महतो राधसो धनस्य रातिं करोषीति शेषः । किञ्च,
 सुभगां सुष्टुभजनीयां महीं महतीम् इपमन्त्रं सानसि सम्भजनीये रायि पञ्चादि-
 धनं च दधासि ददासि ॥ अथ षष्ठी ॥ ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निं
 सुम्नाय दधिरे पुरोजनाः । श्रुत्कर्णं सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा
 युगेति ॥ मानुषजना मनुष्यजातियुक्ता जन्तवः ऋत्विग्यजमानाः पुरः
 पूर्वस्मिन् काले युगा गिरा योग्यया स्तुतिरूपया वाचा सुम्नाय सुखार्थमाग्नि-
 मत्र दधिरे स्थापितवन्तः । कीदृशमग्निम् । ऋतावानं सत्यवन्तं यज्ञवन्तं वा
 महिषं महान्तं विश्वदर्शतं सर्वतो दर्शनीयम् । श्रुत्कर्णं शृण्वत्कर्णम् । यद्वि-
 द्भाष्यते । तत्सत्यमेव कर्णेन श्रुत्वा सम्पादयतीत्यर्थः । सप्रथस्तमम् अतिशयेन
 प्रथासहितं कीर्तिमन्तं तादृशं त्वामग्निं दैव्यं देवेभ्यो हितं दधिरे इत्यन्वयः ॥
 कात्यायनः ॥ आप्यायस्वेति सिकतालम्भनप्रक्रुग्भ्यामिति ॥ पूर्वं न्युक्ता सिकता
 आप्यायस्वेति एताभ्याम क्रुग्भ्यां संस्पृशेत् ॥ तत्र प्रथमा ॥ आप्यायस्व समेतु
 ते विश्वतः सोमवृण्यम् । भवा वाजस्य सङ्ग्रथ इति ॥ हे सोम, त्वमाप्यायस्व
 सर्वतो वर्धस्व । ते तव वृण्यं वीर्यं विश्वतः सर्वस्मात् समेतु सम्प्राप्नोतु ।
 वाजस्याज्ञस्य सङ्ग्रथे सङ्ग्रमने त्वन्निमित्तं भव ॥

३

अथ द्वितीया ॥ संतेपयांसि समुयन्तु वाजाः संवृण्वान्यभिमातिषाहः । आप्याय-
 मानो अमृताय सोम दिवि श्रवांस्युत्तमानि धिष्वेति । हे सोम, ते तव पयांसि
 पातव्यानि क्षीरादीनि समुयन्तु । संप्राप्तानि भवन्तु । तथा वाजा अन्नान्यपि
 समुयन्तु । वृण्वानि रेषांस्यपि समुयन्तु । कीदृशस्य तव अभिमातिषाहः । अभि-
 मातिं पाप्मानं सहते तिरस्करोतीत्यभिमातिषाहः । तस्य क्षीरादिसंपत्तौ सखां

स्वयमाप्यायमानो वर्द्धमानः, अमृताय यजमानस्यामृतत्वाय देवभावाय दिवि
द्युलोके उत्तमान्युत्कृष्टानि श्रवास्स्यन्तानि धिष्व धारय संपादयेत्यर्थः ॥ आ-
प्यायस्व मदिन्तमेत्यादिचतुर्णां मन्त्राणां त्रिनियोगोऽन्वेष्टव्यः ॥ तत्र प्रथम-
मन्त्रपाठस्तु ॥ आप्यायस्व मदिन्तम सोम विश्वेभिरश्शुभिः । भवा नः स- १
प्रथस्तमः सखा वृधे इति ॥ हे मदिन्तम अतिशयेन मदिन्तम सोम, त्वम्
आप्यायस्व प्रवृद्धो भव । ततो विश्वेभिर्विश्वैः सर्वैरश्शुभिः सूक्ष्मांशैः सखा
सखिभूतः सन्नोऽस्माकं वृधे वर्द्धनाय सप्रथस्तमः । प्रथयितृत्वमो भव ॥ अथ १
द्वितीयः ॥ आ ते वत्सो मनो यमत्परमाच्चित्सधस्थात् । अग्रे त्वां कामया
गिरेति ॥ हे अग्ने, ते तव वत्सः प्रियभूतो यजमानः, त्वां कामया त्वां
स्तोतुं काम्ययाऽनया गिरा वाचा परमाच्चित्सधस्थादुत्कृष्टादपि स्थानाद्
मनोऽन्तःकरणम् आयमन् नियच्छतु ॥ अथ तृतीयः ॥ तुभ्यं ता अङ्गिरस्तम १
विश्वः सुक्षितयः पृथक् । अग्रे कामाय येमिरे इति ॥ हे अङ्गिरस्तम अग्रे,
तुभ्यं यजमानैः कृता याः स्तुतयः सन्ति सर्वाः पृथक् पृथक् सुक्षितयः
शोभननिवासास्ताः स्तुतयः कामाय यजमानानां मनसोऽभिलाषपरिपूरणार्थं
येमिरे नियम्यन्ताम् ॥ अथ चतुर्थः ॥ अग्निः प्रियेषु धामसु कामो भूतस्य १
भव्यस्य । सम्राज्येको विराजतीति ॥ भूतस्य उत्पन्नस्य भव्यस्य भविष्यतश्च
जनस्य कामः कामपूरकः सम्राट् सम्यग्र्राजमानोऽग्निः प्रियेषु धामसु । अभि-
रुचिनेषु स्थानेषु एकोऽसहायभूतः सन् विराजति विशेषेण दीप्यते ॥ इति
त्रयोदशेऽध्याये सप्तमोऽनुवाकः ॥ १३ ॥ ७ ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ॥

पुमर्थाश्चतुरो दद्याद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराज-परमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तक-श्रीवीरबुक्कभूपाल-
साम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये काण्वसंहिताभाष्ये-
त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

अथ चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

यस्य निश्वासितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ॥

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहंश्चरम् ॥ १ ॥

त्रयोदशोऽध्याये यजमानस्य कण्ठे रुक्मधारणादिमन्त्रा उक्ताः ॥ अथ चतुर्दशोऽध्याये यजमानजपपुष्करपर्णाद्युपधानमन्त्रा उच्यन्ते ॥ तत्र प्रथमेऽनुवाके यजमानजपादिसप्तगुपधानपर्यन्ता मन्त्रा निरूप्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ उत्तस्वेदिमपरेण तिष्ठन् यजमानो मयि गृह्णामीति जपतीति ॥ पाठस्तु ॥ मयि गृह्णाम्यग्रे अग्निं रायस्पोषाय सुप्रजास्त्वाय सुवीर्याय । मामु देवताः सचन्तामिति ॥ अहं यजमानः अग्रे प्रथमं मयात्मनि अग्निं गृह्णामि धारयामि । किमर्थम् ? रायस्पोषाय धनपुष्कर्यर्थं, सुप्रजास्त्वाय शोभनपुत्रादिनिष्पादनार्थं, सुवीर्याय शोभनसामर्थ्यार्थं च । किञ्च, उकारोऽप्यर्थे देवता अपि एवं स्थितं मां सचन्तां सङ्गच्छन्तां प्राप्नुवन्तु ॥ कात्यायनः ॥ पुष्करपर्णमुपदधाति स्तम्भे पूर्ववदिति ॥ पूर्वं मृदाहरणकाले येन मन्त्रेण कृष्णाजिने पुष्करपर्णमुपदध्याद् इदानीं तेनैवापां पृष्ठममीति मन्त्रेण कुशस्तम्भे पुष्करपर्णमुपदध्यादित्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥ अपां पृष्ठमसि योनिरग्रेऽसमुद्रमभितः पिनम् । वर्धमानो महान्ऽआ च पुष्करे दिवो मात्रया वरिष्णा प्रथस्वेति ॥ अयं मन्त्रो द्वादशाध्याये व्याख्यातः ॥ कात्यायनः ॥ तस्मिन् रुक्ममधः पिण्डं ब्रह्मजज्ञानमिति ॥ तस्मिन् पुष्करपर्णे रुक्ममधस्तनविलं यथा भवति तथा उपदधातीति शेषः ॥ पाठस्तु ॥ ब्रह्मजज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्भि सीमतः सुरुचो वेन आवः । स बुध्न्या उपमा अस्य विष्टाः सतश्च योनिमसतश्च विचरिति ॥ प्रथमजं ज्ञानमादौ उत्पन्नमिदं रुक्मस्वरूपं ब्रह्म परिवृढमत्यन्तं महदित्यर्थः । तस्य रुक्मस्य दृष्टान्तत्वेन सूर्यः प्रपज्ज्यते । पुरस्तात् पूर्वस्यां दिशि अवस्थितो वेनः कपनीयः सूर्यः सीमतः सर्वस्यां सीम्नि सुरुचः शोभनरश्मिन् विशेषेणाऽवः । आवृणोत् । अस्य रुक्मस्योपमा उपमानभूता विष्टाविशेषेणाऽवस्थिताबुध्न्याः बुध्न्ये मूले पृथिवीरूपे भवाः यदा ये सन्ति तानपि स वेनो विचः विवृतवान् प्रकाशितवानित्यर्थः । सतो विद्यमानस्य घटपटादेर्योनिः कारणं मृदादिरूपम् असतश्चाविद्यमानस्य नरविषाणादेः कारणं मनुष्यमूर्धादिकमपि विवो विवृत-

वान् । तथाविधेन सूर्येण सदृशोऽयं रुक्मः । प्रकाशत इत्यर्थः ॥ कात्या-
यनः ॥ हिरण्यपुरुषं तस्मिन् हिरण्यगर्भ इतीति ॥ तस्मिन् रुक्मे सुवर्णेन निर्मितं
पुरुषम् ऊर्ध्वाभिमुखं यथा भवति तथा हिरण्यगर्भ इति मन्त्रद्वयेनोपदध्या-
दिति शेषः ॥ तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । १
स दाधार पृथिवीं व्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम-
ति ॥ हिरण्यं ब्रह्माण्डरूपेण गर्भरूपेणावस्थितः प्रजापतिर्हिरण्यगर्भः । स च
भूतस्य प्राणिजातस्याग्रे समवर्तत प्राणिजातोत्पत्तेः पुरा स्वयं शरीरधारी
बभूव । स च जात उत्पन्नमात्र एक एवोत्पत्त्यमानस्य सर्वस्य जगतः पति-
रासीत् । अत एव पृथिवीं चां विस्तीर्णां दिवं दाधार धृतवान्, उताऽपिचेमां
भूमिं दाधार तादृशाय कस्मै प्रजापतये देवाय हविषा विधेम वयं परिचरेम ॥
अथ द्वितीयः ॥ द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु व्यामिमं च योनिमनु २
यश्च पूर्वः । समानं योनिमनुसञ्चरन्तं द्रप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्रा
इति ॥ द्रव्यानन्तरमङ्गटेनेन स्फुरितो हिरण्यपुरुषावयवलेखो द्रप्सः । स
पृथिवीमनु चस्कन्द पृथिव्यां पतित इत्यर्थः । स च द्रप्सो हुतः सन् स्थान-
त्रयेण सञ्चरति द्युलोकेऽन्तरिक्षलोके भूलोके च । तदेतदाभिप्रेत्य स्मर्यते ।
अग्नौ प्रास्ताहुतिः मरुतगादित्यमुपतिष्ठते । आदित्याज्जायते दृष्टिदृष्टेर्ज्ञं ततः
प्रजा इति । सांऽयमर्थो, व्यामित्यादिनाऽभिधीयते । व्यामिमं च योनिमनु
अन्तरिक्षरूपमिदं स्थानमनुसञ्चरति यश्च पूर्वः योऽपि पृथिवीमनु चस्कन्देति
पूर्वोक्तस्थानविशेषः तमप्यनुसञ्चरति । समानं सदृशं स्वस्य योग्यं योनिं
द्युलोकरूपमादिशस्थानमनुसञ्चरति तमिमं त्रिषु स्थानेष्वनुसञ्चरन्तं द्रप्सं जुहोमि
मनसा हुतमिव भावयामि । कुत्र होम इति ? तदुच्यते । अनु मत्सहोत्राः ।
यस्यां दिशि द्रप्सः पतितः । तच्चतिरिक्ता होमयोग्या याः सप्त दिशः सन्ति
तास्वनुक्रमेण जुहोमि । यथाऽयं द्रप्सो हुत आदित्यादिस्थानत्रयेषु सञ्चर-
न्नुपकरोति । तथा भावयामीत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ उपतिष्ठते यजमानो
नमोऽस्तिवतीति ॥ नमोऽस्तिवत्यादिभिस्त्रिभिर्मन्त्रैर्धजमान उपस्थानं कुर्यात् ॥
तत्र प्रथमः ॥ नमोऽस्तु सर्पेभ्यो येकेच पृथिवीमनु । येऽअन्तरिक्षे ३
ये दिवि तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति ॥ ये केचित् सर्पाः पृथिवीमनुगता-
स्तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोऽस्तु । अन्तरिक्षे अन्तरिक्षलोके वर्तमानाः सर्पा ये च

दिवि द्युलोके वर्तमाना बाहूपभृतयस्तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोऽस्तु ॥ अथ द्वितीयः ॥
 या इषवो यातुधानानां ये वा वनस्पतीरन्तु । ये वाऽवष्टेषु शेरते
 तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति ॥ याः सर्पजातयो यातुधानानां राक्षसाना-
 मिषवो बाणरूपेण वर्तन्ते ये चाऽन्ये वनस्पतीश्चन्दनादिदृक्षाननुवेष्ट्यावेष्ट्य
 स्थिताः । ये चान्ये अवष्टेषु बिलेषु शेरते तेभ्यः सर्पेभ्यो नमोऽस्तु ॥ अथ
 तृतीयः ॥ ये वाऽमी रोचने दिवो ये वा सूर्यस्य रश्मिषु । येषा-
 मप्सु सदस्कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो नम इति ॥ दिवो द्युलोकस्य रोचने
 दीप्तस्थाने ये चामी सर्पा अस्माभिरदृश्यमानाः सन्ति तथा सूर्यस्य रश्मिषु ये
 वा सर्पा वसन्ति । येषां सर्पाणामप्सु जलेषु मदः स्थानं कृतं तेभ्यः सर्पेभ्यो
 वृतेभ्यो नमोऽस्तु ॥ कासायनः ॥ पञ्चगृहीतं जुहोति पुरुषे कृणुष्वपाज इति
 प्रत्युचं प्रतिदिशमिति ॥ पञ्चवारं गृहीतमाज्यं हिरण्ये पुरुषे कृणुष्वपाज
 इत्यादिभिः पञ्चभिर्ऋग्भिः क्रमेण प्रागावृर्ध्वान्तं पञ्च दिशोऽभिलक्ष्य जुहुयात्
 ॥ तत्र प्रथमा ॥ कृणुष्व पाजः प्रसितिल्ल पृथ्वीं याहि राजेवाऽमर्वा
 इमेन ॥ तृष्वीमनुप्रसितिं द्रुणानोऽस्तामि विध्य रक्षस्तपिष्टैरि-
 ति ॥ कृणुष्व कुरुष्व पाजो बलं, प्रसितिं न = मृगवन्धनहेतुभूतामिव पृथ्वीं
 प्रसारिताम्, अतोऽनन्तरं याहि अपवान् शत्रून् इमेन गजेन तृष्वीं क्षिप्रगामिनीं
 प्रसितिं मृकृष्टमेनां द्रुणानो हिंसन्, अस्ता क्षमा धावयिता रक्षामो राक्ष-
 सान् तपिष्टैरतिमन्तापकैर्वाणैः । हे अग्ने, मृगवन्धनाय प्रसारितां पृथ्वीं च
 रक्षोनिरोधाय प्रौढबलं कुरु अमात्ययुक्तो गजेन सहितो राजैव रक्षमामुपरि
 याहि । क्षिप्रगामिनीं परकीयमेनामनुपृष्टतो गत्वा पलायनविशिष्टाया धाव-
 यिता भव । पलायमानानपि राक्षसान् बाणैस्तीक्ष्णैर्विध्य ॥ अथ द्वितीया ॥
 तव भ्रमास आशुया पतन्त्यनुस्पृश धृषता शोशुचानः । तपू-
 ष्यग्ने जुह्वा पतद्भानसन्दिता विस्मृज विष्वगुल्का इति ॥ भ्रमामो
 भ्रमणशीला विस्फुलिङ्गा आशुया शीघ्रगामिनः पतन्ति इतश्चेतश्च गच्छन्ति ।
 धृषता धाव्येन शोशुचानो भृशं दीप्समानः, तपूषि तापकर्तृणि रक्षांसि,
 पतद्भान पतनशीलान् विस्फुलिङ्गान् अनुस्पृश स्पर्शने कुरु । असन्दिताः
 अखण्डिताः विस्मृज विश्लेषेणोत्पादय । विष्वक् सर्वतः, उल्का महाज्वालाः ।
 हे अग्ने, तव सम्बन्धिनो विस्फुलिङ्गाः शीघ्रगामिनः सर्वतः पतन्तु । त्वमपि
 भृशं दीप्यमानस्तेर्विस्फुलिङ्गैस्तानसुरान् धाव्येनात्यन्तगाढमनुस्पृश पुन-

रपि जुह्वा हुतेन हविषा त्वमविच्छिन्नः सन् सन्तापान् विस्फुलिङ्गान् महा-
ज्वालास्वाप्तु खादनाय सर्वतो बाहुल्येनोत्पादय ॥ अथ तृतीयः ॥ प्रति १
स्पशो विस्मृज तूर्णितमो भवा पायुर्विशो अस्याऽअदब्धः । यो
नो दूरे अघशःसो यो अत्यग्ने माकिष्ट व्यथिरादधर्षीदिति ॥
स्पशः स्पर्शः । नोऽस्माकं दूरे योऽघशंसः, अघं पापं शंसति गच्छति अघ-
शंसः । अस्मद्द्रोही यो दूरे वसति । यश्चान्ति समीपेऽघशंसः । हे अग्ने, तं
प्रति स्पशः । स्पश बन्धन इति धातुः । स्पशयन्ति बध्न्न्तीति स्पशो बन्धन-
कृतः प्रणिधीन् विस्मृज प्रेरय । अस्या अस्मदीयाया विशः प्रजायाः पायुः ।
पातीति पायुः पालको भव । कीदृशस्त्वम् । तूर्णितमः । तूर्णं वेगोऽस्यास्ती-
ति तूर्णी । असन्नं तूर्णी तूर्णितमः । वेगवत्तरः । अदब्धः । अनुपाहिंसितः ।
हे अग्ने, एवमनुग्रहपट्टत्तस्य ते तत्र माकिः मा कश्चिद् व्यथिः, व्यथयतीति
व्यथिव्यर्थकः शत्रुरादधर्षीत् । धाष्टर्थं मा करोतु । दूरसमीपस्थानस्मच्छत्रून्
प्रति त्वरितो बन्धकान् प्रेरय । केनाऽप्यहिंसितोऽस्मत्प्रजापालको भव ।
राक्षसाश्च त्वां प्रति घृष्टा मा सन्वित्यर्थः । घृषो धातोर्लुङि द्वित्वम् अडभाव-
श्च मायोगात् ॥ अथ चतुर्थी ॥ उदग्ने तिष्ठ प्रत्यातनुष्व न्यऽमित्रां ओष १
तात् निर्गमहेते । यो नाऽअरातिः समिधान चक्रे नीचा तं धक्ष्य-
ऽतसं न शुष्कमिति ॥ हे अग्ने त्वमुत्तिष्ठ । ततः प्रत्यातनुष्व ज्वाला
विस्तारय । तिग्मा हेतयो यस्य स तिग्महेति । तिग्मं, तेजतरुत्माहकर्मणः ।
तत्सम्बोधनं, हे तिग्महेते, उत्साहवदायुध, अमित्रान् शत्रून् त्वं न्योषताव नितरां
दह । उप दाह । तुषोस्तातङिति हेस्तातडादेशः । हे समिधान । समिधे दीप्यते-
ऽसौ समिधानः । तत्सम्बुद्धौ हे समिधान दीप्यमान, नोऽस्माकं योऽरातिम् अदानं
चक्रे करोति दानं प्रतिषेधति, तं नीचा नीचेः कृत्वा धक्षि दह । दह भस्मी-
करणे । बहुलं छन्दसीति शपि लुप्ते लटि मध्यमैकवचने धक्षीति रूपम् ।
तत्र दृष्टान्तः । शुष्कम् अतसं न । न इवार्थः । अतसो वृक्षः । शुष्कं वृक्षमिव
अदानारं निर्दहेत्यर्थः ॥ अथ पञ्चमी ॥ ऊर्ध्वो भव प्रतिविध्याध्य- २
स्मदाचिष्कृणुष्व दैव्यान्धग्ने । अव स्थिरा तनुहि यातुजूनां
जामिमजामिं प्रमृणीहि शत्रूनि ॥ हे अग्ने, ऊर्ध्वो भव उद्युक्ता भव ।
अस्मदधि अस्माकमुपरि वर्तमानान् शत्रून् प्रतिविध्य प्रतिताडय । दैव्यानि
देवसंबन्धीनि कर्माणि आविः कृणुष्व प्रकटय । किञ्च, यातुजूनां यातुधानां

स्थिरा स्थिराणि धनूषि अवतनुहि अवतारय । किञ्च, जाम्यजामि-
 शब्दौ पुनरुक्तापुनरुक्तवचनौ । जामिमजामि पुनरुक्तमपुनरुक्तं कृत्वा, पुनः
 पुनस्ताडितमताडितं वा शत्रून् प्रमृणीहि । मृणातिमार्णार्थः । रिपून् मारय ॥
 कात्यायनः ॥ घृतपूर्णमग्नेष्टेति ॥ काष्मर्यमर्या पादमात्रदीर्घा षडङ्गुलविपुलां
 घृतपूर्णां प्रागग्रां स्तूचम् अग्नेष्टेति यजुषाग्निर्मूर्द्धेति ऋचा चोपदधाति ॥
 पाठस्तु ॥ अग्नेष्ट्रा तेजसा सादयामीति ॥ हे स्तूक, अग्नेः सम्बन्धिना
 तेजसा त्वा त्वां सादयामि ॥ अग्निर्मूर्ध्ना दिवः ककुत्पतिः पृथिव्या
 अयम् । अपाः रेतांसि जिन्वतीति ॥ अयं मन्त्रः पूर्ववद् व्याख्या-
 तः ॥ कात्यायनः ॥ एवमौदुम्बरीमुत्तरतो दधिपूर्णमिन्द्रस्य त्वेति ॥ एवं-
 विश्वमेवौदुम्बरीं दधिपूर्णां स्तूचमुत्तरे उपदधाति ॥ पाठस्तु ॥ इन्द्रस्य त्वो-
 जसा सादयामीति ॥ हे स्तूक, इन्द्रस्यौजसा तेजसा त्वा त्वां सादयामि
 स्थापयामि ॥ भुवो यज्ञस्य रजसश्च नेता यत्रानियुद्धिः सचसे
 शिवाभिः । दिवि मूर्ध्नां दधिषे स्वर्षा जिह्वामग्ने चकृषे हव्य-
 चाहमिति ॥ हे अग्ने, त्वं यदा हव्यवाहं हव्यं वहतीति हव्यवाहं तां हविषो
 वोद्धी जिह्वां ज्वालां चकृषे करोषि । लङर्थे लिट् । तदा यज्ञस्य द्रव्य-
 देवतासागात्मनो नेता भुवः भवसि । रजसो यज्ञपरिणामरूपोदकस्य च नेता
 भुवः भवसि जगद्रक्षार्थम् । भवतर्लाटि मध्यमैकवचने सिपि, इतश्च लोप इती-
 कारलोपे, लोटोऽडाटात्रिषडागमे, अचिश्नुधात्वित्युवलादेशे च कृते भुव
 इति रूपम् । कुत्र नेता भवसीत्यत्र आह । यत्र यस्मिन् स्थाने शिवाभि-
 र्मङ्गलरूपाभिनियुद्धिरश्वाभिस्त्वं सचसे सम्बन्धं प्राप्नोषि । नियुतो वायोरि-
 त्युक्तेर्नियुतो नाम वायोरश्वाः । ताभिर्वायुर्लक्ष्यते । वायुना चान्तरिक्षं लक्ष्य-
 ते । यत्र च दिवि द्युलोके मूर्द्धानम् आदित्यं दधिषे धारयसि । लिट् लङ-
 ऽर्थे । किम्भूतं मूर्द्धानम् । स्वर्षामि । स्वः स्वर्गं सनति ददातीति स्वर्षाः । पणु
 दाने । विट् प्रत्ययः । विह्वनोरनुनासिकस्यादिति नकारस्थाकारः । यद्वा
 स्वः स्वर्गेऽस्यति तिष्ठतीति स्वर्षाः । तप् । षोऽन्तर्कर्मणि । क्विप् । अन्तरिक्षे
 द्युलोके च यज्ञस्य रजसश्च नेता भवसीत्यर्थः । यज्ञस्य संहितायां, निपात-
 स्य चेति दीर्घः । यस्य तवैतत् कर्म तं त्वां स्तूग्रूपेण सादयामीति शेषः ॥
 इति चतुर्दशेऽध्याये प्रथमोऽनुवाकः ॥ १४ ॥ १ ॥

चतुर्दशे प्रथमेऽनुवाके यजमानजपपुष्करपर्णाद्युपधानमन्त्रा उक्ताः ॥

द्वितीयेऽनुवाके स्वयमातृणादीष्टकोपधानमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥
 स्वयमातृणां पुरुषे शर्करां छिद्रां ध्रुवासीति ॥ पुरुषोपारे ध्रुवेत्यादिचतुर्भि-
 र्ऋग्भिः स्वयमातृणामुपदधाति । कीदृशीं शर्करां, पाषाणमयीम् । छिद्रां स्वा-
 भाविकच्छिद्रयुतां सच्छिद्राम् । अश्ममयीष्टकैव स्वयमातृणोच्यत इति सूत्रा-
 ऽर्थः ॥ पाठस्तु ॥ ध्रुवासि धरुणास्तृता विश्वकर्मणा । मा त्वा
 समुद्र उद्धधीन्मा सुपर्णाऽव्यथमाना पृथिवीं दृष्ट्वेति ॥ हे स्वय-
 मातृणे, त्वं ध्रुवा स्थिराऽसि । कीदृशी त्वं, धरुणा । भूमिरूपेण विश्वस्य
 धारयित्री । विश्वं करोतीति विश्वकर्मा । तेनाप्यर्हिसिता विश्वकर्मणा जग-
 त्कर्त्री मुक्ता मुष्टु निर्मिता आस्तृता उपहिता । समुद्रस्त्वा मोदधीत् स्वोदर-
 मध्ये निमज्जनलक्षणं वधं मा कार्षीत् । सुपर्णः पक्षिराजोऽपि सपोश्चमन-
 वेलायां त्वामादाय मोदधीत् । दूरे परित्यागलक्षणं वधं मा कार्षीत् । एवं
 सति अव्यथमाना भयरहिता त्वं पृथिवीमिमां दृष्ट्व हृदीकुरु ॥ अथ द्वितीयः ॥
 प्रजापतिश्चा सादयत्वपां पृष्ठे समुद्रस्येमन् । व्यचस्वतीं प्रथस्वतीं
 प्रथस्व पृथिव्यमिभूरसि भूमिरस्यदितिरसि विश्वधाया विश्वस्य
 भुवनस्य धात्री । पृथिवीं यच्छ पृथिवीं दृष्ट्व पृथिवीं मा हिंसीरि-
 ति ॥ हे स्वयमातृणे, प्रजापतिः, अपाम्पृष्ठे उदकानामुपरि समुद्रस्य समुदन-
 शीलस्योदकसंघातस्य, एमन् एतेर्धानोर्मनिन् सप्तम्येकवचनम् । एमनि अवसादने
 सादयतु स्थापयतु । कीदृशीं त्वाम् । व्यचस्वतीम् अभिव्यक्तियुक्तां प्रथस्वतीं
 विस्तारयुक्ताम् । त्वमपि प्रथस्व अस्याग्नेः प्रथनं कुरु । किञ्च, त्वं पृथिव्या-
 मुत्पन्नत्वात् पृथिव्यमि भूरसि मुखानां भावयिष्यसि भूमिरसि मृन्मया पृथिव्य-
 भिमानीनी भूमिदेवताऽसि ॥ अदितिरसि, अखण्डनीयामि । विश्वधाया विश्वस्य
 पोषयिष्यसि । तथा विश्वस्य भुवनस्य सर्वस्य लोकस्य धर्त्री धारयिष्यसि ।
 तादृशी त्वं पृथिवीं यच्छ नियतां कुरु । पृथिवीं दृष्ट्व हृदीकुरु । पृथिवीं
 मा हिंसीः पृथिव्या हिमां माकुरु ॥ अथ तृतीयः ॥ विश्वस्मै प्राणायामा-
 पानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय । अग्निश्चाभिपातु
 मद्या स्वस्त्या छर्दिषा शन्तमेन तथा देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवा
 सीदेति ॥ विश्वस्मै प्राणायामानाय व्यानाय वायुतृचिलाभाय प्रतिष्ठायै
 स्वगृहे स्थितिलाभाय । चरित्राय शास्त्रीयाचरणाय प्राणिनामेतस्य सर्वस्य
 सिद्ध्यर्थम् । अयमग्निस्त्वामभितः पातु रक्षतु । केन रक्षणमिति । मद्या

स्वस्त्या महत्या योगक्षेमसंपत्त्या । शान्तमेन छर्दिषा गृहेण अत्यन्तसुखकरणा-
 दिभिर्विशेषेण । तत्र स्वामिभूता या देवता तथा देवतयाऽनुगृहीता धुवांसि ।
 संति सीद इहोपविश । अङ्गिरस्वत् अङ्गिरसां चयनानुष्ठाने यथा त्वं ध्रुवा
 स्थिरा तद्वत् ॥ कान्यायनः ॥ मूलाग्रवर्ती दूर्वा काण्डात् काण्डादितीति
 मूलाग्रोपेतां दूर्वा काण्डात् काण्डादिति मन्त्रद्वयेनोपदध्यादिति शेषः ॥
 तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ काण्डात् काण्डान् प्ररोहन्ती परुषः परुष-
 स्परि । एवा नो दूर्वं प्रतनु सहस्रेण शतेन चेति ॥ काण्डशब्दः
 स्तम्बवाची । यावन्तः काण्डा स्तम्बाः सन्ति तत्रैकैकस्मान् प्रकर्षेण दूर्वोत्पद्य-
 ते । एकस्मिन्नापि स्तम्बे यावन्ति परुषं पर्वाणि तत्रैष्वेकैकस्य पर्जनः परितः
 प्रकर्षेण दूर्वोत्पद्यते । हे दूर्वं, त्वं तत्तत्काण्डात् तत्तत्पर्जनः प्रकर्षेणोत्पद्य-
 माना वर्तमे परुषः परुषस्परि । काण्डात् काण्डात् सर्वतः प्ररोहन्ती सती यथा-
 शताङ्कुरा भवामि एवा एवमेनेन प्रकारेण नोऽस्मदर्थं शतसंख्याकेन सहस्र-
 संख्याकेन वा त्वदीयभेदेन तत्तत्स्वरूपं प्रतनु विस्तृतं कुरु ॥ अथ द्वितीयः ॥
 या शतेन प्रतनोषि सहस्रेण विरोहसि । तस्यास्ते देवीष्टके
 विधेम हविषा वयमिति ॥ हे दूर्वं, या त्वं शतसंख्याकेन स्वरूपेण
 प्रतनोप्यसन्तं विस्तारयसि । तथा सहस्रसंख्याकेनाकारेण विरोहसि । हे इष्टके
 देवि, तस्या वयं हविषा विधेम परिचरेम ॥ कात्यायनः ॥ यास्त इति द्वि-
 यजुषमिति ॥ यास्त इति मन्त्रद्वयेन मन्त्रद्वयोपेत्यामिष्टकामुपदध्यात् ॥ तत्र
 प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ यास्ते अग्ने सूर्ये रुचो दिवमातन्वन्ति रश्मि-
 भिः । ताभिर्ज्ञां अद्य सर्वाभी रुचे जनाय नस्कृभीति ॥ हे अग्ने
 सूर्ये मण्डले ते त्वदीया या रुचो दीप्तयो रश्मिभिः । रश्मिस्वरूपेण दिव-
 मन्तरिक्षमातन्वन्ति सर्वतो व्याप्नुवन्ति । या अग्ने दीप्तयस्ता एव सूर्योदय-
 काले सूर्यरश्मयो भवन्ति । एतच्च तैत्तिरीये अग्निहोत्रब्राह्मणे समास्नातम्-
 उद्यन्तं वाऽऽदित्यमग्निरनुसमारोहतीति । ताभिः सर्वाभिर्दीप्तिभिरग्रा-
 ऽस्मिन् दिने नोऽस्मदर्थं नोऽस्मदीयाय पुत्रभृश्यादिजनाय रुचे कृधि प्रकाश-
 य कुरु ॥ अथ द्वितीयः ॥ या वो देवाः सूर्ये रुचो गोष्वश्वेषु या
 रुचः । इन्द्राग्नी ताभिः सर्वाभी रुचो धत्त बृहस्पते इति ॥
 हे देवाः, वो युष्माकं सम्बन्धिन्यः सूर्यमण्डले वर्तमाना या रुचो दीप्तयः सन्ति
 तथा गोष्वश्वेषु च या दीप्तयः सन्ति । हे इन्द्राग्नी, हे बृहस्पते, त्रयोऽपि ययं

नोऽस्मदर्थं रुचं धत्त ॥ कात्यायनः ॥ विराट्स्वराद्धिति रेतस्मिक्तौ प्रति-
मन्त्रमिति ॥ रेतःसिचारुये द्वे इष्टके विराट्स्वराद्धित्येकैकेन मन्त्रेणोपद्ध्यात्
तयोः पाठस्तु ॥ विराट् ज्योतिरधारयत् स्वराट् ज्योतिरधा- १३
यदिति ॥ विशेषेण राजत इति विराट् । एवंविधा रेतःसिचारुया प्रथमा
इष्टका अस्मदनुग्रहार्थं ज्योतिरधारयत् । स्वयमेव राजत इति स्वराट् ।
तादृशी द्वितीया रेतःसिचारुयेष्टका अस्मदनुग्रहार्थं ज्योतिरधारयत् ॥ का-
त्यायनः ॥ प्रजापतिरिति विश्वज्योतिषमिति ॥ वैश्वज्योतिःसंज्ञकामिष्टकां प्रजा-
पतिष्टेति मन्त्रेणोपद्ध्यात् ॥ पाठस्तु ॥ प्रजापतिष्ट्वा सादयतु पृष्ठे पृथिव्या-
ज्योतिष्मतीम् । विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानाय विश्वं
ज्योतिर्यच्छा । अग्निष्टेऽधिपतिस्तथा देवतयाऽङ्गिरस्वदध्रुवा सीदे-
ति ॥ पृथिव्याः पृष्ठे उपरि ज्योतिष्मतीं ज्योतिषोपेतां त्वा त्वामिष्टकां प्रजा-
पतिः सादयतु स्थापयतु विश्वस्मै सर्वस्मै प्राणादिमम्पत्त्यर्थं विश्वं ज्योतिः
सर्वज्योतिर्यच्छा । हे इष्टके, त्वं निगृहीष्व । अग्निश्च ते तवाधिपतिः । स्वामि-
देवतया ध्रुवा स्थिरा सती सीद उपविश । अङ्गिरस्वत् । पुरा अङ्गिरसां
चयनाख्ये कर्मणि यथा स्थिरामीत् तद्वदत्रापीत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ ऋग्वे
मधुश्च माधवश्चेतीति ॥ ऋग्व्याख्ये द्वे इष्टके उपद्ध्यादिति शेषः ॥ पाठस्तु ॥
मधुश्च माधवश्च वासन्तिका ऋतू अग्नेरन्तःश्लेषोऽसि । कल्पे- १४
तां यावापृथिवी कल्पन्तामाप आषधयः कल्पन्तामग्नयः पृथङ्
मम ज्यैष्ठ्याय सत्रताः । ये अग्नयः समनसोऽन्तरा यावापृथिवी
इमे वासन्तिका ऋतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा अभिसं-
विशन्तु तथा देवतयाङ्गिरस्वदध्रुवे सीदतमिति ॥ मधुश्चैत्रो मासः ।
माधवो वैशाखमासः । तावुभौ वसन्तमम्बन्धिनावृत्तवयवौ । हे तादृश
वसन्ताख्य ऋतो, त्वं चीयमानस्याग्नेरन्तःश्लेषोऽसि । यथा कुञ्जस्यान्त-
र्दाढ्यर्थं काष्ठपाषाणादयः श्लिष्यन्ते तद्वत् । ममाग्निं चिन्वतो यजमानस्य
ज्यैष्ठ्यायोत्कर्षार्थमिमं यावापृथिवी स्वोचितमुपकारसंपदा कल्पेताम् ।
आपश्चौषधयश्च कल्पन्तां स्वोचितमुपकारं संपादयन्तु । समानं व्रतं कर्म येषां
ते सत्रता एकस्मिन् कर्मण्यवस्थिता आहवनीयाद्यग्नयोऽपि पृथक्कल्पन्तां
प्रत्येकं स्वस्वोचितव्यापारं सम्पादयन्तु । किञ्च, इमे यावापृथिवी अन्तरा
अनयोद्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमानाः समनस एकमनस्का ये अग्नयस्ते सर्वेऽपि

वसन्तसम्बधिनावृत्तवयवावभिकल्पमानाः सर्वतः संपादयन्त एतत्कर्माभि-
संविशन्तु । तत्र दृष्टान्तः । इन्द्रमिव देवाः । यथा अन्ये सर्वे देवा इन्द्रम्
अभितः सेवन्ते तद्वन् । हे ऋतव्ये इष्टके, युवां तथा देवतयाऽङ्गिरमां कर्मणि
इव ध्रुवे स्थिरे सत्यौ सीदतम् उपविशतम् ॥ कात्यायनः ॥ अपाळासीत्स-
ऽपाढामिति ॥ अपाढमंज्ञकामिष्टकाम्, अपाढासीति मन्त्रद्वयेनोपदध्यादिति
शेषः ॥ तत्रायं प्रथमः ॥ अषाळाहासि सहमाना सहस्वारातीः सहस्व
पृतनायतः । सहस्रवीर्यासि सा मा जिन्वेति ॥ हे इष्टके त्वम्
अपाढा केनाप्यपरिभूता सहमाना विरोधिनः परिभवशीला असि । ये अस्मभ्यं
दातव्यं धनं न प्रयच्छन्ति तथाविधा अरातीः शत्रून् सहस्व अभिभव पृतना-
यतः । ये च संग्राममिच्छन्तः शत्रवस्तानपि सहस्व । किञ्च, या त्वं सहस्रवीर्या-
स्वभावतः सहस्रवीर्यवत्यसि सा त्वं मा = मां जिन्व प्रीणय ॥ अथ द्वितीयः ॥
* सहस्वेमा अभिमातीः सहस्व पृतनायतः । सहस्व सर्वपाप्मानं
सहमानास्योषध इति ॥ हे ओषधे, इष्टके, इमा अभिमातीः शत्रुभूताः प्रजाः
सहस्व अभिभव । तथा पृतनायतः संग्रामकाङ्क्षिणः शत्रून् सहस्व । सह-
माना त्वं स्वभावतः सर्वमभिभवन्शीलाऽसि । अतस्त्वं सर्वपाप्मानं सहस्वाऽभि-
भव ॥ इति चतुर्दशेऽध्याये द्वितीयोऽनुवाकः ॥ १४ ॥ २ ॥

द्वितीयेऽनुकवाके स्वयमातृणादीष्टकोपधानमन्त्रा उक्ताः । तृतीये तु
कूर्माभ्यञ्जनमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ कूर्मं दधिमधुघृतैरनाक्ति मधु
वाता इतीति ॥ मधु वाता इति मन्त्रत्रयेण दध्यादिभिः कूर्ममञ्ज्यात् ॥
तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ मधु वाता ऋतायते मधु क्षरन्ति सिन्धवः ।
माध्वीर्नः सन्तवोषधीरिति ॥ ऋतं यज्ञम् आत्मन इच्छतीति ऋतायत ।
तस्मै यजमानाय वाता वायवो मधु क्षरन्ति मधुररसं स्नावयन्ति । सिन्धवः
समुद्राश्च मधुररसं स्नावयन्ति । ओषधीरोषधयोऽपि नोऽस्मदर्थं माध्वीः
मधुररसोपेताः सन्तु ॥ अथ द्वितीयः ॥ मधु नक्तमुतोषसां मधुमत्
वार्थिवः रजः । मधु द्यौरस्तु नः पितेति ॥ नक्तं रात्रिः मधु मधुमदस्तु ।
उताऽपिच उषसो मधुमत्यः सन्तु । पार्थिवं पृथिव्यात्मकमिदं रजो मातृभूतो-
ऽयं लोको मधुमत् मधुररसोपेतमस्तु । नोऽस्माकं पिता पितृभूतो द्यौर्लोको
मधु मधुमत् मधुमानस्तु ॥ अथ तृतीयः ॥ मधुमानो वनस्पतिर्मधुमां-
ऽस्तु सूर्यः । माध्वीर्गावो भवन्तु न इति ॥ वनस्पतिरश्वत्थादिर्नोऽस्म-

दर्थं मधुमानस्तु माधुर्यरसोपेतो भवतु । सूर्योऽपि मधुमान् सन्तापराहित-
लक्षणमाधुर्यरसोपेतोऽस्तु । तथा गात्रो नोऽस्मदर्थं माध्वीर्मधुरक्षीरोपेता
भवन्तु ॥ कात्यायनः ॥ अपां गम्भन्निति तिसृभिर्घट्टयतीति ॥ पाठस्तु ॥
अपां गम्भन्त्सीद मा त्वा सूर्योऽभिताप्सीन्माग्निर्वैश्वानरः ।
अच्छिन्नपत्राः प्रजा अनुवीक्षस्वानु त्वा दिव्या वृष्टिः
सचतामिति ॥ हे कूर्म, अपां गम्भन् गम्भीरे स्थाने सीद उपविश ।
एवमुपविष्टं त्वां सूर्यो माभिताप्सीत् । अभितो मा संतापयेत् । वैश्वानरः
सर्वेषां नराणामुदरस्थोऽग्निस्त्वामभि मा सन्तापयेत् । त्वम अच्छिन्नपत्रा
अनवखाण्डितपक्षाः प्रजारूपा इष्टका अनुवीक्षस्व दिव्या दिविभवा वृष्टि-
श्च त्वामनु सचतां मेवताम् ॥ अथ द्वितीयः ॥ त्रीन्त्समुद्रान्त्समसृपत्
स्वर्गानपां पतिर्वृषभ इष्टकानाम् । पुरीषं वसानः सुकृतस्य
लोके तत्र गच्छ यत्र पूर्वं परंता इति ॥ इष्टकानां वृषभो वर्पिता अपां
पतिर्मेघः स्वर्गान् स्वर्गमाधनभूतान् त्रीन् समुद्रान् समुद्रवन्ति स्वकारणात्
समुद्रच्छन्तीति समुद्रा लोका स्तान् समसृपत् सम्यक्प्राप्तो भवति । यत्र यस्मिन्
स्थाने पूर्वं पुरातना ये कूर्मा अन्येष्वग्निषु उपहिताः सन्तः परंताः पारं गताः
सुकृतस्य शोभनकृतस्याग्नेस्तत्र तस्मिन् लोके स्थाने, पुरीषं शुष्कं पांशुरूपां मृदं
वसानः आच्छादयन् गच्छ ॥ अथ तृतीयः ॥ मही व्याः पृथिवीचन इमं
यज्ञं मिमिक्षताम् । पिपृतास्त्रां भरीमभिरिति ॥ अयं मन्त्रो नवमे-
ऽध्याये व्याख्यातः ॥ कात्यायनः ॥ मुमलं दक्षिणमुल्लखलाद्रिणोः कर्माणी-
तीति ॥ अत्र चयने उल्लखलमुमले उपधातव्ये । तत्रोल्लखलस्य दक्षिणभागे
उपदध्यात् ॥ पाठस्तु ॥ चिणोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि
पस्पशे । इन्द्रस्य युज्यः सन्वति ॥ अयं मन्त्रः षष्ठेऽध्याये व्याख्यातः ॥
कात्यायनः ॥ ध्रुवासीत्युखामिति ॥ ध्रुवासीति मन्त्रद्वयेनोखामुपदध्यात् । तत्र प्रथम-
मन्त्रपाठस्तु ॥ ध्रुवासि धरुणेतो जज्ञे प्रथममेभ्यो योनिभ्यो अधि जात-
वेदाः । स गायत्र्या त्रिष्टुभानुष्टुभा च देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रजानन्
इति ॥ हे उखे धरुणा धारयित्री त्वं ध्रुवा स्थिराऽसि । इदानीमुखा स्तूपते । इतो-
ऽस्या उखायाः सकाशात् प्रथममादौ जातवेदा अग्निर्जज्ञे प्रादुर्भूतो भवति । तत
एतेभ्यो योनिभ्यः सकारणेभ्यः अधिजज्ञे । ततः स च गायत्र्यादिछन्दस्त्रयेण
देवान् हविश्च प्रकर्षेण जानन् अस्मदीयं हव्यं हविः देवेभ्यो देवानां

प्रीणनाय वहतु ॥ अथ द्वितीयः ॥ इषे राये रमस्व सद्यसे शुम्न ऊर्जे
 अपत्याय । सम्राळसि स्वरालसि सारस्वतौ त्वोत्सौ प्रावतामिति
 ॥ हे अग्ने, इषे अन्नार्थं, राये धनार्थं, महसे बलार्थं, शुम्ने यशोनिमित्तम् । ऊर्जे
 क्षीरादिरसार्थम्, अपत्याय पुत्रार्थं रमस्व त्वमत्र क्रीडां कुरु । किञ्च सम्यग्
 राजत इति सम्राडसि । स्वयमेव राजत इति स्वराडसि । एवम्भूतं त्वाम्
 उत्सौ अत्युत्सुकौ, सारस्वतौ सरस्वतीसम्बन्धिना वृग्वेदसामवेदौ, प्रावतां
 प्रकर्षेण रक्षताम् । तथा तैत्तिरीये श्रूयते, ऋक्पाम वै सारस्वतावुत्साविति ॥
 कासायनः ॥ अग्ने युक्ष्वाहीति मयृचं स्तुवाहुती जुहोतीति ॥ अग्ने युक्ष्वाहीति
 मन्त्रद्वयेन स्तुवेण द्वे आहुती जुहुयात् ॥ ॥ तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ अग्ने
 युक्ष्वा हि ये तवाऽश्वास्तौ देव साधवः । अरं वहन्ति मन्यव
 इति ॥ हे अग्ने, देव, सम्बन्धिनो येषोचिदश्वासः अश्वाः साधवो दान्ताः
 सन्तो मन्यवे यज्ञार्थम् अरम् अलं वहन्ति । सुष्ठु वहन्तीत्यर्थः । तान्श्वान्
 युक्ष्व इह योजय ॥ अथ द्वितीयः ॥ युक्ष्वा हि देवहूतमांऽअश्वांऽअग्ने
 रथीरिव निहोता पूर्यः सद इति ॥ हे अग्ने, देवहूतमान् देवानामति-
 शयेनाह्वातुन् अश्वान् युक्ष्व योजय । हिशब्दः प्रसिद्धवाची । प्रसिद्धेऽस्मिन्
 कर्मणीत्यर्थः । योजने दृष्टान्तः । रथीरिव । रथीरश्वानिवेति । रथस्वामी यथा
 अश्वान् योजयति तद्वत् । किञ्च, त्वं पूर्यः पुरातनो होता होमोत्पादको
 भूत्वा निषदः अस्मिन् यागस्थाने निषीद ॥ इति चतुर्दशेऽध्याये तृतीयो-
 ऽनुवाकः ॥ १४ ॥ ३ ॥

तृतीयेऽनुवाके जुहाभ्यजनादिमन्त्रा उक्ताः ॥ चतुर्थेऽनुवाके तु हिरण्य
 पुरुषाऽश्वादिच्छिद्रेषु सुवर्णशकलस्थापनादिमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कासायनः ॥ प्रति-
 शिरः सप्त सप्त हिरण्यशकलाभिमुखे करोति सम्यक्स्त्रवन्तीति ॥ वक्ष्यमाण-
 हिरण्यपुरुषाश्वादीनां मध्ये एकैकस्य शिरःस्थितेषु सप्तसु सप्तच्छिद्रेष्वपि सप्त
 सप्त सुवर्णशकलकानि क्षिपेत् । तत्र सम्यक्स्त्रवन्तीत्यनेन मन्त्रेण प्रथमपाठ्ये
 स्थापयेत् ॥ पाठस्तु ॥ सम्यक्स्त्रवन्ति सरितो न धेना अन्तर्हृदा मनसा
 पूयमानाः । घृतस्य धारा अभिचाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्ये
 अग्नोरिति ॥ अन्तः शरीरस्याभ्यन्तरे हृदा मनसा हृदयपुडरीकवर्तिना तन्वो
 निरीक्षणयुक्तान्तःकरणेन पूयमानाः पवित्रीक्रियमाणा धेना अन्नलक्षणाः ।
 अन्नं वै धेना इति श्रुतेः ॥ घृतस्य दीप्तियुक्तस्य सुवर्णस्य धाराः सम्यक् स्त्र-

वन्ति । सुष्ठु प्रवहन्ति । तत्र दृष्टान्तः । सरितो न । यथा नद्यः प्रवहन्ति तद्व-
त् । अपिच उखाग्रेर्मध्ये हिरण्यः सुवर्णमयः वेतसः पुरुषोऽवभासते तं पुरुष-
मभिलक्ष्य स्रवन्तीस्ता धाराः अभिचाकशीमि अहमभिमपश्यामि ॥ कात्यायनः ॥
उत्तरौ द्वौ द्वौ नासिकयो रुचे त्वेयक्ष्णो भासे त्वेति श्रोत्रयोरभूदिदमिति ॥
अवशिष्टानामितरेषां खानां सुवर्णशकलानां मध्ये द्वौ शकलौ, रुचे त्वेति
मन्त्रद्वयेन नासिकाच्छिद्रयोः स्थापयेत् । द्वौ भासेदिति मन्त्रद्वयेन नेत्र-
योः स्थापयेत् । अभूदिति मन्त्रद्वयेन द्वौ श्रोत्रयोः क्षिपेत् ॥
तेषां पाठस्तु ॥ ऋचे त्वा रुचे त्वा भासे त्वा ज्योतिषे १ २
त्वा । अभूदिदं विश्वस्य भुवनस्य वाजिनमग्नेर्वैश्वानरस्य
चाग्निज्योतिष्मान् रुक्मो वर्चसा वर्चस्वानिति ॥ हे हिरण्य-
शकल, येयमृक् श्रोत्ररूपा तदर्थं त्वां दक्षिणनामिकाच्छिद्रं पाश्यामि ।
तथा हे हिरण्यशकल, यामौ रुक् दीप्तिस्तदर्थं त्वां नासिकाच्छिद्रेण प्रक्षिपा-
मि । तथा भासे प्रकाशाय त्वां दक्षिणाक्षिगोलके प्रक्षिपांमि । तथा ज्योतिषे
दीप्त्यै त्वा त्वामक्षिगोलके प्राक्षिपांमि । इदं दक्षिणश्रोत्रे प्रक्षिप्यमाणं सुवर्णं
विश्वस्य भुवनस्य सर्वस्य भूतजातस्य वाजिनम् अजं वीर्यरूपम् । इन्द्रियं वै वीर्यं
वाजिनमिति श्रुत्यन्तरात् । तथा वैश्वानरस्य विश्वेषां नराणां स्वामिनोऽग्नेः स्व-
वीर्यरूपमभूत् । अयमग्निर्वामश्रोत्रगोलकस्थितेन हिरण्यज्योतिषा स्वयं ज्योति-
ष्मानभूत् । तथा रुक्मो रोचमानोऽग्निर्वर्चसा हिरण्येन कान्त्या वर्चस्वान् । स्व-
कान्तिर्वर्च इति भेदः ॥ कात्यायनः ॥ सहस्रदा इति पुरुषांशर उदगृह्णेति ॥ पाठस्तु ॥
सहस्रदा असि सहस्राय त्वेति ॥ हे हिरण्यपुरुषत्वं सहस्रदाः सहस्रस्य धनस्य
दाताऽसि । ततस्त्वां सहस्राय सहस्रधनलाभायोदगृह्णामीति शेषः ॥ कात्या-
यनः ॥ मध्येऽश्वाव्योरुत्तरतः पूर्वापरे गोऽजयोश्च दक्षिणतः आदित्यं गर्भ-
मिति प्रतिमन्त्रमिति ॥ अश्वादीनां मध्ये हिरण्यपुरुषमुपदध्यात् । तस्योत्तर-
तः प्राचीनदेशे स्थापयेत् । अविः पश्चिमे । तथाऽथा दक्षिणतः प्राचीनदेशे गां
स्थापयेत् । अजं पश्चिमे स्थापयेत् ॥ अत्र पुरुषादीनामेकैकस्य स्थापनम्
आदित्यं गर्भमित्याद्याः पञ्च मन्त्राः क्रमेण प्रयोक्तव्याः ॥ तत्र पुरुषोपधानमन्त्र-
पाठस्तु ॥ आदित्यं गर्भं पयसा समरूधि सहस्रस्य प्रतिमां विश्वरूप-
म् । परिवरूधि हरसा माभिमःस्थाः शतायुषं कृणुह चीयमान इति
हे अग्ने, चीयमानः सन् आदित्यम् अदितिर्देवमाता तस्याः संबन्धि तत्कार्यरूपं

गर्भसदृशमिमं पुरुषं पयसा क्षीरेण समङ्गधि सम्पगार्द्रांकुरु । सहस्रपतिमां बहु-
 धनस्य प्रतिमानभूतं विश्वरूपं परितृङ्गधि परित्यज । हरसा तदीयज्वालारूपेण
 तेजसा माभिमंस्थाः । अभिपूर्वो मानिर्हंसार्थः । यजमानं मा हिंसीः । किन्तु
 शतायुषं शतसंवत्सरपरिमितकालजीवनं कृणुहि कुरु ॥ ॥ अथाऽश्वोपधान-
 मन्त्रपाठस्तु ॥ वातस्य जूतिं वरुणस्य नाभिमद्वं जज्ञान् सरिर-
 स्य मध्ये । शिशुं नदीनां हरिमद्रिबुध्नमग्रे मा हिंसीः परमे
 व्योमन्निति ॥ हे अग्रे, अश्वं मा हिंसीः । ज्वालाया मा दह । विविध-
 व्योमरक्षणं व्योममन्ततिसहस्रमश्वस्य रोगास्तेभ्यः सर्वेभ्यः पालनमित्यर्थः ।
 तत्र परममुत्कृष्टं रक्षितस्याश्वस्य पुनरुपद्रवः कदाचिदपि न जायते । तथा
 करणं रक्षणस्य परमत्वम् । तादृशे परमे व्योमन् एतमश्वं स्थापयेदिति शेषः ।
 कीदृशमश्वम् । वातस्य जूतिं वायोर्गतिस्वरूपवञ्छीघ्रगतिमित्यर्थः । वरुणस्य
 नाभिम । अपामधिपतेर्वरुणस्य नाभिस्थानीयम् । यथा स्त्रोदरमध्यवर्तिनी
 नाभिर्वस्त्रमावरणादिना पाल्यते तद्वदन्ततः प्रियत्वाद्वरुणेन पालनीयमित्य-
 ऽर्थः । अत एव प्रियं तमभिप्रेत्य प्रजापतिर्वरुणाय याज्यमनयदिति तैत्तिरीये
 समान्नातम् । सरिरस्य मध्ये यज्ञानां समुद्रजलस्य मध्ये बहवारूपेणोत्पन्न-
 म् । अपमुयोनिर्वा अश्व इति श्रुत्यन्तरान् । नदीनां शिशुम् । यदा नदीनां
 पतिः समुद्रः पूर्वोक्तन्यायेन पिता तदा नदीनां मातृत्वात्तच्छिशुः । हरिमुपर्यारूढ-
 स्य पुरुषस्य हतारं नेतारम् । अद्रिबुध्नम् अद्रिबुद्धम् । नकारोपजनश्लान्दसः ।
 मार्गमध्ये खुरैश्चूर्णीकृता येऽद्रिभत्रशुद्रपाषाणास्तैर्बुद्धम् । तादृशान् पाषाणान्
 दृष्ट्वा मार्गेऽस्मिन्नश्वो गत इति बोद्धुं शक्यते ॥ अथ गोस्थापनमन्त्रः ॥ अजस्र-
 मिन्दुमरुषं भुरण्युमग्निमीळे पूर्वचित्तिं नमोभिः । स पर्वभिर्ऋतु-
 शः कल्पमानो गां मा हिंसीरादिति विराजमिति ॥ पूर्वचित्तिं
 पूर्वमहर्षिभिर्धैर्यमेतमग्निं नमोभिर्नमस्कारैर्युक्तोऽग्निमीडे स्तौमि । कीदृशमग्नि-
 म् । अजस्रमिन्दुं निरन्तरपरमैश्वर्योपेतम् । अरुःशब्दो मर्मवाची । अरुषं
 मर्मसङ्घातं भुरण्युं भरन्तं पोषयन्तम् । यथा यजमानस्य मर्माणि वैरिणो न
 उद्धृत्यन्ति तथा कुर्वन्तमित्यर्थः । सोऽग्निरादित्यरूपेण स्थित्वा पर्वभिरमा-
 वास्यादिभिस्तिथिभिर्ऋतुशः तस्मिंस्तस्मिन् ऋतौ कल्पमानः कर्मणि सम्पाद-
 यन् वर्तते । तादृश हे अग्रे, गां मा हिंसीः । कीदृशीं गाम् । अदितिमत्खण्ड-
 नीयाम् । विराजं विशेषेण राजमानम् ॥ अथावेः स्थापनमन्त्रः ॥ वरुर्ऋतिं

त्वष्टुर्वरुणस्य नाभिमविं जज्ञानां रजसः परस्मात् । महीं साहस्रीमसुरस्य मायामग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन्निति ॥ हे अग्ने, परमे व्योमन् उत्कृष्टे विविधरक्षणे स्थितामविं मा हिंसीर्मा वधीः । कीदृशीमविम् । त्वष्टुर्वरुणीम् । रूपाणां निर्माता यस्त्वष्टा तस्याऽनुग्रहात् वरणीयरूपयुक्ताम् । वरुणस्य नाभिम् । अनिष्टनिवारकस्याग्नेर्नाभिस्थानीया-
म् । उत्कृष्टाज्जगद्रजसो जज्ञानाम् । उत्कृष्टकात् माजापत्यरजस उत्पन्नम् ।
तथा तैत्तिरीये, उरसो बाहुभ्यामित्यादिवाक्ये अविः पशूनामिति श्रुतम् ।
महीं महतीम् । साहस्रीं सहस्रमूलपार्हीम् । असुरस्य मायां, स्वर्भानोरसुरस्य
सम्बन्धित्वेन निर्मिताम् । अत एव तैत्तिरीये । स्वर्भानुरित्यादिवाक्ये साकृष्टा-
ऽविरभवदिति श्रुतम् ॥ अथाजस्थापनमन्त्रः ॥ योऽअग्निरग्नेरध्यजायत
शोकात् पृथिव्या उत वा दिवस्पारि । येन प्रजा विश्वकर्मा
जजान तमग्ने हेळः पारि ते वृणक्तिति ॥ पृथिव्या भूमेरुपरिस्थि-
ता उत वा अथवा दिवस्पारि द्युलोकस्योपरिस्थितात्, शोकादीप्तियुक्तान् ।
अग्नेः प्रजापतिरूपात् सकाशाद्योऽग्निरूपोऽध्यजायत उत्पन्नोऽभूत् । येना-
ऽजरूपेण विश्वकर्मा जगत्स्रष्टा प्रजापतिः प्रजाः पशून् जजान उत्पादितवान् ।
अस्य प्रजापत्युत्पत्तिमाधनत्वं तैत्तिरीये समाम्नातम् ॥ ततोऽजः स्तूपरः
समभवत्तां स्वायै देवताया आलभत । ततो वै स प्रजाः पशुनसृजतेति ॥ हे
अग्ने, ते त्वदीयो हेळः कोपः तं तादृशमजं परिवृणक्तु परिवर्जितं करोतु,
मा विनाशयत्वित्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ चित्रं देवानामित्यर्द्धवशः स्तुवाहुती इति ॥
जुहुयादिति शेषः ॥ पाठस्तु ॥ चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य
वरुणस्याग्नेः । आप्राच्यावापृथिवीऽअन्तरिक्षं सूर्य आत्मा
जगतस्तस्थुषश्चेति ॥ अयं मन्त्रः पूर्वाध्याये व्याख्यातः ॥ इति चतुर्दशो-
ऽध्याये चतुर्थोऽनुवाकः ॥ १४ ॥ ४ ॥

चतुर्थेऽनुवाके हिरण्यपुरुषादीनां शिरस्त्रिद्रेषु सुवर्णशकलस्थापनादि-
मन्त्रा उक्ताः ॥ पञ्चमे तेषामुपस्थानमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ उदक्
तिष्ठन्नुपतिष्ठत उत्सर्गैरिमं मा हिंसीरिति प्रतिमन्त्रमिति ॥ अथर्षुरुदङ्मुखो
भूत्वा इमं मा हिंसीरित्यादिशोकपरित्यागलक्षणैर्मन्त्रैः क्रमेण पुरुषाश्वादीना-
मुपस्थानं कुर्यात् । पुरुषोपस्थानमन्त्रपाठस्तु ॥ इमं मा हिंसीर्द्विपादं
पशुं सहस्राक्ष मेधाय चीयमानः । मयुं पशुं मेधमग्ने जुषस्व तेन

चिन्वानस्तन्वो निषीद । मयुं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु
 इति ॥ हे सहस्राक्ष सहस्रसंख्याकज्वालारूपचक्षुर्युं काप्रे, मेधाय यज्ञाय चीयमान-
 श्वयनेन सह क्रियमाणम् इमं द्विपादं पादद्वयोपेतं पुरुषरूपं ग्राम्यं पशुं
 मा हिंसीः दाहरूपां हिमां मा कार्षीः । यदि तव भक्ष्यापेक्षा तर्हि तव भक्षणाय
 मेधं पशुं मयुं कृष्णमृगरूपं जुषस्व सेवस्व । भक्षयेत्यर्थः । तेन मयु-
 भक्षणेन ज्वालारूपास्तन्वस्त्वदीयतनूश्चिन्वानः पोषयन्निह निषीद । ते तव
 शुक् शोकः सन्तापो मयुं कृष्णमृगम् ऋच्छतु प्राप्नोतु । किञ्च, वयं यं पुरुषं
 मति द्विष्मो द्वेषं कुर्मः । तं पुरुषं ते त्वदीयः शुक् सन्तापो ऋच्छतु प्राप्नो-
 तु ॥ अथाश्वोपस्थानमन्त्रपाठः ॥ इमं मा हिंसीरेकशफं पशुं कनि-
 क्रदं वाजिनं वाजिनेषु ॥ गौरमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वान-
 स्तन्वो निषीद । गौरं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छतु
 इति ॥ हे अग्ने, इममेकशफयुक्तमश्वरूपं पशुं मा हिंसीर्दाहरूपां हिमां मा
 कार्षीः । कीदृशमश्वं, कनिक्रदं हेषाशब्देनात्यन्तक्रन्दनोपेतम् । वाजिनो-
 श्वीप्रगतिगुक्तेषु प्राणेष्वसन्नशीघ्रगतियुक्तम् । यदि ते तव भक्ष्यापेक्षा, त-
 र्हि ते तव भक्षणायेममारण्यं गौरं सिंहम् अनुदिशामि पुरुषशर्षिमनु त्वद्भक्ष्य-
 त्वेनातिमृजामि । तेन गौरभक्षणेन त्वदीयज्वालारूपाः तनूः पोषयन्निह
 निषीद । शिष्टं पूर्ववत् ॥ अथ गोरुपस्थानमन्त्रः ॥ इमं साहस्रं शतधार-
 मुत्सं व्यच्यमानं सरिरस्य मध्ये । घृतं दुहानामदिति जना-
 याग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥ गवयमारण्यमनु ते दिशामि
 तेन चिन्वानस्तन्वो निषीद । गवयं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते
 शुगृच्छत्विति ॥ हे अग्ने, इमं गां मा हिंसीः । किम्भूताम् । साहस्रं सहस्राहं
 शतधारं कूपम् । बहुस्रोतसं कूपमिव बहूपकारकं वाहदोहादिभिः । सरिरस्य
 मध्ये व्यच्यमानं विविधमुपजीव्यमानम् । इमे वै लोकाः सरिरमिति
 श्रुतेः । जनाय जनेभ्यो वा घृतं दुहानां घृतपूरणीं वा । घृतस्य कारण-
 भूतां क्षीरदोग्नीम् । आदितिमखण्डनीयाम् । गवयो गोसदृश आरण्यो मृग-
 विशेषः । शिष्टं स्पष्टम् ॥ अथावेरुपस्थानमन्त्रः ॥ इममूर्णायुं वरुणस्य नाभिं
 त्वचं पशूनां द्विपदां चतुष्पदाम् । त्वष्टुः प्रजानां प्रथमञ्जनित्र-
 मग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ॥ उष्ट्रमारण्यमनु ते दिशामि तेन
 चिन्वानस्तन्वो निषीद । उष्ट्रं ते शुगृच्छतु । यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छ-

त्विषति ॥ हे अग्ने, इमम् ऊर्णायुम् अवि मा हिंसीः । कीदृशम् अविम् ।
वरुणस्यानिष्टनिवारकस्याग्नेर्नाभिस्थानीयम् । द्विपदां मनुष्याणां चतुष्पदां
गवादीनाम् उभयरूपाणां पशूनां त्वकूमदृशम् । यथा त्वचा शरीरमावृतम् ।
द्विपदो मनुष्याः शीतनिवारणार्थमविजन्येन कम्बलेनाज्छादिता भवन्ति । चतु-
ष्पदोऽप्यश्वा बलीवर्दाश्च भारवहनेन मार्दवार्थं पृष्ठे कम्बलेनाज्छादिता भवन्ति ।
तथा त्वष्टुः प्रजापतेः मकाशादुत्पद्यमानानां मध्ये प्रथमं जनित्रं प्रधानत्वेनो-
त्पन्नम् । प्राधान्यं च वीर्यवत्त्वात् । वीर्यवत्त्वं च बाहुजन्यानां सर्वेषां तैत्तिरीये
आम्नातम् । तस्मात्ते वीर्यवतो वीर्यानुसृज्यन्तेति ॥ उष्ट्रः प्रसिद्धः । शेषं
पूर्ववत् ॥ अथाजोपस्थानमन्त्रः ॥ अजो ह्यग्नेरजनिष्ठ शोकात् सो-
अपश्यज्जनितारमग्ने । तेन देवा देवतामग्रमायस्तेन रोहमाय-
न्नुपमेध्यासः ॥ शरभमारण्यमनु ते दिशामि तेन चिन्वान-
स्तन्वा निषीद । शरभं ते शुगृच्छतु यं द्विष्मस्तं ते शुगृच्छत्वि-
ति ॥ हि यस्मादयमजः शोकादीनामुक्तादग्नेः मकाशादजनिष्ठ । अत एव
तैत्तिरीये आम्नातम् । आत्मनो वपामुदस्विदत्तामग्नेः प्रागृह्णात्ततोऽजस्तूपरः
समभवदिति ॥ स एवाग्नेः प्रजापतिरूपादुत्पन्नोऽजो जनयितारं स्वोत्पादकं
प्रजापतिरूपमग्निमग्नेऽपश्यत् । उत्पत्त्यनन्तरमेव दृष्टवान् । यस्मादेवमजः
प्रशस्तस्तस्मादिदानीं वर्तमानादेव अग्ने पूर्वस्मिन् जन्मानि तेनैवाजेन कर्माण्य-
ऽनुष्ठाय देवतामायन् देवत्वं प्राप्ताः । किञ्चेदानीं मेध्यासो यागयोग्या यज-
मानारोहणीयं स्वर्गमुपायन् सापीष्येनैव प्राप्ताः । त्रिलम्बमन्तरेण प्राप्ता इत्यर्थः ।
शरभः सिंहवती कूरमृगः । शेषं पूर्ववत् ॥ कासायनः ॥ त्वं यविष्ठेति चिसो-
पस्थानमिति ॥ चिसाग्नेरुपस्थानं कुर्यात् ॥ पाठस्तु ॥ त्वं यविष्ठ दाशुषो
नृपाहि शृणुधी गिरः । रक्षता तोकमुत्तमनेति ॥ हे यविष्ठ
युवतामग्ने, त्वं दाशुषो हविर्दत्तवतो यजमानस्य नूनं भृसादीन् मनुष्यान्
पाहीति ऋत्विजां गिरः आशिपः शृणुधि शृणुहि । उताऽपि चत्पना आत्मना
त्वदीयेन प्रयत्नेन तोकमपत्यं रक्ष ॥ इति चतुर्दशेऽध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ॥ १४ ॥ ५ ॥

पञ्चमेऽनुवाके हिरण्यपुरुषाश्वादीनामुपस्थानमन्त्रा उक्ताः ॥ षष्ठेऽपस्या-
ऽऽख्येष्टकोपधानमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ अपस्याः पञ्च पञ्चानूकान्तेष्वपरां
त्वेमन्निति प्रतिमन्त्रमिति ॥ अब्लिङ्गैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका अपस्या एतत्संज्ञकाः ।
पञ्च पञ्चेष्टका अपां त्वेमन्नित्यादिभिर्मन्त्रैः क्रमेणानूकान्तेषूपध्यादिति शेषः

॥ तत्र प्रथमपञ्चकमन्त्रपाठः ॥ अपां त्वेमन्त्सादयाम्यपां त्वोद्भन्त्सा-
दयाम्यपां त्वा भस्मन्त्सादयामि । अपां त्वा ज्योतिषि सादया-
म्यपां त्वायने सादयामीति ॥ हे इष्टके, त्वामयामेमन् एमनि जल-
सम्बन्धिप्रवाहादिगमनप्रकारे सादयामि स्थापयामि । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ।
ओन्नन् वीचित्ररङ्गादिरूपे । उदन् । भस्मन् भामके शुक्लरूपे ज्योतिषि प्रकाशे
नैर्मल्य इत्यर्थः । अयने नदीकूपाद्याधारे ॥ अथ द्वितीयपञ्चकमन्त्रपाठः ॥
अर्णवे त्वा सद्ने सादयामि समुद्रे त्वा सद्ने सादयामि सरिरे
त्वा सद्ने सादयामि । अपां त्वा क्षये सादयाम्यपां त्वा सधिवि
सादयामीति ॥ अर्णवशब्देन सादृश्यात् प्रौढं तटाकाद्युपलक्ष्यते । अपां
सद्ने, तस्मिन् स्थाने, हे अपस्याख्ये इष्टके, त्वा त्वां सद्दयामि स्थापयामि ।
समुद्रः प्रसिद्धः । सरिरशब्देनानिर्द्धारितविशेषो जलमात्राधार उपलक्षितः ।
क्षीयन्ते शुष्यन्त्यापोऽत्रेति शुष्कतटागादिः क्षयः । जलेन सह क्षीयन्तेऽत्रस्था-
प्यते इति सधिवर्षोपलादिः ॥ अथ तृतीयपञ्चकमन्त्रपाठः ॥ अपां त्वा
सद्ने सादयाम्यपां त्वा सधस्थे सादयाम्यपां त्वा योनौ साद-
यामि । अपां त्वा पुरीषे सादयाम्यपां त्वा पाथसि सादयामी-
ति ॥ हे इष्टके, अपां सद्ने स्थाने नद्यादौ त्वां सादयामि स्थापयामि ।
अद्भिः सह विद्युदादयो यत्र मेघे तिष्ठन्ति सोऽयं मेघः सधस्थः । योनि-
शब्देन जलकारणभृतोऽग्निरुच्यते । अग्नेराप इति श्रुतेः । पुरीषशब्देन नद्या-
दिगताः मिकता उच्यन्ते । पीयते जलं जीमूतैरत्रेति पाथः समुद्रः ॥ अथ
चतुर्थपञ्चकमन्त्रपाठः ॥ गायत्रेण त्वा छन्दसा सादयामि वैष्टुभेन
त्वा छन्दसा सादयामि जागतेन त्वा छन्दसा सादयामि ।
आनुष्टुभेन त्वा छन्दसा सादयामि पाङ्क्त्येन त्वा छन्दसा सा-
दयामीति ॥ हे इष्टके त्वां गायत्रीसम्बन्धिना छन्दसा सादयामि । स्थापयामि
एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ॥ इति चतुर्दशोऽध्याये षष्ठोऽनुवाकः ॥ १४॥६॥

षष्ठेऽनुवाकेऽपस्येष्टकोपधानमन्त्रा उक्ताः ॥ सप्तमे प्राणभृत्संज्ञकानामि-
ष्टकानामुपधानमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कासायनः ॥ प्राणभृतः कर्णसंहिता दश-
दशाऽयं पुरुष इति प्रतिमन्त्रमिति ॥ यासां प्राणभृत्संज्ञकानां पञ्चाशदिष्टकानां
कर्णाभिधं चिह्नमस्ति तद्युक्ता स्ता दश दशेष्टका उपध्यादिति शेषः ॥
तत्र पूर्वस्यां दिश्युपधेयानां दशेष्टकानां मन्त्रपाठः ॥ अयं पुरोमुचस्तस्य

प्राणो भौवायनो वसन्तः प्राणायनः । गायत्री वासन्ती गायत्र्यै २
 गायत्रं गायत्रादुपाशुरुपाशोस्त्रित्तु त्रित्तो रथन्तरम् ।
 वसिष्ठ ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्य
 इति ॥ भवत्यस्माज्जगदिति भुवः शब्दः प्रजापतिमाचष्टे । पुरः पूर्वस्यां दिशि
 अपं भुवो वर्तते इति शेषः । हे इष्टके, तद्रूपामीत्यभिप्रायः । एवमुत्तरेषु योज्यम् ।
 तथा भुवःशब्दाभिधेयस्य प्रजापतेः सम्बन्धी प्राणः । अत एवापत्यत्वमुप-
 चर्यते । भौवायन इत्युच्यते । तस्य च प्राणस्य इवामृत्तिरूपस्यापत्यत्वोप-
 चरितः प्राणायनो वसन्त ऋतुः । तस्य च वसन्तस्य सम्बन्धिनी गायत्री ।
 तस्याश्छन्दोरूपाया गायत्र्याः सम्बन्धि गायत्रं माम् । तस्माच्च गायत्रमाम्
 उत्पन्न इवोपांशुग्रहः । तस्माच्चोपांशुग्रहादुत्पन्नमिव त्रित्तन्तोमम् । तस्मान्
 त्रित्तन्तोमादुत्पन्नमिव रथन्तरं माम् । यो वसिष्ठस्त्वस्तद्रूपा वाऽमि । हे इष्टके,
 यथोक्तप्रकारेण प्रजापतिप्राणवसन्तादिरूपोपचारेण प्रजापतिगृहीतया त्वया
 प्रजाभ्यः सर्वासां प्रजानां प्राणं गृह्णामि प्रजानां प्राणसिद्धये त्वामुपदधा-
 मीत्यर्थः । यद्यप्यनेकवाक्यत्वादेक एव मन्त्रस्तथापि प्रतीष्टकमावृत्त्या
 दश मन्त्राः सम्पद्यन्ते ॥ अथ दक्षिणस्यां दिश्युपधेयानां दशेष्टकानां
 मन्त्रपाठः ॥ अयं दक्षिणा विश्वकर्मा तस्य मनो वैश्वकर्मेणम् । १
 ग्राष्मो मानसस्त्रिण्डुष ग्रैष्मी । त्रिण्डुभः स्वारः स्वारादन्तर्या-
 मोऽन्तर्यामात् पञ्चदशः पञ्चदशाद् बृहत् । भरद्वाज ऋषिः ।
 प्रजापतिगृहीतया त्वया मनो गृह्णामि प्रजाभ्य इति ॥ विश्वानि
 कर्माणि जगदव्यापारादीनि यस्याऽसौ विश्वकर्मा । हे इष्टके, तद्रूपा त्वमामि ।
 प्राणवसन्तादिपरम्परेव मनोग्रीष्मादिपरम्परा व्याख्येया । स्वारमिति वास-
 विशेषः ॥ अथ पश्चिमायां दिश्युपधेयानामिष्टकानां मन्त्रपाठः ॥ अयं १
 पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य चक्षुर्वैश्वव्यचसम् । वर्षाश्चाक्षुष्यो जगती
 वार्षी । जगत्या ऋक्सममृक्समाच्छुक्रः । शुक्रात् सप्तदशः ।
 सप्तदशाद्वैरूपम् । जमदग्निर्ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया चक्षु-
 र्गृह्णामि प्रजाभ्य इति ॥ विश्वं सर्वं जगद्वचति व्याप्नोतीति विश्वव्यचाः
 प्रजापतिः । शेषं पूर्ववद् विभजनीयम् । वर्षा वर्षेतुः । ऋक्समामिति
 सामविशेषः ॥ अथोत्तरस्यां दिश्युपधेयानामिष्टकानां मन्त्रपाठः—
 इदमुत्तरात् स्वस्तस्य ओत्रः सौवम् । शरच्छ्रौत्र्यनुष्टुप् १

शारदी । अनुष्टुभ ऐळमैळान्मन्धी मान्धन एकविंश एक-
 विंशद्वैराजम् । विश्वामित्र ऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया
 श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्य इति ॥ सौति सर्वं जगत् प्रेरयतीति स्वशब्दः
 प्रजापतिवाची । उत्तरस्यां दिशि यदिदं स्वः प्रजापतिशरीरं, हे इष्टके, त्वं
 तद्रूपासीतियोज्यम् । ऐळमिति सामविशेषः । शेषं पूर्ववद् योज्यम् । अथ मध्यम-
 देश उपशेयानामिष्टकानां मन्त्रपाठः ॥ इयमुपरिमतिस्तस्यैवाङ्मात्या
 हेमन्तो वाच्यः पङ्क्तिर्हेमन्ती । पङ्क्त्यै निधनवं निधनवत् आग्र-
 यण आग्रयणात् त्रिणवत्रयस्त्रिंशौ त्रिणवत्रयस्त्रिंशाभ्यां
 शाकरैरथते । विश्वकर्मऋषिः प्रजापतिगृहीतया त्वया वाचं
 गृह्णामि प्रजाभ्य इति ॥ मन्त्रे कृत्स्नं जगज्जानातीति मतिः प्रजापतिः ।
 ऊर्ध्वायां दिशि येयं प्रजापतिः । हे इष्टके, तद्रूपा त्वमसि । मतिनाम्नः
 प्रजापतेरूपपत्यरूपा येयं वाक् मा माया । वाचोऽपत्यं वाच्यायनः । निध-
 नवमिति सामविशेषः । अत्रैकैकस्मिन्मन्त्रे प्रजापतिरिन्द्रियमृतुश्छन्दः सामवि-
 शेषो ग्रहस्तोमपृष्ठस्तोत्रमाम ऋषिरिति नाडीनामेतेषां पदार्थानां यद्यपि
 लोकप्रसिद्धो जन्यजनकभावो नास्ति, तथापि मन्त्रार्थत्वेन मनसा भावयितु-
 मिदमुक्तमित्यविरोधः ॥ कात्यायनः ॥ लोकस्पृणा दक्षिणांश्च आदध्यात्
 समदध्याद् इति ॥ लोकस्पृणसंज्ञका इष्टका दक्षिणांममारभ्य मध्यदेशपर्यन्ता
 लोकस्पृणेत्यादिभिस्त्रिभिर्मन्त्रैरुपदध्यादिति शेषः । तेषां मन्त्राणां प्रतीका-
 न्याह ॥ लोकस्पृणा ता अस्पेन्द्रं विश्वा इति ॥ लोकस्पृणेतीदं प्रथम-
 मन्त्रप्रतीकम् ॥ ता अस्पेति द्वितीयमन्त्रस्य प्रतीकमिदम् ॥ इन्द्रं विश्वा इति
 तृतीयमन्त्रस्य प्रतीकम् ॥ ते च मन्त्रास्त्रयोदशोऽध्याये व्याख्याताः ॥ इति
 चतुर्दशोऽध्याये सप्तमोऽनुवाकः ॥ १३ ॥ ७ ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ॥

पुमर्थाश्चतुरो दद्याद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबुक्कभूपालसाम्राज्य-
 धुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवीये वेदार्थप्रकाशे काण्वसंहिता-
 भाष्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

अथ शुक्लयजुःकाण्वमन्त्रभाष्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

यस्य निश्चयितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ॥

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

चतुर्दशेऽध्याये यजमानपुष्करपर्णस्तरणादिप्रथमचितिमन्त्रा उक्ताः ॥ एतावता प्रथमचिभिः समाप्ता ॥ अथ पञ्चदशाध्याये द्वितीयतृतीयचित्पादि-
मन्त्रा उच्यन्ते ॥ तत्र प्रथमाऽनुवाके द्वितीयचितौ आश्विन्याख्या इष्टका
अभिधीयन्ते ॥ कात्यायनः ॥ आश्विनीध्रुवक्षितिरिति प्रतिमन्त्रमिति ॥
अश्विदेवयुक्तैः मन्त्रैरुपधेया इष्टका आश्विन्यः । ता ध्रुवक्षितिरित्यादिभिः
पञ्चभिर्मन्त्रैः क्रमेणोपदध्यादिति शेषः ॥ तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ ध्रुव-१
क्षितिध्रुवयोनिध्रुवासि ध्रुवं योनिमासीद साधुया । उरुपस्य
केतुं प्रथमं जुषाणाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेति ॥ ध्रुवा स्थिरा
क्षितिर्निवासभूमिर्यस्या इष्टकायाः सा ध्रुवक्षितिः । यस्यां भूमौ इष्टका निव-
सतिः तस्या भूमेश्चाञ्जल्याभावात् स्थैर्यं द्रष्टव्यम् । ध्रुवा विनाशरहिता योनि-
रुत्पत्तिहेतुर्मद्रूपा यस्या इष्टकायाः सा ध्रुवयोनिः । हे इष्टके, तादृशी त्वं स्व-
रूपतो ध्रुवा अस्मि । आमकपालादिभिः संयोज्यनिर्मितत्वाद् ध्रुवा त्वम् ।
साधुया अस्माभिः साधनीया उपधातव्या त्वं ध्रुवं योनिं स्थिरमग्निक्षेत्ररूपं
स्थानम् आसीद आगस्रोपविश । किञ्च, उरुपस्य उखायां स्थितस्याग्नेः
केतुं प्रज्ञापकं प्रथमं द्वितीयायां चितौ मुख्यं स्थानं जुषाणौ सेवमानौ देवा-
नामध्वर्यू उभावश्विनाविहास्मिन्नग्निक्षेत्रे इष्टके त्वा त्वां सादयतां स्थापय-
ताम् ॥ अथ द्वितीयः ॥ कुलायिनी घृतवतीपुरन्धिः स्योने सीद
सदने पृथिव्याः । अभि त्वा रुद्रा वसवो गृणन्त्विमा ब्रह्म
पीपिहि सौभगायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेति ॥ हे इष्टके,
त्वं कुलायिनी निवासस्थानवती घृतवती होष्यमाणेनाज्येन संयुता सती
पुरन्धिः पुरु बहुधा धीयते सम्यगवस्थाप्यत इति पुरन्धिः । तादृशी सती
पृथिव्याः प्रथमचित्ररूपाया भूमेः सम्बन्धिनि, स्योने सुखरूपे सदने स्थाने
सीद उपविश । किञ्च, रुद्रा वसवः सर्वे देवाः सर्वे त्वा त्वाम् अभिगृणन्तु ।
इमा इमानि ब्रह्म ब्राह्मणानि मन्त्रात्मकानि पीपिहि आप्यायस्व । किमर्थम् ।
सौभगाय महदैश्वर्यार्थम् । पूर्ववत् ॥ अथ तृतीयः ॥ स्वैर्दक्षैर्दक्षपितेह

सीद देवानां सुमे बृहते रणाय । पितेवैधि सूनव आ सुशेवा
 स्वावेशा तन्वा संविशस्वाश्विनाध्वर्यु सादयतामिह त्वेति ॥
 स्वैर्दक्षैः स्वकीयैर्बलैर्दक्षपिता बलस्य पालयित्री, हे इष्टके त्वम् एवंविधा सती
 इहास्यां द्वितीयायां चितौ सीद उपविश । किमर्थम् । बृहते महते रणाय रय-
 णीयाय देवानां सम्बन्धिनि सुम्ने सुखाय सुखप्राप्त्यर्थम् । तत्र आ सर्वतः
 सुशेवाः सुखेन सेवितुं शक्या एधि भव । क इव । सूनवे पितेव । यथा पुत्रार्थं
 पिता सुखेन सेव्यो भवति । किञ्च, तन्वा स्वकीयेन शरीरेण स्वावेशा सुखेन
 प्रवेशवती सती संविशस्व । अवस्थानं कुरु । अश्विनेत्यादि पूर्ववत् ॥ अथ
 चतुर्थः ॥ पृथिव्याः पुरीषमस्यप्सो नाम तां त्वा विश्वे अभिगृण-
 न्तु देवाः । स्तोमपृष्ठा घृतवतीह सीद प्रजावदस्मे द्रविणाऽऽयज-
 स्वाश्विनाध्वर्यु सादयतामिह त्वेति ॥ हे इष्टके, त्वं पृथिव्याः
 प्रथमचितिभूताया भूमेः पुरीषं पूरकमसि । अप्सो नाम । अपः सनोतीत्य-
 प्सो रसः । या त्वमेवं रसगुणभूता प्रसिद्धा तां त्वां तादृशीं त्वां विश्वे देवाः
 सर्वेऽपि देवा अभिगृणन्तु सर्वतः कीर्तयन्तु । स्तोमपृष्ठा सप्तदशादिस्तोमभि-
 युक्तानि पृष्ठस्तोत्राणि यस्याः सा स्तोमपृष्ठा घृतवती होष्यमाणेनाज्येन संयु-
 ता सती इहास्मिन् क्षेत्रे सीद तिष्ठ । अस्मभ्यं प्रजावत् पुत्रपौत्रादियुक्तानि
 द्रविणानि धनानि आयजस्व सर्वतो देहि । अश्विनेत्यादि पूर्ववत् ॥ अथ
 पञ्चमः ॥ अदित्यास्त्वा पृष्ठे सादयाभ्यन्तरिक्षस्य धर्त्रीं विष्टम्भनीं
 दिशामधिपतीं भुवनानाम् । ऊर्मिद्रप्सो अपामसि विश्वकर्मा
 त ऋषिरश्विनाध्वर्यु सादयतामिह त्वेति ॥ हे इष्टके, त्वा त्वाम् ।
 अदित्याः पृष्ठे प्रथमचितिभूताया भूमेरुपरि सादयामि स्थापयामि । कीदृशीं
 त्वाम् । अन्तरिक्षस्य लोकस्य धर्त्रीं धारयित्रीम् । तथा प्राच्यादीनां दिशां
 विष्टम्भनीं विविधकार्येण स्तम्भयन्तीं व्यवस्थापयन्तीं, भुवनानां सर्वेषामधि-
 पतीम् आधिक्येन पालयित्रीम् । यस्यास्ते विश्वकर्मा प्रजापतिर्ऋषिर्द्रष्टा सा
 त्वम् अपाम् ऊर्मिः, यश्च द्रप्सः, तदुभयरूपाऽसि । शिष्टं पूर्ववत् ॥ कात्या-
 यनः ॥ शुक्रश्च शुचिश्चेत्यृतव्ये इति ॥ ऋग्व्यसंज्ञके द्वे इष्टके उपदध्यादिति
 शेषः ॥ पाठस्तु ॥ शुक्रश्च शुचिश्च ग्रैष्मा ऋतू अग्नेरन्तःश्लेषो-
 ऽसि । कल्पेतां यावापृथिवी कल्पन्तामाप ओषधयः कल्पन्ता-
 मग्नयः पृथक्मम ज्यैष्ठ्याय सव्रताः । ये अग्नयः समनसोऽन्तरा

द्यावापृथिवी इमे । ग्रीष्माऽऋतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिष
देवा अभिसंविशन्तु तथा देवतयाऽङ्गिरस्वद् भुवे सीदतमिति ॥
शुक्रो ज्येष्ठमासः । शुचिराषाढः । तावुभौ ग्रीष्मसम्बन्धिनावृत्ववयवौ, हे
ग्रीष्माख्यऋतो, त्वं चीयमानस्याग्रेरन्तःश्लेषोऽसि । यथा कुर्व्यस्यान्तर्दाह्या-
र्थं काष्ठपाषाणादयः श्लेष्मन्ते तद्वत् । ममामि चिन्वतो यजमानस्य
ज्येष्ठ्यापोत्कर्षार्थमिमे द्यावापृथिव्यौ स्वोचितमुपकारं कल्पेतां सम्पादयेताम् ।
आपश्चोषयश्च कल्पन्तां स्वोचितमुपकारं सम्पादयन्तु । समानं व्रतं कर्म
येषां ते सत्रता एकस्मिन् कर्मण्यवस्थिता आहवनीयाद्यग्रयोऽपि पृथक् कल्पन्ता-
म् । प्रत्येकं स्वोचितव्यापारं सम्पादयन्तु । किञ्च, इमे द्यावापृथिवी अन्तरा
अनयोर्द्यावापृथिव्योर्मध्यं वर्तमानाः, समनस एकमनस्का ये अग्रयः ते सर्वे-
ऽपि ग्रीष्मसम्बन्धिनवेतावृत्ववयवावभिकल्पमानाः सर्वतः सम्पादयन्तः, एत-
त्कर्माभिसंविशन्तु । तत्र दृष्टान्तः । इन्द्रमिष देवाः । यथाऽन्ये सर्वे देवाः,
इन्द्रमभितः सेवन्ते तद्वत् । हे ऋतव्ये इष्टके, युवां तथा देवतया अङ्गिरस्वत्
अङ्गिरसां कर्मणां च भुवे स्थिरे सखौ सीदतम् उपविशतम् ॥ इति पञ्चदशो-
ऽध्याये प्रथमोऽनुवाकः ॥ १५ ॥ १ ॥

प्रथमेऽनुवाके आश्विन्यादीष्टकोपधानमन्त्रा उक्ताः ॥ द्वितीये वैश्वदेवी-
ष्टकाद्युपधानमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ वैश्वदेवीः सजृर्ऋतुभिरिति प्रति-
मन्त्रमिति ॥ नानाविधदेवतायुक्तैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका वैश्वदेव्यः । ताः सजृ-
र्ऋतुभिरित्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः क्रमेणोपध्यादिति शेषः ॥ तत्र प्रथममन्त्र-
पाठस्तु ॥ सजृर्ऋतुभिः सजूर्धिधाभिः सजूर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैः ॥
अग्रये त्वा वैश्वानरायाश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वेति ॥
हे इष्टके, ऋतुभिर्वसन्तादिऋतुभिः सजृः समानप्रीतिरसि । वसन्तादीनां यादृशी
प्रीतिस्तादृशी तत्रेत्यर्थः । एवमुत्तरत्रापि सजृःशब्दो योज्यः । विविधं जगद्-
धति पोषयन्तीति ब्रह्मादयो विधाः । तैः समानप्रीतिरसि । यद्वा विधाशब्देनापि
उच्यन्ते । आपो वै विधा इति श्रुतेः । तादृशीभिः समानप्रीतिरसि । वयो-
नाधैः पदैश्छन्दोरूपैः प्राणरूपैर्वा देवैः समानप्रीतिरसि । तथाच श्रूयते ।
प्राणा वै देवा वयोनाधाः । प्राणैर्हीदं सर्वं वयुनं नद्धम्य छन्दांसि वयो-
नाधाः । छन्दोभिर्हीदं सर्वं वयुनं नद्धं प्राणैर्वै सयुग्भूत्वा प्राजनयादिसादि ।
सजूर्देवैरिति पुनर्वचनमादरार्थम् । एवं तादृशैर्देवैः समानप्रीतिरुक्तां त्वां वैश्वान-

नरायामये सर्वपुरुषाणां हितकारिवह्नयर्थमहमुपदधामीति शेषः । एवमुप-
हितां त्वां देवानामध्वर्यू अश्विना इहास्मिन् सेत्रे सादयतां स्थापयताम् ।
एव मुत्तरेष्वपि मन्त्रेषु योजनीयम् ॥ तेषां पाठस्तु ॥ सजूर्ऋतुभिः सजू-
र्विधाभिः सजूर्वसुभिः सजूर्देवैर्वयोनाधैः । अग्नये त्वा वैश्वान-
नरायाऽश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ सजूर्ऋतुभिः सजू-
र्विधाभिः सजू रूद्रैः सजूर्देवैर्वयोनाधैः । अग्नये त्वा वैश्वानराया-
ऽश्विनाध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः
सजुरादित्यैः सजूर्देवैर्वयोनाधैः । अग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विना-
ऽध्वर्यू सादयतामिह त्वा ॥ सजूर्ऋतुभिः सजूर्विधाभिः सजू-
र्विश्वैर्देवैः सजूर्देवैर्वयोनाधैः । अग्नये त्वा वैश्वानरायाश्विना-
ऽध्वर्यू सादयतामिह त्वेति ॥ कात्यायनः ॥ प्राणभृतः प्राणं म इतीति ॥
प्राणभृत्संज्ञका इष्टका उपदध्यात् ॥ पाठस्तु ॥ प्राणं मे पाह्यपानं मे
पाहि व्यानं मे पाहि । चक्षुर्म उर्व्या विभाहि श्रोत्रं मे श्लोकये-
ति ॥ हे इष्टके त्वं मे मदीयं प्राणं पाहि पालय । एवमुत्तरत्रापि । उर्व्या
विशालया दृष्ट्या मदीयं चक्षुर्विभाहि विशेषेण प्रकाशय । दर्शनसमर्थं कुर्वि-
त्यर्थः । मदीयश्रोत्रं संघाते शक्तं कुरु । बहुविधशास्त्रश्रवणसमर्थं कुर्वित्यर्थः ॥
कात्यायनः ॥ अपः पिन्वेत्यपस्या इति ॥ आपस्यानामका इष्टका उपदध्यात् ॥ पाठस्तु
अपः पिन्वौषधीर्जिन्व द्विपादव चतुष्पात् पाहि । देवो वृष्टिमे-
रयेति ॥ हे इष्टके, त्वमपो जलानि पिन्व प्रीणय । ओषधीरापि जिन्व प्रीण-
य । द्विपात् मनुष्यशरीरम् अत्र रक्ष । चतुष्पात् पशुशरीरं पाहि पालय ।
दिवः सकाशाद् वृष्टिमेरय । आसमन्तात् मेरय ॥ इति पञ्चदशेऽध्याये द्वितीयो-
ऽनुवाकः ॥ १५ ॥ २ ॥

द्वितीयेऽनुवाके वैश्वदेवीष्टकाद्युपधानमन्त्रा उक्ताः ॥ तृतीये वयस्याख्ये-
ष्टकोपधानमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ वयस्याः पञ्च पञ्चानुवाकान्तेषु
मूर्द्धा वय इति प्रतिमन्त्रमिति ॥ वयःशब्दोपेतैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टका वयस्याः ।
ता अनुवाकान्तेषु पञ्च पञ्चोपदध्यात् ॥ पाठस्तु ॥ मूर्द्धा वयः प्रजापति-
श्छन्दः क्षत्रं वयो मयन्दं छन्दः । विष्टम्भो वयोऽधिपतिश्छन्दो
विश्वकर्मा वयः परमेष्ठीछन्दः । बस्तो वयो विवलं छन्दो वृष्णि-
र्वयो विशालं छन्दः । पुरुषो वयस्तन्द्रं छन्दो व्याघ्रो वयो-

ऽनाष्टं छन्दः । सिंहा वयश्छन्दश्छन्दः यष्टवाङ्यो बृहती-
छन्दः । उच्चावयः ककुपछन्दः । ऋषभो वयः सती बृहती छन्दः ।
अनङ्गवान् वयः पङ्क्तिश्छन्दो धेनुर्वयो जगतीछन्दः । अगर्वि-
षास्त्रिष्टुप्छन्दो दिव्यवाङ्यो विराट् छन्दः । पञ्चाङ्गिषो
गायत्रीछन्दास्त्रिवत्सो वय उष्णिक् छन्दः । तुर्यवाङ्यो-
ऽनुष्टुप् छन्दः । इति ।

पुरा खलु सृष्टवः प्रजापतेर्विश्वस्मात् सकाशात् सृष्टाः पश-
वश्छन्दोरूपमास्थाय निरगच्छन् । ततः स प्रजापतिः स्वयमपि गायत्र्या-
दिछन्दोरूपं स्वीकृत्य पशुमन्विन्न्यां तत्तदवस्थायां तान् योजयत् । तत्र
तावदादितश्चतुर्भिर्मन्त्रैः प्रजापतेर्गृह्यययात्मकं गायत्रीरूपं परिकल्पते ।
एवं गायत्रीछन्दोरूपेण परिकल्पितोऽसौ प्रजापतिः स्वयमेव मूर्द्धा पशुमं-
बन्धिगिरः । वयः शरीरावस्था । प्रजापतिरेव मूर्द्धलक्षणं वयोऽभवत् ।
अत एव मूर्द्धि इतरावयवेभ्यः प्राधान्यं दृश्यते । तथा प्रजापतिः स्वयमेव
छन्दोऽभवत् । अस्मिन् मन्त्रे उत्तरमन्त्रेष्विव छन्दसो विशेष्य यच्छन्दःमा-
मान्यं विवक्षितम् । अनेन मन्त्रेण प्रजापतेर्द्वावयवौ परिकल्पितौ । क्षतात्
त्रायत इति क्षत्रम् । तादृशं वयः शरीरावस्था प्रजापतिरभवत् । मयः
सुखं ददातीति मयन्दं तादृशं छन्दश्चाभवत् । कृत्स्नं शरीरं विष्टम्भोति
स्थिरीकरोती विष्टम्भः प्रजापतिः । स्वयं विष्टम्भात्मकं वयोऽभवत् । अवि-
ष्टापयतीत्यधिपतिः । एतदात्मकं छन्दोऽभवत् । विष्टं कर्म कर्तव्यं यस्या-
ऽसौ विश्वकर्मा प्रजापतिरीदृग्रूपं वयोऽभवत् । परमे उत्कृष्टे । स्थाने
निष्ठनीति परमेष्ठी एतदात्मकं छन्दोऽभवत् । एवं प्रतिमन्त्र द्वौ द्वावयवा-
विति अष्टावयवः प्रजापतिः परिकल्पितः । तथाचाष्टमंख्योपेतत्वात् सर्व-
छन्दःप्रकृतिभूतं गायत्रीरूपमस्य संपन्नम् । एवं गायत्रीरूपः प्रजापतिः किम-
करोदिति तदाह । वस्तोवय इत्यादिना । एकपदा वै विष्टं छन्द इति
श्रुतेः । प्रजापतिः स्वयमेकपदा गायत्रीछन्दो भूत्वा वयः । सुपां ह्युगिति
तृतीयाया लुक् । वस्तश्छन्दः । अत्रापि द्वितीयैकावचनस्य सुवादेशः । व-
यसा शरीरावस्थया निर्गतं वस्ताख्यं पशुं पर्यगृह्णात् । एवमुत्तरेष्वपि मन्त्रेषु
विभक्तिविपरिणामं कृत्वा तत्तच्छन्दोरूपमास्थाय प्रजापतिस्तद्वयसा तं पशुं
परिगृहीतवानिति योज्यम् । विशेषस्तु । कथ्यते । उष्णिः सेचनसवधौ मेघः ।

द्विपदा गायत्री । विशालाख्यं छन्दः । द्विपदा वै विशालं छन्द इति श्रुतेः ।
 विराट्छन्दः । अनाष्टुष्टम् । विराड्वा अनाष्टुष्टमिति श्रुतेः । अनाष्टुष्टाख्यं
 विराट्छन्दो विराट् । सर्वाणि छन्दांसि छादयतीति छदिः । आति-
 छन्दः अतिछन्दो वै छदिरिति श्रुतेः । पृष्ठे पृष्ठभागे वहतीति
 पृष्ठवाद् पञ्चवर्षः पथुः । उक्षा सेचनसमर्थः पथुः । अन्तिमौ द्वा-
 षष्ठाक्षरौ पादौ मध्यपादौ द्वादशाक्षरश्चेत् सा ककुप् । ऋषभः सेचनस-
 मर्थोऽनङ्गवान् । प्रथमनृतीयौ पादौ द्वादशाक्षरौ मासतो बृहती । अतो
 बहतीत्यनङ्गवान् बलीवर्दः । धेनुनिवप्रमृता । सवत्सा गौस्त्रिधा भवतीति
 व्यविः । यद्वा अविशब्देन क्षीरादिकमन्नं लक्षयित्वा तत्पाशनाय विहितः
 षण्मासात्मकः कालो लक्ष्यते । तथा च तिस्रो अवयोऽस्य सञ्जाता इति व्य-
 विरष्टादशमामः पथुरिति । दित्यार्हं खण्डनार्हं वहतीति दित्यवाद् । यद्वा
 द्विवर्षः पथुर्दित्यत्वादित्युच्यते । पञ्चपथुः पञ्चाविः । त्रयो वत्सा यस्यामौ
 त्रिवत्सः । यद्वा त्रिवत्सरः पथुस्त्रिवत्सः । तुर्यं चतुर्थं वहतीति तुर्यवाद् ।
 मूर्द्धा वय इत्यादीनां मन्त्राणां श्रुत्यनुसारेणैवं व्याख्यानं कृतम् । तत्सर्व-
 शतपथादवगन्तव्यम् ॥ कात्यायनः ॥ लोकम्पृणामंज्ञका इष्टका यथापूर्व-
 मुपदिध्यादिति शेषः । तेषां मन्त्राणां प्रतीकान्याह । लोकं पृणता अस्येन्द्रं
 विश्वः इति पूर्ववज्याख्येयम् ॥ इति पञ्चदशोऽध्याये तृतीयोऽनुवाकः ॥ १५ ॥ ३ ॥

तृतीयेऽनुवाके वयस्यालोकम्पृणामंज्ञका इष्टका उक्ताः एतावता द्वितीया
 चितिः समाप्ता ॥ अथ चतुर्थं तृतीयस्यां चितौ स्वयमातृणाय उच्यन्ते ॥
 कात्यायनः ॥ तृतीयायां स्वयमातृणामिन्द्राग्नी इति ॥ तत्पाठस्तु ॥

इन्द्राग्नी अव्ययमानामिष्टकां हन्तं युषम् । पृष्ठेन धावा-
 पृथिवी अन्तरिक्षं च विबाधसे । विश्वकर्मा त्वा सादयत्स्वन्त-
 रिक्षस्य पृष्ठे व्यचस्वती प्रथस्वती । अन्तरिक्षं यच्छान्तरिक्षं =
 हान्तरीक्षं मा हिंसीः । विश्वस्मै प्राणायानाय व्यानायोदानाय
 प्रतिष्ठायै चरित्राय । वायुष्वाभिघातु मत्वा स्वस्त्या छर्दिषा
 शन्तमेनं तथा देवतयाङ्गिरस्वद् भुवासीदेति ॥

अत्रोत्तरार्द्धः प्रथमं व्याख्येयः । येयमिष्टका पृष्ठेन स्वकीयेनोपरि-
 भागेन लोकत्रयं विबाधसे पुरुषव्यसयः । विभातेषु अभिभवति । हेन्द्राग्नी

युवं युवाम् अव्यथमानां भङ्गं रहिता स्वयमातृणारुषां तामिष्टकां दृष्ट्वा
हृदीकुरुतम् । किञ्च, विश्वानि कर्माणि यस्यासौ प्रजापतिः । हे स्वयमा-
तृणो त्वां स प्रजापतिस्त्वामन्तरिक्षस्य पृष्ठे उपवि सादयतु । कीदृशीम् ।
अथस्वतीम् अभिव्याक्तयुक्ताम् । प्रथमस्वतीं विस्तारोपेतम् । येयं स्वयमा-
तृणा सा त्वमन्तरिक्षं गच्छ । गन्धर्वाप्सरोगणां सा त्वमन्तरिक्षं यच्छ ।
गन्धर्वाप्सरोगणादिधारकतया नियमय । तथाऽन्तरिक्षं दृष्ट्वापरोपदवराहि-
त्येन हृदीकुरु । त्वमपि तदन्तरिक्षं या हिप्सीः । विश्वस्मै सर्वस्मै प्राणा-
पानव्यानोदानारूपं वायुवृत्तिलाभाय मातिष्ठायै स्वर्गं स्थितिलाभाय च-
रित्राय शास्त्रीयायरणाय प्राणिनायतस्त्वं सर्वस्य सिद्ध्यर्थमयं वायुस्त्वामभिषे-
यातु । केन रक्षणमिति । तदुच्यते । मग्ना स्वस्त्वा महत्या योगक्षेमसंपत्त्या
शतमेन छर्दिषा अत्यन्तशुभकारिणा दीप्तिविशेषेण तव स्वामिभूताया देवता-
यानुगृहीताध्रुवा स्थिरा सती सौद इहोपविशे । अङ्गिरसां चयनानुष्ठाने
यथा त्वं ध्रुवा स्थिरा तद्वत् ॥ कात्यायनः ॥ पञ्चरिदया वैश्वदेवीवद् रा-
ज्यसीति प्रतिगन्त्रमिति ॥ दिक्पञ्चकोपेतैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टकाः पञ्चदि-
श्या राज्यसीति ॥ मन्त्रपञ्चकेनोपदध्यादिति शेषः ॥ पाठस्तु ॥

राज्यसिप्राची दिग्विराणसि दक्षिणा दिक् सम्राणसि
प्रतीर्चादिक् स्वराणस्युदीची दिगधिपत्यसि बृहती दिगिति ॥

हे इष्टके त्वं राज्ञी राजमाना दीप्यमाना सती प्राची दिगमि पूर्वदिग्-
भवमि । विराड्विराजमाना दक्षिणा दिगमि । सम्राट् सम्यग् राजमाना
प्रतीची दिगमि । स्वराट् परनिरपेक्षतया स्वयमेव राजमाना उदीची दि-
गमि । अधिकं पातीत्यधिपती तादृशी त्वं बृहती मोहोर्ध्वा दिगमि ॥
कात्यायनः ॥ विश्वकर्मेति विश्वज्योतिषमिति ॥ पाठस्तु ॥

विश्वकर्मा त्वा सादयत्वन्तरिक्षस्य पृष्ठे ज्योतिष्मतीं वि-
श्वस्मै । प्राणायानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छ । वायु-
ष्टेऽधिपतिस्तथा देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवासीदेति ॥

हे इष्टके ज्योतिष्मतीं त्वा त्वां विश्वकर्मान्तरिक्षस्य पृष्ठे उपवि आ-
सादयतु किञ्च, सर्वपाणवृत्तिलाभार्थं, हे इष्टके त्वं सर्वज्योतिर्यच्छ प्रयच्छ
वायुस्ते तवाधिपतिरधिदेवता तथा देवतया ध्रुवा स्थिरा सती सौद
उपविश । अङ्गिरस्वत् । अङ्गिरसां चितौ पूर्वं ध्रुवा सती प्रविष्टा

तद्द्रव्यापीत्यर्थः ॥ कात्यायनः ॥ ऋतव्ये नभस्यश्चेतीति ॥ पाठस्तु ॥

नभश्च नभस्यश्च वार्षिकाऽऋतूऽअग्नेरन्तः श्लेषाऽसि ।
कल्पतां द्यावापृथिवी कल्पन्तामाप औषधयः कल्पन्तामग्रयः
पृथञ्जमज्येष्ठ्याय सव्रताः । ये अग्नयः समनसान्तरा द्यावा-
पृथिवी इमे । वार्षिकाऽऋतू अभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवा
अभिसंविशन्तु तया देवतयाङ्गिरस्वद् बसीदतमिति ॥

स्पष्टार्थः ॥ इषश्चोर्जश्चेत्यपरे इति ॥ इतर ऋतव्ये इष्टके उपध्यादि-
विशेषः ॥ पाठस्तु ॥

इषश्चोर्जश्चशारदा ऋतूऽअग्नेरन्तः श्लेषाऽसि । कल्पता
द्यावपृथिवी कल्पन्तामाप औषधयः कल्पन्तामग्रयः पृथञ्जम-
ज्येष्ठ्याय सव्रताः । ये अग्नयः समनसान्तरा द्यावापृथिवी इमे ।
वार्षिकाऽऋतूऽअभिकल्पमाना इन्द्रमिव देवाऽअभिसंविशन्तु ।
तया देवतयाङ्गिरस्वद् ध्रुवे सीदतमिति ॥

व्याख्यातसमानार्थः ॥ इति पञ्चदशेऽध्याये चतुर्थोऽनुवाकः ॥१५॥४॥

चतुर्थोऽनुवाके स्वयमातृणादीष्टकोपधानमन्त्रा उक्ताः ॥ पञ्चममाणभृ-
दिष्टकोपधानमन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ पूर्वाद्धे माणभृतो दशायुर्मे इति
प्रतिमन्त्रमिति ॥ पूर्वभागे माणभृत्संज्ञकादशसंख्याका इष्टका एकैकेन मन्त्रै-
णोपदध्यात् ॥ तेषां पाठस्तु ॥

आयुर्मे पाहि प्राणां मे पाह्यपानं मे पाहि व्यानं मे पाहि
बभ्रुर्मे पाहि श्रोत्रं मे पाहि वाचं मे पिन्व मनो मे जिन्वात्मानं
मे पाहि ज्योतिर्मे यच्छति ।

हे इष्टके मदीयमायुः पाहि रक्ष एव मुतरत्रापि योज्यम् । पिन्व प्रीणय । जीन्व
प्रीण । आत्मानं जीस्वरूपं ज्योतिः कान्तिं यच्छदेहि ॥ कात्यायनः ॥ छन्दस्या-
द्दशदशदशाप्यव्येषु माछन्द इति प्रतिमन्त्रं बालखिल्यालोकं पश्चात्तिष्ठति ।
छन्दः शब्दोपेतैर्मन्त्रैरुपधेया इष्टकाछन्दस्याः ताः पञ्चत्रिंशत्संख्योपेता बा-
लखिल्येष्टकोपधानार्थं मदध्यात् ॥ पाठस्तु ॥

मा छन्दः प्रमाछन्दः प्रतिछन्दो अस्त्रीबयछन्दः । पञ्-
क्तिश्छन्दोऽष्णिक् छन्दः । बृहतीछन्दः । बृहतीछन्दोऽनुष्टुप्छन्द-
विराट्छन्दो गायत्रीछन्दः । त्रिष्टुप्छन्दो जगतीछन्दः । पृथि-

धीछन्दोऽतरिक्षछन्दो यौछन्दः समाछन्दः । नक्षत्राणि-१४
छन्दो वाक् छन्दः । मनश्छन्दः कृषिछन्दो हिरण्यछन्दो गौ-
छन्दः । अजातछन्दोश्चछन्दः ॥ अग्निदेवता वातादेवता १२
सूर्यादेवता चन्द्रमादेवता । वसवोदेवता । आदित्यादेवता म-
हतादेवता विश्वेदेवादेवता बृहस्पतिदेवता । इन्द्रोदेवता ब्रह्म-
णोदेवतेति ॥

अथ या प्रमा प्रतिमादिशब्दाभिधेयाश्छन्दो विशेषाः केचिद्वेदेष्वेव
प्रामिद्वाः केचिल्लोकेष्वपि प्रसिद्धाः । हे इष्टके त्वं मनामछन्दोरुपासि । प्रमा-
नामछन्दोरुपासि । इत्येवं सर्वत्र योज्यम् । अन्यादीनान्तु देवतात्वं प्रामिद्धं
हे इष्टके त्वं अग्निदेवतारुपासीत्येवं तत्रापि योज्यम् ॥ इति पञ्चदशोऽध्याये
पञ्चमोऽनुवाकः ॥

पञ्चमेऽनुवाके प्राणभृदिष्टकादिमन्त्रानुक्ताः ॥ षष्ठे बालखिल्यादीष्टको-
पधान मन्त्रा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ बालखिल्याः सप्तमूर्द्धासि एडिप्रति-
मन्त्रमिति बालखिल्येष्टकाः सप्तपूर्वभागे मूर्द्धासि एडिति मस्रभिर्मन्त्रैरुपाधेयाः ।
इतराः सप्तपश्चिमभागे यन्त्रीएडितिप्रतिमन्त्रमिति । बालखिल्येष्टकाः सप्त-
पूर्वभागे मूर्द्धासिराडिति सप्तभिर्मन्त्रैरुपाधेयाः । इतराः सप्तपश्चिमभागे पञ्ची-
राडिति सप्तभिर्मन्त्रैरुपाधेयाः ॥ पाठस्तु ॥

मूर्द्धासिराद् ध्रुवासि धरुणाध्वयंसि धरणी । आयुषेत्वा १७
वर्चसेत्वाकृण्यै त्वा क्षेमायत्वा ॥ मन्त्रोरामन्त्रसि यमनीध्रुवासि १४
धरित्री । इषेत्बोर्जेत्वारय्येत्वापोषयत्वेति ।

हे इष्टके त्वं मूर्द्धा मूर्द्धवदुतमाराद् राजमानाचासि । हे इष्टके त्वं मूर्द्धा-
मूर्द्धवदुतमाराद् राजमानाचासि । हे इष्टके त्वं ध्रुवास्थिराधरुणाधारणहेतु-
श्चासि हे इष्टके त्वं धरित्रीधारणं कुर्वतीधरणी भूमिरुपासि । आयुषे आयुष्टे-
ध्यर्थं त्वामुपदधामि । वर्चसे कार्यं त्वामुपदधामि । कृण्यैसस्पतिष्पतये
त्वामुपदधामि । क्षेमाय सम्पादितस्य घनस्य रक्षणाय त्वामुपदधामि । हे इ-
ष्टके त्वं यन्त्रीनियमोपेताराद्वाराजमानाचासि । तथा यन्त्रीस्वयमपि नियन्त्री-
यमुनीसर्वेषां नियमकारिणीचासि । तथा ध्रुवास्थिरासतीधरित्रीभूमिरुपाचा-
सि । हे इष्टके इषे अन्नाय त्वामुपदधामि । ऊर्जे बलाय त्वामुपदधामि । र-

यै धनार्थं त्वामुपदधामि । पोषाय तद्वन्नपुष्ट्यर्थं त्वामुपदधामि ॥ का-
त्पायनः ॥ लोकं पृणाः पूर्ववदिति । तन्मन्त्रप्रतीकं ॥ पाठस्तु ॥

लोकं पृणता अस्येन्द्राविश्वा इति ।

पूर्ववद्वाख्येयम् ॥ इति पञ्चदशेऽध्यायेषष्ठानुवाकः ॥

षष्ठानुवाकेवालखित्वादीष्टकोपधानमन्त्रा उक्ताः ॥ एतावता तृतीया-
चिन्तिः समाप्ता ॥ अथ मसमेऽनुवाके चतुर्थ्या चितौ वक्ष्यमाणायामां स्तोमो-
पाख्याया इष्टकास्तामामुपधाने केचिन्मन्त्रानुच्यन्ते ॥ सूत्रन्तु चतुर्थ्यामनू-
कान्तेषु दक्षिणोत्तरे द्वे द्वे इत्यारभ्य प्रतूर्तिरष्टादश इत्यन्तं कात्यायनेनोदा-
हृतम् ॥ तेषां पाठस्तु ॥

आशुस्त्रिष्टद्भान्तः पञ्चदशा व्योमा सप्तदशोधरुणएकविं-
शः प्रतूर्तिरष्टादशः । तपो नवदशोभीवर्तः स विंशो वर्चो-
द्वाविंशः सम्भरणं स्रयो विंशो व्योमा सप्तदशो धरुणरेक-
विंशः प्रतूर्तिरष्टादशः । तपो नवदशोभीवर्तः सविंशो वर्चो
द्वाविंशः सम्भरणन्त्रयोविंशो गोनिश्चतुर्विंशः । गर्भाः प-
ञ्चविंश ऊजस्त्रिणवः क्रतुरेकत्रिंशः प्रतिष्ठा त्रयस्त्रिंशो
बभ्रस्यविष्टपञ्चतुस्त्रिंशः । नाकः षट्त्रिंशो विवर्तोऽष्टाच-
त्वारिंशो धर्त्रं चतुष्टोम इति ।

अत्र त्रिवृत्पञ्चदशसप्तदशादिशब्दाः स्तोमाविशेषवाचिनः स्तोमाश्च त्रि-
ष्टुत्रिण्वस्य साम्नआवृत्तभेदान्निष्पद्यन्ते । आवृत्तिप्रकारस्तु त्रिवृत्पञ्चदश-
सप्तदशानां राजस्याभिधायकं एकादशेऽध्याये सामब्राह्मणोदाहरणेनाम्ना-
भिर्व्याख्यातः । एकविंशास्त्रणवस्त्रयस्त्रिंशाख्याआपि स्तोमाः सामब्राह्मणे
पठिताः । अष्टादशनवदशादयस्तु न्यायेनोन्नेया स्तोमान्तु ब्राह्मणान्मा-
ताः तदुन्नयनार्थंस्त्वावृत्तिप्रकारः सामसूत्रादवगन्तव्यः । अत्र त्रिवृत्ताद-
यश्चतुष्टोमान्ताः स्तोमाविशेषा अष्टादशमंख्याकाआन्नाताः । आशुस्त्रिष्टद्भान्त-
तइत्यादीनि स्तोमाविशेषणानि कानिचिद्गुणवाचकानि कानिचित् द्रव्य-
वाचकानि तथासति गुणसम्बन्धं द्रव्यतादात्म्यं वा स्तोमेषूपचर्यन्ते ।
अत्र स्तोमरूपत्वं नतदिष्टकायाः प्रशंसनार्थं उपन्यस्यते । तत्रैवमक्षरयोजना ।
आशुः द्वाघ्रघगुणोपेतो यस्त्रिष्टुत्वनोमः हेइष्टके त्वं तद्रूपासि । एवमुत्तरत्रापि

योज्यम् । भान्तो भाममानः व्योमेतिप्रसिद्धं द्रव्यव्यत्ययेन पुष्टिङ्गता । धरुणो धारकः प्रकुष्टातूर्तिस्त्वरायस्यासौ प्रतूर्तः क्षीघ्रकारीत्यर्थः । तपः प्रसिद्धम् । अमीवनः सोमविशेषज्जान्दसो दीर्घः सहविंशत्या संख्यया सविंशः स्तोमविशेषः । वर्चो बलविशेषः । सम्भरणः सम्यक्पोषकः योनिः प्रजोत्पादकः गर्भः प्रसिद्धः । ओजोष्टमो धातुः क्रतुर्ज्योतिष्टोमादिः । प्रतिष्ठा स्थितिहेतुः । वज्रस्यादित्यस्य त्रिष्टयं निवामस्थानम् । अमौ वा आदित्यस्य त्रिष्टयं निवामस्थानम् । अमौ वा आदित्यो वज्र इति श्रुत्यन्तरात् । नाकः स्वर्गरूपो भोगभूमिः । विपरीतत्वेन वर्तनमस्यासौ विवर्तः । त्रिवत्सं च दशमसदशैकविंशन्विणवत्रयास्त्रिंशः अनेनैवास्मात्क्रमेण कचिदनुष्ठीयन्ते । कचित्तु विपरीतक्रमेण । अतएवायस्तस्माच्चार्येण कचिदुक्तम् । त्रयस्त्रिंशारम्भणास्त्रिदन्तया इति धर्तो धारकश्चतुष्टोमस्त्रिदन्त पञ्चदशमसदशैकविंशानां समूहः । एतैस्तोगवादिभि इष्टादशभिर्मन्त्रैः स्तोमरूपत्वमापादिता । अष्टादशोष्टकानुपदध्यादित्यर्थः ॥ इति पञ्चदशेऽध्याये सप्तमोऽनुवाकः ॥

सप्तमेऽनुवाके केचिदनुवा स्तोमीयारूपेष्टकोपधानमन्त्रा उक्ता । अथाष्टमे तदवशिष्टेष्टकोपधानमन्त्रानुच्यन्ते ॥ अग्रर्भागइत्यारभ्य पश्चिनाम्भाग इत्यन्ते कात्यायनेन सूचितम् ॥ तेषां पाठस्तु ॥

अग्नेर्भागोसिदीक्षाया आधिपत्यं ब्रह्मस्मृतन्त्रिवृत्तोमः । १४
इन्द्रस्य भागोसि विष्णोराधिपत्यं ब्रह्मस्मृतं पञ्चदशस्तोमः । तृ-
चक्षसाम्भागोसि धातुराधिपत्यं अग्नित्रयस्मृतं सप्तदशस्तोमः ।
मित्रस्य भागोसि वरुणस्याधिपत्यं न्दिवो वृष्टिर्वा न स्पृत्तरा कवि-
स्तोमः ॥ वसूनाम्भागोसि रुद्राणामाधिपत्यं चतुष्पात्स्पृतं १५
चतुर्विंशस्तोमः । आदित्यानां भागोसि मरुतामाधिपत्यं ग-
र्भोः स्मृताः पञ्चविंशस्तोमः । अदितेर्भागोसि पूषा आ-
धिपत्यं योजस्पृतं त्रिणवस्तोमः दिवस्य सवितुर्भागोसि बृह-
स्पतेराधिपत्यं सप्तमीचीर्दिशः स्मृताश्चतुष्टोमस्तोमः । यवानां
भागोस्य यवानामाधिपत्यं प्रजास्पृताश्चतुश्चत्वारिंशस्तोमः ।
भृभूणां भोगोसि विद्वेषां देवानामाधिपत्यं भूतस्मृतन्त्रय-
स्त्रिंशस्तोऽह्नि ।

हेइष्टके योयमग्रेर्भागोहविलक्षणः त्वं दीक्षा देवताया आधिपत्यं
स्थापित्वं स्मृतं ब्रह्मन्वानां प्रीतिकरं मन्त्रजं तं ब्राह्मणजातिर्वायोपि विष्ट-
दाख्यः सोमविशेषस्तत्सर्वं त्वमसि । हेइष्टके योयमिन्द्रभागो हविविशेषः
यच्च त्रिणोः परमेश्वरस्याधिपत्यं यदपि स्मृतं प्रीतिकरं बलं क्षत्रं क्षत्रियजाति
वा योनिः पञ्चदशाख्यः स्तोमः तत्सर्वं त्वमसि । हेमनुष्याः सन्तः चक्षते
वेदं व्यक्ताव्यक्तमुच्चारयन्ति तेनानृचक्षमऋत्विजस्तेषां भागो दाह्यणक्या
गवादिधातुमभूतेर्यदाधिदत्तं यच्च स्मृतं प्रीतिकारणं जानजं जननशीलमक्षं
तत्त्वं त्वमसि । स्मृतः प्रीतिहेतुर्वातोवायुदिवः सकाशादागताष्टिश्चव-
पुष्पादगवाश्वादिगर्भाद्विपदां च पुष्पदां चादरगताः प्रीतिहेतवः आजो-
बलमष्टधातुर्वा योस्तु दिश्वयस्थिताः प्राणिनामनुकूलाः तादिशः समीच्यः
युतामिश्री भवतः शुक्लकृष्णपक्षां वज्रेति यवामासाः स तथाविधत्वादृत्यवा अर्ध-
मासाः ऋतुशब्दैवसामान्यवाचीगाणविशेषो विश्वेदेवाः भूतं निष्पन्नं प्रीति-
करं स्थानं हेइष्टकं त्वं तत्सर्वमसि ॥ कात्यायनः ॥ ऋग्व्ये सहस्रमहश्चोते ॥
॥ पाठस्तु ॥ सहस्रं सहस्यश्च हैमन्तिकाऋतूभग्रेरतः श्लेषोसि
कल्पनां घावा पृथिवी कल्पनामाय अँषधयः कल्पनामग्नयः
पृथग्नमज्यैष्ठ्याय सव्रताः । यँअग्नयः समनसोन्तरा घावा
पृथिवी इमे । हैमन्तिकाऽऋतूः अभिकल्पमाना इदमिव दे-
वाः अभिसम्बिजन्तु तथा देवतायाङ्गिरस्वद्वेषीदत्तमिति
व्याख्यातः समानार्थः ॥ इति पञ्चदशोऽध्यायेऽष्टमोऽनुवाकः ॥

अष्टमेऽनुवाकेऽवशिष्टानामक्षुपास्तोपीयानामिष्टकानामुपधानमन्त्रा उक्ताः ॥
नवमे तु सृष्टिशब्दाभिधेयेष्टकोपधानमन्त्राः उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ सप्त-
दशसृष्टेरेकया स्तुवतेतिप्रतिमन्त्रमिति । सूत्रधनुयुक्तैर्धनैस्वपधेया इष्टका
सृष्टयः ता एकयास्तुवतस्यादिभिः सप्तदशभिर्मन्त्रैः क्रमेणोपदध्यादितिशेषः ॥
तेषां पाठस्तु ॥ एकया स्तुवत प्रजा अधीयन्त प्रजापतिरधिपति-
रासीति सृभिरस्तुवत ब्रह्मा सृज्यत ब्रह्मणस्यतिरधिपतिरा-
सीत् । पञ्चभिरस्तुवनभूतान्यसृज्यन्तभूतानां पतिरधिपतिरासी-
त्समभिरस्तुवत सप्तऋषयो सृज्यन्त धाताधिपतिरासीत् ॥ नव-
भिरस्तुवत पितरो सृज्यन्तादितिरधिपत्यासां देकादशभिरस्तु-

वत क्रवो सृज्यन्तार्तवाः अधिपतय आसन् । त्रयोदशभिर-
स्तुवतमासाः असृज्यन्त संवत्सरोधिपतिरासीत्पञ्चदशभिर-
स्तुवनचतस्रेऽसृज्यन्तन्द्रोधिपतिरासीत् । सप्तदशभिरस्तुवत
ग्राम्याः पशवो सृज्यन्त बृहस्पद्विरधिपतिरासीन्नवदशभि-
रस्तुवत शूद्राया असृजेतामहोरात्रेः अधिपती आस्तां एकविं-
शत्यास्तुवतैकशफाः पशवो सृज्यन्त सोमोधिपतिरासीदिति ।
अत्र निदानं पुरा प्रजापतिरिन्द्रयाधिष्ठातृन्दैवान् मांस्तुवध्वमित्यब्रवीत् ।
ते च देवाः केन स्तोष्यामह इत्यबोचन् । एवमुक्ताः प्रजापतिर्मया च युष्मा-
भिश्च स्तुतिः करिष्यन् इत्यादिकं सर्वं एतद्वै प्रजापतिरुत्पादिके शतपथब्रा-
ह्मणेऽनुमन्धेयम् । एकया वाचानं देवाः प्रथममस्तुवन्त । स्तुतिमकुर्वन् ततः
प्रजापतिना प्रजा अधीपतिरासीत् । ततः पञ्चभिः प्राणादिभिरस्तुवन्त तदानीं
पञ्चभूतानि सृष्टान्यभूवन् भूतानां पतिरितिकश्चिद्देव विशेषः । अत्र स ए-
वाधिपतिरासीत् । श्रोत्रे चक्षुषिनागिकेनागितियेसप्तशीर्षाण्यातेसप्तभिरस्तु-
वन्त । ततः सप्तर्षयः सृष्टा अभूवन् । धाता जगत्सृष्टा यो देवः स एवा-
धिपतिरासीत् । नवभिरस्तुवन्त । सप्तशीर्षाण्याः द्वावर्चावाविति येनच प्राणाः
तैरस्तुवन्त स्तुतिमकुर्वन् । ततः पितरोऽग्निष्वातादयः सृष्टाऽदितिरेवं विधस्य
प्रजापतेरखण्डितायानक्तिमैव तेषां सृष्टानां पितॄणां अधिपती स्वामित्वे-
नाधिकं पालयिष्यामीत् । दशप्राणा आत्मैकादशसंख्या कायास्तैकृत्वा
इन्द्रियाधिष्ठानतो देवाः प्रजापतिं स्तुतिमकुर्वन् । ततः ऋतवो वसन्ताद्याः
सृष्टास्तेषामार्तवा ऋतुपलकाः कोचोद्वविशेषास्तएव स्वामिनोऽभूवन् ।
सप्तदशप्राणा द्वौ गनिष्ठाः सूर्यौ पादौ एकअज्येति ये त्रयोदशसंख्याकादौरस्तु-
वन्त । ततो मासाश्चैत्रादयः सृष्टाणामाभिमानोयः संवत्सरः । तेषां स
एवाधिपतिरासीत् । दशहस्तांगुलयश्चत्वारोदोर्वाहवः नाभेरूर्ध्वमच्छ-
रीरं एतैः पञ्चदशभिरस्तुवन्तः क्षत्रं क्षत्रियजातिः सृष्टा इन्द्रस्तदभिमानो दे-
वस्त्वम्यभूत् । दशपादाङ्गुलयः कुरुद्वगमष्टोद्वयञ्च नाभेरूर्ध्वमच्छरीरं एतैः
सप्तदशभिरस्तुवन्त । तदा प्राभ्याः पशवः सृष्टास्तेषां बृहस्पतिस्तदभिमानो-
स्वाम्यभूत् । दशहस्तांगुलयो नवप्राणास्तैर्नवदशभिः शूद्रार्या शूद्रार्यौत्रै-
व्यशूद्रौ सृष्टौ तयोरहोरात्रे स्वाभित्वेनाभूताम् । हस्तगतादृशांगुलयः ।
दशपादगता आत्मैकविंशति या एकविंशक्तिसंख्यास्तयास्तुवन्त । तत

एकशका अश्वादयः पशवः सृष्टास्तेषां वरुणोऽधिपतिरासीत् । दशपासाद्वे-
प्रतिष्ठे आत्मा त्रयोविंश इति या त्रयोविंशतिः संख्या तयास्तुवत् । ततः
शूद्रास्वजादयः पशवः सृष्टास्तेषां पूषस्त्राभ्यासीत् । दशहस्तांगुलयो दश-
पाद्याश्चत्वारः करचरणआत्मापञ्चविंशतिः संख्या तया स्तुतिमकुर्वन् तदा
ह्यारण्याः कृष्णमृगादयः सृष्टास्तेषां वायुरधिपतिरासीत् । दशहस्त्यांगु-
लयोदशपाद्याः सप्तशीर्षण्याः प्राणइति या सप्तविंशतिस्तयास्तुवत् तत्र द्यावा
पृथिव्यौ व्यैनां विशेषेणगच्छतां वसवोरुद्राआदित्याइति ये देवा अनुव्या-
यन् अन्वागच्छन् एव स्वामिनो भुवन् । दशहस्त्यम् । अङ्गुलयोदशपा-
द्यावयवप्राणा इति । या तथाऽस्तुवत्ततो वनस्पतयस्तत्र सोमोऽधिपतिरासीत् ।
दशहस्त्याङ्गुलयो दशपाद्याप्राणा आत्मैकत्रिंशतयाताइतियत् तेनैवास्तुवत् ।
ततः प्रजाः सृष्टास्तासां प्रजानां यत्राः पूर्वपक्षाः । अयत्राः । अपरपक्षा-
न्वाधिपतये आसन् दशहस्त्यांगुलयोदशपाद्यारशःप्राणाद्वेप्रतिष्ठे आत्मायं-
यत्रिंशइत्येतेनारस्तुवत् ततः सर्वाणि भूतान्याशास्पन् । सर्वे प्राक्तिनः
शांता अभूवन् । परमे सत्यलोके तिष्ठतीतिपरमेष्ठी प्रजापति ॥ सर्वेषां
भूतानां सप्त्वाधिपतिरासीत् । अत्र यायैका येन येन मन्त्रेणोपधेयात्
तादिष्टकान्तत्पत्रप्रतिपादकदेवतारूपत्येन प्राप्तेत्यर्थः ॥ ॥ कात्ययनः ॥
लोकं पृणाः पूर्ववत् । लोकं पृणसंज्ञकाः इष्टकाः पूर्ववदुपदध्यात् ॥
तन्मन्त्रमतीकपाठस्तु ।

लोकं पृणत्ता अस्पेदं विश्वा पूर्ववद्व्याख्येयम् ।

इतिपञ्चदशोऽध्यायेनवमोऽनुवाक ॥

वेदार्थस्यप्रकाशेन तमोहार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो दद्याद्विद्यातीर्थं महेश्वरः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गमवर्त्तकश्रीबीरबुक्कभूपा-

लसाम्राज्यधुरंधरेण सायणाचार्येणविरचितेमाध्वनीये काण्वसं-

हिताभाष्ये वेदार्थप्रकाशे पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥



अथ यजुर्वेदकाण्वमन्त्रभाष्ये षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

यस्य निश्चसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहंवन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

पंचदशोऽध्याये द्वितीयतृतीयचतुर्थचितिविषयऽष्टका मंत्रा उक्ताः ॥ षोडशे तु पंचमचितिविषयेऽष्टका मन्त्रा उच्यन्ते । कात्यायनः । पंचम्या सपत्न्या अग्रे जातानिति प्रतिमंत्रमिति । पंचम्यां चितौ प्रथमं असपत्न्याख्या इष्टका अग्रे जातानितिपञ्चभिर्मंत्रैः क्रमेणोपदध्यात् । । तत्र प्रथममंत्रपाठस्तु । । अग्रे जातात्प्रणुदानः सपत्न्या प्रत्यज्ञातां जातवेदानुदस्व । अधिनो ब्रूहिंस्क्रमनाअहेलस्तवस्याम स्त्रि-
वंरुत्युउभदाबिति । हे अग्रे नोऽस्माकं जातान् सपत्न्या ये पूर्वमुत्पन्नाः शत्रवस्तान् प्रणुद प्रकर्षेण नाशय । किञ्च हेजातप्रज्ञाग्रे पूर्वमुत्पन्नाः इतः परमुत्पत्तिप्रशक्तियुक्तास्तान् जातान् शत्रून् प्रतिनुदस्व उत्पत्तिप्रतिबंधेन निराकुरु । सुमनाः सानुग्रहाचितस्त्वं अहलंनुदबुध्यं नोऽस्माकं अधिब्रूहि । अत्र यज्ञै इति कर्तव्यतानुपादेशा । उभदौ भा दीप्तौ पशुधनधान्यादिभिरुभ्दि-
घनइत्युभ्दिः । तस्मिन् शर्मन् शर्मफि सूखाञ्जयभूते भादीप्तौ शत्रुधनधन्या-
दिभिरुभ्दिष्यत् इत्युभ्दिः । तस्मिन्नुभदौ । त्रिवरुत्येप्राग्यंत् । सदोहविधान
रूपे यज्ञगृहे नवप्रमादात् वयं स्याम सुखिनो भवेम ॥ ॥ अथद्वितीयः ॥ स-
हस्य जातात्प्रणुदानः सपत्न्याप्रत्यज्ञान्नुदजातवेदः । अधिनोब्रू-
हिस्समनस्यमानो वयस्स्यामप्रणुदानः सपत्न्या निति सहसा बलेन
जातान्स्वशास्या उत्पन्नान् नः शत्रून् प्रणुदा हेजातवेदः अजाताश्च प्रतिनुद-
किंचसमनस्यमानः अस्मासु सौमनस्य प्राप्तः सन् नोऽस्मानाधिब्रूहि शत्रुभ्यो-
धिका । त्वद् वयमपि त्वदनुग्रहादधिकाः स्याम । नोऽस्मदीयान् सपत्न्या
शत्रून् प्रणुद । भूयोभूयः प्रणुदेत्यर्थः ॥ ॥ अथतृतीयः ॥ ॥ षोडशी-
स्तोमं ओजो द्रविणोमिति । षोडशभिरावृतिभिर्ह्येतः षोडशीयस्तादृशः स्तोमः ।
यज्व ओजो द्रविणं बलरूपं धनं हेइष्टके तदुभयरुपात्वमसि ॥ ॥ अथचतुर्थः ॥
॥ चतुश्चत्वारिंशस्तोमोवर्चो द्रविणामिति । योयं स्तोश्चमत्तुश्चत्वारिंशदा-
वृत्या सम्पन्नः यच्च बलरूपं धनं हेइष्टके तदुभयरुप त्वमसि ॥ ॥ अथपञ्चमः ॥
॥ अग्रेः पुरीषमस्पृशोनामतां त्वा विश्वे आभिगृणंतु देवाः । स्तोमपृष्टा

धृतवतीहसीदप्रजावदस्मेद्रविणा यजस्वेति हेइष्टके त्वं अग्नेः पुरीषमसि
 पूरयित्री भवसि । अप्स इति भक्षयति विनाशयतीतिष्ठः । नक्षतीत्यक्षः ।
 योऽग्निः तादृशनायास्ति तस्याग्रेरित्यर्थः । इतरो व्याख्यातसमानर्थः ॥
 ॥ कात्यायनः ॥ ॥ विण्जो दशदशैव छंद इति प्रतिमंत्रमिति विराट्-
 संज्ञकाश्चत्वारिंशदिष्टकारताः प्राच्यादिमुक्रमेण दशदशोपदध्यात् ॥
 ॥ तेषांपाठस्तु ॥ ॥ रावश्छंदो वारिवश्छन्दः शंभूश्छंदः शंभूश्छंदः
 परिभूश्छंदः आछछंदो मनश्छंदो व्यवश्छंदः सिन्धुश्छंदः समु-
 द्रश्छंदः सरिच्छंदः । ककुप्छंदः । ककुप्छंदास्त्रिककुप्छंदः
 काव्यं छंदो अंकुप्छंदः । अक्षरपंक्तिश्छंदः पदपंक्तिश्छंदो
 विष्टारपंक्तिः श्छंदः ॥ आछछंदोः संघछंदो विघछंदः वहछंदो ।
 धंतरछंदो निकायश्छंदो विवधश्छंदः । गिरश्छंदो भ्रजश्छंदः
 सःसृप्छंदोऽनुष्टुप्छंदः । रावश्छंदो वारिवश्छंदो वयश्छंदो
 वयस्कृच्छंदः विष्यघ्नीश्छंदो विशालं छंदश्छदिश्छंदो दूरोहणं-
 छंदः गिरश्छंदो भ्रजश्छंदः सःसृप्छंदोऽनुष्टुप्छंदः एवश्छंदो
 चरिवश्छंदो वयश्छंदो वयस्कृच्छंदः । विष्यदीश्छंदो विशालं-
 छंदश्छदिश्छंदो दूरोहणं छंदः । तदृच्छंदो अंकोकं छंद इति ।
 राति गच्छयिरिमन्सर्वः ग्राणनिकाय इति । एवं पृथिवीलोकः स एव
 छंदोरूपेण स्थितत्वाच्छंदकत्वाच्छंदः । हेइष्टके त्वं तदूपामीतिशेषः ।
 एवमुतरेष्वपि योजना वारिवः प्रभामण्डले नात्रयत इति वारिवोत्तरिक्षे तदेव
 छन्दः शम्भूः शन्तिरातिशयसुखं अस्याद्भवतीति शम्भुशुलोकः परितो
 भवति व्याप्य वर्तते इति व्युत्पत्त्या परिभूः शब्दो दिग्भवनः । आछाद-
 यति आत्मा येन रसेन सर्वे शरीरमित्याछन् अन्नं प्रथमसृष्टं प्रजापत्यात्मकं
 यन्मनस्व देवछंदः । विचिनिर्व्याप्तिकर्माचिवतिव्याप्नोति सर्वजगदिति व्यवो-
 सावादित्यः स्पंदति नदीशरीरं व्याप्नोतीतिमिन्धुः प्राणो वायुः समुद्रवत्य-
 स्मादिकल्पजातातीति समुद्रं मनः । यद्वा समुद्रा यथा सर्वाभिनदीभिः
 पूरितोपि पर्याप्तिं न प्राप्नोति । तथा शब्दस्पर्शादिविषयैरनुभूयमानैस्तृप्तिं न
 प्राप्नोतीति समुद्रसाम्यात् । समुद्रेवमनः शरीरदनुगहाराभिर्गच्छतीति
 शरीरं वाक् । कं सुखं स्तत्भाति शरीरे धारयतीति ककुप् ककुप् प्राणः
 मेघा कपितमुदकं सुभाति पिवतीति त्रिककुप् पयदानः । त्रयात्मकः

शद्वकाव्यं । अं कुपं अकभगकुटिलायां गतौ कुटिलगत्या आप्रोतीत्यकुपं उदकं अक्षरनाशरहिता नक्षत्राणां परावर्त्यस्याः सा द्यौरक्षरपङ्क्तिः पदानां पङ्क्तयो यस्मिन्तोयं भृल्लोर्कः पदपङ्क्तिः विस्तारिता । आपणे प्रसारिता वस्तूनां पङ्क्तयो यस्याः सा वैश्यजातिः विष्टारपङ्क्तिः एवं क्षुरोभ्रतप्रभृतीनां मुनेरेषां छन्दसां यौगिक्या व्यावृत्त्याप्यर्थान्तरेषु वृतिः शतपथब्राह्मणादवगन्तव्या यद्वा गायत्र्यादिवदक्षरसंख्या निष्पाधातिच्छन्दोन्तरण्यत्र एवोवरिवइत्यादिभिर्नामभिः प्रतिपाद्यन्ते । नानिवैच्छन्दाः सिसुवर्ग्याप्यासंस्तैर्देवाः सुवर्गलोकमायन्निति तैत्तिरीयश्रुत्या तेषामेव प्रभृतीनां छन्दसां स्वर्गसाधनताऽस्तानाव । अवेष्टकासु तद्रूपेण श्रुतिः ॥

इति षोडशेऽध्याये प्रथमोऽनुवाकः ॥

प्रथमोऽनुवाके अनपलादीष्टकोपधानमन्त्रा उक्ताः ॥ द्वितीये लोकाभागेष्टकौपधानमन्त्रा उच्यते ॥ कात्यायनः ॥ स्वोक्तभागारश्मिना सत्यायेति प्रतिमन्त्रमिति अस्यानुवाकस्य स्तोत्राभ्यनुज्ञापने विनियोगात्रिवृदादिस्तोम सम्बन्धास्तोमा इति वान्यास्तोमभाग एतदनुवाकपद्वन्धिनो मन्त्राः । तदुपधेया इष्टकाश्च तथैव व्यपदिश्यन्ते । तान्निशादिष्टका अनेनानुवाकेन प्रतिमन्त्रमुपदध्यादित्यर्थः ॥ तत्पाठस्तु ॥ रश्मिनासत्यायसत्यञ्जि च १ प्रेतिनाधर्मणाधर्मजिन्व । अन्वित्यादिवादिवाञ्जिन्वसन्धिनान्तरिक्षेणान्तरिक्षन्तिन्व । प्रतिधिना पृथिव्यापृथिवीजिन्वविष्टम्भेतदृष्ट्या दृष्टिञ्जिन्व । प्रवयाह्लाहर्जिन्वानुयाराभ्यारात्रीजिन्व । नुशिजावसुभ्योवसूजिन्वप्रकेतेनादित्येभ्य आदित्याञ्जिन्व । त- १ न्तुनारायस्योषेणारायस्यांषञ्जिन्व सःसर्पेण श्रुतायश्रुतंजिन्व । ऐलेनौषधीभिरोपधीजिन्वोतमेनतनूभिस्तनूजिन्व । वयोधसाधीतेनाधीतं जिन्वाभिजितातेजसातेजोजिन्व । प्रतिपदसि- १ प्रतिपदेत्वानुपदस्य नुपदेत्वा । संपदसिसंपदेत्वातेजोसितेजसत्वा । त्रिवृदसित्रिवृतेत्वाप्रवृदसिप्रवृतेत्वा । विवृदसिविवृते १ त्वासवृदसि सवृतेत्वा । आक्रयांस्याक्रमायत्वासंक्रमोसि संक्रमायत्वा । उत्क्रमोस्यत्क्रमायत्वात्क्रान्तिरस्युत्क्रान्त्यैत्वा । अभिपतिनोर्भोर्जिन्ववेषश्रीःक्षत्रायक्षजंजिन्वेति । हे इष्टके त्वं रश्मिना तेजोऋषेणाग्नेन सत्वाभिमानिदेवतार्थं सत्यं जिन्वन प्रीणय रश्मिर-

न्नमिति श्रुतेः । प्रेतिताना प्रकर्षेण देहमेति गच्छतीति प्रेतितन्नं तेन धर्मं
 जिन्व प्रीणय । प्रेतितन्नमिति श्रुतेः । किमर्थं धर्मणा । अत्र विभक्ति-
 व्यत्ययः । धर्माय धर्मार्थम् । आन्वत्या अन्नेन । अन्वितिराममिति श्रुतेः ।
 दिवं द्युलोकं जिन्व तर्पय दिवाद्युलोकार्थं सन्धिना सम्यक् बलादिकं धी-
 यतेऽस्मिन्नितिसधिरन्नं तेन अन्तरिक्षं जिन्व । अन्तरिक्षेण अन्तरिक्षार्थं
 प्रतिधिना प्रतिधीयतेऽस्मिन्निति प्रतिधिरन्नं तेन पृथिव्या पृथिव्यै पृथिवी
 अन्नदेहादिविष्टम्भननिमित्तत्वात् । विष्टं भोजनं तेन वृष्ट्यै वृष्ट्यर्थं वृष्टिं
 ज्विन्वम् । प्रवया प्रवाप्यत इति प्रवान्नं तेन अह्ना अह्ने अहर्जित्व ।
 देहान्तर्गतद्वारा प्रतिनाडीरन्वीयतेऽनुगच्छती सन्वी अन्नन्तया अत्वा
 अनुपेति छान्दसं रूपं राश्या राश्याभिमानि देवार्थं रात्रिं जिन्वनुशिजासर्वै
 काम्यमानत्वादुशमन्नं तेन वसुभ्योऽर्थाय वसून् जिन्व प्रकेतेन प्रकर्षेण कं
 सुस्पर्हयते अन्नेनेति केतमन्नं तेन आदित्येभ्योऽर्थाय आदित्यान् जिन्व ।
 तन्तुना जन्यते विस्तार्यते इतितमुरन्नं तेन रयस्यांषेण रायो धनं पुष्ट्यर्थं
 नुपहितासती रायस्योषजिन्व । संवृप्यते गम्यते इतस्ततो पदार्थसंसर्पोन्न-
 लेन । श्रूयत इति श्रुतं जिन्व । ऐलेन इत्यन्नं तस्य इदं ऐलन्तेन
 औषधीभिर्षधीभ्य ओषधीर्जिन्वोत्तमेनोत्कृष्टेनान्नेनतनूभिस्तनूर्जिन्व । वयो-
 धसावयः क्षीरावस्थान् मेधते पोषयतीति वयोधोन्नम् । तेनाधीतेनाधीत्यर्थं
 आधीतं जिन्व अभिजिता सर्वजयहेतुरन्नयभिजिन्व । तेजसा तेजसे तेजो
 जिन्व येन जीवनं प्रतिपद्यत इति प्रतिपदन्नं । हे इष्टके यतस्त्वं तादृग्रूपा-
 सि तदर्थं त्वां उपदधामीतिशेषः । प्रतिदिवसमनुपद्यत इत्युपदन्नं । हे-
 इष्टके यतस्त्वंतादृग्रूपासि तदर्थं त्वासुपदधामीतिशेषः । संपदसि हेइष्टके त्वं
 तद्वृपासि । तदर्थं त्वां उपदधामि । अन्नं वै संपदिति श्रुतिः । तेजः का-
 रणत्वातेजोन्नं त्रिधा वर्तत इति त्रिवृत् । अन्नम् । प्रकर्षेण प्रवर्तत इति प्र-
 वृत् अन्नम् । विशेषेण वर्तत इति विवृदन्नम् । समेनवर्तत इति सवृत्
 अन्नम् । क्षुपाक्रामतीति आक्रमोन्नम् । देहस्य सर्वावयवत्वासंक्रमत इति
 संक्रमोन्नं अपस्योत्पत्त्यर्थञ्च तादृग्रूपेणोत्क्रामन्तीत्युत्क्रमोन्नं उत्क्रान्तिरुत्कृष्टं
 गमनं यस्यान्नस्य अधिपतिना अधिकं पालनेन ऊर्जाश्ररसेन कुर्जिन्ववेषश्री-
 र्वेषस्य क्षोभा यस्य तदन्नक्षेत्रा आयत इति क्षेत्रमन्नं तदर्थं क्षेत्रं जिन्व ॥

इति षोडसेऽध्याये द्वितीयोऽनुवाकः ॥

द्वितीयेऽनुवाके लोकभागमन्तं इष्टका उक्ताः ॥ तृतीयेऽनुवाकेनाक-
स्वशाख्या इष्टका उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ नाकसदोराराअसीति मति-
मंत्रमिति नाकः स्वर्गसंपद्यते यैर्मंत्रैस्तेनाकसदः । तथाच मंत्रालिंगं नाकस्य
पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं वसादयंतु तैर्मंत्रैरुपधेया इष्टका । अणिनाकसद
इत्यव्यते ॥ तथाच प्रथममंत्रपाठः ॥ राज्यासि प्राचीदिग्वसवस्ते दे-
वाऽअधिपतयः । अग्निर्हेतीनां प्रतिधर्ता । त्रिवृत्वास्तोयः पृथि-
व्या ॥ अयत्वाज्यमुक्थामव्याधायैस्तन्नातुरतरधं ॥ साम प्रतिष्ठित्वा
अन्तरिक्षे । ऋषकस्त्वाप्रथमजा देवेषु दिवोमात्रया वरिष्ण्याप्र-
यन्तु । विधर्ता चायमन्धिपतिश्च तेत्वासर्वेसंविदाना ना-
कस्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयञ्चिचति ।
हेइष्टके राजीराजमानाया प्राचीदिक् त्वंतदूपासि । ते तुव वसवोऽष्टसंख्या
कादेवा अधिपतयो अधिकं पालयितारः । अग्निस्तवोपद्रवकारिणीनां
परकीयायुधानां प्रतिधर्ता निराकर्ता योऽयं त्रिवृदाख्यः स्तोमः स त्वा-
पृथिव्यां अयन्तु स्थापयन्तु यदा ज्यमुक्थं आज्यनामकं प्रवो देवायाग्रे इत्या-
दिकं शस्त्रपस्पित्वाय व्याप्यायै चलरिहितायस्तन्नातुदृढीकरोतुं अतिरक्षे लोके
प्रतिष्ठित्यो प्रतिष्ठापनाय रथं तरं सामत्वां स्तन्नातु । देवेषु मध्ये प्रथम-
भावेन ऋषयः प्राप्याः । प्राणा वा ऋषय इति श्रुतेः । यद्वा ऋषयो
नारदाद्या अतएव स्पर्षते । देवर्षिनारिदंस्तथेति । एवं भूता ऋषयस्त्वा त्वां
दिवो मात्रया आकाशस्य यत्परिमाणे तेन परिमाणेन मथंतु विस्तारयंतु ।
कीदृश्यामाष्टयावीरेष्णा श्रेष्ठया न केवलमृषयः । मथयंतु किंतु विमूर्ता
चायमधिपतिश्च योयमिष्टकानां निष्पादयिनायश्च पालस्नावपि प्रथमतां ।
यद्वा अयं विधर्ता विशेषेण धारयिता तत्र पोषयिता वागभिमानदेवः
अधिपतिः प्रबानभूतो मनोऽभिमानो देवश्च प्रथयतामिति यावत् । ते सर्वे-
दिगाग्नि वस्वादयः संविदानाः परस्परयैकमत्यं प्राप्तानाकस्य पृष्ठे स्व-
र्गसदृश्य क्षेत्रस्योपरि त्वां त्वां सादयन्तु । एतत्फलभोगार्थं यजमानश्च स्वर्ग-
लोके सादयंतु । एवमुत्तरेणपि मंत्रेषु योज्यम् ॥

अथद्वितीयः ॥ विरालसिदक्षिणादिमुद्राले देवा अधिपतयः । १५५
हंद्रो हेतोनां प्रतिधर्ता । पंचदशस्त्रास्तो यः पृथिव्याः ॥ अयन्तु
प्रथममुक्थमव्याधायैस्तन्नातु । बृहत्सायप्रतिष्ठित्या अन्तरिक्षे ।

ऋषयस्त्वाप्रथमजा देवेषु दिवो मात्रया वरिष्णा प्रयंतु । वि-
धर्ताचायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गे
लोके यजमानं च सादयन्त्विति ।

स्तोमाः सामानि रात्ते सूर्यप्रकारेण व्याख्यातानि । वायुरग्रेणा इत्या-
दिकं शस्त्रं शिष्टं समानम् ॥

अथ तृतीयः ॥ सम्रालसि प्रतीचीदिगादित्यास्ते देवा
अधिपतयः । वरुणो हृतीनां प्रतिधर्ता । सप्तदशस्तास्तोमः
पृथिव्याऽश्रयतु वैरुत्वतीयमुक्थमव्यथायैस्तभ्रातु । वैरुयःसा-
मप्रतिष्ठित्या अन्तरिक्षे । ऋषयस्त्वाप्रथमजा देवेषु दिवोमात्र
यावरिष्णा प्रथतु ॥ विधर्ताचायमधिपतिश्च ते स्वा सर्वे सं-
विदाना नाकस्य पृष्ठे स्वर्गलोके यजमानं च सादयन्त्विति ।

इदं वश्यो मुनमन्धनु इति महत्तृतीयं शस्त्रम् ।

अथ चतुर्थः ॥ स्वरालस्युष्टीचादिङ्मुस्तस्ते देवाऽअधिपतयः ।
सोमो हेतीनां प्रतिधर्ता । एकाविंशत्वास्तोमः पृथिव्याऽअ-
यतु निष्केवल्यमुक्थमव्यथायैस्तभ्रातु । यैराजःसमाप्रतिष्ठि-
त्वा अन्तरिक्षे । ऋषयस्त्वाप्रथमा देवेषु दिवोमात्रया वरिष्णा
प्रयतु । विधर्ताचायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाक-
स्य पृष्ठे स्वर्गे लोके यजमानं च सादयन्त्विति । अभित्वशूर-
नोनुपत्यादिकं शस्त्रं निष्केवल्यम् ॥

अथ पञ्चमः ॥ अधिपत्यसि बृहतीदिग्विञ्चने देवा अधि-
पतयः । बृहस्पतिर्हेतीनां प्रतिधर्ता । त्रिणवत्रयस्त्रिंशौत्वा-
स्तोयौ पृथिव्याऽश्रयतो वैश्वदेवोऽग्नि मारुते नुच्छेऽअव्यथायै-
स्तभ्राताम् । शाकरैवते सामनोप्रतिष्ठित्याऽअन्तरिक्षे । ऋ-
षयस्त्वाप्रथमजा देवेषु दिवोमानथावरिष्णो प्रयंतु । विधर्ता-
चायमधिपतिश्च ते त्वा सर्वे संविदाना नाकस्य पृष्ठस्वर्गे लोके
यजमानं च स्यादयन्त्विति । अधिपत्रीपलयित्री अधिपत्री धृहतीदिक्
प्रौढार्ध्वादिक् । तत्सवितुर्वृणीमह इत्यादिकं शस्त्रं वैश्वदेवं वैश्वानराय
पृथुपाजसमित्यादिकं शस्त्रमग्निमारुतम् । शिष्टं व्याख्याताभिप्रायमेतत् ।
अतो यान्युदाहृतानि आज्यादिस्पृक्षाधि नान्याश्चलायनो दृश्यन्ति ।

प्रवामहेत्याज्यमुपमंतनुयादिति । वायुरग्रेण । यज्ञपीरिति । समानां पुरोरुचा
नस्यास्त्रस्तनुपरिष्ठात्पृथंशशिद्रा यवो हि सप्ततृचाद्वितीयां प्रनुगत्रिरितिमह-
त्त्वतीयशस्त्रं शंसेदध्वर्यवोमिति माध्यन्दिनेशस्त्रादिष्वाहावर्जस्वारथं यथोतय
इदवसो सूनमन्ध इतिमहत्त्वतो यस्य प्रतिपदनुचरावितिनिष्केवल्यस्याभि-
त्वाशूरनोनुमोभि त्वपूर्वपीतय इतिप्रगाथौस्तोत्रियानुरूपौ यदि रथन्तरं
मष्टमिति तत्सन्वितुष्टीमहे द्यानोदेवमवितरिति वैश्वदेवस्य प्रतिपदनुचरा-
वितिस्वभ्यग्रमाग्निमारुतं तस्याप्रागछयावापकछशस्वाचेदर्घ्यमइन्सन्तान-
मुश्रमेन वचनेन वैश्वानराय पृथुपाकसंस्तुतिः ॥ ॥ इति षोडशेऽध्याये तृ-
तीयोऽनुवाकः ॥

तृतीयेऽनुवाके सदारुया इष्टका उक्ताः ॥ ॥ चतुर्थे पञ्चचूडाख्या इष्टका
उच्यन्ते ॥ ॥ कात्यायनः ॥ ॥ अयं पुर इति पञ्चचूडाः प्रतिमन्त्र प्रतिदिश-
मिति । याः सर्वासामिष्टकानां शिखास्थानीयाः । तानुपदध्यादित्यर्थः ॥ तत्र
प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ ॥ अयं पुरो हरिकेशः सूर्यरस्मिस्तस्य रथ-
गृह्यश्च रथौजाश्च सेनानीग्रामण्यौ । पुञ्जिकस्थलाचाक्षरसौ
यशवो हेतिः पौरुषयो वधः प्रहंतिः । तेभ्यो नमो अस्तुते नो
मह्यन्तुते नोऽवन्तु । तेयं द्विष्णो यश्च तो द्वेष्टि तमेपां ज-
म्भेदध्म इति । हरिकेशः हिरण्यवर्णकेशमाना ज्वाला यस्यासौ हरिकेशः
सूर्यरश्मय इव रश्मयो यस्यासौ सूर्यरश्मिः एवम्भूतो योऽयमिष्टकारूपोभिः
पुरः पूर्वस्यां दिशि अवस्थापितः । तस्याग्रे रथशृत्तमः रथशृत्तो मेधावी रथ-
युद्धकुशल इत्यर्थः । रथे ओजो बलं यस्य स रथौजाः । चकारौ समुच्चया-
र्थौ । राजन्नामकौ । सेनां नयतीति सेनानी । ग्रामं नयतीति ग्रामण्यौ वा
सन्ति कौ मामौ परिचारकौ तथा पुंजीकुरूपलावण्यसौभाग्यगुणस्थलापुञ्जि-
कस्थला । क्रतूनां सङ्कल्पानां स्थलमिव स्थिता क्रतुस्थला एतदारुये दि-
गुपदिगुपदिग्रूपद्वेषसरसौ परिचारिकदंक्षणवः पशवो दंशनशीला व्याघ्रादयः
पौरुषेयः तुरुषसम्बन्धिहेतिरायुधं वधे हननशीलः । एवं भूतो हेति रण्ययु-
धविशेषौ । यस्याग्रे रिदं सर्वमस्ति । हेइष्टके त्वं तद्ग्निस्वरूपासीत्यर्थः ।
योयमग्निर्यौचसेनानी ग्रामण्यौ येचाप्सरसौ येतहेति प्रहेती तेभ्यः सर्वेभ्यो नमो
अस्तुते सर्वेनोऽस्मान्मृदयन्तु सूखयन्तु । तेनेऽस्मानवन्तु रक्षन्तु । यं वैरिणं ते
वयं द्विष्मः द्वेषं कुर्मः । यश्च वैरीणोऽस्मां द्वेष्टि तं वैरिणं एपां हेतिप्रहेत्या-

दीनां जंभे दंष्ट्राकराले दध्मः स्थापयामः ॥ ॥ अथ द्वितीयः ॥ ॥ अयं दक्षिणीयश्चकर्मा तस्य रथस्त्वं नश्च रथे चित्रश्च सेनानी ग्रामण्यौ मिनका च सहजन्याचाप्सरसौ यामुधानाहेतीरक्षां॑सि प्रहेतिः । तेभ्यो नमो अस्तु ततो मृडयन्तु तेनोवन्तु । ते यद्विष्णेभ्यश्च नोद्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्म इति ॥ विश्वानि कर्माण्यग्निहोत्रादीनि यस्य सोयमग्निविश्वकर्मा तस्य दक्षिणादक्षिणस्यां दिशि स्थितस्य रथश्चनः सेनानीः रथचित्रो ग्रामणीः मानयते मां तेना इति येना समाना जनानां सहजन्या मेनकेति सहजन्येति चाक्षरसो नामधेयम् । यातुधाना रक्षांसि चेत्यवान्तरजातिभेदोऽयगन्तव्यः । हेति प्रहेती अप्यायुधविशेषौ । तत्र यातुधानाः क्रूरास्तीण्याहेति स्वरूपाः रक्षांस्यतिक्रूराणि अतिनीक्षणप्रहेतिस्वरूपाणि । तस्यग्नोरिदं सर्वं हेद्वेष्टकेतदग्निस्वरूपासीत्यभिप्रायः । शिष्टं व्याख्यातम् ॥ ॥ अथ तृतीयः ॥ ॥ अयं पश्चाद्विश्वव्यचास्तस्य रथप्रोतश्चासमरथश्च सेनानीग्रामण्यौ । प्रद्वलेषं तीश्चानुम्लोचन्तीचाप्सरसौख्याघ्राहेतिः सर्पाः ब्रहेतिः । तेभ्यो नमोऽस्तुते नो मृडयन्तुते नोऽवन्तु । तेर्षद्विष्णो यश्च नोद्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्म इति ॥ विश्वं व्यवति अव्याप्नोतीति विश्वव्यचाः सोऽयमग्निः पश्चात् प्रनीच्यां दिशि वर्तते । तस्य रथप्रातः रथऽवस्थितेः श्रोतश्च अममरथरन्ध्रैरनभितुल्यः । प्रद्वलोचन्तीपुमांसं प्रत्यात्मानं दर्शयन्ती स हि तस्या स्वभावः । अनुम्लोचन्ती स एवार्थः स समन्यत्पूर्ववद्वाख्येयम् ॥ ॥ अथचतुर्थः ॥ ॥ अयमुत्तरात्संयदूस्तस्य तार्क्ष्यश्चारिष्टने मिश्रसेनानीग्रामण्यौ विश्वार्चीचधृताचोचाप्सरसा आपो हेतिर्वातः प्रहेतिः । तेभ्यो नमोऽस्तु तेनोमृडयन्तु तेनोऽवन्तु । ते यं द्विष्णो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्म इति ॥ सम्यक् प्राप्ते वस्तुधनं यस्याग्नेः सोऽयं सं यद्वेष्टुः सोऽग्निः उत्तरादुत्तरस्यां दिशि वर्तते । तार्क्ष्यः तीर्णेऽन्तरिक्षे क्षियति निवसतीति तार्क्ष्यः अरिष्टनेमिः । अनुवर्हिसितायुधः । विश्वार्चीति प्रत्यचरशीलाधृताची । धृतञ्च ना । धृतं वैदृष्टकस्त्यमन्नम् । आपो वातहेतिः । शेषं पूर्ववत् ॥ ॥ अथ पञ्चमः ॥ ॥ अयमुपर्यवर्गवस्तुस्तस्य सेनतिच्च मूषेणश्चसेनानी ग्रामण्यौ । उर्वशीच पूर्वचितिश्चाप्सरसा अवस्फूर्जहेति विश्वुस्प्रेहेतिः । तेभ्यो नमो अस्तु तेनो मृडयन्तु ते-

नोवन्तु । चयं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः इति ॥
अर्वाग्नसु रथोमुखत्वेन वमनात् मेघाद्भूमौ पतताद्द्व्युतोऽग्निस्त्यस्येत्युच्यते ।
सचोपर्यूर्ध्वायां दिशि वर्तते । तस्याग्नेः सेनां जयतीतिसेनजित् । सेनानाः
शोभना सेना यस्यासौ सुषेणोग्रामणीः तुरुः पृथुः कामो वरो यस्याअसी-
त्युर्वशीरूपलावण्यातिशयात्पूर्वमेव पुरुषाणां चित्रमभ्युपैतीति पूर्वचितिः ।
एतेऽप्सरसौ भुभयहेतुः । शब्दविशेषे-अवस्फूर्जन् स्फूर्जतिर्वञ्चनिर्योपः भय-
हेतिः प्रकाशो विद्युत् । एतावपि प्रतिहेतिरूपाऽयुधविशेषौ । शेषं स्पष्टम् ।
इति षोडशेऽध्याये चतुर्थोऽनुवाकः ॥

चतुर्थेऽनुवाके चूडाख्या इष्टका उक्ताः ॥ ॥ पञ्चमे छन्दस्या इष्टकानु-
च्यन्ते ॥ ॥ कात्यायनः ॥ ॥ छन्दस्यास्तिस्त्रोस्तस्त्रानूकां तेषु पुरुषस्त-
द्गायत्रीरग्निमृत्रेति प्रत्युचमिति ॥ गायत्र्यादिछन्दस्याभिर्त्रैगिरूप-
धेया इष्टकाश्छन्दस्याः । ता अनूकादिप्रदेशेषु तिस्रितिस्रनुपदध्यात् ॥

तत्र प्रथमः ॥ ॥ अग्निमूर्द्धादिवः ककुत्पतिः पृथिव्याऽअयं १
अपा०रेता०मिजिन्वतीति । अयमग्निरादित्यरूपेण दिवो द्युलोकस्य
ककुत्स्थितो मूर्द्धा शिरस्थानीयः पृथिव्यापातिः । दाहपाकारित्वेन बाल-
कोप्ययम् । किञ्च अपा०रेता०मि । उदककार्याणि स्थावरजङ्गमशरीराणि
जाठराग्निरूपेण जिन्वति प्रीणयति ॥

अथ द्वितीयः ॥ ॥ अयमग्निः सहस्रिणो वाजस्पति तस्पति । ४
मूर्द्धाकवीरयीणामिति । अयमग्निः सहस्रिणो वाजस्पति तस्पतिः ।
मूर्द्धाकवीरयीणामिति । अयं समिध्यमानोऽग्निः सहस्रिणः सहस्र संख्यावतः
शतिनः शतसंख्यावतः वाजस्थानस्य पातिः । अत एव मूर्द्धा शिरोवदुतमः ।
कविर्विद्वान् । तादृशो रयीणां धनानां दाता भवतु ॥

अथ तृतीयः ॥ ॥ त्वामग्ने पुष्करादध्वयर्वातिरमन्थत मूर्ध्नो वि- २
श्वस्य वाद्यत इति । हे अग्ने अथर्वाख्यऋषिः पुष्करादधिपद्मपत्रस्योपरि
त्वां निरमन्थत । निःशेषेण मथितवान् । अतएव तैत्तिरीये पञ्चमकाण्डे ब्राह्म-
णमास्तातम् । पुष्करपर्णेन्द्रेननुपश्रितमनिन्दादाति । कीदृशात् पुष्करात्
मूर्ध्ने उतमाङ्गवत् । प्रशखात् । विश्वस्य बाधतः सर्वस्य जगतो बाहकात् ।
इदं हि पुष्करपर्णमग्निममन्थत् । यज्ञनिष्पादनद्वारा सर्वं जगन्निर्वाहतिः ॥
कात्यायनः ॥ ॥ उत्तराश्वत्रिण्डुभोरेतः शिलायां भुवो यज्ञस्येति । त्रिण्डुप्

छन्दस्काभिर्ऋग्भिरुपधेया इष्टकास्त्रिष्टुभः तस्मिन्सो गायत्रीष्टकानां पूर्वभागे
उपदध्यादितिशेषः ॥

तत्र प्रथमः ॥ ॥ सुबो यज्ञस्य रजसञ्जनेनायत्रानिमुद्भिः स च
स शिवाभिः । दिवि मूर्द्धानं दधिषे स्वर्षा जिह्वामग्नेचवृषेह-
व्यवाहामिति । अयमग्निर्भूर्लोकस्य तत्रानुष्टे यस्य यज्ञस्य तस्मिन्पक्षे प्रवर्त-
कस्य रजसो रजो गुणस्य सच नेता निर्वाहकः । तादृश हेअग्ने यत्र यस्यां दिवि
सूर्यरूपो भूत्वा नियुद्भिः रमे नितरां योज्यमानाभिः शिवाभिरुतगाभिः सचसे
समवोपि । तस्यां दिवि मूर्द्धानं शिरोवहुन्नीति दधिषे धारयसि । कीदृशं
मूर्द्धानम् । स्वर्षा स्वः स्वर्गस्येति सर्वदातितिस्वर्षा स्तं हर्षाम् । सोभयाः
शब्दवत्पुल्लिङ्गोऽयं हे अग्ने त्वमस्मिन्पक्षे हव्यवाहं हविषः प्रापिकां ज्वालां
जिह्वाञ्च कृषे करोषि ॥

अथद्वितीयः ॥ आबोध्याग्निः समिधा अयमग्निरबोधितः प्र-
ज्वलितोऽभूत् । तत्र दृष्टान्तः । आयनीयुषामं । प्रतिधेनुमिव । उपः काले
सामगते सतिदोहनार्थं क्षपानां धेनुं यथेच्छार्पयति । उद्ध्यमानस्याग्न-
र्भानवो रश्मयः प्राजिहानाः प्रकर्षेणोद्गच्छन्तो नाकं यच्छ स्वर्गमाभिप्राप्तुं प्र-
सिसृते अतिशयेन प्रसङ्गति । तत्र दृष्टान्तः । यद्वा इव वयांवीनां पक्षिणां
मध्ये यद्वा महान्तः पक्षिणो प्रकर्षेणोत्पतन्ति । तद्वत् । यद्वा महान्तो
जातपक्षाः पक्षिणः प्रवयांतवयस्थां वृक्षलाखां नुजिहाना ऊर्ध्वं गच्छेयु-
स्तद्वत् ॥

अथतृतीयः ॥ ॥ अबोचाम् कवयेमेध्यायवभोवदाह वृषभाय
वृष्यो । गविष्टिरोनगसास्तोममेग्रौ दिवीवर वनमुह्वयं चम-
श्रेदिति । कवये क्लान्तदाशिने वदये वचो वाक्य अबोचाम् । कीदृशाय
कवये मेध्याय प्रज्ञायुक्ताय वृष्यो कामानां वर्धयित्रे । गविष्टिः गविष्टि-
रायभूमौस्थिरत्वेनावस्थितान कीदृशं वचः । अग्रानमास्तो समग्निविपमे
नमस्कारेण प्रक्तं सोत्ररूपं अतएवं दारुचन्दनशीलं । तत्र दृष्टान्तः । दिवी
शुलोके रुतं रोचमानं नुरुव्यं च विस्तीर्णगतिमात्रं सन्ध्यावन्दनादिषु ब्रा-
ह्मणैः प्रयुक्तं वाच्यमभेत् । आहमिति । तद्वदृष्टान्तः । दिवि शुलोके रुतं
रोचमानं नुरुव्यं च विस्तीर्णागतिमात्रं सघावनादिदाषु प्राप्तैः प्रयुक्तं वा-
च्यमश्रयति । तद्वदस्मदतोपि वह्निमाश्रयतु ॥ ॥ कात्यायनः ॥ ॥ जगती-

श्वादयमिहेतीति । जगतीच्छदस्ताभिर्द्वाग्भिरुपधेया इष्टका जगत्यः ताः अ-
 न्तिमभागे अयमिहेत्यादिभिस्तिष्ठभिस्क्रग्भिमुपधेया इति ॥ ॥ तत्र प्रथमः १
 अयमिह प्रथमोधा विधातृभिर्होतायजिष्ठो अध्वरेष्टीमः । य-
 मप्रवानोभगवोविहहवुर्वनेषु चित्रं विश्व विशेविश इति ।
 सेयमेकतृतीयेऽध्वाये उगप्रयंतहापेतस्मिन्ननुवाके व्याख्याता अथद्वितीयः ॥
 ॥जनस्य गोपा अजनिष्ठजागविरग्निः स्कदक्षः स्कातितागव्य- १८
 स । घृतप्रतीको बृहतोदिविस्यशाघुमहिभातिभरतेभ्यः थचि-
 रिति । अयमग्निरचनिष्ठोत्पन्नः किमर्थं सवितायनव्यसे स्तुष्टुप्राप्ताय
 स्तुतियुक्ताय कर्मणे एतत्कर्मसिद्ध्यर्थमित्यर्थः । कीदृश्याग्ने जनस्य गोप्तः ।
 प्राणिनो रक्षकः सुदक्षोऽत्यन्तकुशलः । जागावि । कर्मणिसावधानः । घृतं
 प्रतीके सुखे यस्यासौ घृतप्रतीकः । तादृशोऽयमग्निर्वृहतोमौढेणादिविस्पृशा-
 धुगपदीप्यमानः । सुविः सुर्द्धः सन् भरतेभ्यो यज्ञभरणकुशल्यजमाशनाभं
 विभाति विशेषेण भासते ॥ ॥ अथतृतीयः ॥ ॥ त्वामग्ने आतिसो गु- २५
 हाहितमन्वविंदच्छिथिषार्ण वने वने । सत्तायसे मध्यगानः
 सहोमहत्वामाहुः सहसस्युभमंगिर इति । हि अग्ने अगिरसो म-
 हर्षयः रन्वामन्वतिदन् । अन्विष्या लभंता किदृशं त्वां अरणिप्रभृतिषु गो-
 ष्ठस्थानेषु अवस्थितं वने वने शिश्रियाणं तस्मिन्स्मिन्नरण्ये दावाग्निरुपे-
 णाश्रितः । स त्वं सहः प्रौढं बलमवलम्ब्यमध्यमानो जायसे हेअगिरः अग्रं-
 सौष्टवयुक्ताग्ने त्वालहसस्युत्रं बलस्य पुत्रमाहुः । महता बलेन मथने सति
 जायमानत्वात् ॥ ॥ कात्यायनः ॥ ॥ अपरास्ताभ्योऽनुष्टुपः सखायः सव
 इतीति । अनुष्टुपं दरकाभिर्क्रग्भिरुपधेया इष्टका अनुष्टुभः । ताजागतीष्टका-
 नामग्निभागे सकायः सव इतितिष्ठभिक्राभिरुपधेयात् । तत्रप्रथमः । सखा २५
 यः सवः समाचमिषं स्तोमं वाग्रये । वर्षिष्ठाय क्षितीनायूजोनप्रे-
 सहस्वत इति । हि सखायः परस्परसख्ययुक्ताऋत्विग्यजमाना वो युष्माकं
 सम्यं चमिषं समीचीनमिष्टार्थं सम्पादय तसामित्वस्योपसंगस्यापेक्षितः श्रेषोऽध्यातृतः
 पूर्वचाग्रये खोत्रं सम्पादयत । कीदृशायाग्रये सितीनां निवासहेतुनां मध्ये व-
 र्षिष्वाय बृहतमाय दूग्जोन्मेवलस्यधातयित्रेविनाशमकुर्वते सहस्वते स्वयम-
 तिज्ञयेन बलवते ॥ अथद्वितीयः ॥ सः समित्युवसेवृषन्नप्रेविश्वान्य- २८
 र्यआ । इच्छस्यदेसमिध्यसेसनोवसून्याभरेति । हेवृषन् कामानां

वर्षकामानां वर्षकाग्रे विश्वानि सर्वाणि फलानि सममित् सम्पादय सम्पा-
 द्यैवयुवमे यजमानेन निश्रयमि । अर्थ ईश्वरस्वमागत्य इत्यपदपृथिवी-
 रूपार्यवेद्यास्थाने समिध्यसे सम्यक्त्वाल्पसेसतादशोमहानुभावस्वन्तीस्य-
 भ्यं वसुनि धनानि समाभर । सम्यगातृप्पप्रत्यच्छ ॥ अथतृतीयः ॥ त्वाम-
 ग्नेहविष्मन्तोदेवम्मर्तासईलते । मन्येस्वाज्ञातेयेदसः सहव्याव-
 क्ष्यानुषगिति । हे अग्ने मर्ताऽसौमरणशीला मनुष्णह विष्मन्तः पा-
 णौ गृहीतहविषो यज्ञभागादेवं देवनादिगुणे युक्ते त्वां ईलते स्तुवन्ति ।
 अहमपि त्वां जातेवेदसं सर्वज्ञं जानामि मन्ये । सत्त्वं आनुपक् । अनुपक्तः
 सन् हव्याहवींषि वक्षि वहामि ॥ तत्र वैकल्पिका चतुर्थी ॥ त्वां चित्रश्रव-
 स्तमहवन्ते विक्षु जन्तवः । शोचिष्केशं पुहप्रियाग्रे हव्याय बोद्धव इति ।
 चित्रं श्रवोविचित्राकीर्तिर्यस्यासौ चित्रश्रवा अतिशयेन चित्रश्रवस्तमः पुरु-
 णां वहतां यजमानानां प्रियः पुहप्रियः तथाविध हेअग्ने पिक्षु प्रजामु
 मध्ये जन्तवः त्वत्विग्रपातनाः त्वां हवन्ते आदकयन्ति किमर्थं हव्याय बो-
 द्धवेहविबोद्धुं । कीदृशं त्वां शोचिष्के शंशोचीं पित्वालाएव केशस्थानीयो
 यस्यासौशोचिष्केशः ॥ कात्यायनः ॥ आषाढावेलायाः परस्तादृहतीरे ना
 वइतीति । दृढतीच्छन्दस्नाभि ऋग्भि रूपधेया इष्टकाः दृहत्यः ता अस्त्रि-
 लेष्टकामाः पूर्वभागेरानाव इति तिस्रभिर्ऋग्भिरूपदध्याव । तत्र प्रथमः ॥
 एनावो अग्निंनमसोर्जो नपातमाहवेप्रियश्चे । तिष्ठमरातिस्वध्व-
 न् विश्वस्य दूतममृतंमिति । हेऋत्विग्यत्तमाना वो युष्माकं तत्सम्बधि-
 नममि एता नमसा । एतेन नमस्कारेण युक्तोऽहमाहुवे आह्वयामि । की-
 दृशमग्निं । ऊर्जाऽन्नस्य नपातम विनाशयितारं प्रिय यजमानं । प्रीतिहेतिश्चे-
 तिष्टं अतिशयेन चेतयितव् अरतिरूपमस्तद्रहितं सवन्दोयुक्तमित्यर्थः । स्व-
 ध्वरं शोभनस्य क्रतो निर्णदकं विश्वस्य दूतं सर्वस्य जगतो दूतवत्कार्य-
 कारिणं । सर्वस्य हि गृहे दाहपाकादिकार्यं करोति अमृत मरणरहितं ।
 मनुष्यवेदेवानां सहसा मरणं नास्ति ॥ अथद्वितीयः ॥ विश्वस्य दूत-
 ममृतं विश्वस्य दूतममृतं । स योतते ऽअरूपा विश्वभोज-
 सासदुद्रवत्स्वाहुत इति । विश्वस्य दूतं सर्वस्य जगतो दूतं सर्वस्य ज-
 गतो दूतवत्कार्यकारिणं । अमृतंअमरणशीलमग्निं आह्वयामिपुनर्वचनमाद-
 रार्थयमग्निमाहुवसोऽग्निविश्वभोजसा विश्वस्य भोक्तारौ अह्वा अरोच्यमाना

वश्यौ योजते रथे युनाक्त । ततः सरावाग्निः स्वाहुतः । सुष्टु आहुतः सन्न-
दुद्रवत् । गच्छति ॥ अथतृतीयः ॥ सदुद्रवत्स्वाहुतः सदुद्रवत्स्वाहु- १५
तः । सुब्रह्मायज्ञः सुशमो वसूनादेवराणेजनानामिति । स्वाहु-
तः ऋग्भिः सुष्टु कर्मण्याहुतः सोऽयमग्निर्वसुनां जनानानां निवासाग्निनां प्रा-
णिनां सम्बन्धिदेवं दोहयानं रायोहविलक्षणं धनं प्रतिदुद्रवत् । आगच्छ-
तु । ईदृशोऽग्निः क्षुवसा शोभन ऋत्विग्रूपो ब्रह्मा यस्यासौ शोभनमन्त्रो वा
यज्ञो यजनी यः पूजनीयः । सुशोभी शोभनकर्मवान् ॥ ॥ कात्यायनः ॥
अपरेणगायत्रीभ्यनुष्णि होमे वाजस्येतीति । तुष्णिक्छन्दस्काभिर्ऋग्भि-
रूपधेया इष्टकानुष्णि । हस्तांगायत्रीष्टकाभ्यः पश्चिमभाविनीरूपध्यात् ॥
तत्र प्रथमः ॥ ॥ अग्नेवाजस्यगोमतईशानः ॥ सहसोयहो । १॥
अस्मे धेहि ज्ञानवेदोमहिश्रव इति । सहसो बलस्य यहो हेमूनो जा-
तवेदउत्पन्नजगदभिज्ञाग्ने गोमतो । गोभियुक्तस्य वाजस्यान्नस्य ईशानस्त्वं
अस्मे अस्मासु महेश्रवी प्रह्नीकीर्तिर्महदन्नं वा धेहि सम्पादय ॥ ॥ अथ
द्वितीयः ॥ ॥ सद्धानोवसुष्कविरप्तिरीलेन्योगिरा । खेदस्मभ्यं- १॥
पुर्वणीकदीदिहीति । पुह वलं अनीक सुखं सैन्यं वा यस्यासौ पुर्व-
णीकः । तादृश हेअग्ने सत्त्वमस्मभ्यं रेयत् । रयिवनुनवत् । धनयुक्तं गृहक्षेत्रा-
दिकं दीदिहि । दीप्यस्व । कीदृशस्त्वं इधानो दीप्यमानः वसुर्निवामहेतुः
कविः क्रान्तदशीभग्निरग्रणीः प्रथमं यज्ञप्रवर्तक इत्यर्थः । गिरा मन्त्ररूपया
वाचा ईलेन्यः स्तुयः ॥ ॥ अथ तृतीयः ॥ ॥ क्षपो राजव्रुतत्मनाग्ने १५
वस्तोहतोषसः । सतिग्मजम्भरक्षसो दहप्रतििति । हेअग्ने वस्तोर-
हानि क्षपः क्षपय । उतापिच । उपसः उपः कालानपि क्षपय । द्वितीया
या अत्यन्तं सङ्गोमात्रात्स्वत्वात् । सर्वेष्वप्युपः कालेषु राक्षसान् विनाश-
येत्यर्थः । हेराजन् दीप्यमानाग्नेन केवलं स्वकीयसेनामुखेन रक्षसां क्षपणं
उतत्यना आत्मनापि स्वयमपि क्षपयेति मुखे विदारणवाचिना जम्भशब्देन
चालानुपलक्ष्यन्ते तिग्माही । क्षणं जम्भा यस्यासौतिग्मजम्भः । हेतिग्मजम्भ-
सत्त्वं रक्षसो राक्षसान्प्रतिप्रत्येकं दह भस्मीकुरु ॥ ॥ कात्यायनः ॥ भद्रो न
इति ककुभच्छन्दस्काभिर्ऋग्भिरूपधेया इष्टका ककुभस्ताभद्रो न इति ति-
सुभिर्ऋग्भिरूपध्यात् ॥ तत्र प्रथमः ॥ भद्रो नो अग्निराहुतो भद्रा- १५
ऽअध्वरः । भद्रा उत प्रस्तय इति । आहुत ऋत्विभिराहुतोऽग्निर्नो

अस्माकं भद्रो भद्रं नीयः कल्याणो भवन्वितिशेषः । किञ्च हेभद्रे हेकल्या-
णाग्रेरातिस्त्वदीयदानमस्याकमस्तु । हेसुभगमुष्टभजनीयाग्रेत्वत्पसादाद-
ध्वरोऽस्मदीयो यज्ञो भद्रः कल्याणोभवतु । उतापिच प्रशस्तयः प्रशंसनानि
भद्राः सन्तु ॥ ॥ अथद्वितीयः ॥ ॥ भद्रानुतप्रशस्तयोभद्रं मनः कृणु-
ष्ववृत्रतूमे । येनासमस्य सा सह इति । उतापिच प्रशस्तयो भद्राः
सन्तु । समत्सुसं ग्रामेषु येनपनासहशत्रजातमभिभवसि जन्मनः वृत्रदर्ये ।
तुयातिर्हिसार्थः । वृत्रवधाय पाप्मा वै वृत्र इतिश्रुतेः । तद्वधार्थमिति बाभद्रक-
ल्याणं कृणुष्व कुरुष्व ॥ ॥ अथ तृतीयः ॥ ॥ येनासमस्युसासहोव-
च्छिण्णतनुहि भूरिशर्द्धं तां । वने माते अभिष्टिरिति । हेअग्रे त्व
मेन मनसा समत्सु संग्रामेषु सा सहः शत्रु जानमभिभव सितैन मनसा भूरि
शधतां प्रभूतं त्वलं कुर्वतां शत्रुणां सम्बन्धीनिस्थिराणि वृद्धानि धन्नुषीति
शेषः । अमतनुहि अवतारय । वयं ते त्वां अभिष्टिभिः । अभ्येषण साधनै-
र्योगैर्वने मसम्भजेमहि ॥ ॥ कात्यायनः ॥ अत्रकान्ते दक्षिणे पंक्तोरग्नि त-
मितीति । पक्तिश्छन्पस्काभिर्ऋग्भिरूपधेया इष्टकाः पंक्तयः ताऽअनूकान्ते
दक्षिणपदेशे अग्निन्तमिस्यादिस्तिष्ठभिर्ऋग्भिरूपध्यादितिशेषः ॥ ॥

तत्र प्रथमः ॥ अग्निं तं मन्ये योवसुरस्तथमन्तिधेनवः ।
अस्नमर्यत आशवोस्तनित्यासोपाजिनइषंस्तोतृभ्य आभरे-
ति । वसुनिवामहेतुगोऽग्निरस्ति । अहं तं तादृशमग्नि मन्ये जानामि । धेनवः

सायंकाले मदीप्यमानमग्निं दृष्ट्वा अयमस्मद्दोहनकाल इति ज्ञात्वा
अस्ते स्वकीययजमानगृहं प्रति किञ्च । आश्वः शीघ्रगामिनो अवन्तो-
ऽश्वा अयमग्निं दृष्ट्वा अस्थं गृहं यन्ति गच्छन्ति । पुनस्तदेवाह । नि-
त्यासो नित्याः शाश्वता वाजिनो बलवन्तो अश्वा यमग्निं दृष्ट्वा अस्थं गृहं गच्छ-
न्ति । हे तादृशाग्ने ! त्वं स्तोतृभ्योऽस्मभ्यं इषमज्ञं आभर सम्पादयेत्यर्थः ॥

अथ द्वितीयः ॥ सोऽअग्निर्योवसृगृणसन्वमायन्ति धेनवः १५
समर्वतो रघुद्रुवः । सः पूजातासः सुरय इषः स्तोतृभ्य
आभरेति ।

यो निवासहेतुरग्निरस्तिम तादृशोग्निर्युगे अस्माभिस्तृयते धेनवः
पशवो यमग्निं दृष्ट्वा समायन्ति सम्यगाभिमुख्येन गच्छन्ति । किञ्च रघुद्रुवः
रघुद्रुवः शीघ्रगामिनोर्विभोऽश्वाः प्रतिममायन्ति । सृजातासः शोभनजन्मानः
सुरयो विद्वानः ऋचिज्जादयः यमग्निं प्रतिममायन्ति हे अग्ने तादृशस्त्वं
स्तोतृभ्य इषमज्ञं सम्पादय ॥

अथ तृतीयः ॥ ॥ उभेऽमृश्चन्द्रमर्षिषो दर्वीः श्रीणीष आसनि । १६
उतो न उमपूर्वानुक्थेषु शवसस्यत इषः स्तोतृभ्य आभरेति ।

हेमृश्चन्द्र मृष्टु आहः दन्तकाग्रे । आसनि त्वदीय आस्ये
मर्षिष आज्यस्य सम्बन्धिन्यौ उभे दर्वीः तादृशहनुर्वद्वासापिषः पानार्थं
दर्वीमहर्षो हस्तौ । अथवा मर्षिषः मर्षिः सम्बन्धिन्यौ जूहु प्रभृतौ ।
श्रीणीषे मेवमे । हनुपेरणपर्यन्तं मर्षिस्तत्रा पीतमित्यर्थः । उतो अपि च
हेशवमस्पते बलस्याधिपते उक्थेषु यज्ञेषु नोऽस्मानुपूयाउत्कर्षेण पूरय
प्रापयेत्यर्थः । स्तोतृभ्यो यजमानेभ्यः इषमज्ञं आभर सम्पादय ॥ ॥ का-
त्यायनः उत्तरे पदपंक्तिरग्नेनमथ्यतीति । पदपंक्तिश्छन्दस्काग्निरुपधेया इष्टका
पदपंक्त्यस्ता अनुकस्योत्तरभागेन पदंध्यात् ॥

तत्र प्रथमः ॥ ॥ अग्ने तमद्याश्वत्तसोनैः क्रतुन्नभद्रं हृदि-
स्पृशो ऋध्या मातओहैरिति ।

हेअग्ने हृदिस्पृश हृद्यमत्यन्तप्रियं ते त्वामद्यास्मिन् कर्मणि ओहैः फ-
लप्रापकस्तोमैः ऋध्यामसमृद्ध करवाय । तन्नैको दृष्टान्तः । अथ न यथा लोके

अश्वं घासादिप्रदानेन समर्द्धयन्ति तद्वत् । अथापरो दृष्टान्तः । ग्रमुं न यथा समीधीत ज्योतिष्टोमादिकृतुं संगीतानुष्ठानेन समर्द्धयन्ति तद्वत् । भद्रं कल्याणमित्याग्निविशेषणं वाऽस्तु ॥

अथ द्वितीयः ॥ ॥ अधाह्यग्रे क्रतोर्भद्रस्य दक्षस्य साधोः धि रतस्य बृहतो बभूवेति ।

हेअग्रे अथाऽऽमदीयस्तोत्रानन्तरं क्रतोरनुष्ठीयमानस्य कर्मणो-
रथीर्वभूव हि । रथोस्यास्तीति रथी मार्गधिर्यथा निर्वाहकस्तथा त्वं निर्वा-
हको बभूव खलु कीदृशस्य क्रतोर्भद्रस्य कल्याणरूपस्य दक्षस्य स्व-
फलप्रदानसमर्थस्य साधोरस्माभिः साध्यस्य क्रतस्य व्यत्यस्य मोघफलस्य
बृहतः प्रौढस्य ।

अथ तृतीयः ॥ एभिर्नो अर्केर्भवानांऽअर्वाङ् स्वर्णपीतिः ।
अग्ने विश्वेभिः सुमनाऽअनीकैरिति ।

हेअग्रे विश्वेभिः अनीकैः सर्वैस्त्वदीयमन्यैः सहितः सुमनाः
सौमनस्यं प्राप्तः सने एभिरेदानीं द्विषमाणैर्नोऽस्मान्—सन्वान्प्रभिरर्के-
रर्चनीयैः स्तोत्रैर्नोऽस्मान्प्रत्यर्वाङ् भर समीपस्थो भव अवरं समीपदेशमञ्चति
गच्छत्यर्वाङ् । तत्र दृष्टान्तः । स्वर्णज्योतिः स्वर्णलोके प्रकाशरूप आदित्यो
यथाममीपवर्ती भवति तद्वत् ॥ ॥ कात्यायनः ॥ पुरीषवत्याः पूर्वामतिच्छ-
दसं प्राच्यौ पुरीषमहिते भद्रारानिर्नृत्र तूर्येऽवस्थिराग्निर्होतारमिनीति ।
अतिच्छेदस्काभिर्त्रिभिर्नृपर्यया इष्टकास्तिस्त्रोतिच्छदसस्तासां मध्ये एकम-
तिच्छदसमिष्टकांपुरीषवतीष्टकायः पूर्णभागे उपदध्यात् ॥

तत्रैकस्याः पाठः ॥ ॥ अग्निर्होतारं मन्ये दास्वन्तं
वसुं सुनुं सहस्रो जातवेदसं विप्रं जातवेदसं । यकध्वयो-
स्वध्व सदेवो देवाच्याकृपा । घृतस्य विभ्राष्टिपनुवष्टिशोचिषा
जुह्वानस्य सर्पिष इति ।

इममग्निं होतारं देवानामाह्वतारमहं मन्ये कीदृशमग्निं वसुं धनं दास्वन्तं
प्रयच्छंतं सहस्रः सूनुं बलस्य पुत्रं जातवेदसं इत्यन्ना जगदभिज्ञं । तत्र दृष्टान्तः
विप्रं न जातवेदसं । यथा ब्राह्मणं कुटुम्बिनं उत्पन्नपुत्रानभिज्ञं मन्ये तद्वत् ।
योऽग्निर्देवकुर्ध्यया अत्यन्नतया उत्पुन्नतन्नतया देवाच्या देवान्प्रति गच्छत्या

कृपात्कृतृस्य ज्वालाया स्वध्वरः स्पृष्टु यागनिष्पादको भवति योऽग्निर्धृतस्य विभ्राषि विशेषदीप्तिं शोचिषा स्वकीयेन तेजसा अनुवोष्टि । अनुवोष्टि अनुका-
मयते कीदृशस्य घृतस्य आजुह्वानस्य सर्वतो हूयमानस्य सर्पिषः सर्पण-
शीलस्य ॥ ॥ कात्यायनः ॥ अग्नेत्त्वामित्यनूकान्तेपर इति । अनूकस्य
पश्चिमभागे द्विपदछन्दस्यास्तिस्त्र इष्टका उपदध्यात् ॥

तत्र प्रथमः ॥ अग्नेत्त्वन्तोअस्नाम् वांभवावरुध्यहति ।

हेअग्ने त्वं नो अस्माकं अन्तमो अन्तिकतमो भव उतापि च त्राता
रक्षकः शिवो मंगलरूपी त्वं वरुध्यो वरुध्ये गृहे नित्यं सन्निहितो भव ॥

अथ द्वितीयः ॥ ॥ वसुधैरग्निर्वसुश्रवा अच्छानक्षि वुमतमं
रयिंदा इति ।

वसुर्वसुमानयमग्निर्वसुभिरिन्द्रादिदेवतैरादरेण श्रूयत इति वसुश्रवाः
हेतादृशाग्ने । अच्छास्मदभिमुखानक्षि । प्राप्नुहि कीदृशस्त्वं वुमतमं आतशयेन
दीप्तयुक्तं रयिं धनं दाः प्रयच्छत ॥

अथ तृतीयः । तं त्वा शोचिष्टदीदिवः सुम्नाय नूनमीम-
हे सखिभ्य इति ।

हेशोचिष्टदीदिवः शुद्धतमदीप्यमान सखिभ्यः सखीनामस्मा-
कंमूत्राय सुखाय तं पूर्वोक्तपुण्ययुक्तं त्वा ईपदं प्राप्नुमः ॥ ॥ इति षोड-
शाध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ॥

पञ्चमेऽनुवाके छन्दस्या इष्टका उक्ताः ॥ ॥ अथ षष्ठे गार्हपत्यस्य पुन-
श्चितिमन्त्रा उच्यन्ते ॥ ॥ कात्यायनः ॥ ॥ मध्ये सृक्तं गार्हपत्यं पुनश्चिति-
श्चोपरितन्द्रयेन ऋषय इति प्रत्युचामिनि पूर्वमुपहिताया गार्हपत्यस्य चित्तर्मध्ये
पुनरष्टका येन ऋषयष्टैत्येष्टभिर्मन्त्रैरुपदध्यात् ।

तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ येन ऋषयस्तपसा सत्रमायं निधा-
वाअग्निं स्वराभरंतः । तस्मिन् ह निदध नाके अग्निं यमाहम-
नवस्तीर्णवर्हिषमिति ॥

येन स्वर्गेण निमित्तभूते पूर्वमहर्षयस्तपसा संतापयुक्तेनाग्निना सत्रमाय-
जनुष्ठितवंतः । कीदृशा महर्षयः अग्निमिन्धानाः प्रज्वालयंतः स्वराभरंतः स्व-

गमाहर्तुं समुद्यताः अहमापि तस्मिन्नाके निमित्तभूते सति अग्निं दधे स्थाप-
यामि । यमग्निं मनवः पूर्वमनुष्वास्तीर्णवर्हिषः प्रसारितयज्ञमाहुः । तमग्निं
निदधे इत्यन्वयः ॥ ॥

अथ द्वितीयः ॥ ॥ तपस्तीभिःरनुगच्छेम देवाः
पुत्रैर्भ्रातृभिरुतवा हिरण्यैः । नाकं गृम्णानाः सकृतस्य लोके
तृतीये पृष्ठे अधिरोचते दिव इति ।

हेदेवा ऋत्विजः सर्वे वयं पत्न्यादिभिः सर्वे मनुष्यैः
उत वा हिरण्यैः । नाकं गृम्णानाः सकृतस्य लोके तृतीये पृष्ठे
अधिरोचते दिव इति । हेदेवा ऋत्विजः सर्वे वयं पत्न्यादिभिः
सर्वैर्मनुष्यैः उतवा हिरण्यैः सर्वमाधनद्रव्यैः स्वमाहितस्त्वमग्निं अनुगच्छेम
अनुगताः सन्तः फलं प्राप्स्याम इत्याशयः । स एव स्पष्टीक्रियतेऽत्रिः पृष्ठे
स्वर्गस्योपरि नाकं दुःखरहितं स्थानं गृम्णाना गृहीतुकामा वयमित्यर्थः ।
कीदृशा दिवः पृष्ठमुकृतस्य लोके सम्यगनुष्ठितस्य कर्मणः फलभूते तृतीये
पृथिवीमारभ्य गणनायां त्रिमेख्यापूरकअधिरोचते अधिकत्वेन दीप्यमानः ॥
॥ अथ तृतीयः ॥ ॥ आवाचो मध्यमरुचुरण्युरथमग्निः सत्पतिश्च
कितानः । पृष्ठे पृथिव्या निहितो द्वाविशुतदधस्यदंकृणुतां येपृ-
तन्यव इति ।

अयमग्निर्वीर्यमध्यमरुचुः स्तोत्ररूपाया वाचः पतिपात्रमर्थमा-
रूढस्तोत्रगतसर्वगुणयुक्त इत्यर्थः । कीदृशोऽग्निः भुङ्ग्युर्जगद्धरण-
शीलः । सत्पालकः । चैकितानोऽभिज्ञानवान् । स च पृथिव्याः पृष्ठभूमे
रूपरि विहितः । स्थापितो द्वाविशुतव । अतिशयेन शोते ये तु शत्रवः
पृतन्यवो अस्माभिः सह कलहं कर्तुमिच्छन्ति तानधस्यदं कृणुतामस्माकं
पादयोरधस्तादवस्थितान् कुरुताम् ॥

अथ चतुर्थः ॥ ॥ अयमग्निर्वीर्यमोवयोधाः सहस्रिणो
द्यौतनामप्रयच्छन् । विश्राजमानः शरीरस्य मध्यउपप्रयाहि
दिव्यानि धामेति ।

अयमग्निः द्यौततां अस्मिन्कर्मणि प्रकाशतां कीदृशः वीर्यवान् अ-
तिशयेन शूरः वयोधाः वयम आयुषः स्थापयिता सहस्रियद्रष्टुकामहस्तेण
संमितः अपयुच्छन् । अस्मिन् कर्मणि प्रमादरहितः । सर्पशरीरस्य जलस्य मध्ये

विभ्राजमानः पूर्ववत् । वैकृतादिरूपेण विशेषः । प्रकाशमानः । हे अग्ने
एवंभूतस्त्वं दिव्यानि धामस्थानानि उपप्रयाहि प्राप्नुहि ॥

अथ पञ्चमः ॥ ॥ सम्प्रच्यवध्वमुपसम्प्रयाताग्ने १
यथो देवमानान्कृणुध्वम् । पुनः कृण्वानापितरायु-
वानान्वातापंसो त्वधि तनुमेतमिति ।

हेअग्नेत्वं सम्प्रच्यवध्वं स्वकीयात्स्थानात्सम्प्रच्यवध्वंमम्यङ्गुनिर्ग-
च्छ । ततः अस्मदीयदेवयजन मागयोपेत्य सम्प्रयात मम्यङ्गमाप्नुहि ।
ततो देवमानान् । देवलोकप्रप्तित्हेतुन् यथोमार्गान् कृणुध्व कुरु सर्वत्र पूजार्थं
बहुवचनम् । किं कुर्वन् पितामातगौ युवाना युवानौ तरुणौ पुनः भूयो
भूयः कृण्वाना कुर्वन् एवंभूतः सोऽग्निः यजनत्वानिमित्तभूते सति एतं तुं
यज्ञप्रवाहं अन्नातांसात् । अनुक्रमेण तनोतु सम्पादयतु ॥ ॥

अथ षष्ठः ॥ ॥ उदयुध्यस्वाग्ने प्रति जागृहि त्वमिष्टापूर्मे १
समृजेथापयञ्च । अस्मिन्सधस्थे अद्युत्तरस्मिन्विश्वेदेवा
यजमानश्च सीदतेति ।

हे अग्ने त्वं उदबुध्यस्व अस्माद्विषये सावधानो भव । एनं
यजमानं प्रतिजागृहि । प्रतिदिनं जागरूकं सावधानं कुरु । अप च त्वञ्च ।
मिलित्वा इष्टापूर्ते श्रौतस्मार्त्ते कर्मणी समृजेथां सम्पादयतम् । किञ्च
विश्वेदेवा यजमानश्च सर्वे गृयं सधस्थे महस्थितियोग्येऽस्मिन्कर्मणि सीदत
उत्तरस्मिलोके अधिकत्वेन सीदताम् ॥

अथ सप्तमी ॥ येन वहसि सहस्रं येनाग्ने सर्ववेदसम् । २
तेन संयज्ञलो नय स्वर्देवेषु गन्तव्यइति ।

हे अग्ने येन व्यापारेण सहस्रं वहमि सहस्रदक्षिणकं यज्ञं
सर्वलोकं देवेषु देवान् प्रतिगन्तवे गन्तुं नय प्रापय ॥

॥ अथाष्टमः ॥ ॥ अयं तयोर्निर्ऋत्स्वियो यतोजातोऽभरो- १
यथाः । तं जानन्नग्नआरोहाथानो वर्धया रयिमिति ।

अयं मन्त्रो तृतीयाध्यायस्य षष्ठेऽनुवाके व्याख्यातः ॥ ॥ इति षोडशे-
ऽध्याये षष्ठोऽनुवाकः ॥

षष्ठेऽनुवाक गार्हपत्येष्टकोपधानमन्त्राउक्ताः ॥ ॥ अथ सप्तमे पुनराह-
वनीयस्य पञ्चमचितिशेषभूतेष्टकोपधानमन्त्रा उच्यन्ते ॥ ॥ कात्यायनः ॥
ऋग्वये तपश्च तपस्यश्चेतीति द्विऋग्वयेष्टके उपदध्यादितिशेषः ।

पाठस्तु ॥ तपश्च तपस्यश्च शैशिराऽऋतृऽअग्नेरन्तः श्ले-
षापि । कल्पेता व्यावापृथिवीकल्पं तापाय औषधयः कल्प-
न्तामग्नयः पृथङ्ममज्यैष्टयायसन्नताः । ये अग्नयः समनसो-
न्तरा व्यावापृथिवी इमे । शैशिरा ऋतूअधिकल्पमाना इन्द्र-
मिव देवा अभिसंविशन्तु तथा देवतयाङ्गिरस्वद्भुवे सी-
दतमिति ॥

व्याख्यातः ममानार्थः ॥ ॥ कात्यायनः ॥ ॥ विश्वज्योतिषं परमे-
ष्ठीत्वेति ।

पाठस्तु ॥ परमेष्ठीत्वासादयतु दिवस्पृष्टे ज्योतिष्मतीम् ।
विश्वस्मै प्राणायानाय व्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छा सूर्य-
स्तेधिपतिस्तगादेवतायां गिरस्व ध्रुवासीदेति ।

अयमपि व्याख्यातः ॥ ॥ कात्यायनः ॥ ॥ लोकं पृणाः पूर्ववदिति ।

पाठस्तु ॥ लोकं पृणायोसीदध्रुवात्वम् । इन्द्राग्नी-
त्वा वृहस्पतिरस्मिन्योना असीषन् । ताऽअस्यमूददोहसः सो-
मश्च्रीणन्ति पृथ्णयः । तन्वन्देवानां विशस्त्रिष्वारोचनोदिवः ।
इन्द्रविश्वाऽअवीष्टधन्समुद्रव्यचसङ्गिरः । रथा तमश्च रथीनां-
वाजानां सत्यतिं पतिमिति ।

त्रयो लोकं पृणेष्टकोपधानमन्त्रा व्याख्याताः ॥ ॥ कात्यायनः ॥
प्रोथदश्वइत्युतरां विकणीमिति । उपदध्यादितिशेषः ।

पाठस्तु ॥ प्रोथदश्वानयवसेविष्यन्पदामहः संवरणा- १
द्यस्थान् । आदस्यवातोऽनुवातिशोचिरधस्मतेवृजनंकृष्णम-
स्तीति ।

अयमग्निरश्नोऽनश्च इव प्रोथन् । प्रोथदश्वः । आ-
ग्नेयी विष्टुप् । मध्यमानोऽग्निच्यते । प्रोथति शब्दार्थः शब्दा-
यतेऽग्निः अश्नोऽनयवसेविष्यन् । अश्च इव यवसे घासे विषयभूते अ-
विष्यन् ग्रसिष्यन् । यदा यस्मिन्काले महतः संवरणात् । संव्रियते अस्मि-
न्नाग्निरिति संवरणमरणिकाष्टमुच्यते । अरणिकाष्टात् व्यस्थात् व्युत्तिष्ठते
प्रकाशीभवति । आत् अथान्तरमेव अस्याग्नेः वातः अनुवाति । शोचिः
संदीपनः । अथ समानार्थो छन्दमि । स्मन्निपातोऽनर्थकः तथैतस्येत्यर्थः ।
नह्यत्र युष्मदः प्रयोगः । परोक्षकृतत्वान्मन्त्रस्य । श्रुतिरप्यमुपर्थं दर्शयति ।
अथैतस्य व्रजनं कृष्णं भवतीति । व्रजति गच्छत्यनेनेति व्रजनं कृष्णं भवति ।
कात्यायनः । आयोष्ट्वेति स्वयमात् ।

पाठस्तु॥आयोष्ट्वासदने सादयास्यवतश्छामाया^{१०} समुद्रस्य १।
हृदये । रश्मीवतीं भास्वतीं मायामास्यापृथिवीं मोऽवन्तरिक्षम् ॥
परमेष्ठी त्वासादयतु दिवस्पृष्टे व्यचस्वतीम् । दिवं मच्छदिवं २।
याहि^{१०}सीः । विश्वस्मै प्राणायोपानाय व्यानायोदानाय प्रति-
ष्टायै चरित्राय । सूर्यस्त्वाभिषातुमह्यास्वस्त्याछर्दिषा शन्त-
मेनतया देवतयां गिरस्वध्रुवे सीदतमिति ।

राति निरन्तरं गच्छतीत्यायुरादित्यः मन्त्र मन्त्रजगद्वति तस्या-
वतः समुद्रस्य समुद्रममानस्यादित्यस्य हृदये प्रधानभूते छायायां
आश्रयभूते सदनेस्मिन् स्थाने सादयामि । कीदृशी त्वा रश्मी-
वतीराशिपसंयुक्तां भास्यतीदीप्तिमती हिइष्टके या त्वं यां तुलो-

*अस्यैकमन्त्रस्य भाष्यं आदर्श हस्तलिखित पुस्तके अनुपलब्ध-
त्वात् उच्यते भाष्याद्गृहीतम् ।

कं आभासयामि प्रकाशयामि । तथा उर्वी भूलोकं उरुविस्तीर्णमतस्त्रिं
 चाभासि । तादृशी त्वां मादयामीतिसम्बन्धः । शिष्टं व्याख्यातं ॥ ॥ का-
 त्यायनः अग्निं प्रोक्षति हिरण्यशकलसहस्रेण शतेद्रे प्रकिरति सहस्रस्येति
 प्रतिमंत्रमिति । हिरण्यसम्बन्धीनां शकलानां सहस्रेणाग्नेः प्रोक्षणं कु-
 र्यात् । तत्र शकलसहस्रमध्ये द्वेद्रे शते सहस्रस्येत्येकैकेन मन्त्रेण प्रकिरेत् ॥ ॥
 तेषांपाठः ॥ ॥ सहस्रस्य प्रमामि सहस्रस्य प्रतिमामि सहस्रस्योन्मामि ।
 साहस्रोमि सहस्रायत्वेति । हेचिते इष्टकानां सहस्रस्य पूर्वभागावस्थितस्य
 प्रमातुल्यामि । तथा दक्षिणवस्थितस्येष्टकामहस्रस्य प्रतिमा तुल्या । एवं
 पश्चिमदिग्भागावस्थितस्येष्टकामहस्रस्य उन्मा तुल्यामि हेचित्यग्रे चतुत्तरस्यां
 दिशि साहस्रः सहस्रमम्बन्ध्यमि । तथा ऊर्ध्वादि दिशि सहस्रमंख्याकफ-
 लसन्ध्यर्थं प्रोक्षामि ॥ ॥ इतिषोडशेऽध्याये सप्तमोऽनुवाकः ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो दद्याद्विद्यार्थमहेऽवरः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरर्षादिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीरबु-
 क्कभूपालसाम्राज्यधुरंधरेण सायणविरचितं माधवार्थवेदार्थप्रका-
 शं काण्वसंहिताभाष्ये षोडशोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ शुक्लयजुर्वेदकाण्वमन्त्रभाष्ये सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

यस्य निःश्वसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

षोडशोऽध्याये चयनमन्त्रान् समाप्य सप्तदशोऽध्याये शतहृदि-
यारूपाहोममन्त्रा उच्यन्ते ॥ ॥ तत्र कात्यायनः ॥ ॥ शतहृद्विग्रहोमउत्तर-
पक्षस्यापरस्यां स्रक्ताम्परिश्रित्स्वर्कपर्णेवार्ककाष्ठेन शानर्थं सन्ततं जतिलं
मिश्रानवेधुकासक्तनजाक्षीरमेके निष्ठस्तुदङ्गमस्त इत्यध्यायेन अनु-
वाकान्ते स्वाहाकारो जानुमात्रे पश्चान्ते च नाभिमात्रे । प्राक्-
प्रत्यवरोहेभ्यो मुखमात्रे । प्रतिलोमं प्रत्यवरोहं जुहोति प्रमाणेषु नमोस्त्विति
प्रतिमन्त्रं । अस्यार्थः ॥ हिरण्यशकलैरश्रिमोक्षणानन्तरं शतहृदि-
यमङ्गो होमः । तस्य हवनीये प्राप्तवपवादमाह । उत्तरपक्षपश्चिमको-
णेयाः परिश्रितो जङ्घामाग्रादयः पूर्वं निखातास्तासु होमः । तत्र विधिः ज-
तिलैरारण्यतिलैर्मिश्रानवेधुकासक्तनृन्कशूकमक्तनृन्कपत्रेण जुहोति । किङ्कु-
र्वन् । अर्ककाष्ठेन सन्ततं क्षारयन् परिश्रितसुपातयन् । अर्कपत्रं दक्षकरे-
णादायार्ककाष्ठं वामेनादाय तेन पीतनीयम् । सक्तुस्थानेऽजादुग्धमतिकेचित् ।
उदङ्मुखो नमस्त इत्यध्यायेन । तत्रानुवाकत्रयान्तेऽर्धकेभ्यश्च नम इत्यत्र
जानुमात्रपरिश्रितस्वाहाकारो विधेयः । पश्चानुवाकान्ते सुधन्वने चेसत्र
वाभिमात्रे परिश्रितस्वाहाकारः । नमोस्तु रुद्रेभ्य इतिप्रत्यवरोहमन्त्राः तेभ्यः
प्राङ्मुखमात्रपरिश्रिते स्वाहाकारः । नमोस्त्विति त्रिकृग्भिः प्रतिलोमं होमः ।
ये दिव्यीति मुखमात्रे । येऽनरिक्ष इति नाभिमात्रे । ये पृथिव्यामितिजानु-
मात्र इतिमूर्त्रार्थः ॥ ॥ पाठस्तु ।

ॐ नमस्ते रुद्रमन्यवऽउतोतऽहृषवे नमः । बाह्वभ्या-
मुतते नम इति । रुद्रं दुःखं द्रावयति इति रुद्रः । यद्रा । रुगतौ
गत्यर्थास्ते ज्ञानार्थाः । रवणं रुद्रं ज्ञानम् । भावे क्तिप् । तुगागमः ।
रुद्रं ज्ञानं राति ददाति रुद्रः । ज्ञानप्रदः । यद्रा पापिनो नरान् दुःखभोगे-
न रोदयतीति रुद्र । हेरुद्र । ते तव मन्यवे क्रोधाय नमो नमस्कारोऽस्तु ।

उतोऽपि च ते तवेषवे बाणाय नमः । उतापि च ते तव बाहुभ्यां नमः । तव क्रोधबाणहस्ता अस्मदरिष्वेव प्रसरन्तु नास्मास्वित्यर्थः ॥ १ ॥

या ते रुद्र शिवातनूरघोरा पापकाशिनी । तथानस्तन्वा शं-
तमयागिरिशन्ताभिचाकशीर्हीति । हेरुद्र ! याते तवेदशी तनूः शरीरं हे
गिरिशंत । तथा तन्वा नोऽस्मानभिचाकशीर्हि । अभिपश्य । चाकशीर्हि पश्यति
कर्म कीदृशी तनूः । शिवा शान्ता मङ्गलरूपा । यतोऽघोरा । अविषमा सौम्या ।
अतएवापापकाशिनी । पापममुखं काशयति प्रकाशयति पापकाशिनी न
पापकाशिनी अपापकाशिनी । या पुण्यफलमेव ददानि न पापफलमित्यर्थः ।
गिरौ कैलामे स्थितः शं मुखं प्राणिनां तनोति विस्तारयति गिरिशन्तः ।
गिरीव विस्थितः शं तनोतीति वा । गिरौ मेघे स्थितो वृष्टिद्वारेण शं तनो-
तीति वा । गिरौ शेते गिरिशः । अमति गच्छति जानातीत्यन्तः सर्वज्ञः
अमृतौ भजने शब्दे । कर्त्तरि क्तः । गिरिशश्चाहमन्तश्च गिरिशन्तः तन्म-
म्बुद्धिः । शकंवादित्वात् पररूपम् । कीदृश्या तन्वा । शन्तमया सुखतम-
या सुखयितृतमया ॥ २ ॥

यामिषुं गिरिशन्तहस्ते विभर्ष्यस्तवे । शिवां गि-
रित्रतां कुरु मा हि ऽस्मीः पुरुषं जगदिनि । हेगिरिशंत
त्वं यामिषुं बाणम् । हस्ते विभर्षि । धारयसि । किं कर्तुम् । अस्तवे ।
अमु क्षेपणे । तुमर्थे तवे प्रत्ययः । अमितुम् । शत्रुन् क्षेप्तुमित्यर्थः । हेगि-
रित्र गिरौ कैलामे स्थितो भूतानि त्रायत इति गिरिशत्रः । तां इषुं शिवां
कल्याणकारिणीं कुरु । किञ्च । पुरुषं पुत्रपौत्रादिकं जगत् जंगममन्यद्रापि
गवाश्वादिकं मा हिंसीः मा वधीः ॥ ३ ॥

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छावदामसि । यथा-
नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना अस्मदिति । गिरौ कैलामे
शेते गिरिशः । हेगिरिश शिवेन वचसा मङ्गलेन स्तुतिरूपेण वच-
नेन त्वा अच्छ । त्वा । प्राप्तुं वयं वदामसि । वदामः प्रार्थयामहे ।
अच्छाभेराप्नुमिति शाकपूर्णरिति यास्कोक्तः । संहितायां निपातस्य चेति
दीर्घः । इदं तोमसि । किं वदाम इत्यत आह । नोऽस्माकं सर्वमिव ।
सर्वमेव जगत् जङ्गमं नरपश्यादि यथा येन प्रकारेण अयक्ष्मं निरोगं सुमनः
शोभनमनस्कं अमत् । भवति तथा कुर्विति शेषः । सुमनः शब्दे पुंस्त्वमार्थे

जगद्विशेषत्वात् । अमदिसत्र लेटो डाद् विसद् । इलोपः ॥ ४ ॥

अध्यवोचदधिवक्ताः प्रथमो दैव्यो भिषक् अही ँश्च १६
सर्वा जम्भयत् सर्वाश्च यातुधान्यो धराचीः परासुवेति । रुद्रो मां
अध्यवोचत् । अधिवक्तुम् । मां सर्वाधिकं वदतु तेनोक्ते मम सर्वाधिक्यं
भवत्येवेत्यर्थः । कीदृशः अधिवक्ता । अधिकवदनशीलः । प्रथमः सर्वेषां मुख्यः
पूज्यत्वात् । दैवेभ्यो हित । भिषक् । रोगनाशकः । स्मरणेनैव रोगनाशाद्विष-
क्त्वम् । एवं परोक्षमुक्त्वा प्रत्यक्षमाह । हेरुद्र सर्वा यातुधान्यो यातुधानी
राक्षसीः । त्वं परासुव पराक्षिप । अस्मतो दूरीकुरु । किं कुर्वन् । सर्वान-
हीन् सर्वव्याघ्रादीन् जम्भयन् विनाशयन् । कीदृशीयातुधानीः । अध-
राचीः अवरे अवोदेशेऽचन्ति ताः अधराच्यः । ताः । अधोऽधो गमनशीलाः
चौ समुच्चये । सर्पनाशराक्षसीक्षेपौ सहैव कुर्वीत्यर्थः ॥ ५ ॥

असौ यस्ताम्रो अरुण उत वभुः सुमङ्गलः । ये चैनं १७
रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशो चैवा ँहेल ईमह इति ।
आदित्यरूपेणात्र रुद्रः स्तूयते । योऽसौ प्रत्यक्षो रुद्रो रविरूपः । च पुनर्ये रुद्रा
एनमभितो दिक्षु प्राच्यादिषु श्रिताः किरणरूपेण सहस्रशोऽसंख्याः । एषांहेलः
क्रोधमस्मदपराधजं वयं अवईमहे । निवारयामः । भक्त्यं निराकुर्मः हेल इति
क्रोधनाम । अभि सर्वतसोरिति द्वितीया । कीदृशोमौ । ताम्रः । उदये-
ऽन्यन्तं रक्तः । अरुणो रक्तोऽस्तकाले । उतापि च वभुः पिंगलवर्णोन्यदा ।
सुमंगलः । शोभनानि मंगलानि यस्य मंगलरूपः । रव्युदये सर्वमंगल-
प्रवर्तनात् ॥ ६ ॥

अस्यै योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः । उतैनं गोपा १८
अदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्यः स दृष्टो मूलयातिन इति । योसावादित्य-
रूपोऽवसर्पति । उदयास्तमयौ कुर्वन्निरंतरं गच्छति । गोपाउत गोपाला अपि
वेदोक्तमस्कारहीनाः अदृश्रत् । पश्यन्ति । उदहार्यः । उदक्तं हरति ताउद-
हार्यः । मथौदनमक्तुर्विदुवज्जहारभाखीवधगाहेप्विस्त्युदकस्योदादेशः । ज-
लहारिण्यो योषितोप्येनमदृश्रन् । पश्यति । आगोपालांगनादिप्रोमिद्व इत्य-
र्थः । दृशेरुल्लिङ्गि इरितो वेति चलेरम् । रूगागमच्छांदसः । कीदृशः । नीलग्री-
वः । विषधारणेन नीला ग्रीवा कंठो यस्य । अस्तमये । नीलकंठ इव ल-
क्ष्यः । विलोहितः । विशेषेण रक्तः । स रुद्रो दृष्टः सत् । नाऽस्मान्मृष्ट-

यति । सुखयतु । असौ मंडूकवतीरुद्र एव तपतीति ज्ञातः । सुखं करो
त्वित्यर्थः ॥ ७ ॥

नमोस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे । अथो ये
अस्य सत्त्वानो हंतेभ्यो करं नम इति ।

नीलग्रीवाय नीलकंठाय नमोस्तु । नमस्कारो भवतु । कीदृशाय ।
सहस्राक्षाय । सहस्रगक्षीणि यस्य । इंद्रस्वरूपेण । मीढुषे । मिमेहेति
मीढवान् तस्मै । मिह सेचने । दाश्वान्माद्रान्मीढवाश्चेति कर्मतो निपातः । सेक्रे
वृष्टिकर्त्रे पर्जन्यरूपायेत्यर्थः । तरुणाय वा । अथो अपि वास्य रुद्रस्य ये
सत्त्वानः प्राणिना भृत्योस्तेभ्योऽहं नमो नमस्कारं करोमि । कृन्तु कृतौ श-
प् । लङिउत्तमैकवचनम् ॥ ८ ॥

प्रमुंच धन्वन्तस्त्वमुभयोराल्योर्ज्या । याश्च ते हस्ते इषवः
पराता भगवो वपेति ।

हेभगवः भगं पट्टिधमेऽव्ययमस्यास्ति भगवान् । मतुवमोहः संवु-
द्धौ छंदमीतिरुत्वं । ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्य-
योश्चैव पण्णां भगवतीरण्युक्तेः । हेभगवन्तु रुद्र तव धन्वनो धनुषः उभ-
योराल्योर्द्वयोः कोट्योः स्त्रिणां ज्यां मौर्वी त्वं प्रमुंच दूरीकुरु । यश्च ते
तव हस्ते इषवो बाणास्ताइपृः पशवप ॥ पराक्षिप ॥ ९ ॥

विज्यं धनुः कपर्दिना विशल्यो बाणवाऽनुत । अनेश-
न्नस्य या इषव आभुरस्य निषंगधिरिति । कपर्दी जटाजूटोऽस्या-
स्तीति कपर्दी रुद्रस्तस्य धनुर्विज्यं मौर्विरहितमस्तु । विगता ज्या यस्य
तव । उतापिबाणवान् । बाणा अस्मिन् मेतीति बाणवान् विशल्यो विफलो-
स्तु । बाणाग्रतो लोहभागः शल्यं । इषुभिर्निर्गन्धबाणोस्तु । अस्य रुद्रस्य या
इषवस्ता अनेशान् । तश्यंतु । नेशरत्तमङ्गिभ्येत्येत्वं । पुषादिस्त्वाव च्लेङ् ।
अस्य रुद्रस्य निषंगधिरिषज्यत इति निषंगधिः खड्गः स धीयतेऽस्मिन्निति
निषंगधिः । कोशः । स आभुः रिक्तः खड्गरहितोस्तु । रुद्रोऽस्मान्प्रति न्य-
स्तमर्वशस्त्रोस्त्वित्यर्थः ॥ १० ॥

परिते धन्वनो हेतिरस्मान्पृणक्तु विश्वत । अथोयऽइषु-
धिस्तवारे अस्मन् निधेहितमिति ।

हेरुद्र ते तव धन्वनो हेतिर्धनुं सम्बन्धि आयुधं विश्वतः सर्वतो-

स्मान्परिवृणक्तु त्यजतु । माहंतित्यर्थः । वृजीवर्जने । रूधादित्वात् श्रम् ।
अथो अपि च यस्तव इषुधित्तं अस्मत्सकाशाद्दूरे निषेहि । अस्मतो दूरे
स्थापय ॥ ११ ॥

याते हेतिर्मीदुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः तथास्मान्विश्व- १
तस्त्वमयक्षमया परिभुजेति ।

अतिशयेन मीद्वान्मीदुष्टमः । तसौ मत्वर्थे इतिभसंज्ञायां वसोः सं-
प्रसारणम् । पन्व ण्वत्वे । हेमीदुष्टमसेक् तृम कामयवर्तक ते तव हस्ते या
धनुर्हेतिर्धनुरूपमायुधं बभूव अस्ति एकं ते पदं पादपूरणाय । तथा धनुरूप-
मया हेत्या विश्वतः सर्वतो नोऽस्मान् त्वं परिभुज । परिपालय । भुजे विक-
रणव्यत्यये शप् प्रत्ययः । कीदृश्या तथा अयक्षमया नास्ति यक्ष्मा रोगो
यस्या स्तया निरूपद्रवया दृढया । अनुपद्रवकारिण्या वा ॥ १२ ॥

अवतस्य धनुद्व-सदस्त्राक्ष शतेषुधे । निशीर्य शल्यानां १
मुखा शिवो नः सुमनाः भवेति ।

सहस्रपक्षीणि यस्य । शतं इषुधयो यस्य । हे महस्त्राक्ष हे शतेषु-
धे त्वं नोऽस्मान्प्रतिशिवः शान्तः सुमनाः शोभनचित्तश्च भव । अनुष्टुप्प्रत्य-
त्यर्थः । किं कृत्वा । धनुस्वतस्य । अपउयाकं कृत्वा । शल्यानां मुखा । मु-
खानि बाणफलाग्राणि निशीर्य शीर्णानि कृत्वा । श्रुङ्गिंसायां । समासेऽन-
ञ्पूर्वत्कोल्यप् । ऋत इद्धातोः ॥ १३ ॥

नमस्त आयुधायानातताय धृष्णवे । उभाभ्यामुतते नमो
बाहुभ्यां तव धन्वन इति । हेरुद्र ते तवायुधाय नमोस्तु बाणाय
नतिरस्तु कीदृशाय । अनातताय । धनुष्यमारोपिताय । धृष्णवे । धर्षण-
णशीला धृषेः कुप्रत्ययः रिपून् हन्तुं प्रगल्भाय । उतापि च ते तत्रोभाभ्यां
नमः । तव धन्वने धनुषेऽपि नमोस्तु । तस्यापि विशेषणम् । अनातताय
अवतारितमौर्वीकाय ॥ १४ ॥

मानो महान्तमुतमानो अर्भकं मानुनुक्षंत मुतमान उ-
क्षितं । मानोवर्धीः पितरं मोत मातरं मातः प्रियास्तन्वो रुद्र-
रीरिष इति ।

हेरुद्र नोऽस्माकं महान्तं वृद्धं गुरुपितृव्यादिकम् । मावधीः मा
हिंसीः उतापि नोऽस्माकमर्भकं बालं मा वधीः । नोऽस्माकमुक्षन्तं सिञ्चन्तं

तरुणं मावधीः । उतापि नोऽस्माकमुक्षितं सिष्कङ्गर्भस्थं च मावधीः । नः पितरं जनकं मा वधीः । उतापि नोमातरं जननीं च मावधीः । महान्तमित्तनेन सिद्धयो मा तापित्रोः पुनरादानमादरार्थं नोऽस्माकं प्रियावल्लभास्तन्वस्तनुः शरीराणि पुत्रपौत्ररूपाणि त्वं मारीरिषः । माहिंसीः रिषति हिंसाकर्म ॥ १५ ॥

मानस्तोके तनये मान आयुषि मानो गोषु मानोऽश्वेषु मारीरिषः । मानोवीरान् रुद्रभामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित्वाबामहइति । हेरुद्र नोऽस्माकं तोके पुत्रे तनये पौत्रै मारीरिषः । माहिंसीः । नः आयुषि जीवने माहिंसीः । नो गोषु धेनुषु मारीरिषः । नोऽश्वेषु तुरगेषु मारीरिषः त्रिभक्तिव्यत्ययो वा । तोकं तनयं आयुर्माअवामाहिंसीः । भामक्रोधेभाभिनः क्रोधयुतात् । अपि नोऽस्माकं वीरान् भृत्यान्मावधीः । कउपकारइतिचेत् । हविष्मन्तोहविर्युक्ता सदैव इत् । सदैवन्वात्वा वयं हवामहे । यागाय । हवामः । तदेकशरणावयमिति भावः ॥ १६ ॥

॥ इतिसप्तदशेऽध्याये प्रथमोऽनुवाकः ॥

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्येदिशांचपतये नमोनमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमः । नमः शष्पिजराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नम इति । हिरण्यमाभरणरूपं बाह्वोर्यस्य स हिरण्यबाहुः स च सेनां नयतीति सेनानीस्तस्मै रुद्राय नमः । दिशां पतये पालकाय रुद्राय नमः । हरयो हरितवर्णाः । केशाः पर्णरूपा येषां ते हरिकेशास्तेभ्यो वृक्षेभ्यो वृक्षरूपरुद्रेभ्यो नमः । पशूनां जीवानां पतये पालकाय रुद्राय नमः । शष्पं बालवृणं तद्वत् पिञ्जराय पीतरक्तवर्णाय । टिलोपश्छांदसः । त्विषि दीप्तिरस्यास्तीति त्विषिमानं संहितायां त्विषिशब्दयदीर्घः इहशायरुद्राय नमः पथिनां मार्गाणां पालकाय नमः पथि शब्दो मार्गवाचि । उत्तर दक्षिण तृतीया मार्गाः श्रुतावुक्ताः हरिकेशाय नीलवर्णकेशाय जरारहितायोपवीतिने मङ्गलार्थयज्ञोपवीतधारिणे रुद्राय ते नमः । पुष्टानां गुणपूर्णानां नराणां पतये स्वामिने नमः ॥ ८ ॥ १ ॥

नमो बभ्रुशायान्व्याधिनेऽन्नानां पतये नमो नमो भवस्य हेत्यै जगतां पतये नमः । नमो रुद्रायाततायिने क्षेत्राणां पतये

नमो नमः सूताया हन्त्यै वनानां पतये नम इति । बभ्रुशः कपि-
लवर्णः । यद्वा विभर्त्ति रूद्रमिति वमुवर्षभ स्तस्मिन् शेते स बभ्रुशः ।
विध्याति शत्रून्तित्व्याधी तस्मै रूद्राय नमः । अन्नानां पालकाय नमः । भव-
स्य संसारस्य हेत्यै आयुधाय संसारनिवर्तकाय रूद्राय नमः । जगतां पाल-
काय रूद्राय नमः । आततेन विस्तृतेन धनुषा सह एति गच्छति आतातायी
उद्यतायुधस्तस्मै रूद्राय नमः । क्षेत्राणां देहानां पालकाय नमः । न हन्ती-
त्यहन्तिस्तस्मै अहन्त्रे सूताय सारथये तद्रूपाय रूद्राय नमः । सारथिर्न हन्ति ।
वनानां पालकाय नमः ॥ ८ ॥ २ ॥

नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये नमो नमो भुवन्तये ।
वारिवस्कृतायौषधीनां पतये नमः । नमो मन्त्रिणे वाणिजाय
कक्षाणां पतये नमो नम उच्चैर्घोषायाकन्दयते पत्तीनां पतये नम
इति । रोहितो लोहितवर्णः । स्थपतिर्गृहादिकर्ता विश्वकर्मारूपेण । तस्मै
नमः । वृक्षाणां पालकाय नमः । भुवं तनोतीति भुवन्तिर्भूमण्डलविस्तारकः ।
वारिवोधनं करोतीति वारिवस्कृतः । मण्व वारिवस्कृतः । स्वार्थेऽण्स्थानभो-
ग्यकाराय नमः । औषधीनां ग्राम्यारण्यानां पालकाय नमः । अलोचनकु-
शलो मन्त्री । वाणिगेववाणिजः व्यापारकर्ता । तद्रूपाय नमः । वनगता गुल्म-
वीरुधादयः कक्षास्तेषां पालकाय नमः । उच्चैर्घोषां ध्वनिर्धस्य स उच्चैर्घोषः ।
आक्रन्दयति रोदयतीत्याक्रन्दयन् । युद्धे महाशब्दाय रिपुरोदकाय नमः ।
पत्तीनां सेनाविशेषाणां पदातीनां वा पालकाय नमः । एको रथो गजेश्चाश्वा-
स्त्रयः पञ्चपदातयः । एष सेनाविशेषोऽयं पत्तिरित्यभिधीयत इतिव्या-
सोक्तेः ॥ ८ ॥ ३ ॥

नमः कृत्स्नाय तस्यधावते सत्वानां पतये नमो नमः सह-
मानाय निव्याधिनआव्याधिनीनां पतये नमः । नमः ककुभाय
निषङ्गिणे स्तेनानां पतये नमो नमो निचरवे परिचराधारण्या-
नां पतये नम इति । कृत्स्नं समग्रमायतं विस्तृतमर्थाद्धनुर्यस्य स कृ-
त्स्नायतः आकर्णपूर्णधनुष्टेन धावते । युद्धे शीघ्रं गच्छते । रूद्राय नमः ।
शीघ्रगतौ सरते धीवादेशः तलोपस्छान्दसः । यद्वा कृत्स्नः सर्व आपो
लाभो यस्य स कृत्स्नायतः धावते सर्वलोभपापकत्वेन धावते यत्र गच्छति
तत्र सर्वेष्टलाभं प्राप्नोतीत्यर्थः । सत्वन शब्दः प्राणिवाची । सत्वनः सा-

त्विकाः शरणागताः प्राणिनस्तेषां पालकाय नमः । सहतेरीनभिभवतीति
सहमानः । नितरां विध्यति हन्ति शत्रूनि नित्यधी । तस्मै नमः । आस-
मन्ताद्विध्यन्तीत्याव्याधिन्यः शूरसेनास्तासां पालकाय नमः । ककुभो महान्
तस्मै रुद्राय नमः । ककुभ इति महन्नाममुपठितम् । निषङ्गः खड्गः सो-
ऽस्यास्तीति निषङ्गी । स्तेना गुप्तचौरास्तेषां पालकाय नमः । अपहारबुध्या
निरन्तरं चरतीति निचेरुः । परित आपणवाटिकादौ हरणेच्छया चरतीति
परिचरः । तस्मै नमः । अरण्यानां वनानां पतये नमः रुद्रो लीलया चो-
रादिरूपं पतेः । यद्वा रुद्रस्य जगदात्मकत्वाच्चोरादयो रुद्रैव ध्येयः । यद्वा
स्तेनादिशरीरे जीवेश्वररूपेण रुद्रो द्विधा तिष्ठति । तत्र जीवरूपं स्तेनादि-
शब्दवाच्यं तदीश्वररुद्ररूपं लक्षयति । यथा शाखाग्रं चन्द्रस्य लक्षकम् ।
किम्वहना लक्ष्यार्थविवक्षया मन्त्रेषु लौकिकाः । शब्दाः प्रयुक्ताः ॥८॥४॥

नमो वञ्चने परिवञ्चने स्तायूनां पतये नमो निषङ्गिण इषु-
धिमने तस्कराणां पतये नमः । नमः मृकापिभ्यो जिघांसदु-
भ्यो मुष्णतां पतये नमो नमो मिमदुभ्यो नक्तं चरदुभ्यो वि-
कृन्तानां पतये नम इति । वञ्चति प्रतारयति वञ्चन । परिमर्वतो
वञ्चति परिवञ्चन । तस्मै नमः । स्वामिनः आप्नो भुत्वा व्यवहारे कुत्रचि-
त्तदीयं धनमपहनुते तद्वञ्चनम् । सर्वव्यवहारे धनापह्नः परिवञ्चनम् । गु-
प्तचौरा द्विविधाः । रात्रौ गृहे स्वात्मादिना द्रव्यहर्तारः । स्वीयात्रएवहेनिश-
मज्ञाताहर्तारश्च पूर्वस्तेनाः । उत्तरेस्तायवः । तेषां पतये नमः । निषङ्गः
खड्गो बाणो वा । सोऽस्यास्तीति निषङ्गी । इषुभिर्वाणाधारोऽस्यास्तीतीषु-
धिमान् । तदुभयरूपाय नमः । तस्कराः प्रकटचोराः । तेषां पतये नमः ।
मृक इतिवज्रनाम । मृकेण वज्रेण सहयन्ति गच्छन्तीत्येवं शीलाः मृकायिनः ।
अतएव शत्रून् हन्तुं इच्छन्ति जिघांसति जिघांसतीति जिघांसन्तः । हन्तेः
मनन्ताल्लृप्त्ययः । तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः । क्षेत्रादिषु धान्यापहर्तारो मु-
ष्णन्तस्तेषां पालकाय नमः । अमयः खड्गाः सन्ति येषान्तेऽस्मिन्तः ।
नक्तं रात्रौ चरन्ति ते नक्तं चरन्तः । खड्गं धृत्वा रात्रौ वीथीनिर्गतप्राणिघा-
तकास्तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः । विकृन्तान्तिच्छिन्दन्तिनोविकृताः । छित्त्वापहंर-
तस्तेषां पतये नमः ॥ ८ ॥ ५ ॥

इति सप्तदशोऽध्याये द्वितीयोऽनुवाकः ॥

नम उष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चानां पतये नमो नमः
ऽह्णुमद्भ्यो धन्वायिभ्यश्च वो नमः । नमऽआतन्वानेभ्यः प्रतिद-
धानेभ्यश्च वो नमो नमऽआयच्छद्भ्योऽस्यद्भ्यश्च वो नम इति ।
उष्णीषिं शिरोवेष्टनमस्यास्तित्युष्णीषी उष्णीषेण शिरः प्रावृत्य ग्रामेऽपहर्तुं
प्रवृत्तः । गिरौ चरति गिरिचरः । अध्वन्यानां वस्त्राद्यपहर्तुं पर्वता-
दिविषमस्थानचारी । तदुभयरूपाय रुद्राय नमः । कुं भूमिं क्षेत्रगृहा-
दिरूपां लुञ्चन्ति हरन्ति कुलुञ्चाः । कुत्सितं लुञ्चन्ति वा तेषां पाळकाय
नमः । इषवो विद्यन्ते येषान्ते इषुपंतः । जनान् भीषयितुं बाणधारिणस्तेभ्यो-
नमः । धन्वना धनुषा सह यन्ति गच्छन्ति धन्वायिनः । हेरुद्रा धनुर्धा-
रिभ्यो वा युष्मभ्यं नमः । चक्रारो मन्त्रभेदज्ञापनार्थः । एवमग्रेऽपि । आ-
तचन्त्यारोपयन्ति ज्यां धनुषिते आयच्छन्तः । तेभ्यो नमः । अस्म्यन्ति क्षि-
पन्ति बाणानिस्सस्पन्तस्तेभ्यो नमः । अमु क्षेत्रेण दिवादिः ॥ ८ ॥ १ ॥

नमोऽविस्मृज्यो विध्यद्भ्यश्च वो नमो नमः स्वपद्भ्यो जा-
ग्रद्भ्यश्च वो नम नमः । नमः शयानेभ्य आसीनेभ्यश्च वो न-
मो नमस्तिष्ठद्भ्यो धावद्भ्यश्च वो नम इति ।

विस्मृजन्ति मुचान्ति बाणानरिषु इति विस्मृजंतः । तेभ्यो नमः । वि-
ध्यन्ति ताऽयति शत्रूनि विध्यन्ति । तेभ्यो वो नमः । मुक्तस्य बाण-
स्य लक्ष्ये प्रवेशो वेद्यः । स्वपंतिते स्वपंतः । स्वप्नावस्थामनुभवंतस्तेभ्यो
नमः । जाग्रति ते जाग्रतः । जाग्रदवस्थावन्तस्तेभ्यो वो नमः । शे-
स्तेति शयानाः सुषुप्त्यवस्थावन्तस्तेभ्यो नमः । आसते ते आसीना उप-
विशन्तस्तेभ्यश्च वो नमः । तिष्ठन्ति ते तिष्ठन्तो गतितिवृत्तास्तेभ्यो नमः ।
धावन्ति धावन्तः वेगवद्गतयस्तेभ्यो वो नमः ॥ ८ ॥ २ ॥

अथ जातसंज्ञा रुद्रा रुद्रलोके सन्ति ते कथ्यन्ते रुद्रा द्वैतप्रतिपादप-
ना । अथो एवं हैतानिरुद्राणां जातानीति श्रुतेः ।

नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्च वो नमोनमोऽश्विभ्यो-
ऽश्वपतिभ्यश्च वो नमः । नम आवाधाधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्य-
श्च वो नमो नमऽउगणाभ्यस्त० हतीभ्यश्च वो नम इति ॥

सभारूपेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः । सभादिषु रुद्रदृष्टिः कर्त्तव्येति ताव-
र्यः । सभायाः पतिभ्यो वो नमः । अश्वास्तुरगास्तेभ्यो नमः । अश्वा-

नां पतिभ्यो वो नमः । आसमन्ताद्विध्यंतीषां व्याधिभ्यो देव्यः । सेना वा
ताभ्यो नमः । विशेषेण विध्यन्ति विविध्यन्त्यस्ताभ्यो वो नमः ।
उत्कृष्टा गणा भृशममूहायासान्ता उगणाः । उपसर्गात्यलोपः पृषोदरादित्वात् ।
ब्राह्माद्या मातरस्ताभ्यो नमः । तृहन्ति घ्नन्ति तृहस्यः । तृहृ हिंसार्या । हन्तुं
समर्था दुर्गादयस्ताभ्यो नमः ॥ ८ ॥ ३ ॥

गणेभ्यो गणपतिभ्यश्च वो नमो नमो व्रतेभ्यो व्रात-
पतिभ्यश्च वो नमः । नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो-
विरूपेभ्यो विदवरूपेभ्यश्च वो नम इति ॥

देवानुचरा भूतविशेषा गणास्तेभ्यो नमः । गणानां पालका गणपत-
यस्तेभ्यो वो नमः । व्राता नानाजातीयानां सन्धास्तेभ्यो नमः व्रातपालका
व्रतपतयस्तेभ्यो नमः । गृध्यन्ति वाँच्छन्ति गृन्मा विषयलपटाः । गृन्मा-
मेधाविनो वा तेभ्यो नमः । गृन्मपतयस्तत्पालकास्तेभ्यो वो नमः गविकृतं रूपं
येषान्ते विरूपा नम्रमुण्डजटिलादयस्तेभ्यो नमः । विश्वं सर्वं नानाविधं रूपं
येषान्ते विश्वरूपास्तुरङ्गास्तुरङ्गवदनहयग्रीवादयस्तेभ्यो वो नमः ॥ ८ ॥ ४ ॥

नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो नमो रथिभ्यो अरथे-
भ्यश्च वो नमः । नमः क्षतृभ्यः संग्रहीतृभ्यश्च वो नमो नमो
महदृभ्यो अर्भकेभ्यश्च वो नम इति ॥

सेनारूपेभ्यो नमः । सेना नयन्ति सेनान्यः सेनापतयस्तद्रूपेभ्यो
वो नमः । इष्वश्च्छान्दमः । रथाः मन्ति येषां ते रथिनः । तेभ्यो नमः ।
नास्ति रथा येषां अस्थास्तेभ्यो वो नमः । क्षतृभ्यः । क्षि निवासगतपोः ।
तुदादिः । क्षिपन्ति निवमन्ति रथेप्सविति क्षत्तारः । यद्रा । क्षिप प्रेरणे ।
क्षिपन्ति प्रेरयन्ति मारथीनिति क्षत्तारो रथाधिष्ठातारः । नप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षतृ-
होतृपोतृ इत्यौणादिकमूत्रेण तृप्रत्ययान्तो निपातः । तेभ्यो नमः । संगृह्णन्ति
अश्वातिनिति संग्रहीतारः मारथिनः । ण्वुल् तृचाविति तृच् । तेभ्यो नमः य-
हान्तो जातिविद्यादिभिरुत्कृष्टास्तेभ्यो नमः । अर्भकाः प्रमाणादिभिरलया-
स्तेभ्यो नमः ॥ ८ ॥ ५ ॥

इति सप्तदशोऽध्याये तृतीयोऽनुवाकः ॥

नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो नमः कुलालेभ्यः क-
र्मारेभ्यश्च वो नमः । नमो निषादैभ्यः पुंजिष्टेभ्यश्च वो नमो न-

मः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नम इति ।

तक्षाणः शिल्पिजातयस्तेभ्यो नमः । रथं कुर्वतीति रथकाराः सूत्रधारविशेषास्तेभ्यो वो नमः । कुलालाः कुम्भकारास्तेभ्यो नमः । कर्मारा लोहकारास्तेभ्यो वो नमः । निषादा गिरिचरा मांमाशिनो भिल्लास्तेभ्यो नमः । पुञ्जिष्ठाः पक्षिपुञ्जवातकाः । पुलकसादयस्तेभ्यो वो नमः । शुनो नयन्ति ते इवन्धः । श्वकण्ठवद्धरज्जुधारकाः श्वनिनः । नयतो ह्रस्व आर्पः । तेभ्यो नमः । मृगान्कामयते ते मृगयवः । इदंयुरिदं कामयमान इति यास्कोक्तेः । सुप आत्मनः क्यजि निक्वच् । क्यचि चेति प्राप्तस्येत्वस्य पुत्रस्येति निषेधः । मृगयवो लुब्धकास्तेभ्यो वो नमः ॥ ८ ॥ १ ॥

नमः श्वभ्यः श्वपनिभ्यश्च वो नमो नमो भवाय च रुद्राय च । नमः शर्वाय च पशुपतये च नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय चेति ॥

श्वानः कर्कुरास्तद्रूपेभ्यो नमः शुनां पतयः श्वपतयः । श्वपालकास्तेभ्यो वो युष्मभ्यं नमः । श्वपतय किरातवेषस्य रुद्रस्वानुचराः । नम इषुमद्भ्यो धन्वायिभ्य इसारभ्य ये वः शब्दास्ते पृजावाचका न युष्मदादेशाः इत्युभयतो नमस्कारमन्त्राः समाप्ताः । अथ नमस्कारोपक्रमा नाममन्त्रा उच्यन्ते ॥ भवन्त्युत्पद्यन्ते जन्तवोऽस्मादिति भवस्तस्मै नमः । रुतं दुःखं द्रावयति नाशयति रुद्रस्तस्मै नमः । शृणाति दिनोस्त पापमिति शर्वस्तस्मै नमः । पशूनज्ञान्पाति रक्षतीति पशुपतिस्तस्मै नमः । त्रिपक्षणेन नीला नीलवर्णा ग्रीवा कण्ठकदेशो यस्य स नीलग्रीवस्तस्मै नमः । शितिः श्वेतः कण्ठो नीलातिरिक्तभागो यस्य शितिकण्ठस्तस्मै नमः शिती धवलमेचकौ ॥ ८ ॥ २ ॥

नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च । नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च नमो मीढुष्टमायेषुमते चेति ।

कपर्दो । जटाजूटोऽस्यास्तीति कपर्दो तस्मै नमः । पाशुपतादिवेषेण । चकाराः सर्वे समुच्चयार्था ज्ञेयाः व्युप्तामुण्डिताः केशाः यस्य स व्युप्तकेशस्तस्मै नमः । यत्पादिरूपेण मुण्डितत्वं । सहस्रपक्षीणि यस्य सहस्राक्षस्तस्मै इन्द्ररूपाय नमः । शतं धनूपि यस्य शतधन्वा । धनुषश्चेत्यनङ् ।

तस्मै वृद्धधनुर्वारिणे नमः । गिरौ केलासे शेतेऽसौ गिरिशयस्तस्मै नमः । शि-
पिविष्टाय विष्णुरूपाय । विष्णुः शिपिविष्ट इति श्रुतेः । यद्वा शिपिषु प-
शुषु विष्टः प्रविष्टः शिपिविष्टः । पशवो वै शिपिरिति श्रुतेः । सर्वप्राणिष्वत-
र्यामितया स्थित इत्यर्थः । यद्वा यज्ञो वै शिपिः । यज्ञेऽधिवक्तात्वेन प्रविष्टः ।
शिपिरादित्यो वा । मण्डलाधिष्ठातेत्यर्थः । शिपयोऽत्र रश्मय उच्यन्ते तै-
राविष्टो भवतीति यास्कोक्तेः । अतिशयेन मीढ्वान्मेढ्यरूपेण सेक्ता मी-
ढुष्टमः । तस्मै नमः । इषवो वाणाः सन्त्यस्येतीषुमान् । तस्मै नमः । ८ । ३ ।

नमो ह्रस्वाय च वामनाय च नमो बृहते च वर्षीयसे च
नमो वृद्धाय च सट्टे च नमोऽग्न्याय च प्रथमाय चेति ॥

रूपतो नमस्काराः । ह्रस्वोऽल्पशरीरस्तस्मै नमः । वामनः सङ्कुचिताव-
यवस्तस्मै नमः । बृहत्पौढांगस्तस्मै नमः । वर्षीयानतिशयेन वृद्धः । प्रस्थ-
स्पेखादिना वर्षादेशस्तस्मै नमः । वृद्धो वयसाधिकस्तस्मै नमः । वर्द्धने
विद्याविनयादिगुणैस्ते वृद्धाः पण्डिताः । किं । तैः सह वर्तते इति सट्ट
तस्मै नमः । जगतामग्रे भवोऽग्रयस्तस्मै नमः । अग्राद्यत । सर्वत्र मुख्यः
प्रथमस्तस्मै नमः ॥ ८ ॥ ४ ॥

नम आशवे चाजिराय च नमः शीघ्र्याय च शीम्या-
य च । नमः कुर्म्याय चावस्वन्याय च नमो नादेयाय च द्वा-
प्याय चेति ।

अश्वे जगद्वाप्नोतीत्याश्वस्तस्मै नमः । अजति गच्छतीत्यजिरो
गतिशीलस्तस्मै नमः । शीघ्रे वेगवद्भूतुनि भवः शीघ्र्यः । तत्र भव इति
यत्सर्वत्र । शीघ्रं कथ्यते । शीभते कथ्यते इति शीभ आत्मश्लाघी अचा-
यद् । तत्र भवः शीभ्यः शीभो जलप्रवाहो वा । शीभः क्षिप्तो वा । तत्र
भवाय नमः । कुर्मिषु कलोलेषु भवः कुर्म्यस्तस्मै नमः । अवगतः स्वनो
यस्मात्तरवस्वनं स्थिरजलं । यद्वा अवनीचैर्गतादौ स्वनोऽवस्वनस्तत्र भवाय
नद्यां भवो नादेयस्तस्मै नमः स्त्रीभ्यो ढक् द्वीपे जलांतवात्तिनिर्जलभूमौ भ-
वो द्वीप्यस्तस्मै नमः ॥ ८ ॥ ५ ॥

इतिसप्तदशेऽध्यायेचतुर्थोऽनुवाकः ।

नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च नमः पूर्वजाय चापरजाय च । नमो मध्यमाय च । प्रगल्भाय च नमो जघन्याय च बुध्याय चेति ।

वयोवस्थाविशेषाभिधायकाः षट् नमस्काराः । अत्यन्तं प्रशस्यो ज्येष्ठस्तस्मै नमः । ज्येचेति प्रशस्यशब्दस्येष्टनिष्पादेशः अत्यन्तं युवाऽल्पो वा कनिष्ठस्तस्मै नमः । युवाल्पयोः कनन्यतरस्यामिति कनादेशः । (पूर्वं जगदादौ हिरण्यगर्भरूपेणोत्पन्नः पूर्वजस्तस्मै) । अपरस्मिन्काले प्रलये कालाग्निरूपेण जातोऽपरजस्तस्मै नमः । मध्यमसृष्टिसंहारान्तर्देवतिर्यगादिरूपेण भवो मध्यमस्तस्मै नमः मध्यान्मः । गल्भो धाण्ये । गल्भनं गल्भो धाण्यः । अपगतो गल्भो यस्मात्सोपगल्भोऽव्युत्पन्नेन्द्रियस्तद्रूपाय नमः । एकगर्भान्तरितो ऽगल्भो वा । जघनं गवादीनां पश्चाद्भागस्तत्र भवो जघन्यस्तस्मै नमः । बुधे वृक्षादिमूले भवः बुध्न्यः तस्मै नमः ॥ ८ ॥ १ ॥

नमः सोभ्याय च प्रतिसर्याय च नमो याम्याय च क्षे-
म्याय च । नमः श्लोक्याय चावसान्याय च नमः उर्वर्याय च खल्या चेति ।

सोभं गन्धर्वनगरं तत्र भवः सोभ्यः । यद्वा । उभाभ्यां पुण्यपापाभ्यां सहितः सोभो मनुष्यलोकः । पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पापमुभाभ्यां मनुष्यलोकमित्यथर्वणश्रुतेः । तत्र भवः सोभ्यस्तस्मै नमः । प्रतिमारो विवाहोचितं हस्तमूत्रमभिचारो वा तत्र भवः प्रतिसर्यस्तस्मै नमः । आहुः प्रतिसरं हस्तमूत्रे माल्यस्यमुँडने । ब्रह्मशुद्धौ च भूपृष्ठे नियोज्यारक्षकङ्कणे । मन्त्रभेदेपीति विश्वः । यमे भवो याम्यः । पापिनां नरकारिदाता तस्मै नमः । क्षमे कुशले भवः क्षेम्यस्तस्मै नमः । श्लोका वैदिकमन्त्रा यशो वा तत्र भवः श्लोक्यस्तस्मै नमः अवसानं सप्ताप्तिर्वेदान्ता वा तत्रभवोऽवसान्यस्तस्मै नमः । उर्वरा सर्वसस्याख्या भूस्तत्र धान्यरूपेण भव उर्वर्यस्तस्मै नमः । खलो धान्यविवेचनदेशस्तत्र भवः खल्यस्तस्मै नमः । खलः कल्के भूविधाने कल्के कर्णेजपेऽधमे इत्युक्तेः ८।२

नमो वन्याय च कक्षाय च नमः श्रवाय च प्रति-
श्रवाय च । नम आयुषेणाय चाशुरधाय च नमः शूराय चावभेदिने चेति ।

वनं वृक्षादिरूपेण भवो वन्यस्तस्मै नमः । वनं वृक्षेधौ
जलं वा । वनं प्रस्रवणे गेहे प्रवासेऽभसि कानने । कक्षं तृणं बल्ली
वा तत्र भवः कक्ष्यतस्मै नमः । कक्षो वीरुधिदोर्मूले कछे शुष्कवने तृणे ।
श्रूयते इति श्रवः शब्दस्तद्रूपाय नमः । प्रतिश्रवः प्रतिशब्दस्तद्रूपाय नमः ।
आशु शीघ्रा सेना यस्य स आशुवेणः । तस्मै नमः । आशुः शीघ्रो-
रथो यस्यासावाशुस्थस्तस्यै नमः । शूराय युद्धधीराय नमः । अवभिनति-
रिपून्नीचैर्विदारयतीत्यवभेदी तस्मै नमः ॥ ८ ॥ ३ ॥

नमो विल्मिने च कवचिने च नमो वर्मिणे च वरूथिने
च । नमः श्रुतेरपि श्रुतसेनाय च नमो दुन्दुभ्याय चाहन-
न्याय चेति ।

विल्मं शिरस्त्राणमस्योस्तीति विल्मी तस्मै नमः । पटस्यूतं
कार्पासगर्भं देहरक्षकं कवचं तदस्यास्ति कवची । तस्मै नमः ।
लोहमयं शरीररक्षकं वर्मं तदस्यास्ति वर्मी तस्मै नमः ।
गजो परिस्थो गजाकारः कोष्ठो वरूथः । रथगुप्तिर्वासोस्यास्तीति वरूथी
तस्मै नमः । वरूथं तु तनुत्राणे रथगोपनवेद्यमने । श्रुताय प्रसिद्धाय नमः ।
श्रुता प्रसिद्धा सेना यस्य स श्रुतसेनस्तस्मै नमः । दुन्दुभौ भेर्याम्भवो दु-
न्दुभ्यस्तस्मै नमः । दुन्दुभिस्तु भेर्यां दितितिमुने विषे । आहन्यते ताड्यते
नेनेत्याहनं वाद्यसाधनं दण्डादि तत्र भव आहनन्यस्तस्मै नमः ॥ ८ ॥ ४ ॥

नमो धृष्णवे च प्रमृशाय च नमो निषङ्गिणे चेष्टुधिमते
च । नमस्तीक्ष्णेषवेचायुधिने च नमः स्वायुधाय च सूधन्वेचेति ।

धृष्णोतीत्येवंशीलो धृष्णुः प्रगल्भस्तस्मै नमः । यमृशति विचार-
यति प्रमृशः पण्डितस्तस्मै नमः । इगुपधेति कः । निषङ्गिणे खड्गयुताय
नमः । इष्टुधिमते तृणयुताय नमः । तीक्ष्णा अमहा इषवो वाणा यस्य स
तीक्ष्णपुस्तस्मै नमः । आयुधान्यन्यान्यपि मन्त्यायुधी । तस्मै नमः ।
शोभनमायुधं त्रिशूलं यस्य स स्वायुधस्तस्मै नमः । शोभनं धनुः पिनाकं
यस्य स सुधन्वा तस्मै नमः ॥ ८ ॥ ५ ॥

इति सप्तदशोऽध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ॥

नमः सुत्याय च पथ्याय च नमः कात्याय च । नमः कु-
ल्याय च सरस्याय च नमो नादेया पचवैशन्ताय चेति ।

सुतिः क्षुद्रः प्रवाहः क्षुद्रमार्गो वा । तत्र भवः सुत्यस्तस्मै
नमः । यथा रथादियोग्यो मार्गस्तत्र भवः पथ्यस्तस्मै नमः । कु-
त्सितमटति जना यत्रेति काटो विषममार्गस्तत्र भवः काट्यस्तस्मै नमः ।
काटकुल्या प्रदेशो वा नीचैः पतन्पापो यत्रेति नीयोगिर्यधोभागः ।
ऋक्पूरुषूरित्यप्रत्ययः । अत्ररूपसर्गेभ्योपईदित्थं शब्दस्येकारः । तत्र
भवोनीप्यस्तस्मै नमः । कुल्या कृत्रिमा सरित्तत्र भवः कुल्यः कुलेषु
देहेषु वाऽन्तर्यामिरूपेण भवः कुल्पस्तस्मै । कुलं देहेऽन्वये गणे । सरसि
भवः सरस्यस्तस्मै नमः । नद्यां भवो नादेयस्तस्मै नदीजलरूपाय नमः ।
वैशन्तोऽल्पसरस्तत्र भवो वैशन्तस्तस्मै नमः ॥ ८ ॥ १ ॥

नमः कूप्याय चावध्याय च नम ईध्याय चानप्याय च
नमो मेध्याय चविद्युत्पाय च नमो वर्णाय शार्वर्थाय चेति ॥

कूपे भवः कूप्यस्तस्मै नमः । अवटो गर्तस्तत्रभवोऽवट्यस्तस्मै नमः ।
इन्धि दीप्तौ । ईधं निर्मले शरदभ्रं तत्र भव ईध्न्यः । यद्रा ईध्नो दीप्तिर्यस्मात्
ईध्नो घनागमस्तद्भवाय नमः आतपे भव आतप्यः । तस्मै नमः । मेधे भवो
मेध्यस्तस्मै नमः । विद्युति भवो विद्युत्पस्तस्मै नमः । वर्षे दृष्ट्यां भवो
वर्णस्तस्मै नमः । अवर्षे दृष्टिप्रतिबंधे भवोऽवर्ण्यस्तस्मै नमः ॥ ८ ॥ २ ॥

नमो वात्याय च रेप्प्याय च नमो वास्तव्याय च वास्तुपा-
य च नमः । सोमाय च रुद्राय च नमस्ताम्राय चारुणाय चेति ॥

वाते भवो वात्यस्तस्मै नमः । रिप्पन्ति नश्यन्ति भूतान्यत्रेति रेप्पा
प्रलयकालः अन्येभ्योपि दृश्यन्त इति मनिन् । तत्र भवो रेप्प्यस्तस्मै नमः ।
प्रलयेऽपि विद्यमानायेत्यर्थः । वास्तुनि गृहभुवि भवो वास्तव्यस्तस्मै । वैश्व-
भूर्वास्तुरस्त्रिषाम् । वास्तुं गृहभुवं पाति रक्षति वास्तुपस्तस्मै नमः । उमया
सहितः सोमस्तस्मै नमः । रुद्र दुःखं द्रावयति रुद्रो दुःखनाशकस्तस्मै नमः
ताम्रो रक्तवर्णउदयद्रविरूपेण । तस्मै नमः । अरुणईषद्रक्तउदयोत्तरकाली-
नार्करूपेण ॥ ८ ॥ ३ ॥

नमः शङ्गवे च पशुपतये च तु नम उग्राय च भीमाय च ।

नमोग्रेवधाय च दूरेवधाय च नमो हन्त्रे च हनीयसे च । नमो
वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्तारायेति ।

शं सुखं गमयति प्रापयति शङ्खुः । शं सुखरूपा गावो
वाचो वादरूपा यस्येति वा तस्मै नमः । पशूनां प्राणिनां
पतिः पालकस्तस्मै नमः । उग्र उद्गूणायुधः शत्रून् हन्तुं
तस्मै नमः । भीमः शत्रुभयोत्पादकः । अग्रे पुरो वर्तमानो हन्तीत्यग्रे वध-
स्तस्मै नमः । दूरे वर्तमानो हन्तीति दूरेवधस्तस्मै नमः । हन्तीति हन्ता तस्मै ।
लोके यो हन्ति तद्रूपेण रुद्रएव हन्तीत्यर्थः । अतिशये हन्तानीयान् । तस्मै
नमः । तुरिष्ठे मेघः स्थिति तृचो लोपः । प्रलये सर्वहन्तेत्यर्थः । हरयो हरि-
ताः केशाः पत्ररूपा येषां तेभ्यो वृक्षेभ्यः कल्पतरुरूपेभ्यो नमः । तारयति
संसारमिति तारस्तस्मै नमः ॥ १० ॥ ४ ॥

नमः शम्भवे च मयोभवे च नमः शङ्कराय च मयस्क-
राय च नमः शिवाय च शिवतराय चेति ॥

शं सुखं भवतीति शम्भुः । यद्वा शं सुखरूपं
भवनं आविर्भवनम् । भुक्तिरूपो भूः तस्मै नमः । मयः सुखं
भवत्यस्मान्मयो भूः सुखप्रदः तस्मै नमः शं लौकिकसुखं करोति
शङ्करस्तस्मै नमः । मयो मोक्षं सुखं करोति मयस्करस्तस्मै नमः । सक्च-
न्दनादिरूपेण लौकिकसुखकारित्वम् । शास्त्राचार्यादिरूपेण ज्ञानप्रदत्वात्
मोक्षसुखकारित्वमित्यर्थः । एनाभ्यां पदाभ्यां साक्षात् सुखकारित्वम् ।
पूर्वपदाभ्यां तद्वारा कारयेत्त्वमिति विवेकः । शिवः कल्याणरूपो निः-
पापस्तस्मै नमः । शिवतरोऽत्यन्तं शिवो भक्तानपि निःपापान् करोति तस्मै
नमः । अस्यां कण्डिकायां पञ्चर्जुषि । पूर्वस्यां दशोक्तेः ॥ ५ ॥

इति सप्तदशोध्याये षष्ठोऽनुवाकः ॥

नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय
च । नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च नमः शष्पाय चफेन्याय चेति ॥
पारे संसारान्येः परतीरे जीवन्मुक्तरूपेण भवः पार्यस्तस्मै नमः । अवारे अर्वा-
क्तीरे संसारमध्ये संसारित्वेन भवोऽवार्यस्तस्मै नमः । पारावारे परार्वाची तीरे
पात्रं पदन्तरमिति कोशः । प्रकर्षेण मन्त्रजपादिना पापतरणहेतुः प्रतरण-

स्तस्मै नमः । उत्कृष्टेन तत्त्वज्ञानेन संमारोत्तरणहेतुरुत्तरणस्तस्मै नमः । तीर्थे
प्रयागादौ भवस्तीर्थस्तस्मै नमः । कूले तीरे भवः कृत्यस्तस्मै नमः । शष्पं
बालनृणं गङ्गातीरोत्पन्नं कुशाङ्कुगदौ तत्र भवः शष्प्यस्तस्मै नमः । फेने
डिडिरे भवः फेन्यस्तस्मै नमः ॥ ८ ॥ १ ॥

नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च नमः किंशिलाय च । १६
क्षयणाय च । नमः कपर्दिने च पुलस्तिके च नमः हरिण्याय च
प्रपथ्याय चेति ॥

सिकतासु भवः सिकत्यस्तस्मै नमः । प्रवाहे स्रोतसि भवः प्रवाह्य
स्तस्मै नमः कुत्सिताः क्षुद्राः शिलाः शर्करास्पाः पाषाणा यत्र प्रदेशे स किं-
शिलस्तद्रूपाय नमः । क्षिपं निवमन्त्यापो यत्र स क्षयणः स्थिरजलप्रदेशस्त-
स्मै नमः । कपर्दी जटास्यास्ति कपर्दी तस्मै नमः । इरिणमूपरं त्रिवृणदे-
शस्तत्र भवः इरिण्यस्तस्मै नमः । प्रकृष्टः पन्थाः प्रपथो बहुसेवितो मार्गस्तत्र
भवः प्रपथ्यस्तस्मै नमः ॥ ८ ॥ २ ॥

नमो ब्रज्याय च गोष्ठ्याय च नमस्तल्प्याय च गो- १७
ष्ठ्याय च । नमो हव्याय च निवेष्ट्याय च नमः काट्याय च
गह्वरेष्ट्याय चेति ॥

ब्रजे गोममूढे भवो ब्रज्यस्तस्मै नमः । गोष्ठा ध्वनिवहा ब्रजाः
गावस्तिष्ठन्ति यत्रेति तद्गोष्ठं तत्र भवो गोष्ठ्यस्तस्मै नमः । तल्पं शय्या
तत्र भवस्तल्प्यस्तस्मै नमः । गोत्रे गृहं भवो गोत्र्यस्तस्मै नमः । हृदे भवो
हृद्यो जलजन्तुरूपस्तस्मै नमः । निवेष्ट्य आवतो नीहारजलं वा तत्र भवो
निवेष्ट्यस्तस्मै नमः । कुत्सितपटान्ति गच्छन्ति जना यत्र सकारो दुर्गारण्य-
देशः । काटः कूपो वा तत्र भवः काट्यस्तस्मै नमः गह्वरे विषमे गिरिगुहादौ
गंभीरे जले वा तिष्ठतीति गह्वरेष्ट्यस्तस्मै नमः । गह्वरं विलम्बेदयोः ॥ ८ ॥ ३ ॥

नमः शुष्क्याय च हरित्याय च नमः पांसव्याय च १८
रजस्याय च । नमो लोप्याय चोलप्याय च नमः कुर्याय च
सूर्याय चेति ।

शुष्के काष्ठादौ भवः शुष्क्यस्तस्मै नमः । हरिते आर्द्रे काष्ठादौ भवो
हरित्यस्तस्मै नमः । पांसुषु धूलिषु भवः पांसव्यस्तस्मै नमः । एयुणः ।

रजसि गुणे परागे वा भवो रजस्यस्तस्मै नमः । रजो रेणुपरागयोः स्त्री-
पुष्पेषु गुणभेदे च । लुप्यते नश्यति गमनादि यत्रेति लोपोऽगम्यप्रदे-
शस्तत्र भवो लोप्यस्तस्मै नमः । लोपः । संहारो वा । उलपा बल्वजादि
तृणविशेषास्तत्र भव उलप्यस्तस्मै नमः । उच्छपस्तु शुल्मिनी तृणभेदयोः ।
उर्व्या भूमौ भव उर्व्यस्तस्मै नमः । दीर्घ आर्षः । ऊर्वो षडवानलो वा ।
शोभनं ऊर्वः सूर्यः कल्पानलस्तत्र भवः सूर्यस्तस्मै नमः ॥ ८ ॥ ४ ॥

नमः पर्णाय च पर्णशदाय च नम उदुरमाणाय चा-
भिघ्नते च । नमऽ आखिन्दते च प्रखिन्दते च नम इषुकृद्भ्यो
धनुष्कृद्भ्यश्च वो नम इति ।

तरूणां पत्ररूपाय नमः । शलू शातने शदनं शदः
शातनं । यद्रा । पर्णानि शीयन्ते पक्वानि पतन्ति यत्र पृचपर्ण-
सदः पतितपर्णस्थितिदेशस्तस्मै नमः । गुरोः द्वयोः । तुदादिभ्यः शः ।
उद्गुरते उद्यमं करोति उद्गुरमाण उद्यमी तस्मै नमः । अभिंहति शक्र-
मित्यभिघ्नन् । तस्मै नमः । आ समंतात् खिद्यते दैन्यं करोति अभक्ता-
नामित्याखिन्दन् तस्मै नमः । प्रकर्षेण खेदयति पापिन इतिप्रखिन्दस्तस्मै
नमः । इषून् वाणान् कुर्वति ते इषुकृतस्तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमः । धनूंषि चा-
पानि कुर्वति ते धनुष्कृतः । तेभ्यो वा युष्मभ्यं रुद्रेभ्यो नमः ॥ ८ ॥
युष्मदादेशयोगा त्पत्यक्षा एते रुद्राः । तिस्रोशीतयो रुद्राणां समाप्ताः ।
एवं चत्वारिंशदधिकशतद्रयमन्त्रै रुद्रस्य सर्वात्मत्वमुक्तं । अथ रुद्रेषु प्र-
धानभूतानामग्निवायुसूर्याणां सम्बन्धीनि चत्वारि यजूंष्युच्यन्ते । चतुर्णांमादौ
नमः शब्दाच्चत्वार्येव यजूंषि । आद्यं चतुर्दशाक्षरं श्रीणि सप्ताक्षराणि ता-
नि व्याहृतिसंज्ञानि ।

नमो वः किरिकेभ्यां देवानां^७ हृदयेभ्यो नमो विचि-
न्वत्केभ्यो नमो विश्विण्णत्केभ्यो नम अनिर्हतेभ्य इति ।

देवानां हृदयेभ्यो रुद्राणां हृदयप्रधानभूतेभ्योऽग्निवायुसूर्येभ्यो
वो युष्मभ्यं नमः । देवानां हृदयेभ्य इत्यग्निर्वायुरादित्य एतानि ह । ता-
नि देवानां हृदयानीति श्रुतेः । हृदयानीव हृदयानि । यथाङ्गानां हृदयं
प्रधानमेवमेते रुद्राणां प्रधाना इत्यर्थः । कीदृशेभ्यस्तेभ्यः । किरिके-

भ्यः । वृष्ट्यादिद्वारा जगत्कुर्वीति किरिकास्तेभ्यः । एते हीदं सर्वं कुर्वीतीति श्रुतेः । विचिन्वन्ति पृथक् कुर्वीत धर्मिष्ठं चेति विचिन्वत्कास्तेभ्यो-
ग्न्यादिभ्यो नमः । विविधे क्षिण्वन्ति हिंसन्ति पापमिति त्रिक्षिणत्का-
स्तेभ्योऽग्न्यादिभ्यो नमः । आसमन्तान्निर्हता निर्गता सर्गादौ लोकेभ्य
इत्यनिर्हतास्तेभ्यो रुद्रावतारेभ्योऽधिवायुसूर्येभ्यो नमः । हन्तिर्गत्यर्थः ।
तेभ्यस्तप्तेभ्यस्त्रीणिज्योतीप्यजायन्ताधियोयं पवते सूर्य इति श्रुतेः ॥४॥५॥

इति सप्तदशोऽध्यायेसप्तमोऽनुवाकः ॥

द्रापे अंधसस्पते दरिद्र नीललोहित । आसाँ प्रजानामेषां पशूनां मा भेमोराङ्मो च नः किं च नाममदिति ॥

हेद्रापे । द्रा कुत्सार्था । द्रापयति कुत्सितां गर्ति पापिनां प्रापयतीति द्रापिः । अंधसः सोमस्य पते पालक । अथस्पत इति अथस्पत इति सो-
मस्य पत इत्येतदिति श्रुतेः । हेदरिद्र निःपरिग्रह अद्रिनीयत्वादीति भा-
वः । हेनीललोहित ! कण्ठे नीलोऽन्यत्र लोहितः । हे शिव ! नोऽस्माकमा-
साँ प्रजानां पुत्रादीनामेवं पशूनां गवादीनां त्वं माभेः । भयं मा कु-
र । बहुलं छन्दभीति शपो लुक् । मो रोक् । रुजो भङ्गे । प्रजानां प-
शूनां भङ्गं मो इति माकार्पीः । कर्मणि षष्ठ्या । च पुनर्नोऽस्माकं किञ्चन
किमपि द्विपदचतुः पदादिकं मो मा आममत् । रुग्णं मो मा कार्पात् ।
यद्वा रुग्णं मो मास्तु । अप रोगे । लङि धातोरमागम आर्पेः ॥ १ ॥

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीय प्रभरामहे म-
तीः । यथा शमसद्विपदे चतुष्यदे विद्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्न-
नातुरमिति ॥

वयं इमाः अस्मदीया मतीर्वृद्धीः रुद्राय शङ्कराय प्रभरामहे । मह-
रामहो समर्पयामो रुद्रं स्मराम इत्यर्थः । हृग्रहोर्भेः । कीदृशाय । तवसे
महते बलवते वा । उभयत्र तवः शब्दः पठितः । कपर्दिने जटिलाय ।
क्षयद्वीराय । क्षयन्तो निवसन्तो वीराः शूरा यत्र स क्षयद्वीरस्तस्मै शूर-
युतायेत्यर्थः । क्षयन्तो नश्यन्तो वीरा रिपवो यस्मादिति वा द्विपदे पुत्रा-
दये चतुःपदे गवादि पशवे सप्तमी वा । द्विपदचतुष्यद्विषये यथा येन-
प्रकारेण शं सुखं । असत् भवति । अस्मिन्ग्रामेऽस्मान्निवासस्थाने विद्वं-

सर्वं प्राणिजातं पुष्टं समृद्धं अनातुरं निरुपद्रवं स्वस्थं च यथा असत्
स्यात्तथा मर्ति हरे समर्पयाम इत्यर्थः ॥ २ ॥

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजा । शिव
ऽकृतस्य भेषजी तथा नो मृल जीवस इति ।

हेरुद्र या ते तवेदशी तनूः शरीरं । तथा तन्वा नोऽस्मान् जीव-
से जीवितुं मृड सुख्य । कीदृशी । शिवा शान्ता । अग्रेरा विश्वाहा ।
विश्वानि च तान्यहानि च विश्वाहा । कालाध्वनोरत्यंतमयोग इति द्विती-
या । तस्या आकारः । सर्वेष्वहस्यु सर्वदा शिवा कल्याणकारिणी । भे-
षजी औषधरूपा संमारव्याधिनिवर्तिका । कृतस्य यज्ञस्य शिवा ममीची-
ना भेषजी । निवर्त्तिकौषधिः ॥ ३ ॥

परि णो हेती रुद्रस्य वृज्यात्परि त्वेषस्य दुर्मतिर्महीगा-
त् । अवस्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्वर्माहवः स्नोकाय तनाय मृलेति ।

रुद्रस्य शिवस्य हेतिरायुधं नोऽस्मान्परिवृणक्तु । परिणो वर्जयतु ।
अस्मान्मा हंतस्त्वर्थः । त्वेषस्य रुद्रस्य दुर्मतिर्दुष्टमतिद्रोहबुद्धिश्चास्मा-
न्परिवृणक्तु । महीगात् । मेहानि मिवन्तीति मीहान् । हेमीद्वः कामाभिव-
र्णुक स्थिरास्थिराणि दृढानि धर्मेषु त्वं अवतनुष्व । अवतारय । ज्या-
हिनानि कुरु । किमर्थं । मघमद्भ्यः मघमिति धनताम । मघं हविलक्षणं ध-
नं विद्यते येषां ते मघवन्तो यजमानास्तदर्थं । यजमानानां भयनिवृत्त-
ये इत्यर्थः । किं च तोकाय पुत्राय तनयाय पौत्राय मृड । पुत्रपौत्रं च
सुख्य । कर्माणि चतुर्थ्यौ ॥ ४ ॥

मीदुष्टम शिवा नः सुमना भव परमे वृक्ष आयुधं-
निधाय कृत्तिं वसान आवर पिनाकं विभ्रदागहीति ॥

अतिशयेन मीदूवान्मीदुष्टमः । अत्यन्तं शिवः शिवतमः । हे-
मीदुष्टम अतिशयेन काममेतः । हेमिशिवतमअत्यन्तं कल्याणकर्त्तः नो-
ऽस्मान् प्रति शिवः शान्तः सुमना हृष्टचित्तश्च भव । किञ्च । परमे
दूरस्थे उज्जने वा वृक्षे वटादौ आयुधं त्रिशूलादिकं निधाय संस्थाप्य
कृत्तिं चर्म परिदधानः मन् आवर आगच्छ । तपश्चरेति वा ।
आगच्छन्नपि पिनाकं धनुर्विभ्रत् । धारयन्तन् । आगहि । आगच्छ
ज्याशरहीनं धनुर्मात्रं शोभार्थं धारयन्नागच्छेत्यर्थः ॥ ५ ॥

विकिरिद्रविलोहिते नमस्ते अस्तु भगवः । यास्ते स-
हस्रं हेतयोन्यमस्मन्निवर्पतु ता इति ।

विविधं किरं घाताद्युपद्रवं द्रापयति नाशयति विकिरिशः य-
द्वा विकिरति विक्षिपति शरानिति विकिरिः । विकिरिः सन् । वाणान्
मुच्यन् द्रावयति शत्रूनि विकिरिद्रः । हेविकिरिद्र ! हेविलोहित ! वि-
गतं लोहितं कल्पयं यस्मात्स विलोहितः । हेयुद्रस्वरूप हेभगवः भगवन् !
ते तुभ्यं नमोऽस्तु हेरुद्र ! ते तव याः सहस्रं हेतयोमंख्यान्यायुधानि ।
ता हेतयोऽस्मदन्यमस्मद्व्यतिरिक्तं निवपन्तु घ्नन्तु ॥ ६ ॥

सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः । तासामीशानो
भगवः पराचीना मुखान्कृधीति ।

हेभगवः भगवन् षड्गुणैश्वर्यसंपन्न तव बाह्वोर्हस्तयोः
सहस्राणि सहस्रशो हेतयः सन्ति तासां हेतीनां मुखानि शल्या-
नि पराचीनानि अस्मत्तः पराङ्मुखानि त्वं कृधि कुरु करोतेः
शपिलुप्तेश्च शृणुपृच्छभ्यञ्जन्दसीति हर्षिः । कीदृशस्त्वं । ईशानः ईष्टे
इतीशानः जगन्नाथः । सहस्राणि सहस्रमंख्यानि । धनुः शूलं चर्म-
त्यादि जातिभेदेन सहस्रमंख्यत्वम् । सहस्रशः । सहस्रं सहस्रमिति स-
हस्रशः । संख्यैकवचनाच्च वीप्सायामिति शस्प्रत्ययः । धनुरादीन् । प्र-
त्येकं सहस्रमंख्यकमित्यर्थः ॥ ७ ॥ (भूमिस्था रुद्रा उच्यन्ते)

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्यां । तेषां सहस्र-
योजने च धन्वानि तन्मसीति ।

अमंख्यातानि अपरिमितानि सहस्राणि अमिता ये रुद्रा भूम्यां अ-
धिभूमेरुपरिस्थिताः । तेषां रुद्राणां धन्वानि धनूषि सहस्रयोजने सहस्रयो-
जनानि यस्मिंस्तादृशे पथि सहस्रयोजनव्यवहिते मार्गे वयमवतन्ममि । अव-
तन्मः । अवतारयामः । अपज्यानि कृत्वाऽस्मत्तो दूरं क्षिपाम इत्यर्थः ॥ ८ ॥
(अन्तरिक्षस्था रुद्रा उच्यन्ते ।)

अस्मिन्महत्पर्णवैऽन्तरिक्षे भवा अधि । तेषां सहस्रयोजने-
च धन्वानि तन्मसीति ।

अस्मिन्नन्तरिक्षे अधिश्रित्य ये भवा रुद्राः स्थितास्तेषां धन्वान्यव त-

न्मसीति पूर्ववत् । कीदृशोऽतरिक्षे । महति विशाले । अर्णवे । अर्णांसि जलानि विद्यन्ते यत्र तदर्णवं मेघाधारत्वात् । अर्णसो लोपश्चेति वप्रत्य-
योऽन्तलोपश्च ॥ ९ ॥ (द्युस्था रुद्रा उच्यन्ते)

नीलग्रीवा शितिकण्ठा दिवः५ रुद्रा उपाश्रिताः । तेषां५
सहस्रयोजने वधन्वानि तन्मसि इति ।

ये रुद्रा दिवं द्युलोकमुपश्रिताः । स्वर्गस्थास्तेषामिति पूर्ववत् ।
कीदृशाः नीलग्रीवाः । नीला श्यामा ग्रीवा येषां ते । शितिः श्वेतः कंठो
येषां ते । विषयासात्कियान्कंठभागः कृष्णः । कियान् श्वेत इत्यर्थः ॥ १० ॥
(पातालस्था रुद्रा उच्यन्ते)

नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वा अधः क्षमाचराः । तेषां५
सहस्रयोजने व धन्वानि तन्मसीति ।

अधोभागे ये शर्वाः रुद्राः क्षमाचराः । क्षमायां भुवोऽधोभागे च-
रन्ति गच्छन्ति क्षमाचराः पातालवर्तमानास्तेषामित्युक्तम् । नीलग्रीवाः ।
इतिशितिकण्ठाः पूर्ववद्विशेषणे ॥ ११ ॥

ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः । तेषां५
सहस्रयोजने व धन्वानि तन्मसीति ।

ये रुद्रा वृक्षेष्वश्वत्थादिषु स्थिताः । कीदृशाः शष्पिञ्जराः शष्पं
बालवृणं तद्रत्पिञ्जरा हरितवर्णा नीलग्रीवाः । नीलग्रीवा येषां ते । कण्ठे
नीलवर्णाः । तथा केचन विलोहिताः । विशेषेण रक्तवर्णाः यद्वा । विगतं
लोहितं रूधिरं येषां ते । लोहितपदं रमादीनामुपलक्षणम् । विगतलोहि-
तादि धातवः । तेजोमयशरीरा इत्यर्थः तेषामित्याद्युक्तम् ॥ १२ ॥

ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः । तेषां५
सहस्रयोजनेवधन्वानि तन्मसीति ।

ये ईदृशा रुद्रास्तेषां धन्वानीति पूर्ववत् । कीदृशाः । भूतानां देव-
विशेषाणामधिपतयः । अन्तर्हितशरीराः सन्तो मनुष्योपद्रवकरा भूतास्तेषां
पालकाः । तत्र केचित् । विशिखासः । विगता शिखा येषान्ते । शिखाश-
ब्दः केशोपलक्षकः । मुण्डितमुण्डा इत्यर्थः । अन्ये कपर्दिनः । जटा-
जूटयुताः ॥ १३ ॥

ये पंथा पथि रक्षिण ऐलवृदा आयुर्युधः । तेषां सहस्र-
योजनेव धन्वानि तन्मसीति ।

ये चेदृशा रुद्रास्तेषामिन्पुक्तम् । कीदृशाः । यथा लौकिकवैदि-
कमार्गाणां अधिपतय इति पूर्वकृचोऽनुपङ्गः । तथा पथि रक्षिणः । पथो
मार्गीस्तानेवान्पानपि रक्षन्ति पालयन्ति ते पथि रक्षिणः । ऐलवृदाः । इला-
नामन्नानां समूह ऐलं अन्नसमूहः । यद्वा । इला पृथ्वी तस्या इदमैलं अन्नं
तद्वद्विभ्रन्ति ते ऐलभृतः । त एव परोक्षवत्सा ऐलवृदा उच्यन्ते । अन्नैर्जी-
तूनां पोषका इत्यर्थः । आयुर्युधः । आयुषा जीवनेन युध्यन्ते । यावज्जीव-
युद्धकाराः । यद्वा । आयुर्जीवनं पणीकृत्य युध्यन्ते ते आयुर्युधः ॥ १४ ॥

ये तीर्थानि प्रचरन्ति सुकाहस्ता निषङ्गिणः । तेषां स-
हस्रयोजनेव धन्वानि तन्मसीति ।

ये रुद्रास्तीर्थानि प्रयागकाश्यादीनि प्रचरन्ति । गच्छन्ति । की-
दृशाः । सुकाहस्ताः । सुकेत्यायुधानि । हस्तेषु येषां ते । निषङ्गिणः ।
निषङ्गाः खड्गा विद्यन्ते येषां ते । सुकाहस्तत्वेपि निषङ्गित्वोक्तिः । खड्ग-
प्राधान्याय ॥ १५ ॥

येनेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान् । तेषां सह-
स्रयोजनेव धन्वानि तन्मसीति ।

ये रुद्रा अनेषु भुज्यमानेषु स्थिताः सन्तो जनान् विविध्यन्ति ।
विशेषेण ताडयन्ति धातुर्वपस्यं कृत्वा रोगानुत्पादयन्तीत्यर्थः । तथा पात्रेषु
पात्रस्थक्षीरोदकादिषु स्थिताः सन्तः क्षीरादिपानं कुर्वतो जनान्विविध्य-
न्ति । अन्नोदकमोक्तारो व्याधिभिः पीडनीया इति भावः । तेषामिति
पूर्ववत् ॥ १६ ॥

य एतावन्तश्च भूयां सश्चदिशो रुद्रा वितस्थिरे ।

तेषां सहस्रयोजनेव धन्वानि तन्मसीति ॥

ये रुद्रा एतावन्तः एतत्प्रमाणं येषां ते । अतिशयेन बहवो भूयांसः
उक्तेभ्योऽति बहवश्च ये रुद्रा दिशो दश वितस्थिरे आश्रिताः । दश दिशो
व्याप्य स्थिताः । तेषां धनूपि अवतन्मः इति पूर्ववत् ॥ १७ ॥

नमोस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षामिषवः । तेभ्यो दश

प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीची दशोर्ध्वाः । तेभ्यो नमो अस्तु ते नो मृलयन्तु ते नो नोबन्तु । ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्म इति ।

त्रिलोकस्था रुद्रा उच्यन्ते । दिवि द्युलोके ये रुद्रा वर्तन्ते । येषां च रुद्राणां वर्षं दृष्टिरेव इषवो वाणाः । आयुधस्थानीया दृष्टिः । अतिदृष्ट्यादीतिभिः प्राणिनो घ्नन्ति । तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमो नमस्कारोऽस्तु । तेभ्यो रुद्रेभ्यो दश दशसंख्याकाः प्राचीः प्रागभिमुखा अङ्गुलीः कुर्वे इति शेषः । प्राङ्मुखाञ्जलिकरणे प्राच्यो दशांगुलयो भवन्ति । दक्षिणा । दक्षिणा भिमुखाः दशांगुलीः कुर्वे । प्रतीचीः प्रत्यङ्मुखा दशांगुलीः कुर्वे । उदीचीरुदङ्मुखा दशांगुलीः कुर्वे । ऊर्ध्वा उपरि दशांगुलीः कुर्वे । अञ्जलिं बध्वा सर्वदिक्षु नमस्करोमीत्यर्थः । तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमोऽस्तु । अञ्जलिपूर्वं नतिरस्तु । ते रुद्रा नोऽस्मान् मृलयन्तु मृलयन्तु । अवन्तु रक्षन्तु । किं च ते रुद्रा यं पुरुषं द्विषन्तीति शेषः । वयं च यं द्विष्मः । यस्य द्वेषं कुर्मः । च पुनर्यो नरो नोऽस्मान् । द्वेष्टि । तं पुरुषं एषां पूर्वोक्तानां रुद्राणां जम्भे दंष्ट्राकराले मुखे दध्मः स्थापयामः । अस्मद्विषमस्मद्वेष्ट्यं च नरं रुद्राः । पूर्वोक्ता भक्षयन्त्वित्यर्थः । अस्मांश्चावन्तु च ।

नमोस्तु रुद्रेभ्यो यंऽतरिक्षे येषां वा त इषवः । तेभ्यो दश प्राची दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः । तेभ्यो नमोऽस्तु ते नो मृलयन्तु ते नोबन्तु । ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्म इति ।

ये अन्तरिक्षे रुद्रा वर्तन्ते । तेभ्यो रुद्रेभ्यो नमोस्तु । येषां रुद्राणां वात इषवः । वायुरायुधस्थानीयः । कुवातेनान्नं विनाश्य वातरोगं वोत्पाद्य जनान् घ्नन्ति । तेभ्योऽन्तरिक्षस्थेभ्यो वातेषुभ्यो रुद्रेभ्यो नमोस्तु शिष्टं व्याख्यातं । नमोस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः । तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः । तेभ्यो नमोऽस्तु ते नो मृलयन्तु ते नोबन्तु । ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्म इति । ये पृथिव्यां रुद्रा वर्तन्ते । येषां अन्नं इषवः । अन्नमदनीयं वस्तु आयुधम् । अयथान्नभक्षणे कदनभक्षणे शौर्ये वा प्रवर्त्य रोगमुत्पाद्य जनान् घ्नन्ति । तेभ्यः पृथिवीस्थेभ्योऽन्नायुधेभ्यो रुद्रेभ्यो नमोस्तु । तेस्मान्मृलयंत्वित्यादि पूर्ववत्

एते मत्परोहमन्त्राः । अथ मत्परोहान् लुहोतीति व्यवहाराथ
संज्ञाकरणं ॥

इति सप्तदशोऽध्यायेऽष्टमोऽनुवाकः ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तयो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो दद्याद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्री-
बीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरंधरेण सायणाचार्येण विरचिते मा-
धवीये वेदार्थप्रकाशे काण्वसंहिताभाष्ये सप्तदशोऽध्यायः ॥

अथाष्टादशोऽध्यायः ।

यस्य निश्चसितं वेदा यो वेदभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं वंदे विद्यातीर्थमहेश्वरं ॥ १ ॥

सप्तदशोऽध्याये शतरुद्रीयहोम उक्तः ॥ अष्टादशोऽध्याये चित्पारिषे-
कादिमन्त्रा उच्यन्ते । कात्यायनः ॥ चित्पं परिषिञ्चत्यग्निं दक्षिणे
निकषेऽग्निं कृत्वा इमन्नूर्जमित्यद्रेराथिपक्षस्यापरमन्धिः कक्षस्तस्य समीपं
निकषं । दक्षिणापथा परमन्धिममीपं आत्मभागेऽश्मानं निधायो-
दकुम्भमादायोद्रेरारभ्य सवत्सपुच्छमग्निं प्रदक्षिणं जलधारया समन्तादाग्निं
सिञ्चतीत्यर्थः ॥ पाठस्तु ॥

अस्मन्नूर्जं पर्वते शिश्रियाणामदृश्य ओषधिभ्यो वन-
स्पतिभ्यो अधिसंभृतं पयः । तान्न ह्यमूर्जं घत्त मरुतः सं-
रराणा इति ।

हेमरुतः । तां प्रमिद्धां इपं । अन्नं । ऊर्जं रसं च नोस्म-
भ्यं घत्त दत्त यूयं किंभूताय यं संरराणाः । सम्यक् रान्ति ते संरराणाः ।
सम्यक् दातारः । रा दाने । बहुलं छन्दसीति जुहोत्यादिभ्यः ऋद्धित्वं च
शानचि पारि । कीदृशं । इपं । ऊर्जं । अश्मन् ॥ अश्मनि पापाणे पर्वते ।
विन्ध्याहिमवदादौ शिश्रियाणां । श्रयतीति शिश्रियाणां । श्रयतेः । शा-
नचि जुहोत्यादित्वं । तथा ऊर्जं सारभूतं । बलहेतुं । पर्वाणि विद्यते य-
स्मिन्स पर्वतः पर्वमरुदभ्यां तन्प्रत्ययः । अस्मातीत्यश्मा । अन्येभ्योपि दृश्यते-
इति अश्नातेर्मनिन् । अशनवति पर्ववति मेघे ऊर्जं जलं शिश्रियाणां । आ-
श्रितां वृष्टिसम्पाद्यामित्यर्थः । तथा अन्नं जलेभ्यः ओषधिभ्यो यवादिभ्योऽ-
श्वत्यादिभ्यः सकाशात् । अधिकं सम्पादितं । गोद्वारेण पयो दुग्धं च शि-
श्रियाणां गौरपः पीत्वौषधिवनस्पतीन्मस्रयित्वा पयो दोग्धि । तां द्वि-
रूपां मेघोत्थां जलरूपां गोसमुत्थां पयोरूपां चेषमूर्जं ददातीत्यर्थः । म-
रुतो हि वर्षस्येश इति श्रुतेः ॥ कात्यायनः ॥ ॥ अश्मस्ते क्षुदित्यद्वौ
कुंभं कृत्वा मपि त ऊर्गित्यादौ यैवं द्विरपरं । सेकान्तेऽश्मनि कुंभं अ-
श्मस्ते क्षुदिति निधाय मपि त इति पुनरादाय पुनर्द्विवारमपिषिञ्चेत्यदित्य-
र्थः । अश्मस्ते क्षुन्मापि त ऊर्गिति । अश्नातीत्यश्मा । हे अश्मन् ।

सर्वभक्षक अग्रे ते तव क्षुत् । क्षुधा अस्तु बहु हविषा भोज्यत्वात् । कुम्भा-
दत्ते । मयि ते हे अश्वपत्न । ते तव ऊर्क सारभागो मयि अस्त्विति शेषः ॥
कात्यायनः ॥ कुम्भेद्रि कृत्वा दक्षिणस्यां वेदिश्रोणौ प्राङ् तिष्ठन् दक्षिणा-
स्यति यं द्विष्म इति । तं पाषाणं कुम्भे कृत्वा दक्षिणे वेदिश्रोणौ पूर्वामु-
खास्तिष्ठन् । दक्षिणस्यां दिशि साश्मानं घटनिरस्येतीत्यर्थः । यं
द्विष्मस्तं ते धुगल्लत्त्विति । तं कं । वयं यं नरं द्विष्मः । अस्मद्वेषवेषयं तव
शोको गल्लतु । कात्यायनः अनपेक्षमेत्योदङ् प्राङ् तिष्ठन्नात्मन उपरि प्रा-
पणान्ते जपती मा म इति । कुम्भनिरसनानन्तरं । अपश्यन्नेत्य दक्षिणवेदि-
श्रोणिममीपे ईक्ष्वाणोमिमुखस्तिष्ठन्नात्मन उपरि हस्तौ प्रसार्य यावत् । स्पृ-
ष्टुं शक्नोति तावत् । स्पृष्टे मा म इतिकण्डिकाद्वयं स्वरेण जपतीत्यर्थः ।
पाठस्तु ॥

इमा मे ऽअग्न इष्टका धेनवः सत्वकाश्च दश च शतं च
शतं च शतं च सहस्रं च सहस्रं चायुतं चायुतं च नियुतं-
चनियुतं च । अर्बुदं च न्यर्बुदं च समुद्रश्च मध्येचान्तश्चप-
रार्धश्च परार्धश्च । एतामे अग्न इष्टधेनवः संत्वमुत्रामुष्मि-
ल्लोक इति ॥ ३

हे अग्रे या इष्टकाः पञ्चसु चितिषूपहिता इमा इष्टका मे महां
मदर्थं धेनवोऽभिमतफलदोग्रधयः सन्तु त्वत्पसादादस्मिलोके इति शेषः ।
तासां संख्यामाह । एकेत्यादि । अत्रैकादि परार्धपर्यंतैः शब्दैरुत्तरोत्तरं द-
शदशगुणिता संख्योच्यते । एका एकत्वं संख्या विशिष्टा सा दशगुणि-
ता दश संख्यामापद्यते । सा दशगुणिता शतं भवति पूर्वसंख्यासहि-
तोत्तरसंख्याग्रहणं आधिक्याय । शतं दशगुणितं सहस्रं भवति । दश-
गुणितमयुतं भवति । अयुतं दशगुणितं नियुतं भवति । अर्बुदं दशगुणं
न्यर्बुदं भवति । न्यर्बुदशब्देन शंकुसंख्या ज्ञेया । एतेषां ग्रहणं अब्जस-
मुद्रांतवर्त्तिनां नाखर्वमहापद्मशंकुसंज्ञानां संख्यानामुपलक्षकं । तेनाब्जं द-
शगुणं खर्वं खर्वं दशगुणं निखर्वं । निखर्वं दशगुणं महापद्मं
महापद्मं दशगुणं शंकुः । शंकुर्दशगुणः समुद्रः । समुद्रो दशगु-
णो मध्यं दशगुणमन्तः । अन्तो दशगुणः परार्धः । चकारा इतरेतरसमु-
च्चयार्थाः । एवमेकाद्यष्टादशसंख्या संज्ञा सपिता इष्टका एता हे मे

धेनवः संत्विषति पूर्वोक्तस्य निगमनं । एतद्धेतुमवनं कुत्रार्थ्यते तदाह ।
अमुत्र । अन्यजन्मनि । तथामुष्मिन् ऋके स्वर्गे सर्वत्र इष्टदाः संत्विष-
र्थः । यद्यपिनियतसंस्वरूपवेष्टकाक्षीयन्ते तथापि मन्त्रसामर्थ्याद्विर्धमाना एका-
दिपरार्द्धातसंस्वरूपा भवन्तीति भावः ॥ ॥ द्वितीयमन्त्रपाठस्तु ॥

ऋतवस्थ ऋतावृद्ध ऋतुष्टा स्थ ऋतावृद्धः । घृतश्च्युतो
मधुश्च्युतो विराजो नाम कामदुघा अक्षीयमाणा इति ।

अपि च हेष्टका यूयं ऋतवः स्थ वसन्ताद्यात्मिका भवथ ।
ऋतं सत्यं यज्ञं वा वर्द्धयतीति ऋतावृद्धः । ऋतुषु वसन्तादिषु तिष्ठन्त्यः
स्थ । भवथा ऋतावृद्ध इति पुनर्वचनमादरार्थः । घृतं श्योततो घृतश्च्यु-
तः घृतस्त्राविण्यः । मधुश्च्युतः । मधु मासिकं स्रवन्त्यः एवं गुणविशि-
ष्टा भवथ । ता यूयं विराजो नामविशेषेण राजिता इति विराजः । विरा-
ज इति प्रसिद्धा धेनवो भूत्वा लोकान्तरे कामदुघा यदुक्त्वा कामयते तस्य-
सर्वस्य दोग्ध्यो भवत । तथा अक्षीयमाणाः । क्षयरहिता भवत । कात्याय-
नः ॥ ॥ मण्डूका वका चेतशिखावणौ नद्धा कर्षति समुद्रस्येति प्रत्यृचमि-
ति । मण्डूकादीन् दीर्घवंशाग्रं बद्धा तेन समुद्रस्य त्वेत्यादिभिः सप्तभिर्ऋ-
ग्भिः प्रतिमन्त्रं चित्समग्निं चिकृषेत् । यथाग्ने चिकृषेत् । यथाग्नेरु-
परि सर्वत्र मण्डूकादिभिः स्पर्शो भवति । तथा दीर्घं वंशाग्रेण क-
र्षेदित्यर्थः ॥ ॥ तत्र प्रथमः ॥

समुद्रस्य त्वा वकयाग्रेपरिव्ययामसि । पावको ऽअ-
स्मभ्यं शिवो भवेति ।

अवकाशे बालं । हेअग्ने ! त्वा त्वां समुद्रस्यावकया समु-
दनशीलस्य उदकस्य सम्बन्धिना शेषालेन परिव्ययामसि परितः
संवरणं कुर्म उपरि भागे सर्वत्र विकर्षाम इत्यर्थः । त्वं चास्मभ्य-
मस्मर्दय पावकः । शोधकः शिवः शांतश्च भवः ॥ अथ द्वितीयः ॥

हिमस्य त्वा जरायुणाग्ने परित्यतामास । पाव-
को ऽअस्मभ्यं शिवो भवेति ॥

हेअग्ने ! त्वं हिमस्य शैत्यस्य जरायुणा जरायुबहुत्यतिस्था-
नीयेन शेषालेन केषं पूर्ववत् ॥ ॥ अथ तृतीयः ॥

उपजमन्नुपवेतसेऽवतर नदीष्वाम । अग्ने पितमयामसि

मण्डूकि ताभिरागहि सेमन्नो यज्ञं पावकवर्णं शिवं कृधीति ।

हेअग्ने ! त्वं उपउपन् रुमा पृथिवी तस्या उपावतर तरुणा-
वेतसे वंजुलशाखायां उपावतर । तथा नदीणां नदीजलेष्वपि
अवतारा अपां पितमसि तेजो भवति । एवमग्निं सम्बोध्येदा-
नीयं मण्डूकीमाह । हेमण्डूकि ! मण्डूका भेकास्तेषां स्त्री मण्डूकि तत्संबोधनं-
हेमण्डूकि ! । त्वं ताभिः पूर्वोक्ताभिरग्निः सह आगहि आगच्छ । सा
त्वमिममनुष्ठीयमानं नोऽस्मदीयं यज्ञं पावकवर्णं अग्निसमानते-
जस्कं शिवफलप्रदत्वेन शतं कृषि कुरु ॥ अथ चतुर्थः ॥

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनं । अन्या-
स्ते अस्मत्तपंतु हेतयः पावको ऽअस्मभ्यं शिवो भवेति ॥

इदं चित्तजिरस्थानं अपां न्ययनं नियमेन प्राप्तिस्थानं । याग-
द्वारा सापः प्राप्यन्ते । अत एवापां बहुलत्वात् समुद्रस्य निवेशनं गृ-
हस्थानीयं तद्रूप हे अग्ने ते त्वदीया हेतयः । अस्मत्तोऽन्यान्विरोधिनः
पुरुषान् तपंतुं क्लेशयन्तु । अस्मभ्यमस्मदर्थं पावकः शोधकः शिवः शा-
न्तश्च भव ॥ अथ पञ्चमः ॥

अग्ने पाकरोचिषा मन्द्रया देवजिह्वया । आदेवान्भ-
क्षि यक्षि चेति ॥

हेअग्ने ! पावक शोधक देवद्योतनात्मक रोचिषा दीप्तिमत्ता
मन्द्रया जिह्वया वाचा देवानां वक्षि आह्वय यज च ॥ अथ षष्ठी ॥

सनः पवक दीदिवोग्ने देवाँ इहावह । उपयज्ञं
हविश्च न इति ॥

हेअग्ने ! पावक शोधक दीदिवः दीप्यमानः अग्ने नोऽस्मद-
र्थं देवानां इह कर्मण्यावह नोऽस्माकं इयं यज्ञं हविश्च उप देवसमीपे-
प्रापय ॥ अथ सप्तमः ॥

पावकया यश्चित्तयंत्या कृत्या क्षामन्नुरुच उपसो न भा-
नुना । तूर्वन्तया मनेतशस्यन् रण ऽआपो घृणेन तत्तृषा-
णो अजर इति ॥

योगिनः पावकया पावयिष्या चिन्तयन्त्या चेतयिष्या चितं
कुर्वाणा या कृपा कल्पनया सामर्थ्येन युक्तः सन् क्षामन् क्षान्ति-

भूमौ रुरुचे दीप्तवान् । तत्र दृष्टान्तः । उपसो न भानुना । यथा उपसः संप्रभिता प्रकाशेन दीप्यन्ते तद्वत् । किञ्च योगिनः एतदस्य गमनकुशलस्याश्वस्य यामक्षियामकरणे युद्धे तूर्वन परबलानि हिंसन्निव आघृणेतु सर्वतो दीप्यते खलु सोग्निः अजरो जरारहितः । तृष्णाणो न तृष्णायुक्तो भवति । यथा लोके शीघ्रगमनस्वभावमश्वं वामहस्तगतेन खलीनेन दृढं नियम्य रणे प्रवर्तमानः पुरुषः परबलानि हिंसनसन्तं त्वरते एवमयमग्निः प्रज्वलति । न कदाचिज्जीर्यति नाप्यसौ तृष्णायुक्तः । किन्तु तृप्त इत्यर्थः । कात्यायनः ॥ ॥ चित्यारोहणं नमस्त इतीति चित्यमग्निमारोहेत् ॥ पाठस्तु ॥

नमस्ते ह रसे शोचिषे नमस्ते अस्त्वर्विषे । अन्यास्ते अस्मत्तपन्तु हेतयः पावको ऽअस्मभ्यं शिवो भवेति ॥

हेअग्ने ! ते तव रसे रसानां मंहर्त्रे शोचिषे शोषणहेतवे तेजसे नमोऽस्तु । किञ्च ते तव अर्विषे पदार्थप्रकाशकाय । तेजसे नमोऽस्तु । अन्यानिखादि पूर्ववत् ॥ कात्यायनः ॥ स्वयमातृणायां पञ्चगृहीतं जुहोति । नृषदेवेलिति प्रतिमन्त्रमिति । स्वयमातृणायामिष्टकायां पञ्चवारं गृहीतमाज्यं नृषदेवेलित्यादिभिः पञ्चभिर्मन्त्रैः क्रमेण जुहुयात् । पाठस्तु ।

नृषदेवेलप्सुषदेवेद् बर्हिषदेवेद् वनसर्देवद् स्वार्विदेवेद् इति ।

नृषु मनुष्येषु जाठराग्निरूपेणासीदतीति नृषन् । अप्सु बह्वानलरूपेण स्वर्गं विन्दते लभते इति स्वार्वित् ॥ कात्यायनः ॥ कुशैः प्रोक्षति ये देवा इति द्वाभ्यामिति । दधिमधुघृतवत्यां पात्र्यां ये कुशाः समासिक्ताः तैः ये देवा इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां चित्यग्निप्रोक्षणं कुर्यात् ॥ तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥

ये देवा देवानां यज्ञिया यज्ञियानां सरत्सरीणमुप-
भागभासते । अहुता दोहविषो यज्ञे अस्मिन्सूयं पिबंतु मधुनो
घृतस्येति । १३९

द्विविधा देवा हविर्भुज इन्द्रवरुणादयः । शरीरनिर्वाहकाः प्राणापानादयश्च दीप्यतीति व्युत्पत्तिरुभयत्रापि सिध्यति । उभयेऽप्येते यज्ञियाः तत्रेन्द्रादयो यज्ञेन पूज्यत्वात् । यज्ञियाः प्राणादयस्तु यज्ञेन पूजनीयत्वाद्याज्ञियाः । एवं सति यज्ञियानां इन्द्रादिना देवतासम्बन्धिनः प्राणरूपाये यज्ञियाः देवाः संवत्सरेण साध्यं चित्यग्निभागं भजनीयं उपासते ये प्राणाद्या अहुतादः हुतं स्वाहाकारेण समर्पितमदंतीति हुतादः इन्द्रादयः तद्विपरीतत्वात्प्राणाद्याः अहुतादः । ये तथाविधाः प्राणाद्या देवा अस्मिन्यज्ञे हविषो हवीरूपस्य मधुनो घृतस्य च सामर्थ्याद्विभ्रश्च तत्तं भागं स्वयं पिबंतु । मदीयेन स्वाहाकारेणार्पणेन विनास्वयमेव दधिमधुघृतांशं स्वीकुर्वीच्चित्यर्थः । अथ द्वितीयः ॥

ये देवा देवेष्वधिदेवत्वमायत्येन्द्रब्रह्मण पुर एतारोऽस्य । येभ्यो न ऋते पर्वते धाम किञ्चन न तं दिवो न पृथिव्या अधिस्तुष्विति ।

ये प्राणा देवेष्विन्द्रादिविष्वपि अधिष्ठातृत्वेन देवत्वमायन् प्राप्ताः प्राणैरधिष्ठापिता एवेन्द्रादिविग्रहा व्यवहरंतीत्यर्थः । किञ्चास्य ब्रह्मणः भ्रामयमाणस्याग्नेः परिवृद्धस्य पुर एतारः पुरतो गंतारो निर्वाहका इत्यर्थः । खलु प्राणैर्विना चीयमानोऽग्निर्निर्वैष्टुं शक्यते किञ्च येभ्य ऋते यान्प्राणान्विना किञ्च न धाम किमपि शरीरं न पवते न युद्धं भवति । ते प्राणरूपा देवा दिवो न दिवापि न तिष्ठन्ति । किं तर्हि स्तुषु पर्वतसानुसदृशशरीरेष्वंतश्चक्षुरादिगोलकेषु अधि आश्रित्य वर्तन्ते ॥ काशायनः ॥ प्राणदा इत्यत्रोहतीति चित्यग्नेः सकाशाद्वरारोहेत् पाठस्तु ।

प्राणदा अयानदी व्यानदा वर्चादा वरिवोदाः । अन्यास्ते अस्मत्तपंतु हेतय पौवका अस्मभ्यः शिवो भवेति ।

यजमानाय प्राणं ददातीति प्राणदा इत्यग्निरभिधीयते । प्राणं सुस्थिरं करोतीत्यर्थः एवमुत्तरत्रापि योज्यं । वर्चो बलं । वरिवोधनं । अन्यान्त्यादि पूर्ववत् ॥ इत्यष्टादशेध्याये प्रथमोऽनुवाकः ॥

प्रथमेऽनुवाकेपरिसेचनादिकमुक्तं ॥ अथ द्वितीयेऽनुवाके वैश्वकर्मणे होमात्पूर्वं कर्तव्या या एकाहुतिरस्ति सा वैश्वकर्मण होमस्य प्रथमाहुतिश्चेत्युभयम-

भिधीयते । कात्यायनः । पञ्चगृहीतं जुहोत्यग्निस्तिग्मेनेत्युचेनेति । पाठस्तु ।

अग्निस्तिग्मेन शोचिषा घासद्विद्वन्पुश्रिणं । अग्निर्नो वनुने रयिमिति ।

अयं चीयमानोऽग्निस्तिग्मेन शोचिषा तीक्ष्णेन तेजसा अक्षमदनं भक्षणं तदस्यास्तीत्याग्नि तादृशं सर्वं राक्षसादिकं नियासत् । यास उ-
पक्षेपे । नितरामुपक्षीणं करोतु । किंचायमाग्नर्नोऽस्मदर्थं रयिं घनं व-
नुने ददातु । कात्यायनः षोडशगृहीतार्थमनुवाकशेषेणेति । षोडशगृही-
तस्याज्यस्याज्येन वैश्वकर्मेण होमस्य प्रथमाहुतिर्य इमेत्यादिभिरष्टमिर्द्विभि-
र्जुहुयात् । तत्र प्रथमः ।

ये इमा विश्वा भुवनानि जुह्वद्विर्हानान्यस्मीदत्पि-
तानः । स आशिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदधरां ऽआ-
विवेशेति ।

यः परमेश्वरः विश्वा भुवनानि जुह्वत् प्रलयकाले पृथिव्यादी-
निमान् सर्वान् लोकान् स्वान्मन्याहुतिप्रक्षेपवत्संहगन्तृपिरतीन्द्रिपदृष्टा स-
र्वज्ञः होता संहाररूपस्य होमस्य कर्ता नोऽस्माकमपि संहर्ता पुनः स्रष्टा
वमन् सर्वज्ञो यः परमेश्वरः स्वयमेवासीत् । अत एव सर्वा अप्युपनि-
षद् एवमाहुः । आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत्किञ्च
नमीपत् सदेव सोम्येदमऽग्र आसीत् । एकमेवाद्वितीयमित्याद्याः । स-
तादृशः परमेश्वरः आशिषा बहुस्यां प्रजायेत्येवंरूपया पुनरिच्छया द्र-
विणमिच्छमानः धनोपलक्षितं जगज्जगमपेक्षमाणः प्रथमस्थंस्वकीयमेकमेवा-
द्वितीयमुत्कृष्टं रूपमावृण्वानः परानभिव्यक्तोपाधिना विवेश जीवरूपेण प्र-
विष्टः एतच्च सर्वमुपनिषद्याम्नातं । सोकामयत् बहुः स्यां प्रजायेतेति ।
स तपोतप्यत् । सतपस्तप्त्वा । इदं सर्वमसृजत् । यदिदं किञ्च ।
तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति । एवमन्या अप्युपनिषद् उदाहार्याः । अ-
थ द्वितीयः ।

किञ्चिदस्वीदधिष्ठानमारंभणं कतमात् स्विक्कथासीत् ।
यतो ऋमि जनयन्विद्वकर्मा विद्यामौर्णीन्महिना विश्व-
पक्षा इति ।

लोके हि घटं चिकीर्षुः कुलालादयो गृहादिकं किञ्चित्स्थानमधि-

प्रायः सृष्ट्वेणारम्भकद्रव्येण चक्रादिरूपैरुपकरणैर्द्रष्टे निष्पादयति । ई-
श्वरस्य निरोधनान्तरमत्राक्षिप्यते । आवापृथिव्योस्त्वादानवेलायासी-
द्वरस्वाधिष्ठानं निवासस्थानं किंस्विदामीत् न किञ्चिदप्यर्थः । त-
था आरम्भनं कृतमस्विदामीत् । आरम्भ्यते अनेनेत्यारम्भणमुदाहान-
कारणं तदापि कृतमद्भवेत् । नहि आवापृथिव्यां तदयितुं किञ्चिदु-
पादानं सम्भवति तथा दण्डचक्रादिनिमित्तमपि कथा कथमुत कि-
प्रकारमासीत् । न किञ्चिन्संभवनीयार्थः । निरवशः । सर्वदृष्टा वि-
श्वकर्मा यतो यस्मिन् काले भूमिं भुलोकं द्यां द्युलोकं च जनयन्त्यनेन
लांस्मन् काले मातृता स्वमादृष्ट्या सारनान्तर्गते विनेव विज्ञेयं उ-
च्यते सृष्टौ आवापृथिव्यावाच्छादितवान् । अन्वयः सृष्ट्या परमेश्वर
इत्यर्थः ॥ ५ अथ द्वितीयः ॥

निष्ठवतश्चक्षुःश्रुतं विष्ठवतो मुखो विष्ठवतो वाहकस्त वि-
ष्ठवतः स्यात् । जगद्भूषां धमति सम्पन्नैर्द्रव्याभूमी ज-
नयन्त्येव एक इति ॥

चक्षुःश्रुतीयानां आवापृथिव्योश्चोत्पत्तौ च विष्ठवतः प-
रमेश्वर एव स्यात् । कथयति तदुच्यते । निष्ठवतश्चक्षुःश्रुतः सर्वश-
क्त्यः सर्वपाण्डित्यवान् यस्य यस्य प्राणिनां ये चक्षुःश्रुती यस्य तदुपाधि-
कस्य परमेश्वरस्येयां सर्वज्ञस्य चक्षुःषि सम्पद्यते । एवं सृष्टदम्भपादे-
ष्वपि योजनीयं । स तादृश एको देवो आवाभूमी जनयन् । वाहृष्यां
वाहृस्थानीयार्या धमश्चिर्माभ्यां निमित्तकारणार्यां सन्धयति । धम नि-
मित्यर्थः । जगत्सर्वं सम्पद्यमानं प्राप्तं स्वधीने करोति तथा पतत्रः पत-
नशीलैः अनिलैः । पञ्चभूतेरुपादानकरणैर्जगत्स्वार्थानं करोति सन्धयति ॥
अथ चतुर्थी ॥

किञ्चिद्वन्नं क उ स वृक्ष आस यतो आवापृथिव्यां निष्ठ-
तक्षुः । मनीषिणो मनसा पृच्छते हुतयद्धानिष्ठद् भुवनानि-
धारयन्निनि ॥

लोको हि प्रौढप्रामादनिर्माणः कस्मिंश्चित्पादे वने कश्चिन्महान्त-
वृक्षं छित्वा तक्षणादिना स्तम्भादिकं सम्पादयति । इह तु परमेश्वरमे-

रिता जगत्सृष्टारो यतो यस्माद्भूनायं वृक्षमादाय द्यावापृथिवी तिष्ठ-
तक्षुः । तक्षणेन द्यावापृथिव्यौ निष्पादितवन्तः । तद्वन् किं२स्वित् ।
किञ्चाम स्यात् न किञ्चित्तादृशं सम्भवति । तथा कः स वृक्षः तादृशः प्रौ-
ढो वृक्षोऽपि क आसन् कश्चिन्मम्भवति । हेमनीपिणो विट्वांनः । मनमा-
स्वकीयेन विचार्य पृच्छत इदं सर्वं पृच्छत इत् एव किञ्चेश्वरो भुवननानि
धारयन् । यदध्यातिष्ठत् । यन्स्थानमधिधिष्ठितवान् । तदपि स्थानं सर्वतः प्र-
च्छत । एतस्य प्रश्नस्य सर्वस्याप्युत्तरं श्रूयन्तरेषु ब्रह्म वनं ब्रह्म स वृक्ष आ-
सीत् । इत्येतस्यामुच्यमानात् स्वरूपव्यतिरिक्तवनादि निरपेक्षन्वमेवा-
स्योत्तरस्याभिप्रायः । अतोत्रापि किंस्वित्प्रतिभिन्याक्षपपत्वेनेव याजिनं
पृच्छतेत्यस्याप्ययमभिप्रायः । भवाद्भ्रः पृष्टोप्यभिज्ञानिरपेक्षन्वमेव वदिष्य-
तीति । अथ पञ्चमी ।

या ते धामानि परमाणि या च माया मध्यमा विश्वक-
र्मन्तुते मा । शिक्षा सखिभ्यो हविषि स्वधा वः स्वयंयुजस्व त-
न्वं वृद्धान इति ॥

हेविश्वकर्मन् ! ते त्वदीयानि परमाणि धामानि उतापि न या
मध्यमापायानि च मध्यमस्थानानि इमानि सर्वाणि स्थानानि मांश्व-
भ्यः सखिवति चयेभ्यो यजमानेभ्यो हविषि । हविः प्रदाननिमित्तं शिक्षा-
क्षोपदिश हेस्वधावः ! स्वधोपलक्षितहविर्लक्षणाद्भवन् विश्वकमेव तन्वं
वृद्धानः । यजमानशरीरं वर्धमानः । स्वयं यजस्व त्वदनुग्रहमंतरेण को-
वान्यो यष्टुं शक्त इत्यर्थः । अथ वाचस्पतिमखाद्यास्तिस्त्र ऋचांष्टमे व्या-
ये व्याख्याताः ॥

इत्यष्टादशाध्याये द्वितीयोऽनुवाकः ।

द्वितीयेऽनुवाके वैश्वकर्मण होमस्य प्रथमाहुतिरुक्ता ॥ ॥ अथ
तृतीये द्वितीयाहुतिरुच्यते ॥ ॥ कात्यायनः ॥ ॥ चक्षुषः पितेत्यपराहु-
त्यानुवाकेनेति । षोडशगृहीतस्याज्यशेषेण वैश्वकर्मण होमस्य द्वितीयमा-
हुतिं चक्षुषः पितेत्यष्टमिर्ऋग्भिर्जुहुयादिति शेषः ॥ ॥ तत्र प्रथमा ॥

चक्षुषः पिता मनसा हि धीरो घृतमेने अजन्नमनमा-
ने । यदेदं ता अदद हंत पूर्वं आदिद्यावापृथिवी अप्रथेतामिति ॥

चक्षुश्चक्षुर्गदेः प्राणसमुदायस्य पितोत्पादको धीरो धैर्यवान्विश्व-
कर्मा मनसा स्वेष्टया घृते घृतवत्त्वात्प्राणिनामुपभोगमाधनभूते एते द्यावा-
पृथिव्यौ नमनमाने परस्परानुकूलेन नमनोपेते अजनदुत्पादितवान् । य-
दैव पूर्वं मथमोत्पन्नाना अनी जननयुक्ताश्चेष्टावन्तश्चक्षुरादिप्राणा अददृहत-
दृढा अभवन् । आदित अनन्तरमेव द्यावापृथिवी अमयेतां द्यावापृथि-
व्यौ विस्तृते अभूता ॥ ॥ अथ द्वितीया ॥

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमो-
नदृक् । तेषामिष्टानि समिषामर्दति यत्रास सप्तकर्षान्यथ
एकमाहुरिति ॥

विश्वविषयाणि कर्माणि सृष्टिस्थितिमंढाररूपाणि कर्माणि यस्यामो-
विश्वकर्मा स च विमना विभूतमनाः तस्य तेषु कर्मसु मन एवमापन्न
इत्यर्थः । आदृ । अपि च यस्मादेवं तस्मान्मय एव विधाता धाता विहा-
या इति चोच्यते । विधातोत्पादकः । धाता पोषकः । विशेषेण जटा-
नि परित्यजतीति विहायाः मंदर्त्तेत्यर्थः । उतापि च अत एव परमः
सर्वेभ्य उत्कृष्टः सम्पश्यत्यतीति मदृक् सर्वज्ञ इत्यर्थः । यत्र समिषपरः प-
रस्मिन्नीड्वरेण सप्तकर्षीति एकमादृः । य एते मरीच्यत्रिमृत्वाः सप्त क-
र्षयो विविधा दृश्यन्ते सर्वे सृष्टेः प्राक् परस्मिन्नेकीभूता इति वेदान्तप्राणा-
आदृः । स च परमेश्वरस्तेषां सप्त कृषिप्रभृतीनामिष्टान्यपोषतानि स्था-
नादीनि इषा स्वेष्ट्यामात्रेण सम्पादयति । तेन च ते मर्दयन्ते नर्दन्ति ह-
प्यन्ति ॥ अथ तृतीया ॥

यो नः पिता जनिता यो विधाता यामानि वेदभुवना-
नि विद्वन् । यो देवानां नामधा एक एव तं संप्रदत्त भुव-
नार्थम्यन्येति ॥

यो विश्वकर्मा नोस्माकं पिता पालयिता न केवलं पालकः कि-
न्तु जनिता उत्पादकोपि । किमेतन्नास्माकमुत्पादयिताजननेकौघेन यो
विधाता सर्वस्य जगतः उत्पादकः । यश्च विश्वकर्मा विद्वन् विद्वानि च-
तुर्दशरूपाणि धामानि वेद जानाति किञ्च यः देवानां नामधाः स्वयमेव
सर्वदेवरूपेणाग्नीद्रमित्रादीनि देवतानामानि धारयति । अत एवान्यत्रा-

मनातं । इन्द्रमित्रवरुणमग्निं अहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद्विप्रा बहुधा वदंसग्निं यमं मातरिश्वानमाहु रिति । अत एवाहुतानां देवानां नामानि धारयन्नपि स्वयमेक एवं तं विश्वकर्माणं परमेश्वरं अन्या भुवना तस्मादन्यानि सृष्टानि सर्वाणि भुवनानि संपन्नो यथा भवति तथा यन्ति । प्रलयकाल एकत्वं प्राप्नुवन्ति । एकीभावयुक्ते प्रलय एक ईश्वरः कानि भुवनानीति एवं संपन्नः संप्रधारणं प्रवर्त्तते । विभागाभावेन श्रुत्यनभिज्ञैर्ज्ञातुमशक्यत्वात् ॥ ॥ अथ चतुर्थी ।

तऽआपसृजुनद्रविणः समस्मा ऋषयः पूर्वं जग्गितारां न भूता । असृत्ते सृते रजसि निषते ये भूतानि सम-
कृण्वन्निमानाति ।

पूर्वोदाहृतेन विश्वकर्मणा प्रथमोत्पादिता ये विश्वस्रष्टारः असृत्ते अमुभिः प्राणैः मेरिते जगमात्मके सृते प्राणादिव्यतिरिक्तेन मेरिते म्हा-
वरात्मके निषते निषण्णे स्थिते रजसि लोके इमानि भूतानि सवन्ति
ज्ञान प्राणिनः समकृण्वन् सम्प्रगुदपादयन् । ते पूर्वं स्रष्टारः अस्मै
सृष्टाय जगते द्रविणं धनरूपं भोग्यज्ञानं समायजन् तं सम्यक् संपादयन्तः
कीदृशास्ते ऋषयः अनीन्द्रियद्रष्टाः सर्वज्ञा इत्यर्थः । भूताजगतां न भूम्ना
स्वकीयेन महत्त्वेन कदाचिदपि जीणो नश्वरा न भवन्ति ॥ अथ पञ्चमी ॥

परो दिवः पर एता पृथिव्या परो देवेभिरस्तुरैर्वद-
स्ति । कः स्विद्रर्मः प्रथमं दध्रे आपो यत्र देवाः सम-
पश्यन्त पूर्वं इति । ॥ ॥

हृदयगुण्डरीके यदीश्वरमस्ति ततस्त्वं दिवापरः । व्युत्क्रादापि
दूरे तिष्ठति एता पृथिव्या परः अस्याः पृथिव्याः पर अस्याः पृथिव्या
अदूरे तिष्ठति देवोभिरस्तुरैः परः देवैर्योस्तुग्भ्यश्च दूरे तिष्ठति सकारात्तः
परः शष्टो दृग्वाची दृग्त्वं नामावलक्षणं सर्वजगद्विलक्षणत्वात् गुरुशास्त्र-
विमुखैर्न ज्ञायते इत्यर्थः । किञ्च यत्र यस्मिन्नाभि पूर्वं प्रथमोत्पादिताः सर्वे
देवाः समपश्यन्त स्वस्थानानि सम्प्रगृह्णन्तः । तं कः स्विद्रर्मं कं नाम
गर्भं आपः प्रथमं दध्रे दीधरे आद्याद्भिः पूर्वं धृते गर्भे देवमनुष्यादयः
सर्वे प्राणिनो वर्तते इत्येवं शास्त्रमसिद्धः सोऽपि गर्भक इति न ज्ञायते यदा

स्थूलोष्णं जगदाधारो न ज्ञायते । तदानीपत्यन्तमूर्खं तत्त्वं न ज्ञायते इति किमु वक्तव्यमित्यभिप्रायः ॥ ॥ अथ षष्ठी ॥

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्न आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे । अजस्य नाभा अध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुरिति ।

इदानीं गुरुशास्त्रानुशामनोपेतेषु विद्यमानस्तत्त्वनिर्णयोऽभिधीयते । यत्र यस्मिन्ब्रह्माण्डगर्भे विश्वे सर्वेऽपि देवाः समगच्छन्त सद्गताः सम्भूय वर्तन्ते । तमिममेव गर्भमापः प्रथमं दध्ने धृतवत्यः । तद्वारेण प्रकार एव स्पष्टीक्रियते । अजस्य जन्मरहितस्य परमेश्वरस्य नाभा नाभौ नाभिस्थानीयस्वरूपमध्ये एकद्विचद्विजं अर्पितं अधिकत्वेन स्थापितं यस्मिन् बीजं विश्वानि सर्वाण्यपि भुवनानि भूतजातानि तस्थुः । तद्वीजमर्पितं । तथा च स्मर्यते । अपमेव स सर्जादौ तामु बीर्यमवाप्तवान् । तदण्डमभवद्धर्मं सूर्यकोटिमयप्रभामिति ॥ अथ सप्तमी ॥

न ते विदाथ य इमा जजानान्यवृष्मः कमन्तरं बभूव ।

नीहारेण प्रावृता जल्प्या चासुतृप उक्थशामश्चरन्तीति ॥

यो विश्वकर्मा इमा इमानि भूतानि जजानोत्पादितवान् । विश्वकर्माणं न विदाथे न स्पृष्टा हेजीवा युयं न जानीथ । देवदत्तोहं यज्ञदत्तोहामत्येवं सर्वेऽपि ययमान्मानं विश्वकर्माणं जानीम इति यद्युज्येन तदमत् तर्हीहं प्रत्ययागम्यं नैवं रूपं विश्वकर्माणः परमेश्वरस्य तन्वं किन्तु युष्माकमहं प्रत्ययगम्यानां जीवानामज्ञानमन्तरमभ्यन्तरं अन्यदहं प्रत्ययगम्यादतिरिक्तं सर्ववेदान्तवेद्यमीश्वरत्वं बभूव भवति विद्यते नैव रूपवत्तदापि कुतो न विदुम इति चेत् नीहारेण आवृता । भवतो नीहारमदृशेनाज्ञानेनावृतत्वात् जानन्ति । यथा नीहारो नाखन्तममन्तात् दृष्टेरावरकत्वात् । नात्यन्तं सत् काष्ठपाषाणादि चान्तरेण संबद्धं अयोग्यत्वात् । एवमज्ञानमपि नाखन्तमसत् । ईश्वरतत्त्वावरकत्वात् । नापि सत् बोधमात्रनिर्वर्तत्वात् । दृश्येनानिर्वचनीयेनाज्ञानेन भवन्तः सर्वेऽपि जीवाः प्रावृता न केवलं प्रावृता न केवलं प्रावृतत्वं किन्तु जल्प्याच देवोहं ममेदं गृहक्षेत्रमित्याद्यन्तजल्पनपराश्च किञ्च असुतृपः । असुषु तृप्यन्तीति असुतृपः । केनापि प्रकारेण प्राप्स्यान्वा

तावेतेन तृप्यन्ति भवता न तु परमेश्वरतत्त्वं विचारयितुं प्रवर्तन्तं न केवल-
मिहलोके भोगमातृभिः किन्तु उक्थशामः परलोकेपि भोगं सम्मादयितुं
नानाविधयज्ञेषु उक्थानि शस्त्राणि शंसतीत्युक्थशामः । तादृशा भूत्वा भव-
न्तश्चरन्ति ऐहिकामुष्मिकभोगयोः सर्वदा प्रवर्तते । तस्मादज्ञानं मिथ्याज्ञान-
पराधीनानां भवतां नास्ति तत्त्वज्ञानमित्यर्थः ॥ अथाऽष्टमी ॥

विश्वकर्मा ह्यजनिष्ट देव आदिह्गन्धर्वोऽअभवद्वितीयः ।
तृतीयः पिता जनिताषधीनामपां गर्भं व्यदधात्पुरुञ्चेति ॥

ब्रह्माण्डमध्यगतानां उत्पत्तिरुच्यते । अण्डमध्ये प्रथमं विश्वकर्मा
देवतिर्यगाद्विश्वभेदस्य कर्ता सत्यलोकवासी चतुर्मुखो देव अजनिष्टोत्प-
न्नः । आदिन । अनन्तरमेव तदपेक्षया मगन्धर्वो गो वाचः धारयिता पृथि-
व्या वा गन्धर्वोऽग्निः । अग्निर्वै गन्धर्व इति श्रुतः । सद्वितीयः समहायः ।
अभवत् । उत्पन्नः । ततोयः पिता पालयिता औषधीनां जनिता उत्पादकः ।
तदपेक्षया तृतीयोभवत् देवमाया गर्भं ब्रह्माण्डं परमेश्वरः पुरुषा व्यदधात् ।
बहुधा विभक्तं कृतवान् ॥

इत्यष्टादशोऽध्याये तृतीयोऽनुवाकः ॥

तृतीयेऽनुवाके वैश्वकर्मेणहोमस्य द्वितीयाहुतिरुक्ता ॥ एतावता वैश्व-
कर्मेण होमः समापितः ॥ अथ चतुर्थेऽऽनुवाके ब्रह्मणो जप्यं चाऽप्रतिर-
ध्याक्यं मृक्तमाम्नायते ॥ तत्र अहवनीयेर्धौ प्रणीयमानेध्वर्युणा संप्रेषितो
ब्रह्मा दक्षिणोत्तरतानुव्रजन् आयुः शिशान इत्येतन्मृक्तं अपातिरध्याक्यं
जपेत् ॥ तथा च काम्यायनः ॥ ब्रह्मन्नप्रतिरथं जपतीति संप्रेष्यतीति शेषः
संप्रेषसामर्थादेव ब्रह्मा एतन्मृक्तं जपेदित्युक्तं भवति ॥ तत्र प्रथमा ॥

आशुः शिशानो वृषभो न भीमो घनाघनः क्षोभणश्च-
र्षणीनाम् । संक्रन्दनो निर्मिष एकवीरः शतं सेनाऽअजय-
त्साकमिन्द्र इति ॥

अयमिन्द्रः परमेश्वरोपेताग्निः शतं सेनाः शतसंख्याकाः परकीय-
सेनाः साकमेकप्रयत्नेनैवाजयत् । कीदृश इन्द्रः आयुः शीघ्रगामी शिशान-
स्तीक्ष्णः । अत्युग्र इत्यर्थः । तत्र दृष्टान्तः ॥ वृषभो न भीमः यथा वृषभोऽ
भयङ्करः । घनाघनः शत्रूणामतिशयेन घातकः । चर्षणीनां परसेनागतानां

मनुष्याणां क्षोभणः । क्षोभहेतुः । संक्रन्दनः समीचीनं संक्रन्दनं परभयहे-
तुध्वनिविशेषो यस्यासौ संक्रन्दनः । अनिमिषः कदाचिदपि निमेषं न
करोति अत्यन्तमावधान इत्यर्थः । एकवीरः परनैरपेक्षेण स्वयमेक एव जेतुं
शक्तः शूरः ॥ अथ द्वितीयः ॥

संक्रन्दनेनानिमिषेण जिष्णुना युत्कारेण दुश्चवनेन धृ-
ष्णुना । तदिन्द्रेण जय तन्महध्वं युधो नर इषुहस्तेन वृष्णेति ॥

युधो युद्धार्थिनो हेनरा मनुष्या ! इन्द्रेणानुग्रहीताः मन्तस्तत्परवलं
जयत वशीकृता । वशीकृत्य च तन्महध्वं अभिवन्तु विनाशयनेत्यर्थः ।
कीदृशेनेन्द्रेण संक्रन्दनेनानिमिषेण पूर्ववत्प्रत्येयम् । जिष्णुना जयशीलेन
युत्कारेण युद्धकारिणा दुश्चवनेन च्वावधितुं दुःशक्येन धृष्णुना नीतिरहि-
तेन इषुहस्तेन । बाणाद्यायुधोपेनेन । वृष्णा प्रधानेन वर्षकेण ॥ अथ तृतीयः ॥

स इषुहस्तैः सतिपङ्क्तिभिर्वशी सःस्रष्टा मयुध इन्द्रो
गणेन । सः स्रष्टाजितसोमपा बाहुशर्ध्व्यधन्वा प्रतिहिता-
भिरस्तेति ॥

इषुहो हस्तेषु येषां भटानां ते इषुहस्तास्तैः साकं सा इन्द्रो वशी
परवलं स्ववशं करोति निपङ्क्तिः खड्गहस्तास्तैः साकं स इन्द्रो वशी स्व-
कीयेर्दानुष्कः खड्गहस्तैश्चोपेतत्वात्परमैर्न्यं वशीकरोतीत्यर्थः । यद्वा परमै-
न्यगतेर्दानुष्कः खड्गहस्तैः सहितान् परकीयान् सर्वान्वशीकरोति । स
इन्द्रो युधं योधगणेन परकीयभट्टममृहेन संस्रष्टा मयुध् मिश्रितो भवति ।
मिश्रोभूय च ये स्वेन संस्रष्टास्तान् सर्वान् जयतीति संस्रष्टजित् । सोमपाः
यजमानानां योगेषु सोमं पिबति अत एव बाहुशर्द्धौ बाहुवलोपेतः उग्र-
धन्वा उग्रतधनुष्कः प्रतिहिताभिस्तेन धनुषा मोरिताभिरिषुभिरस्ताक्षेभ्य वि-
नाशयितेत्यर्थः ॥ अथ चतुर्थी ॥

बृहस्पते परिदीया रथेन रक्षोहाऽमित्राऽअपबाधमानः ।
प्रभञ्जन्तसेनाः प्रमृणो युधा जयन्नस्माकमेध्यविता रथानामिति ॥

बृहतो वाक् तस्याः पालको बृहस्पतिरिन्द्रः । अत एवान्यत्रा-
म्नातम् । बाधे बृहती तस्या एव पतिस्तस्माद् बृहस्पतिरिति । व्याकरणक-
र्तृत्वादिन्द्रस्य वाक्पतित्वम् । तच्चान्यत्र समाम्नातम् । देवा इन्द्रमब्रुवस्ताहं नो

वाचं व्याकुर्वीति । तथाविध हेइन्द्र ! त्वं रथेन परिदीय सर्वतो गच्छ । कीदृश-
इन्द्रः । रक्षोहा राक्षसानां हंता अमित्रान् शत्रून्पवाधमानः । यथा अपन-
यन्ति तथा बाधमानः भेनाः परकीयाः प्रमजन् प्रकर्षेण भग्नाः कुर्वन् प्र-
सृणः प्रकर्षेण स हिंसकः । युद्धेन जयन् सर्वत्र विजयमानः । अस्मा-
कमस्मदीयानां स्यानामविता एधिरक्षको भव ॥ ॥ अथ पंचमी ॥

बलविज्ञायः स्थाविरः प्रवीरः सहस्वान्वाजी सहमान-
उग्रः । अभिर्वीरो अभिसन्वा सहोजा जैत्रमिद्र रथमातिष्ठ
गोविदिति ॥

हेइन्द्र ! त्वं जैत्रं जयशक्तिं रथमातिष्ठ आरोह । कीदृशस्त्वं बलं पर-
कीयमामर्थ्यं विजानातीति बलविज्ञायः । स्थाविरः पुरातनः । शूरेष्वति
शूरः । सहस्वान् बलवान् वाजी अन्नवान् सहमानः परेषामभिभविता ।
उग्रो युद्धेषु क्रूरः । अभितो वीरा शूरभटा यस्यामावभिर्वीरः अभितः
सत्त्वानः पारिचारकाः प्राणिनो यस्यामावभिमन्त्रा सहस्रो बलविज-
जानः सहोजः बलाधिक इत्यर्थः । गां भूमिं विदन्ते लभन् इति गोवि-
द ॥ अथ षष्ठी ॥

गोत्रमिदं गोविदं वज्रवाहुं जयन्तमर्ज्यं प्रसृणं तमोज-
सा । इमः सजाता अनुर्वारध्वमिद्रः सग्वाघां ऽअनुसर-
मध्वमिति ॥

हेसजाताः समानजन्मानोऽस्मदीया ज्ञातव्यो युयमित्येन्द्रमनुसर-
मध्वं इन्द्रः पुरतो युद्धं सम्यगारभता कीदृशमिद्रं गोत्रमिदं गोत्रान् प-
र्वतान् भित्तनीति तदीयपक्षान् छित्तनीति गोत्रमिद्रं । तं गां भूमिं विद-
ते लभन्ते इति तं गोविदं । वज्रं वाहो यस्य स वज्रवाहुस्ते । ज्या भूमि
रज्यं भूमिराहित्यं शत्रूणां यथा भवति तथा विजयन्तं विजयमानं । ओजसा
बलेन प्रसृणन्तं प्रकर्षेण हिंसन्तम् ॥ अथ सप्तमी ॥

अभिमोत्रिणि सहसा गाहमानोदयो वीरः शतमन्यु-
रिन्द्रः । दुश्च्यवनः पृतनापालयुध्यास्माकं सेना अवतु प्र-
युत्सु इति ॥

अयमिद्रः प्रयुत्सु प्रकृष्टेषु युद्धेष्वस्माकं सेना अवतु रक्षतु की-
दृशः इन्द्रः अभि सर्वतोऽवस्थितानि गोत्राणि युद्धक्षेत्राणि सहसा क्षीघ्र-

गाहमानः प्रविशन् । अदयो दयारहितः । वीरः शूरः । शतमन्युर्वहुधा
क्रोधयुक्तः । दुश्चयवनः च्यावयितुं दुःशक्यः । पृथनाषाद् परकीयसेना-
नामभिभविता । अयुद्धयः केनापि योद्धुमशक्यः ॥ ॥ अथाष्टमी ।

इन्द्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु
सोमः । देवसेनानामभिभोजनीनां जयन्तीनां मरुतो
यत्त्वग्रमिति ।

याः सेना अस्मदनुग्रहार्थं वैरिषु गच्छन्ति आसां सनाभामिन्द्रो नेता
भवतु यो बृहस्पतिर्षा च दक्षिणा देवी यश्च यज्ञो यश्च सोम एतेषा-
मेकैकः पुगतः गच्छन्तु याश्चैतत्संविपन्यो देवमेताः परबलं अभितो ये-
जयस्यो जयान्ति तामामग्रं पुरतो मरुतो यन्तु गच्छन्तु । अथ नवमी ।

इन्द्रस्य वृष्णो वरुणस्य राज्ञऽ आदित्यानां मरुतां
शर्ध उग्रं । महामनसां भुवनचयवानां घोषां देवानां जय-
तामुदस्थादिति ।

वृष्णः कामस्य वर्षणः इन्द्रस्य राज्ञो राज्ञं कुर्वतो वरुणस्य आ-
दित्यानां अदिनिपुत्राणां मरुतां शर्धो बलं युद्धेष्वभितः प्रभवतिविशेषः ।
महामनसां युद्धे स्थिरचित्तानां शत्रून् भुवनेभ्यश्च्यवायितुं समर्थानां ज-
यतां विजयमानानां देवानां इन्द्रादीनां घोषशब्दो ध्वनिरुदस्थात् सर्वत उ-
त्थितोऽभूत् ॥ अथ दशमी ।

उद्धर्षय मघवन्नायुधान्युत्सत्त्वानां मामकानां मनां
सि । उद्धृजहन्वाजिनां वाजिना न्युद्रथानां जयतां यन्तु
घोषा इति ।

हेमघवन् ! इन्द्र आयुधान्यस्मदीयान्युद्धर्षय परकीयेभ्य उन्कृष्टानि
कृत्वा अस्मान्दर्षय । मामकानां मदीयानां सत्त्वानां प्राणिनां मर्तामि उ-
त्कृष्टानि कृत्वा हर्षय । हेतव्रह्म वैरियातिन् वाजिनामन्वानां अश्वमदीयानां
वाजिनां निशि गमनानि उत्कृष्टानि कृत्वा हर्षय जयन्तां विजयं प्राप्नु-
वतां रथानामस्मदीयानां घोषाः उद्यन्तु महान्तो ध्वनय उद्गच्छन्तु ॥
अथैकादशी ॥

अस्माकामिन्द्रः सभृतेषु ध्वजेष्वस्माकं या इषवस्ता ज-

यन्तु । अस्माकं वीरा उत्तरे भवंस्वस्मां उ देवा अव-
ताह्वेष्विति ।

युद्धार्थं परमैन्यगतेषु ध्वजेषु सभृतेषु सम्यक् प्राप्तेषु सत्सु अ-
स्माकमिन्द्रो रक्षितेति शेषः । तदानीमस्माकं या इषवो अस्मदीयैर्मुक्तास्ता
जयन्तु परमैन्यानि वध्यन्तु । अस्माकं वीरा ये शूरा भटा ते उत्तरे
भवन्तु परकीयभटेभ्य उत्कृष्टा भवन्तु । अपि च हे देवा ! आह्वेषु युद्धेषु
अस्मान् यूयमवत रक्षत ॥ अथ द्वादशी ।

अभीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणांगान्यष्वे परेहि ।
अभिप्रेहि निर्दह हृत्सुशोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्तामिति ।

हेअप्ने सर्वव्यापनशीले इन्द्रमेने अभीषां शत्रूणां चित्तं चित्तानि
चेतांसि प्रतिलालयन्ती विमोहमाना त्वं तच्छत्रूमन्वेधीनि हृदयान्यापि शो-
कैर्निर्दह भस्मीकुरु तेऽमित्रास्तेपि शत्रवः अन्धेन तमसा तीव्राधिकारेण स-
चन्ताः संगता भवन्तु । अथ त्रयोदशी ।

अवसृष्टा परापत शरव्ये ब्रह्ममशिता । गच्छामित्रा-
न्प्रपश्यस्व मामीषां कंचनोच्छिष इति ।

हिंसिका हेतिः शक्रया ब्रह्मणा मन्त्रेण मशिता मर्जीकृता
ब्रह्ममशिता तादृशी । हे शरव्ये ! त्वं अवसृष्टा अस्माभिर्मुक्ता मती परापत
सहसा परमैन्यं पतिता भव । पतिन्वा च अमित्रान् शत्रून् गच्छ प्राप्य च
पश्यस्व शत्रूणां शरीरमध्ये प्रवेशं कुरु । प्रविश्य च अभीषां शत्रूणां मध्ये
केचन पुरुषं मोक्षिषः अत्राशिष्टं मा कुरु सर्वानपि जहीसर्थः ॥ अथ चतुर्दशी ।

प्रेता जयता नर इन्द्रो वः शर्म यच्छतु । उग्रावः सन्तु
बाह्वो नाधृष्या यथा सथेति ।

हेनरोऽस्मदीयाः पुरुषाः मेन परमैन्यं प्रकर्षेण गच्छत । ततो जयत
विजयं प्राप्नुत । अयमिन्द्रो वः युष्मभ्यं शर्म जयप्रयुक्तं सुखं यच्छतु किञ्च
यथा युयं अनाधृष्या असथ केनापि तिरस्कार्या भवथ । तथा वः युष्माकं
बाह्वो भुजदण्डा उग्रा उद्गूर्णायुधाः सन्तु ॥ ॥ अथ पञ्चदशी ॥

असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति नः ओजसा स्पर्धमा-

ना । तांगूढत तमसाऽपव्रतेन यथामीऽ अन्यो अन्यं न-
जानन्निति ॥ ४५

हेमरुतः ! ययं परेषां शत्रूणां या प्रसिद्धा असौ सेना नः अस्मा-
नभ्योति अभिलक्षणागच्छति । कीदृशी सेना । ओजसा बलेन स्पर्धमाना
प्रस्पृष्टां कुर्वाणां तां सेनां अपव्रतेन आगतकर्मणा तमसाधकारेण गृह-
त संवृतामाच्छादिनामपलपितां कुरुत । यथा अमी मैत्रिका अन्योन्यं पर-
स्परं न जानन् । न जानीयुः । तथामूं गूढतेत्यन्वयः ॥ अथ षोडशी ॥

यत्र बाणाः सम्पतन्ति कुमारा विशिखा इव । तत्र इ-
न्द्रो वृहस्पतिरदितिः शर्म यच्छतु विद्वाहा शर्म यच्छत्विति ॥

यत्र यस्मिन् युद्धे बाणाः परैर्मुक्ताः सम्पतन्ति इतश्चेतश्च सम्भूय
पतन्ति । तत्र दृष्टांतः । कुमारा विशिखा इव यथा शिखाराहिताः सु-
ण्डितमस्तका विकीर्णकेशा वा अत्यंतं बालाश्चपलाः सन्त इतश्चेतश्च
गच्छन्ति तद्वत् । ततोऽस्मिन् युद्धे अपमिन्द्रो नोस्मभ्यं शर्म जयमयुक्तं
मुखं यच्छतु ददातु कीदृश इन्द्रः वृहस्पतिः । तत्तदुचितयन्त्रज्ञा आदितिर-
नश्वण्डितशक्तिः । विश्वाहा परकीयमवेप्राणिघाती । अपमिन्द्रः नोऽस्म-
भ्यं शर्म यच्छतु ॥ अथ सप्तदशी ॥

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजासृतेना-
नुवस्तां । उरोर्वीरयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वा नु देवा
मदत्विति ॥

द्वयजमानः ! ते तव मर्माणि जीनस्थानानि वर्मणा कवचेन छादया-
मि आछादयामि सोमो राजा अमृतेन मरणनिवारकेण केनापि कवच
विशेषेण अनुवस्तां त्वामालदयतु । तथा वरुणस्ते तुभ्यं उरोर्वीरयः ।
अन्यदीपाप्यधिकादप्येत्यंतं वर्म कृणोतु जयन्तं विजयं प्राप्नुवन्तं त्वा
देवाः अनुमदन्तु । अनुकूला भूत्वा हृष्यन्तु ॥

इत्यष्टादशोऽध्यायः चतुर्थोऽनुवाकः ॥

चतुर्थेऽनुवाके ब्रह्मणा जप्यमप्रतिरथाख्यं सूक्तमुक्तं ॥ ॥ अथ
पञ्चमेऽग्निप्रणयनमुच्यते ॥ कात्यायनः ॥ आद्रोदुंबरी घृतेोषितास्तिस्र उ-
देनमित्यादधानि प्रन्यूचामिति । घृताक्ताद्रास्तिस्र आदुंबरीः सामेष उ-
देनमिति तिस्रभिर्ऋग्भिरादध्याव तत्र प्रथमा ॥

उदेनमुत्तरा नया घृतेनाहुतरायस्पोषेण सःसृजप्रजया-
च बहु कृधीति ॥ ४०

घृतेन द्रव्येण आहुतः सर्वतोद्वयमानाग्ने ! एनं यजमानं सुतरां अ-
त्युत्कृष्टैश्वर्यं प्रतिउन्नय । उत्कर्षेण प्रापय शीघ्रं प्रापयेत्यर्थः । उ-
त्कृष्टैश्वर्यमेव प्रपंच्यते । रायस्पोषेण धनसमृद्ध्या संसृज संयोजय । कि-
ञ्च । प्रजया च मन्त्रत्या बहुपुत्रपौत्रादिभिरिति बहु भावमापन्नं कृषि कु-
रु ॥ ॥ अथ द्वितीया ॥

इन्द्रेमं प्रतरां नय सजाना नाम सद्गशी । समेनं व-
र्चसा सृज देवानां भागदा असदिति ॥ ४१

हेइन्द्र ! परमैश्वर्ययुक्त इमं यजमानं प्रतरां नय । अतिशयेन प्र-
कृष्टैश्वर्यं प्रापय । तदेव प्रकृष्टत्वं विशदीक्रियते । सजानां महोत्प-
न्नानां ज्ञानीनां वशी अमत् । नियमेन समर्थोभवत् । किञ्च एनं वर्चसा
बलेन संसृज । अयं च यजमानो देवानां भागदा अमत् । यज्ञेषु भागप्र-
दो भवतु ॥ ॥ अथ तृतीया ॥

यस्य कुर्मो गृहे हविस्तमग्ने वर्धया त्वं । तस्मै देवा अ-
धिवृषन्नयं च ब्रह्मणस्पतिरिति । ४२

वयं ऋत्विजो यजमानस्य गृहे हविः कुर्मः । हेअग्ने ! त्वं तं यज-
मानार्थमधिवृषन् अयं यजमानः सर्वेभ्योऽधिक इति भवतु । अयं च यज-
मानो ब्रह्मणस्पतिर्वैदिककर्मणः पात्रको भवतु ॥ ॥ कात्यायनः नृग-
भ्योदुत्वेति अग्निमुपयच्छेत् ॥ पाठस्तु ॥

उदु त्वा विद्वंदेवा अग्ने भरंतु चित्तिभिः ।

सनो भव शिवस्त्वः सुप्रतीका विभावसुरिति ॥ ४३

अयं मन्त्रस्त्रयोदशध्याये व्याख्यातः ॥

कात्यायनः ॥ आदिसं गच्छन्ति पञ्चदिश इतीति । ऋत्विजः पंच
दिशो देवीरिच्छेताः पञ्च ऋवो जपंतश्चिन्ताग्निं प्रतिगच्छेयुः । तत्र प्रथमा ॥

पञ्चदिशो देवीर्मज्जमिमं भवंतु देवीरपामन्ति दुर्मन्तिं
बाधमानाः । रायस्पोषे यज्ञपतिमाभजन्ती रायस्पोषे अधिवृजो
अस्यादिति । ४४

या इमाः प्राच्यादयः पञ्चदिशस्ताः सर्वा इमं यज्ञमवंतु कीदृश्यो दिशो देवीरिन्द्रियमादीनां देवानां सम्बन्धिन्यः देवीः स्वयमपि देवतारूपाः । अपति स्म अस्मदीयां माज्ञां दुर्मतिं दुष्टां पापविषयां बुद्धिं च अपराधमाना विनाशयन्त्यः । रायस्थोषे धनसमृद्धौ यज्ञपतिं यजमानमाभजन्तीः प्रापयन्त्यः । किञ्च रायस्थोषे धनसमृद्धौ अध्यस्थात् अधिकमवतिष्ठतु ॥ ॥ अथ द्वितीया ॥

समिद्धे अग्रा अधिमा महान उक्थपत्र ईड्यो गृहीतः । तप्तं धर्मं परिगृह्यायजन्तोर्जा ययज्ञमयजन्त देवा इति ।

समिद्धे सम्पक्वज्जालिते अग्नौ प्रणीयमाने सति अधिमा महान् अधिकं पुनः पुनः पूज्यमानः । उक्थपत्रः उक्त्यानि शस्त्राणि पत्रं वाहनं यस्य सः उक्थपत्रः ईड्यस्तुत्यः यज्ञ एव गृहीतकृत्स्नः यजमानः परिगृहीता भवतीति शेषः । यदा देवा वादीत्यं परिगृह्य यजेत यजन्ति ॥ ॥ अथ तृतीयः ॥

दैव्या य धर्त्रे जोष्ट्रे देवश्रीश्रीमणाः शतपयाः । परिगृह्य देवा यज्ञमायं देवा देवेभ्यो अध्वर्यतो अस्थुरिति ॥

दैव्याय देवानां हिताय धर्त्रे । यागद्वारा जगतो धारयित्रे जोष्ट्रे अस्मदीययजमानस्य हविषः सोर्वित्रेण कृत्विजो यज्ञं यजन्तीति शेषः । तदायमग्निरीदृशो भवति । कीदृशो भवति । कीदृश इति तदुच्यते । देवश्रीर्देवान् श्रयन्तीति हविर्यजमानेन सेवतइति देवश्रीः । श्रीमणाः श्रयते सेवत इति श्रीयजमानस्तस्मिन्ननुग्रहरूपं मनो यस्यासौ श्रीमणाः शतपयाः शतसंख्याकानिपयः प्रभृतीनि हवींषि यस्यासौ शतपयाः तादृशमग्निं परिगृह्य देवा कृत्विगयज्ञं यजमाना यज्ञमायन्माप्नुवंत्यनुतिष्ठन्तीत्यर्थः । किञ्च देवा कृत्विगयजमाना देवेभ्यो हविः स्वीकर्तृभ्यः अध्वर्यतो यागं कर्तुमिलन्तः अस्तु तिष्ठन्तु ॥ ॥ अथ चतुर्थी ॥

धीतः हविः शमितः शमिता यजध्वै तुरीयां यज्ञो यश्च हव्यमेति । ततो वाका आशिषो नो जुपन्तामिति ॥

प्रथममध्वर्युणा आश्रावणं तत आग्नीध्रेण प्रसाश्रावणं ततो यज्ञे सध्वर्युः सम्प्रेषः ततो होतुर्वपदकार इति यज्ञश्चतुर्धा कल्प्यते । तत्र तुरी-

यश्चतुर्थो यज्ञो यत्र यस्मिन्काले हव्यमेति हविः प्राप्नोति तस्मिन्काले यजर्थं यागार्थं शमित्वा शमित्वा शमितं मन्त्रैः संस्कृतं हविर्वितं प्रापितं ततोऽनन्तरं वाका वा यानि वचनानि ऋग्यजुः सामलक्षणानि आशि-
पश्च अभीष्टस्यार्थस्य आशंसतानि नोऽस्मान् जुषन्तां मेवतां ॥ अथ पञ्चमी ।

सूर्यराश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयां अज-
स्रं । तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान् सम्पश्यन् विश्वा भुव-
नानि गोपा इति ॥

दारिद्र्यं हरतीति हरिर्हरणं । हिरण्यवर्णा केशस्थानीया ज्वाला-
यस्यासौ हरिकेशोऽग्निः स च सूर्यराश्मिः सूर्यरूपश्च भुत्वा सविता प्रा-
णिनां तत्तद्धारुषु प्रेरको ज्योतिर्मण्डलरूपः सन् पुरस्तात्पूर्वस्यां दिशि अ-
जस्रं प्रतिदिनं उदयात् उदेति तस्याग्नेः प्रसवे प्रेरणे सति पूषा पोष-
को देवः याति आगच्छति कीदृशः पूषा विद्वान् सर्वज्ञः गोपाः गवां र-
क्षकः । किं कुर्वन् । विश्वा भुवनानि सम्पश्य सर्वान् लोकान्मम्यगव
लोकयन् ॥ काशायनः ॥ पृथ्व्यमानमुपदधाति विमान इति द्वाभ्यां श्वे-
तपापाणमुद्घ्यान् ॥ ॥ तत्र प्रथमः ॥

विमान एष दिवो मध्य आस्ते आपप्रिवात्रोदमी अन्त-
रिचं । स विश्वाची रभिचष्टे घृताचीरंतरा पूर्वमपरं च
केतुमिति ।

एष इमा विमानो विविधं जगन्निर्माणः सन् दिवो मध्य आस्ते
आग्नीध्रस्थानीयस्याकाशस्य मध्ये तिष्ठति । कीदृश इमाः रोदमी द्यावा-
पृथिव्यौ चान्तरिक्षं चापमित्रान् सर्वतः पूरितवान् । यद्यप्ययं इमा न किञ्चित्
जगन्निर्मितीते नापि लोकं न यज्ञमापूर्य तिष्ठति तथापि परमेश्वरगुणैरस्य
स्तूयमानत्वाज्जकोपि विरोधः । स तथा स्तूयमान इमा विश्वाचीः व्यापिनीः
दिशः अभिचष्टे सर्वतः प्रकाशयति । तथा घृताञ्जी घृतमाप्तिहेतुभूता
धेनूश्चाभिचष्टे तथा अन्तरा ब्रह्माण्डस्य मध्ये पूर्वमपरं च केतुं उदयास्तम-
याभ्यां पूर्वापरदिशोऽनवच्छिन्नभूतं सूर्यमभिचष्टे ॥ अथ द्वितीया ॥

उक्षा समुद्रो अरुणः सुपर्णः पूर्वस्य योनिं पितुराविवे-
क्ष । मध्यं दिवो निहितः पृथिनरश्मा विचक्रमे रजसस्यात्य-
न्ताविति ।

अयमग्निमा उक्षा सेक्ता यागद्वारेण फलाभिषेचक इत्यर्थः । समुद्रः बहु-
फलप्रदत्वात्समुद्रमदृशः । अरुणः पूर्वमन्त्रे सर्वप्रकाशत्वेनोपचरित्वात्सूर्यमदृश
इत्यर्थः । सुपर्णः स्वर्गप्रत्युद्गमनहेतुत्वात्पक्षिमदृशः । तथाविधोऽग्निमा पितुः
कर्मपाकस्य पूर्वस्य पूर्वदिग्वातिन आहवनीयस्य योनिं कारणभूतमाग्नीध्रमा-
विशेष प्रविष्टवान् यदाहवनीय उद्वपेत् आग्नीध्रा उद्धरेदित्याहवनीययोनि-
त्वमाग्नीध्रस्यान्यत्रास्नातम् । अयं पृथिनः ज्वेतो वर्णोऽग्निमा दिवो मध्ये
आग्नीध्रस्थानीयस्याकाशस्य मध्ये निहितः स्थापितः सन् रजसो रजनी-
यस्य जगत् अन्तौ उत्पत्तिप्रलयरूपकोटिद्वयं याति परमेस्वररूपेण पाल-
यति । कात्यायनः । एतमतिक्रमन्ति इन्द्रं विद्वा इतीति । इन्द्रं विद्वा इत्या-
दिभिश्चतसृभिः ऋग्भिरेतमश्मानमतिक्रमणं कृत्वा गच्छेयुः । तत्र प्रथमः ॥

इन्द्रं विद्वा अवीवृधन् समुद्रव्यचसद्भिरः । रथीतम-
रथीनां वाजानां सत्पतिं पतिमिति । ॥ १ ॥

अयं मन्त्रस्त्रयोदशेऽध्याये व्याख्यातः ॥ अथ द्वितीया ॥

देवहृषज्ञ आचवक्षत्सुम्नहृषज्ञ आचवक्षन् । यक्षदग्नि-
देवो देवा आचवक्षत् इति ॥ ॥ २ ॥

देवानादहयतीति देवहृषज्ञश्च आचवक्षन् । सुम्नहृः सुम्नस्य प्रजा
पशुरूपस्य सुखस्यादाता यज्ञश्च आचवक्षन् । देवानादहयत् । अ-
ग्निदेवो देवतादिगुणयुक्तः देवा यक्षत् । यजतु । आचवक्षत् । आवतु
च । अथ तृतीया ॥

वाजस्य मा प्रसव उद्गाभेणोदग्रभीत् । अथा सपत्ना-
निन्द्रो मे निग्राभेणाधरां ऽअकरिति ॥ ॥ ३ ॥

वाजस्याज्ञस्य प्रसवः प्रसूतिरुत्पत्तिरभ्यनुज्ञा वा उद्गाभेण निद्रहण-
मामध्येन मा मां यजमानं उदग्रभीत् उक्तं प्रापितवान् । अथापि च इन्द्रः
परमैश्वर्ययुक्तोऽग्निनिग्राभेण निग्रहणमामध्येन सपत्नान् मदीयान्चैरिणः
अधरानधः निगृहीतान् करोतु ॥ अथ चतुर्थी ॥

उद्गाभं च निग्राभं च ब्रह्म देवा अवीवृधन् । अथा स-
पत्नानिन्द्राग्नी मे विपृचीनामध्यस्यतामिति ॥

देवाः सर्वे ब्रह्मज्ञपीक्षणं यज्ञविषयं अवीवृधन् वर्द्धयतु उद्गाभं

अस्मदीयमुत्कर्षं निग्राभं वैरिणां निःकर्षं वाची वृद्धत्वं वर्धितवन्तः । अथानन्तरं इन्द्राग्नी विषूचीनात् सर्वब्रह्मपरिहृदोद्गा भवतः सर्वतः पालयमानान् मे सप्तान्मदीयान् वैरिणो व्यस्यतां विनाशयेताम् ॥

इत्यष्टादशोऽध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ॥

पञ्चमेऽनुवाके आग्निप्रणयनमुक्तम् ॥ अथ षष्ठे अग्निस्थापनमुच्यते ॥ अथ प्रथमा ॥

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यः हस्तेषु विभ्रतः । दिवस्पृष्टः स्वर्गत्वामिश्रा देवेभिराध्वमिति ॥

हेर्कृत्वम्यजमानाः नाकं स्वर्गमाधनमुख्यं उखायां पूर्वसम्पादितमग्निं हस्तेषु विभ्रतो धारयन्तस्तेनाग्निना सह क्रमध्वं चितेरुपरि पादान्विक्षिपन्तः । ततो दिवस्पृष्टे आकाशस्योपरिभागे वर्तमानस्यः स्वर्गलोकं गत्वा प्राप्य देवेभिर्मिश्रा देवैरेकीभूताः सन्तः आध्वं उपविशत ॥ अथ द्वितीया ॥

प्राचीमनुप्रदिशं प्रेहि विद्वानग्ने पुरोऽग्निर्भवेह । विद्वा आशा दीद्यानो विवभाहूर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे इति ।

हेअग्ने ! इदानीमानीतवहे प्राचीं प्रदिशं प्रागाख्यां प्रकृष्टां दिशं विद्वांस्त्वं अनुप्राह अनुक्रमेण प्रकर्षो यथा भवति तथा गच्छ स्वाचाग्नेरिष्टकानिष्पादितस्य वहेः इहास्मिन्कर्षणि पुरो अग्निर्भव भागवर्तो बहिर्भवेत्यर्थः । विद्वा आशाः सर्वा अपि दिशो दीद्यानः प्रकाशयन् । विभाहित्वमापि विशेषेण प्रकाशस्व ततो नोऽस्मदीया र्यद्विपदे चतुष्पदे ऊर्जमन्नं धेहि सम्पादय ॥ अथ तृतीया ॥

पृथिव्या अहमुदिन्तरिक्षमारुहमन्तरिक्षादिवमारुहम् । दिवो नाकस्य पृष्ठात् स्वर्ज्योतिरगामहमिति ॥ ६१

अहं यजमानः पृथिव्या उद्गत एतदन्तरिक्षमारोहं आरुढोऽस्मि तस्मादप्यन्तरिक्षादुद्गतो दिवमारुहं द्युलोकमारुढोऽस्मि दिवो द्युलोकमम्बन्धी नाकं दुःस्वरहितो यः प्रदेशस्तस्य पृष्ठादुपरिष्ठात् स्वर्ज्योतिः स्वर्गलोकवासिर्ज्योतिर्मण्डलमादित्यरूपमहमगां प्राप्तोऽस्मि । यद्वा प्राप्स्यामि ॥ अथ चतुर्थी ॥

स्वर्गन्तो नापेक्षन्त आद्याः रोहन्ति रोदसी ।

यज्ञं ये विश्वतो धारः सुविद्वाः सो विते निर इति ॥ ६२

ये यजमानाः सुविद्रांसः सुष्टु कर्मानुष्ठानमकारं जानन्तो विश्वतो
धारं सर्वस्य जगतोधारणहेतुं यज्ञं वितं विस्तारेणानुतिष्ठन्ति ते यजमाना
द्यावन्तरिक्षं आरोहन्त तथा रोदसी द्यावापृथिव्यारोहन्ति । ततः स्वर्ग-
निवासमादित्यमण्डलं प्राप्नुवन्तोऽन्यत्किमपि स्थानं नापेक्षन्ते ॥

अथ पञ्चमी ॥

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवयतां चक्षुर्देवानामनुत मर्त्यानाम् ।
इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्गन्तु यजमानाः स्वस्तीति ॥

देवानात्पन इच्छन्तीति देवयन्तो यजमानास्तेषामुपकाराय हेअग्ने !
त्वं प्रथमं प्रेहि पुरतो गच्छ । यतस्त्वं देवानां मनुष्याणां चक्षुःस्थानीयः ।
लोकैऽपि हि गच्छतः पुरुषः पुरुषस्य दृष्टिः पुरतो यानि । इयक्षमाणा य-
ष्टुमिच्छन्तो यजमाना भृगुभिः सजोषा अमुष्टानपर्यैर्भृगुनापकैर्भुभिभिः स-
मानपियाः सन्तः स्वस्ति क्षेमो यथा भवति तथा स्वर्गन्तु स्वर्गं प्राप्नुवन्तु ।
कासायनः शुक्ररत्ना पयसाऽभिजुहोति कृष्णादोहनेन स्वयमातृष्णात्प्रति-
ज्जक्तोषामेतीति । शुक्रवत्त्वाया गोः क्षीरेण स्वयमातृष्णेष्टुर्मां सेवये-
त् । नक्तोषामिनि द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां जुहुयात् । तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥

नक्तोषामा समनसा विरूपे धारयेते शिशुनेकं स-
मार्चा । द्यावाक्षामा रुक्मो अतर्विभाति देवा अग्निं धारयं
द्रविणोदा इति । १०

नक्तं च उषा च नक्तोषा रात्रिदिवमावित्यर्थः । समनसा परस्परमे-
कमत्युपयुक्ते विरूपे रात्रिः कृष्णा दिवसः शुक्र इत्येवं विच्छिन्नरूपे समी-
ची समीच्यावनुकूले मर्त्या एकं शिशुमग्निरूपं धारयेते यजमानकर्तृक-
मग्निधारणं सम्पादयतः । द्यावा बुल्लोके क्षामा क्षितौ अतस्तदुभयमप्यव-
तिष्ठन्तरिक्षे विभाति । रुक्मो रोचमानोऽयमग्निर्विभाति विशेषेण प्रकाशते
दिव्यन्ति व्यवहरन्तीति देवाः प्राणाः ते च द्रविणोदाः यागद्वारेण ध-
नरूपं फलं प्रयच्छन्ति तादृशयजमानस्य प्राणा अग्निमेतं धारयन् धृतवन्-
तः ॥ अथ द्वितीयः ॥ ॥

अग्ने सहस्राक्षं शतसूयक्षतं ते प्राणाः सहस्रं व्यानाः ।
त्वं साहस्रस्य राय ईशिषे तस्मै ते विधेम वाजाय स्वाहेति ॥

शतसहस्रशब्दावपरिमिताभिप्रायौ विश्वतश्चक्षुरित्यादि मन्त्रोक्त-

मूर्तिरूपत्वेनायमग्निः स्तूपते तस्मादक्षिमूर्धपाणा व्यानाः अग्ने ते तव बहवः । तथा त्वं साहस्रस्य बहुमहस्रममूहपरिमितस्य रायो धनस्य ईशिशेष प्रभुर्भवासि तस्मै ते तादृशाय तुभ्यं वाजायान्नमिष्यर्थं विधेम हाविषा परिचरेम । इदं हविः स्वाहाहुतमस्तु । कात्यायनः अग्निं निदधाति सुपर्णोऽसि आजुह्वानः सुप्रतीक इति द्वाभ्यां मन्त्राभ्यां अग्निं निदध्यात् । तत्र प्रथमः ॥

सुपर्णोऽसि गरुत्मान्पृष्ठे पृथिव्याः सीद । भामाऽन्तरिक्षमापृण ज्योज्योतिषा दिवमुत्तमान तेजसा दिश उद्वहेति ॥

हेअग्ने ! त्वं सपर्णः पक्षपाकारो गरुत्मान गरुडममानोमि । अतः पृथिव्याः पृष्ठे उपरि सीद उपविश । भामा स्वकीयप्रकाशेनान्तरिक्षमापृण सर्वतः पूरय ज्योतिषा स्वकीयेन सामर्थ्येन दिवं शुक्रोक्तं उत्तमान उर्ध्वस्तम्भितं कुरु तथा तेजसा स्वकीयेन सामर्थ्येन दिशः प्राच्यादिका दृष्टुं उत्कर्षेण दृढीकुरु । अथ द्वितीयः ॥

आजुह्वानः सुप्रतीकः पुरस्तादग्ने स्वयोनिसासीद साधुया । अस्मिन् मधस्थे अध्येत्तरस्मिन्विश्वेदेवा यजमानश्च सीदतेति ॥ ७३

हेअग्ने ! त्वं आजुह्वानः आभिमुख्येन हृयमानः सुप्रतीकः समुखः सन् पुरस्तात्पूर्वस्यां दिशि साधुया साध्यक्रियया कृन्विरयजमानैः साधयितुं योग्यया आसीद अधिनिष्ठ । हेविश्वेदेवाः ! यूयं यजमानश्च अस्मिन्पुरोवर्त्तिनि मधस्थे आग्नता मह स्थातुं योग्ये अध्येत्तरस्मिन् अधिकमुन्मृष्टेऽस्थाने सीदतोपविशत ॥ कात्यायनः । समिदाधानं शमी वैकंक-त्पोदुर्वयस्ताः सवितुरिति । शमीविकंकतोदुम्बराणां सम्बन्धिनीस्तिष्ठः समिधस्ताः सवितुर्वरेण्यस्तेति तिसृभिरङ्गिभिरादध्यात् ॥ तत्र प्रथमा ॥

ताः सवितुर्वरेण्यस्य चित्रामाहं वृणो सुमतिं विश्वजन्त्या । यामस्य कर्णा अदुहत्प्रपीनाः सहस्रधारा पयसा महीं गामिति ॥ ७४

पुरा कदाचित्काण्वाख्यो महापिरस्याग्नेर्यां सुमतिं अनुग्रहकारिणीं बुद्धिं अदुहत दुग्धवान् । तत्र दृष्टान्तः । प्रपीनां प्रभूतः पीनस्तनसंघो यस्याः सा प्रपीना तां सहस्रसंख्याकाः क्षीरधारा यस्याः सा सहस्र-

धारा तां पयसा महीं क्षीरेण सम्पूर्णां गां धेनुं यथा लौकिका दुहन्ति
तद्वद्यमग्निः सुमतिं दुग्ध्वा स्वाभिष्टे फलं प्राप्तवान् । वरेण्यस्य सर्व्वेर्वरणी-
यस्य सर्व्वतः प्रेरकस्याग्नेः सम्बन्धिनीं कण्वेन दुग्धां तां सुमतिं अहमा-
वृणे सर्व्वतः प्रार्थये । कीदृशीं सुमतिं चित्रां स्वापेक्षितबहुविधफलप्रदानस-
मर्थामित्यर्थः । विश्वं जन्यमुत्पाद्यं यस्याः सा विश्वजन्या तां जगदुत्पादन-
समर्थामित्यर्थः ॥ अथ द्वितीया ॥

विधेम ते परमे जन्मन्नग्रे विधेम स्तोमे स्तोमे वरे सधस्थे ।
यस्माद्योनैरुदारिथा यजेतं प्रत्वे हवीं५ पि जुह्वरे समिद्ध इति ॥१७

हेश्रीभगवन्नग्रे ! ते त्वदीये परमे उत्कृष्टे जन्मन् जन्मनि उ-
त्पत्तिस्थाने गर्दपथे सन्निवृण्डले वा विधेम परिचरेम । समिधेति शेषः
अस्माभिः सह स्थातुं योग्ये अवरे निकृष्टे भूलोकवर्तिजन्मनि स्तोमैः स्तो-
मं परिचरेम । यस्माद्योनैरिष्टकाचितिरूपायस्मात्स्थानान् उदारिथ । त्व-
मुद्रत आविर्भूतोमि तं योनिं यजे पूजयामि समिद्धे सम्यक् प्रज्वलिते
ते त्वयि जुह्वरे ऋत्विजः प्रकर्षेण जुह्वति ॥ ॥ अथ तृतीयः ॥

प्रेद्धो अग्ने दीदिहि पुरो नोऽजस्रया सूर्या यविष्ठ ।
त्वा० शश्वन्त उपयन्ति वाजाः इति ॥१८॥

हेअग्ने ! प्रेद्धः पूर्व्वमपि प्रकर्षेण दीप्तस्त्वं पुरो नः अस्माकं पु-
रो देशे अजस्रया निरन्तरया सूर्योममानज्वाल्या दीदिहि पुनरपि दीप्य-
स्व ज्वलन्ती लोहमयी स्यूणा सूर्या । हेयविष्ठ ! युवनमान्मे त्वां शश्वन्तो
निरन्तरभाविनो वाजा अघ्नानि उपयन्ति मामीप्सेन प्राप्नुवन्ति । का-
त्यायनः । स्यूवाहुतिं जुहोत्यग्ने तमयेति प्रत्युचमितीति । अग्ने तमयेति द्वा-
भ्यामृग्भ्यां द्वे स्यूवाहुतीर्जुहुयात् ॥ तत्र प्रथमा ॥

अग्ने तमयाश्वत्तस्तोमैः क्रतुन्नम्रदः हृदिस्पृशं । ऋध्या-
मात ओहैरिति ॥ १९ ॥

अयं मंत्रः षोडशोऽध्याये व्याख्यातः ॥ अथ द्वितीयः ॥

चित्तिं जुहोमि मनसा घृतेन यथा देवा इहागमन्वीति-
होत्रा ऋतावृधः । पत्ये विश्वस्य भूमनो जुहोमि विश्वकर्मणे
विश्वाहा दाभ्यं५ हविरिति ॥ २० ॥

यथा देवा इहागमन् येन प्रकारेण हविर्भाजो देवा अग्निमन्कर्म-
प्यागच्छन्ति । तथाहं मनसा मनोगतया भक्त्या घृतेन च बाह्यद्रव्येण चितिं
जुहोमि देवानां चितिं उपाददे प्रमादयामीत्यर्थः । कीदृशा देवा वीति-
होत्रा कमनीयहविषः ऋतावृथो यज्ञस्य वर्धयितारः । तत ऊर्ध्वं भूमनो
भुम्भः पृथोर्विश्वस्य सर्वस्य जगतः पसे स्वामिने विश्वकर्मणे प्रजापतये वि-
शाहा सर्वेष्वप्यहःसु अदाभ्यम् । अनुपहास्यं स्वादुभूतं हविर्जुहोमि ।
कात्यायनः । पूर्णाहुतिं मस्र इति तिष्ठन्निति ॥ पाठस्तु ॥

सप्त ते अग्ने समिधः सप्तजिह्वाः सप्तकण्ठः सप्तधाम प्रि-
याणि । सप्त होत्राः सप्तधा त्वा यजन्ति सप्तयोनिरापृण स्वघृ-
तेन स्वाहेति ।

हेअग्ने ! सप्त सामधः समिन्धनाः सप्त सप्त संख्याकाः शीर्षण्याः
प्राण्याः सन्ति प्राण्या वै समिध इति श्रुतेः । ज्वालारूपा जिह्वाश्च सप्त
तथा चार्थगिका आभनन्ति । काली कगली च मनोजवा च त्रिलो-
दिता वा च सधूमर्या । मृदुलिङ्गिनी मिश्ररुची च देवी लेलायमाना
इति सप्तजिह्वाः । तथा च सप्तसंख्याका कण्ठश्च सन्ति । प्रियाणि धा-
मस्यानाम्यादवकीचसा र्पितारसिष्याग्निमभ्यावमध्यप्राजाहताग्नीध्रियाणि मो-
मरागे वादिधारकानि तत्र सप्तसंख्याकानि सन्ति । होत्रा होतृप्रमुखाः प्रै-
षदन्तारः होता प्रशास्ता ब्राह्मणाच्छेवं योता नेष्टाग्नीध्रो छावाकश्चेति ।
सप्तसंख्याकाः सन्ति यजमाना अपि सप्तधा यजन्ति । अग्निष्टोमोऽन्य-
ग्निष्टो मनुष्यः षोडशानिगत्रोऽग्नौर्यापो वाजपेयश्चेति सप्तप्रकारास्तादृशस्त्वं
सप्तयोनिरादवकीचस्थानानि घृतेन आपृणस्व सर्वतः पूरय । स्वाहासु-
हृतमस्तु ॥ (इत्यष्टादशोऽध्याये षष्ठोऽनुवाकः)

षष्ठेऽनुवाके अग्निस्थापनमुक्तम् । सप्तमे तत्र होतृव्या मारुताः पुरो-
डाशा उच्यन्ते ॥ कात्यायनः ॥ मारुताञ्जुहोति शुक्रज्योतिरिति प्रतिमन्त्रमि-
ति । शुक्रज्योतिस्त्रिधादिर्मन्त्रैर्मारुतपुरोडाशाञ्जुहुयात् ॥ तत्र प्रथमः ॥

शुक्रज्योतिश्च चित्रज्योतिश्च सत्यज्योतिश्च ज्योतिष्माः
अ । शुक्रश्च ऋतपाश्चात्यः ही इति । ८०

अत्रैकैकमिन्मन्त्रे सप्त सप्त मरुत उच्यन्ते । शुक्रं शुद्धं ज्योतिः यस्य
स मरुतः शुक्रज्योतिः । चित्रं कमनीयं दर्शनीयं ज्योतिः यस्य स चित्र-

ज्योतिः । सत्यं ब्रह्मलक्षणं ज्योतिर्यस्य स सत्यज्योतिः । ज्योतिस्तेजो-
स्यास्तीति ज्योतिष्मान् । शोचत इति शुक्रः दीप्तिमान् । ऋतं सत्यं
पातीत्यृतपाः । अहः पापमनीष वर्तत इत्येहः । चकारः समुच्चयार्थः ।
(अथ द्वितीयः)

ईदृक् चान्वाद्दृक् च सदृक् च प्रतिसदृक् च । मितश्च सं-
मितश्च सभरा इति ॥ १

इयं पुरोडाशं स्वयं संश्रुष्य पश्यतीतीदृक् । अनेन समदर्शनः । इम-
मिव पश्यतीति वा ईदृक् । अन्योनान्येन च समानदर्शनः । अन्वाद्दृक् ।
सदृक् समानदर्शनः । प्रतिसदृक् तं तं प्रति समानदर्शनः । मितो मानं
प्राप्तः । सम्यक् परितो मानं प्राप्तः । संमितः । सह विभर्त्तीति सभराः ॥
(अथ तृतीयः)

ऋतजिच्च सत्यजिच्च सेनाजिच्च सुपेणश्च ।

अन्तिमित्रश्च दूरे ऽअमित्रश्च गण इति ॥ ३

ऋतं जयतीत्यृताजित् । सत्यं यथातथ्यं नयतीति सत्यजित् ।
शत्रुमेतां जयतीति सेनाजित् । शोभना सेना यस्यासौ सुपेणः । अन्तिके
समीपे मित्राणि यस्य सः अन्तिमित्रः । दूरे शत्रवो यस्यासौ दूरेऽमित्रः ।
गणयतीति गणः ॥ (अथ चतुर्थः)

ऋतश्च सत्यश्च ध्रुवश्च धरुणश्च । धर्त्ता च विधर्त्ता च वि-
धारक इति ॥ ४

ऋतः हविषः स्ववशं प्राप्तः । मति भवः सत्यः । ध्रुवो वर्धमानः ।
ध्रुव रुद्रौ । धरुणो धारकः । धृ धारणे । धारयतीति धर्त्ता । विशेषेण
धर्त्ता विधर्त्ता । विविधं धारयतीति विधारकः ॥ (अथ पञ्चमः)

ईदृक्षा स एतादृक्षास ऊपुणः सदृक्षासः प्रतिसदृक्षा
स एतेन । मितासश्च संमितासो नो अथे सभरासो मरुता
पञ्जे अस्मिन्निति ॥ ५

ईदृक्षासः ईदृक्प्रकाराः एतादृक्षासः एतादृशाः सदृक्षासः सदृशाः
प्रतिसदृक्षासः । प्रतिसदृक्षाः । एवं भूता मरुतः यूयन्नोऽस्माकं आस्प-
न्यज्ञे एतन् सुष्टु आगच्छन्ताम् । मितासः ये मानतः परिमिता ते च

सङ्गलमिताः संमिताः । सहभरेणादरेण वर्तत इति सभरासः । हेमरुतः एव-
म्भूता अपि यूयं अग्रे नोस्मदीये यज्ञे आगच्छत ॥ (अथ षष्ठः)

स्वतवाश्च प्रघासी च सान्तपनश्च गृहमेधा च । क्रीली
च शाकी चोज्जेषीति ॥ ८५

स्वतवान् स्वाधीनबलयुक्तः प्रघासी प्रकर्षेण पुरोडाशभक्षणशीलः ।
सान्तपनः सूर्यस्तत्तमम्बन्धी सान्तपनः गृहमेधमम्बन्धी गृहमेधी क्रीली मदा
क्रीडनशीलः । शाकी अवश्यकार्यश्चावश्यं शक्त इत्यर्थः । उज्जेषी उ-
त्कृष्टजयशीलः । कात्यायन इन्द्रं देवीरेति जपतीति ॥

पाठस्तु ॥ इन्द्रं दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन्त्येन्द्रं
दैवीर्विशो मरुतोऽनुवर्त्मानोऽभवन् ॥ ८६

एवमिमं यजमानं दैवीश्च विशो मानुषीश्चानुवर्त्मानो भूयामुरिति ।
दैवीर्विशः देवसंवन्धितः प्रजारूपा एते मरुतः इन्द्रमनुवर्त्मानोऽभवन् इन्द्रं
स्वामिनमनुमृत्य तदनुमारेण वर्तमाना अभवन् । यथा मरुतः इन्द्रानुमारिणः
एवं दैव्यो मानुष्यश्च सर्वाः प्रजा इमं यजमानमनुमृत्य वर्तमाना भवन्तु ॥

इत्यष्टादशाध्याये सप्तमोऽनुवाकः ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो दद्याद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीर-
बुक्कभूपालसाम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माधवी-
ये वेदार्थप्रकाशे काण्वसंहिताभाष्ये अष्टादशाध्यायः ॥१८॥

यस्य निश्चासितं वेदा यो वेदेभ्योऽग्निलं जगत् ।

निर्ममे तमहं वंदे विद्यानीर्थमहेश्वरं । अष्टादशाध्याये परिषेचनसं-
स्कारादिमारुतपुरांडाशांता मन्त्रा उक्ताः ॥ अथैकोनविंशो वमोर्ध्वारा होमा-
र्थमन्त्रा उच्यन्ते । तत्र प्रथमेऽनुवाके वमोर्ध्वारा होमात्पूर्वं यजमानेन वाच-
यितव्या मन्त्रा उच्यन्ते । कात्यायनः । इमं स्तनमिति वाचयति चेति अश्व-
युरंतान्मन्त्रान्यजमानं वाचयेत् । स्वयं वा जिपेत् । एतैर्मन्त्रैर्वमोर्ध्वारार्थं
घृतं स्तूपयेत् तत्र प्रथमपाठः ।

इमं स्तनसूर्जस्वेतं ध्यायायां प्रपीनमग्ने शरीरस्य मध्ये ।
उत्सं जुपस्व शतधारमयेन्समुद्रियं सदन माविशस्वेति । ८

हेअग्ने ! अपां प्रपीने अपशब्देनात्र घृतमुच्यते अग्निः घृतैः प्र-
पीनमन्तःपूरितं ऊर्जस्वेतं विशिष्टमवन्ते । इमं स्तनं वमोर्ध्वारा आदुर्वया
स्तुवा हृष्यते तत्र स्तनशब्देन रूप्यते । इमं स्तुकूलक्षणं स्तनं तन्पतितं
घृतधारां वधाय । कीदृशः शरीरस्य मध्ये लोकानां मध्ये वर्त्तमाना इमे लोकाः
शरीरमिति श्रुतेः । किञ्च हे अवेन् सर्वयज्ञं प्राति गतः हेअग्ने । शतधारं व-
हुविधघृतधारायुक्तः उत्संप्रसूत्रणयुक्तं स्तनं जुपस्व । मेवस्व । किञ्च
समुद्रियं । समुद्रमंवन्यसदनं गृहमाविशस्व । एवं वृषः सन् स्वस-
दनं मेवस्वन्यर्थः ॥

अथ द्वितीयः ॥ घृतं मिमिक्षे घृतमभ्य योनिर्घृते श्रितो
घृतस्यस्य धाम । अनुष्वधमावह मादयस्व स्वाहाकृतं वृषभ
वक्षि हव्यमिति ।

अस्याग्नेमुखे घृतं दीप्तमाज्यं मिमिक्षे यज्ञार्थं मिचामि । सिच् सेचन
इति धातुः । यतः अस्याग्नेः घृतं योनिस्तत्पत्तिस्थानं घृतेन हि प्रवर्धयते । अतः
घृतं सर्वव्यत्यः । घृतं घृतं श्रितं मेवमानोमि । तथा घृतम्विशष्टोवधारणो
घृतेमेव धाम धानं तेजःकरं वा अतः सिञ्जामीति संबन्धः । ततः हेअग्ने !
अनुष्वधं स्वर्धोत्पन्नं नाम चरोर्द्विरभिधारणात् । अंतस्थोपर्यधश्च घृतं वर्तते ।
अनुगतान्नं घृतमावहस्वात्मानं देवत्वं प्रापय तेन मादयस्व हृष्टो भव हेतु-
पभ ! उत्कृष्टाभिमतफलानां वर्षक । अग्ने स्वाहाकारेण हुतं हव्यं ह-
विर्वक्षि वह ।

अथ तृतीयः । समुद्रादूर्ध्वमधुमांऽ उदारदुपाः शुनास-
ममृतत्वमानः । घृतस्य नाम गुह्यं यदस्ति जिह्वा देवानाममृत-
स्य नाभिरिति । ८८

समुद्रात् समुद्रं को भवतीति वा ममोदन्तेऽस्मात् यजमाना इति
वा समुद्रोऽग्निः पार्थिवः । अथवा समुद्रं त्वापोऽस्मादिति व्युत्पत्त्या देवो वै-
द्युतोऽग्निस्तस्मादूर्ध्वः उपर्युपर्युद्भूतो मधुमान् माधुर्योपेतफलसमूह उदारत् ।
उद्गच्छति । अथवा वैद्युतादुद्भूत्युत्पादको रसमुद्भूतः । अथवा समुद्रात्समु-
द्रवणमाधनादादित्याद्धर्मात् रसमुदकलक्षणमुदाहरत् । आदित्याज्जायते वृष्टि-
रिति श्रुतेः । यद्वा समुद्राद्रक्तव्युत्पत्त्यान्तरिक्षादूर्ध्वरुदकमुदाहरत् अथवा
समुद्रादुत्कलक्षणात् द्रव्यमुधमः सकाशादूर्ध्वरुज्ज्वलो क्षीररसः । एतद्दृष्टव्यं
ऽपिममानं । यद्यपि घृतं क्षीराज्जायते तथापि तस्योधम उत्पत्तेरयमुपचर्यते ।
शिष्टं वाक्पमग्न्यादिपञ्चमु पक्षेणपिममानं । अंशुना दीप्त्यंशेन वामृतत्वं
क्षमामुपममान उपैति पूरणः प्राप्नोति नरः । घृतस्य दीप्तस्य क्षमद्रमस्य
रूपस्य गुह्यं नाम गोपनीयं नमनमाधनं यदस्ति तद्गवीमि तद्देवानां जिह्वा-
स्थानीयो भवति । तद्देवामृतस्य नाभि वर्धकं भवति । तदुधमं घृतस्य नामे-
त्यर्थः । एवं सर्वमन्त्रेषु तत्तत्पक्षानुसारेण योज्यं ।

अथ चतुर्थः ॥ वयं नाम प्रब्रवामाघृतस्यास्मिन्यज्ञे धार-
या मा नमोभिः । उपब्रह्मा शृणवच्छस्यमानं चतुःशृंगो वमी-
ह्रार एतत् इति । ८९

वयं यजमाना घृतस्य नाम प्रब्रवामस्तुतास्मिन्यज्ञे नमोभिर्नमस्कारै-
र्हविर्भिर्धारयाम । ब्रह्मा शृणवत् । उपशृणोतु वैतस्तोत्रं ब्रह्मा ऋत्वि-
कश्चस्यमानं होत्रा । यथा चतुःशृंगो यज्ञः ऋत्विजोस्य शृङ्गाणि अवमी-
त् । उद्गिरति । यज्ञपरिणामाभिप्रायमेतत् । गौरगौरवर्णः एतद्घृतं ॥

अथ पञ्चमः ॥ चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽ अस्य पादा द्वे शी-
र्षे सप्तहस्तासोऽ अस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रारवीति महा-
देवो मर्त्या आविवेशेति ॥ ९०

चतुःशृंगोवमीदित्युक्ताधुना चतुःशृङ्गं यज्ञवृषभशब्दवाच्यं वृ-
षं वा प्रतिपादयितुमाह । यस्य यज्ञस्य चत्वारि शृङ्गाणि । ब्रह्मोद्गात्

होत्रध्वर्याख्याग्नेः त्रयः पादाः ऋग्यजुः सामलक्षणाः । द्वे शीर्षे । हवि-
धानप्रवर्ग्याख्ये सप्त होतारो हस्ता इव व्याक्रियन्ते च त्रिधा बद्धः । त्रिप्र-
कारं प्रातःसवनमाध्यंदिनतृतीयसवनैर्वद्धः वृषभो वर्षयिता रोरवीति । रु
शब्दे । अत्यन्तं शब्दं करोति । सोमं महादेवः । महान् देवः । महान् दे-
वः ब्रह्मादिस्तम्भपर्यन्तानां प्राणिनामुपजीव्यः । ज्ञानकर्मसमुच्चयकारि-
णां विदुषां शरीरभूतः सन् मर्यान् मनुष्यान् आविवेश । आवि-
शति । अयमेकोऽर्थः । ऐन्द्रा चत्वारो वेदाः शृङ्गाणि । सवनानि त्रीणि प-
दाः । प्रापणीयोदयनीये द्वे शीर्षे । सप्तछन्दासि हस्ताः । त्रिधा मन्त्र-
ब्राह्मणकल्पैर्वद्धः । वृषभो वर्षयिता कर्मफलानां वर्षकर्त्ता रोरवीति । अत्यं-
तं शब्दं करोति । सवनक्रमेण । सोमं महो महता प्रकाशेन युक्तो देवो-
दीव्यतीति देवः समस्तपञ्चाद्युपलक्ष्यो हिरण्यगर्भः । मर्यान्मरणधर्मयु-
क्तान् । सर्वप्राणिनः । आविवेश अपेक्षितपुरुषार्थतत्साधनस्वरूपप्रकाश-
नायाविशतीत्यर्थः । अथवा । शब्दग्रामोभिधेयः । चत्वारि शृङ्गाणि ।
नामाख्यातोपसर्गानिपाताः प्रथममध्यमोत्तमपुरुषाः त्रयः पादाः । नामाख्या-
तेस्य द्वे शीर्षे सप्तविभक्तयो हस्ताः । त्रिधा बद्धः । एकवचनद्विवचनव-
हुवचनानि । वृषभ इवायं मदर्थादन्यानि शस्त्राणि अथः पदीकृत्यरोरवी-
ति यः उक्तगुणः सोमं महादेवो मर्यानाविशति । प्रतिपादयति ॥

अथ षष्ठः ॥ त्रिधा हितं पणिभिर्गृह्यमानं गवि देवासो
घृतमन्वाविदन् । इन्द्र एकं सूर्य एकं जजान वेनादेकं स्वध-
या निष्ठतश्चुरिति ॥ २ ॥

यज्ञपरिणामभूतं यथा घृतं तथा हि त्रिधा निहितं स्थापितमेषु-
लोकेषु । पणिभिर्गुर्गृह्यमानं गुप्यमानं गविदेवाः घृतं हन्वाविदन् । अ-
नुपूर्व्या लब्धवन्तो यत तस्य घृतस्येन्द्र एकं भागं जजान जनयति । ते-
वा एते आहुती हुते उक्तामनस्ते अन्तरिक्षमाविशति इत्यादिश्रुतेरिन्द्रस्य ज-
नकत्वं दर्शयति । सूर्य एकं भागं जनयति । एते उत्क्रामन्तस्ते दि-
वमाविशन्त इत्यादि श्रुतिः सूर्यस्य जनकत्वं दर्शयति । वेनादग्नेर्यज्ञमाधन-
भूतात् । एकं भागं स्वधयाज्ञेन आहुतिपरिणामभूतेन निष्ठतश्चुः निःक-
षितवन्तो द्विजातयः पुत्रो जायते सलोकपत्यस्थापीत्येतदुक्तं भवति ॥

अथ सप्तमः ॥ एता अर्षति हव्यात्समुद्राच्छतवजा

रिपुणा नावचक्षे । घृतस्य धारा अभिचाकशीमि हिरण्ययो
चैतसो मध्य आसाम्यक स्रवन्ति सरितो नधेषना अन्तर्हृदा
मनसा पूयमानाः । एत अर्षत्पृम्यो घृतस्य मृगा इव क्षियणो
रीपमाणा इति ॥ ६३-६४

या एता उर्मयो वाचः अर्षन्ति उद्गच्छन्ति हृद्यात् हृदयरूपात् समुद्रा-
त् । श्रद्धारयुक्तदेवदेवतायाथात्म्यचिन्तनं सन्तानगर्भात् । निगमीनरुक्तानघ-
ण्डुव्याकरणशिक्षालन्दोभिः परिपवनस्थानैः परिपूरिताः शतव्रजा बहुगतयो
बद्धयाः । याश्चैता अर्षन्ति रिपुणा कुतार्किकशत्रुमन्त्रेण नावचक्षे नापवा-
दितुं शक्यन्ते । ताः घृतस्यैव धाराः देवानां तृप्तिकराः अभिचाक-
शीमि अहमभिपश्यामि । अवगच्छामि वा । हिरण्यश्च हिरण्ययो वेत-
सोर्मध्ये आमां वाग्व्यक्तीनां विद्यमानः । तं चाभिचाकशीमीति म-
म्बन्धः । अग्निरहं वाचामभिष्टात्री देवता । यद्वा घृतस्य धारा एवोच्यन्ते ।
या एता अर्षन्ति स्रवन्ति हृद्यात्ममुद्रात् । हृदयेन हि संकल्प्य पश्चाद्यज्ञे
एवमुच्यते । शतव्रजा बहुगतयः । याश्चैता रिपुणा यज्ञपरिपन्थिना नावच-
क्षे न द्रष्टुं शक्यन्ते । ताः घृतस्य धाराः पश्यामि यश्चायं हिरण्ययो वेत-
सो अग्निराहवनीयो मध्ये आमां स्थितस्त्वं च पश्यामि । याथात्म्येनाहं
द्रव्यं देवतां च पश्यामीत्यर्थः । या धेना वाचः मम्यक् स्रवन्ति । धेनेति
वाङ्मात्रं सरितो नद्य इवानवच्छिन्नोदकाः कीदृशाः । अन्तर्व्यवस्थितेन
हृदा परिपावनस्थानीयेन मनसा च पूयमानाः त्रिविच्यमानाः शब्ददो-
षेभ्यः ता अग्निमेव स्तुवन्तीति शेषः । ये चैते अर्षन्ति द्रव्यवन्त्यूर्मयो
धाराः सन्धाताः घृतस्य स्तुक्परिभ्रष्टाः । मृगा इव क्षियणो व्याधात् ।
रीपमाणाः पलायमानाः तेष्यग्निं तर्पयन्तीति शेषः । श्रुतयो द्रव्यं च अग्न्य-
र्थमेवेत्युक्तं भवति ॥

अथाष्टमः ॥ सिन्धोरिव प्राध्वने शुघनासो वातप्रमी-
यः पतयन्ति पदवाः । घृतस्य धारा अरूपा न वाजी काष्ठा-
भिन्दन्नृमीभिः पिन्वमान इति ॥ ६५

या एताः सिन्धोर्नद्य इव प्राध्वने प्रगतोद्धा प्राध्वा मधूदकप्र-
पातस्तस्मिन् शुघनासः शु इति क्षिप्रनाम हन्तेर्गस्यस्य ध्वतः क्षिप्रगम-

नाः । वातप्रमीयः । पीड् हिंसायां । वातेन याः प्रमीयन्ते विनश्यन्ति ताः
वातप्रमीयः । तरङ्गवीच्यः पतयन्ति स्वार्थे णिच् । पतिपतति । पटूवाः म-
हस्यः । सुबो मुखोत्पारिभ्रष्टाः । घृतधाराः ताश्च पतन्त्यार्थे क इत्यत आह ।
अरूपो न वाजी । नकार उपमार्थः । यः यथा अरूपः अरोचनो वाजी जा-
त्यादिभिरुत्कृष्टो वेगवानश्वः पुनरप्यश्वं विशिनष्टि । काष्ठा भिन्दन् । आ-
शातान् विदारयन् । ऊर्षीभिर्यः काष्ठाभेदेनोत्थमश्वः स्वदोदकैः पिन्वमा-
नः । भूमिं सिञ्चन् । अन्नान्यश्नाति । एवमग्निरप्यश्नानीति वाक्यार्थः ।

अथ नवमः ॥ अभिप्रवन्त समनेव घोषाः कल्याण्यः
स्मयमानाः सो अग्निं । घृतस्य धारास्समिधो न सन्तता जुषा-
णो हर्षन्ति जातवेदा इति ॥

घृतस्य धाराः अग्निं अभिप्रवन्त । अभिनमन्ति । का इव । स-
माना । समानमनस्काः । कल्याण्यः । रूपयौवनसम्पन्नाः । स्मयमानाः ।
स्मिङ् ईषद्मने । ईषद्ममानाः । घोषाः यथा पतिं अभिप्रह्वा भवति म-
मिधः समिधः समिधनास्ता एव धारा अग्निं वमन्त व्याप्नुवन्ति । न-
मन्ति राप्नोति कर्मा । ताश्च धाराः जुषाणः । मेवमानः जातवेदाः ह-
र्षति कामयते हर्षतिः ममादकर्मा । नास्य ग्रहणशक्तिः परिहाणम-
स्तीति भावः ॥

अथ दशमः । कन्या इव बहनु मे तवानु अज्यजाना
अभिचाकशीमि । यत्र सोमः सृयते यत्र यज्ञो घृतस्य धारा अ-
भितन्पवते इति ॥

कन्या इव । या एताः कन्या नवपरिणीताः । ता इव बहनु । वो-
दारं भर्तारं प्रतिपन्नै एतुं ममनाय । उकारोऽनर्थकः । अंजि प्रजननं
अजनाः व्यक्तं कुर्वाणाः योग्यं कुर्वन्ती अभिचाकशीमि । अभिपश्यामि ।
ताः घृतस्य धाराः यत्र सोमः सृयते अभिषूयते यत्र सात्रामण्याख्यः
यज्ञः स्थायन्तः । अभितन्पवन्ते तत्र तत्त्वर्थः । अभितत्पवन्ते । अभिग-
च्छन्ति यज्ञमहचारिताः घृतस्य धाराः इत्यभिप्रायः ॥

अथैकादशः । अभ्यर्षत सुष्टुतिं यव्यमाजिमस्मासु
भद्रा द्रविणानि धत्तं । इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्यधारा

मधुमत्पवन्त इति ॥ ८८

हेदेवाः ! अभ्यर्षत अभ्यागच्छत । एतां सुष्टुतिं शोभमानां स्तुतिं ।
एतं च गव्यमार्जि । गोर्विकारैर्घृतैर्जनितं गव्यं आजिं यज्ञमभ्यागच्छत ।
अभ्यागच्छ च । अस्मासु भद्रा भद्राणि द्रविणानि धत्ता निधत । स्थाप-
यतास्मभ्यं देहीत्यर्थः । किञ्च इमं यज्ञं तत्र नयत तत्र देवता देवत्वं नो-
स्माभिर्यो देवलोको जित इत्यर्थः । याश्चैताः घृतस्य धाराः मधुमत्प-
वन्ते मधुसंयुक्तं पवन्ते द्रवन्ति ताश्चास्मज्जितं लोकं नयतेत्यनुवर्तते ॥

अथ द्वादशः । धामं ते विश्वं भुवनमधिश्चित्तमन्तः स-
मुद्रे हृद्यन्तरायुषि अपामनीके समिधे य आभृतस्तमश्याम म-
धुमन्तत ऊर्मिमिति ॥ ८९

आहुतिपरिणामभूतमिदं जगत् ब्रह्मादिस्त्वंवर्षयन्तं मन्यमान आ-
हाधामन् धामनि विभृत्यां ते तव विश्वं सर्वं भुवनं भूतजातं अधिश्चितं
स्थितं यच्चान्तः समुद्रे समुद्रस्य मध्ये अस्ति किञ्चित् । यच्च हृदि ।
अन्तः किञ्चित् । यच्च आयुषि । अन्तः किञ्चित्तदपि धामनि तव अ-
धिश्चित्तमित्यनुवर्तते । यत् एवमतस्त्वां ब्रवीमि । अपामनीके मुखे
वर्त्तमानो य ऊर्मिः आभृतः । आहृतः । समिधे मंशमे च पणिभिः स-
ह वर्त्तमानो य ऊर्मिराहुतः । तदुक्तं त्रिधा दितं पणिभिर्गुह्यमानमिति ।
तं अश्याम भक्षयाम व्याप्नुयामेति वाः मधुमन्तं रमवन्तं ते तव सम्बन्धिनं
ऊर्मिर्घृतं हविः परिणामिनो रमस्य भोक्तारो वयं भवेमेति वा । देवत्वं
च वक्रोत्या प्रार्थ्यते ॥

इत्येकोनविंशोऽध्याये प्रथमोऽनुवाकः ।

प्रथमेऽनुवाके यजमानेन वाचितव्या मन्त्रा उक्ताः ॥ वाजश्चइसा-
दिभिरष्टभिरनुवाकैर्वमोर्धाराहोमार्धमन्त्रा उच्यन्ते । कासायनः । वाजश्च
म इत्यष्टभिर्वाकैर्वमोर्धारां जुहुयात् । वाजश्च म इत्यष्टभिरनुवाकैर्गौर्दुवर्षां
सुचा वमोर्धारां जुहुयात् । अत्र अथैनमनेकैः कामैरभिसंचरतामित्युपक्रम्य
एतया वमोर्धारया आज्येन पञ्चगृहीतानौर्दुवर्षां स्तुवेत्याद्यन्तं तदेपा बहु-
धारापतिवमोर्धारा तस्मादेनां वमोर्धारेत्याचक्षते एवं वक्तुं ऋचो इदं
च म इदं च मेत्यनेन वानेन च त्वा प्रीणामीत्यादिभिर्ब्राह्मणवाक्यैर्वि-

नियोगविशेषपुरःसरयाता मन्त्राः तदनुसारेण व्याख्यायन्ते ॥

तत्र प्रथमानुवाकः पाठः॥वाजश्च मे प्रसवश्च मे प्रपतिश्च मे प्रसितिश्चमे । धीतिश्च मे क्रतुश्च मे स्वरश्च मे श्लोकश्च मे । श्रावश्च मे श्रुतिश्च मे ज्योतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । प्राणश्च मेऽपानश्च मे व्यानश्च मे सुक्चमे । चित्तं च मेऽआधीतं च मे वाक्यं मे मनश्च मे । चक्षुश्च मे श्रोत्रं च मे दक्षश्च मे वलं च मे यज्ञेन कल्पन्तं । ओजश्च मे सहश्च मे आत्मा च मे तनूश्च मे । शर्म-च मे वर्म च मेऽङ्गानि च मेऽस्थीनि च मे । परूषि च मे शरी-राणि च मेऽआयुश्च मे जरा च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । ज्यैष्ठ्यं च मेऽआधिपत्यं च मे मन्युश्च मे मामश्च मे । अमश्च मेभ्यश्च जेमा च मे महिमा च मे वारिमा च मे प्रथिमा च मे वर्षिमा च मे द्राधिमा च मे वृद्धं च मे वृद्धिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ।

वाजोन्नं च शब्दो वक्ष्यमाणद्रव्यापेक्षया समुच्चयार्थः । तदन्नं च मे मह्यं देहि । प्रसवश्च मे अन्नदानादिविषयाभ्यनुज्ञातं प्रसवं मे मह्यं देहि । इति यजमानोग्रेः कामान्याचते । इदं च मे देहीति सर्वत्राध्याह्रिय-ते । म च वाजः मे यज्ञेन कल्पन्तामनुष्ठीयमानेन यागेन कल्पन्तामिति क-ण्डिकां तस्य समुदायापेक्षया बहुवचनम् । स्ववाक्यस्थेन कल्पन्तामि-त्यनेनैवेति केचिद्द्रवन्तीति केचित् । प्रपतिः प्रकृष्टागमनं प्रपातिः । पिचि बन्धने । प्रकृष्टं बन्धनं प्रमितिः । धीति रत्नधारणम् । अथवा ध्यै चि-न्तायाम् । आत्ममप्रसारणादौ कृतेस्य धीति भवति । क्रतुः सङ्कल्पः संस्कारो वा यज्ञो वा । स्वर उदात्तादिलक्षणः श्लोकः श्रुतिः । यद्वा श्लोकवत् इति श्लोकः कीर्तिः । श्रावः श्रावयितृत्वमामर्श्यम् । यद्वा श्रावयति प्रख्यापतीति श्रावः । देवा मन्त्रा वा श्रावः । प्रख्यायमानस्यादरेण श्रवणं श्रुतिः । ब्राह्मणं वा ज्योतिर्दीप्तिः । स्वः स्वर्गः । यद्वा आदिता-त्मकं ज्योतिः । एते यज्ञेन कल्पन्ताम् । यज्ञेन अग्निं तर्पयन्तु । अभिषि-ञ्चन्तु । अनेन च त्वाभिषिञ्चाम्यनेचेत्यस्याश्रुतेरभिप्रायेण व्याख्या । प्राणः पञ्चवृत्तिकः । प्राणः प्राणापानौ मे देहि । मम देहस्थितौ कल्प-न्तां व्यानः । अपानोदानयोः सम्बन्धिरूपो व्यानः । मुष्टुपस्थितः । कल्पन्ताम् । अमु नपुंसकान्तं पदम् । अमु जीवः । प्राणस्य जीवोपा-

धित्वात् । चित्तम् । अन्तःकरणम् । मनोजन्यं ज्ञानं वा । आधीतं
 स्वाध्यायः । वाक् । वाग्निन्द्रियम् । मनः सङ्कल्पात्मकं मनः । चक्षुश्च
 क्षुरिन्द्रियम् । श्रोत्रं श्रवणमाधनमिन्द्रियम् । दक्षं ज्ञानेन्द्रियगतं कौशल्यम् ।
 उत्साहो वा । बलङ्कर्मैन्द्रियगतं सापथ्यम् । एतानि यज्ञेन कल्पन्ताम् ।
 ओजो बलहेतुरष्टमोधातुः । सहो वैरिविषय अभिलाषः । आत्मा शास्त्रसि-
 द्धः । परमात्मा । तनूशोभनमंनिवेशं वपुः । यद्वा तत्र विस्तृतान्यङ्गानि ।
 शर्म सुखम् । शरणं गृहं वा । वर्म शरीररक्षकं कवचादि । अङ्गानि संपू-
 र्णावयवाः । शरीरेषु चत्वारित्रिंशतान्यस्थानि प्रसिद्धानि । परुषि । अङ्ग-
 गुल्यादिपक्षाणि । सन्ध्यन्तरालान्यत्र शरीराणि । जीवशरीरयोरेवस्था-
 नकाल आयुः जीवनं वा । जरा आयुषो बलितपलितत्वम् । एते पदार्था
 मदीयेन यज्ञेन कुशला भवन्तु । अनेन यज्ञेनाराधितः श्रीभगवान् यज्ञः
 अस्मभ्यमेवंविधानि फलानि ददात्वित्यर्थः । ज्यैष्ठ्यं प्रशस्ततमन्त्रम् ।
 आधिपत्यं स्वामित्वम् । मन्युः कोपभामः पूज्यः । प्रतापो वा । अपश्च ।
 अस्मच्छत्रूणां भङ्गो रोगो वा । अमः रोगः । अंभः शैत्यमाधुर्योपेतं जलम् ।
 जेमा जयसामर्थ्यम् । महिमा महत्त्वं जयसम्पादितधनादिमम्पतिः । वरिमा ।
 वरणीयत्वम् । गुरुतरत्वम् । प्राथिमा । गृहक्षेत्राद्विस्तारः । वषिमा
 पुत्रपौत्रादिशरीरवृद्धिः । द्राघिमा पुत्रपौत्रादिसम्पन्निविषयदीर्घत्वम् । अवि-
 च्छिन्ना सन्ततिरित्यर्थः । दीर्घिकालभोगैश्वर्यमम्पतिर्वा । वृद्धं धान्याद्य-
 भिवृद्धिः । वृद्धिः देहस्याभिवृद्धिः एते इमं यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

इत्येकानविंशोऽध्याये द्वितीयाऽमुवाकः ।

अथ तृतीयानुवाकमाह पाठस्तु ॥

सत्यं च मे श्रद्धा च मे जगच्च मे धर्मं च मे विश्वं च मे
 महश्च मे क्रीला च मे मोदश्च मे । जातं च मे जानिष्यमाणं च मे
 मृतं च मे यज्ञेन कल्पन्तां ॥ विस्तं च मे वैशं च मे भूतं च मे
 भविष्यच्च मे । सुगं च मे सुपथ्यं च मे ऋद्धं च मे ऋद्धिश्च मे ।
 क्लृप्तिश्च मे मातिश्च मे सुमतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ यन्ता
 च मे धर्ता च मे क्षेमश्च मे धृतिश्च मे । विश्वं च मे महश्च मे
 संविच्च मे ज्ञात्रं च मे । सीरं च मे लयश्च सूश्च मे प्रसूश्च मे यज्ञेन

कल्पन्ताम् । शं च मेमयश्च मे प्रियं च मेनुकामश्च मे । कामश्च मे सौमनसश्च मे भगश्च मे द्रविणं च मे । भद्रं च मे श्रेयश्च मे वसीयश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

सखं यथार्थभाषित्वम् । श्रद्धा परलोके आस्तीक्यबुद्धिः । जगज्जङ्गमं धनं सुवर्णादिकम् स्थावरादिकम् । महो दीप्तिः । क्रीडा लसद्युतादि । मोदस्तज्जातहर्षः । ज्ञानं पूर्वमिद्धमपत्यम् । जनिष्यमाणं भविष्यदपत्यम् । सूक्तमृक्ममृहः शोभनवचनं वा । सुकृतं शास्त्रतः सुष्टु कृतं एते यज्ञेन कल्पन्ताम् । वित्तं पूर्वलब्धं ज्ञानं वा । वेद्यमितः परं लब्धव्यम् । ज्ञानव्यं वा भूतं निष्पन्नम् । भविष्यं निष्पाद्यम् । मुगं सुष्टु गन्तव्यम् । बन्धुषु जनयुक्तग्रामान्तरादिकं सुषयम् । चौरादिरहितमार्गादिद्रव्यं रुद्धम् । अनु-
धितक्रतुफलं कृद्धिः । अनुग्रास्यमानं मन्त्रफलं कृत्स्नम् । समर्थं स्वकार्य-
क्षमं द्रव्यं कृत्स्निः । स्वकीयमामर्थ्यं मतिः । पदार्थमात्रनिश्चयः सुमतिः ।
एते यज्ञेन कल्पन्ताम् । यन्ता । यम उपरमे । नियन्ता । धृ धारणे । विध-
त्ता । क्षेमः । स्थितस्य परिपालनम् । धृतिर्धारणशक्तिः । मेघेद्रेदनम् ।
ज्ञेयत इति ज्ञात्रम् । मीरं लाङ्गलम् । लयत इति लयः । दोषादेर्नाशो वा
सूयत इति सूः । उत्पत्तिः । प्रमवः प्रभूः एते यज्ञेन कल्पन्ताम् । शं
शब्दो ऐहिकमुखवाची । मयः शब्द आमुष्मिकमुखवाची । प्रियं प्रीति-
कारणं वस्तु । अनुकामोऽनुकूलत्वनिमित्तेन काम्यमानः पदार्थः । कामः
शोभनेच्छा । सौमनसो मनः स्वस्थान्तःकरणम् । भग ऐश्वर्यादि
पदमम्पत्तिः । सौभाग्यं वा । द्रविणं धनम् । भद्रं कल्याणम् । इह लो-
करमणीयम् । श्रेयः परलोकहितम् । वसीयः । निवासहेतुः । अतिशयेन
वसुमान्वा गृहादि । यशः कीर्तिः । एते यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

इत्येकोनविंशोऽध्याये तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थानुवाकमाह पाठस्तु ॥

ऊर्कं च मे सूनृता च मे पयश्च मे रसश्च मे । घृतं च मे मधु
च मे सर्गिधश्च मे सपीतिश्च मे । कृषिश्च मे वृष्टिश्च मे जैत्रं च मे

औद्भिद्यं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । ऋजं च मेऽमृतं च मे यक्ष्मं च मेऽनामयश्च मे । जीवातुश्च मे दीर्घायुत्वं च मेऽनामित्रं च मे भयं च मे । सुगं च मे शयनं च मे सूषाश्च मे सुदिनं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । रविश्च मे पुष्टं च मे पुष्टिश्च मे विशु च मे प्रभु च मे पूर्णं च मे पूर्णतरं च मे । कुयवं च मेक्षितं च मेन्नं च मे क्षुच मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । ब्रीहयश्च मे यवाश्च मे माषाश्च मे तिलाश्च मे । मुद्गाश्च मे खल्वाश्च मे प्रियंगवश्च मेणवश्च मे । श्यामाकाश्च मे नीवाराश्च मे गोधूमाश्च मे मसूराश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

ऊर्क रसः । सूनृता सत्यवाणी । पयः क्षीरम् । रसः मधुगादि पद-
सः । घृतमाज्यम् । मधु सारघम् । सुवन्धुभिः सह भोजनं मग्निः । तथा
सहपानं सपीतिः । कृषिर्व्यवसायः । वृष्टिर्वर्षणम् । जयसाधनं जैत्रम् ।
तरुगुल्मादीनामुत्पत्तिरौद्भिद्यम् । एते यज्ञेन कल्पन्ताम् । ऋजं यज्ञादि
कर्म । अमृतं तत्फलभूतं । स्वर्गादि । अयक्ष्मं राजयक्ष्मादिव्याधिराहित्यं
शिरोव्यथाद्यल्पव्याधिमनामयम् । जीवदानममर्थमौषधं जीवातुः । दीर्घा-
युत्वम् । बहुकालीनमायुष्पमम्पतिरपमृत्युराहित्यमित्यर्थः । अमित्रः शत्रुः
तदभावोऽनमित्रम् । अभयं भयराहित्यम् । सुगं शोभनगमनम् । शयनं
स्वापः । शय्योपधानं वा । भूषाः स्नानदानमन्ध्यावन्दनादियुक्तः प्रातः
कालः । सुदिनं यज्ञदानाध्ययनादियुक्तमुत्कृष्टं दिनम् । एते यज्ञेन कल्प-
न्ताम् । रविः सुवर्णम् । रायो मुक्तादयः । पुष्टं पोषणम् । पुष्टिः शरीरपो-
षः । विशु समर्थम् । प्रभु प्रधानम् । पूर्णं सम्पूर्णम् । उत्तरोत्तराकाङ्क्षया
पूर्णवत्तरम् । कुयवं क्षुद्रयुतम् । अक्षितं क्षुद्रहितम् । अन्नं पद्विधम् । अक्षुच
क्षुन्नितृतिः । एते यज्ञेन कल्पन्ताम् । ब्रीहयः । शाल्यादयः । यवा माषा
तिला मुद्गाः मसिद्धाः । क्षुद्रमसूराः । प्रियङ्गवः प्रसिद्धः अणवः । क्षुद्रधान्या-
नि श्यामाकाः । ईषश्यामाः । श्यामाकाः । ग्राम्याः नीवाराः । गोधूमाः
प्रसिद्धाः । मसूराश्चणकाः प्रसिद्धाः । एते यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥

इत्येकोनविंशोऽध्याये चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमानुवाकमाह पाठस्तु ॥

अश्मा च मे मृत्तिका च मे गिरयश्च मे पर्वताश्च मे ।
मिकताश्च मे वनस्पतयश्च मे हिरण्यं च मे यश्च मे सीमं च
मे त्रपु च मे श्यामं च मे लोहं च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । अग्नि-
श्च मेऽ आपश्च मे वीरुधश्च मेऽ औषधयश्च मे । कृष्टपच्या-
श्च मेऽ कृष्टपच्याश्च मे ग्राम्याश्च मे पशवऽ आरण्याश्च मे
वित्तञ्च मे वित्तिश्च मे भूतं च मे भूतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् । वसु
च मे वसतिश्च मे कर्म च मे शक्तिश्च मे । अर्थश्च मे
यामश्च मे इत्या च मे गतिश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २४

अश्मा पाषाणः । मृत्तिका प्रमिद्धा । गिरयः क्षुद्रपर्वताः । पर्वता मंद-
रादयः । मिकताः शर्कराः । वनस्पतयः पुष्पराहित्यफलिताः पतमादयः ।
हिरण्यं मुवर्णम् । अयः काण्णयिमम् । सीमं त्रपु चेति प्रमिद्धानि ।
श्यामं नीललोहितम् । लोहं कांश्यताम्रादि । एते यज्ञेन कल्पन्ताम् । अग्निः
पृथिवीच्छन्नोऽग्निः । आपः वर्षादिकानि । वीरुधः मूलानि । औषधयः
फलपाकान्ताः । कृष्टपच्याः भृंगः कर्षणबीजावापादिकर्मायः फलपाकमाय-
यमानाः ओषधयः कृष्टपच्याः । एतद्विहीनाः अकृष्टपच्याः । ग्राम्याः
ग्रामे भवाः पशवः ग्राम्या गौरश्वाजोवीरुष्टो गर्दभः ममषोऽन्तर इत्येते ग्रा-
म्याः । तथाग्र्या अग्र्ये भवा द्विषुग श्यापदानि हस्तीमर्कट इत्यादयः ।
वित्तं पूर्वावच्छेदम् । वित्तिर्भाविलम्भः । भूतमैश्वर्योपेतं पुत्रादिकम् ।
भूतिः स्वकीयमैश्वर्यादि एव यज्ञेन कल्पन्ताम् । वसुनिर्वामसाधनं गवादि-
कं । वसतिर्निवामावारां गृहादिकमग्निहोत्रायनुष्ठानसामर्थ्यं कर्म । अर्थः
प्रयोजनविशेषः । यामः । अष्टवटिहात्मकः कालो यामः । पुण्यकालः ।
इत्या । इण गतावित्तस्य स्वरूपम् । इत्या प्राप्या गतिः । परमा गतिः ॥

इत्येकोनविंशेऽध्यायेऽपञ्चमोऽनुवाकः ।

अथ षष्ठानुवाकमाह ॥

तत्रेन्द्रादीन् जुहोति । अर्द्धमिन्द्रा अर्द्धमन्यदैवस्य पाठस्तु ।

अग्निश्च मे इन्द्रश्च मे सोमश्च मे इन्द्रश्च मे । सविता-
च मे इन्द्रश्च मे सरस्वती च मे इन्द्रश्च मे । पूषा च मे इ-

न्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्तां । मित्रश्च म इन्द्रश्च मे वरुणश्च म इन्द्रश्च मे । धाता च म इन्द्रश्च मे त्वष्टा च म इन्द्रश्च मे । मरुतश्च म इन्द्रश्च मे विश्वे च मे देवा इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्तां । १७१ पृथिवी च म इन्द्रश्च मेऽन्तरिक्षं च म इन्द्रश्च मे समाश्च म इन्द्रश्च मे नक्षत्राणि च म इन्द्रश्च मे दिशश्च म इन्द्रश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १७२

अग्निः अग्नेः रूपं । सर्वज्ञोऽग्निः । इति परमैश्वर्ये इन्द्रः । सोमश्चन्द्रः । उभयसाहितो वा सोमः । प्राणिनां प्रसवकर्ता सविता । सरस्वती वाणी । पुण्यातीति पूषा । बृहस्पतिर्देवगुरुः । एते यज्ञेन कल्पन्तां । मित्रः सूर्यः । वरुणः प्रचेताः । धाता जगद्धर्ता । सविता त्वष्टा । तक्षु तक्षुकरण इत्यस्य रूपं त्वष्टा नाम मूर्तिः । शत्रुबलस्य कृषीकरणकर्ता । मरुतः एकोनपञ्चाशदेवताः विश्वे च विश्वेदेवगणाः । एते यज्ञेन कल्पन्तां । प्रथनात्पृथिवी अन्तरिक्षं भुवस्थानं । द्यौर्धुलोकः । समाः संवत्सराः । नक्षत्राणि । अश्विन्यादि सप्तविंशतिः । दिशः पूर्वदिग् । एते यज्ञेन कल्पन्तां अग्निश्च म इत्यादिनिष्ठेषु कण्डिकासु अष्टादशेन्द्रशब्दाः । इन्द्र इरां दृष्टानीति वेरां ददातीति वेरां दधातीति वेरां दारयति इति वेरां धारयति इति वेदं वेदवतीति वेदां रमति इति वेन्द्रभूतानीति वा तद्यदेनं प्राणैः समन्वयस्तादिन्द्रस्येन्द्रत्वमिति विज्ञायते इदं करणादिसाग्रायण इदं दर्शनादित्यौपमन्यव इदं त्वैश्वर्यं कर्माणि इत्येकादशधा इन्द्रशब्दार्थो व्युत्पादितः । अतोऽत्र दशेन्द्रशब्देषु यथायोग्यतया निर्वचनीयः ।

इत्येकोनविंशोऽध्याये षष्ठोऽनुवाकः ॥

अथगप्तमानुवाकमाह ॥ ॥ सप्तमे ग्रहाणां यज्ञक्रतूनां च होम उच्यते ॥ अथ ग्रहान् जुहोति । ग्रहाः सोमपात्राणि प्रतिकण्डिकां द्वादशाभिहिताः । एवं तिमृषु कण्डिकासु षड्विंशद्ग्रहा उक्ताः । तेषां नामान्युच्यन्ते ॥ मन्त्रपाठस्तु ॥

अंशुश्च मे रश्मिश्च मे दाभ्यश्च मेधिपतिश्च मे । उपांशुश्च मेन्तयमिश्च म ऐन्द्रवायवश्च मे मैत्रावरुणश्च मे । आश्विनश्च मे प्रतिप्रस्थानश्च मे शुक्रश्च मे मंथी च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ १७३

एते प्रसिद्धाः अथ द्वितीयमन्त्रः ॥

आग्रयणश्च मे वैश्वदेवश्च मे भ्रुवश्च मे वैश्वानरश्च
मे ऐन्द्राग्रश्च मे महावैश्वदेवश्च मे मरुत्वतीयाश्च मे नि-
ष्केवल्यश्च मे । सावित्रश्च मे सारस्वतश्च मे पात्रीवतश्च
मे हारियोजनश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २० ॥

आग्रयणः । वैश्वदेवः । भ्रुवः । वैश्वानरः । ऐन्द्राग्रः । महावैश्व-
देवः । मरुत्वतीयाः । निष्केवल्यः । सावित्रः । सारस्वतः । पात्रीवतः ।
हारियोजनश्चेति द्वादशग्रहाः प्रसिद्धाः ॥

अथ तृतीयमन्त्रः ॥

स्रुचश्च मे चमसाश्च मे वाषव्यानि च मे द्रोणकलश-
श्च मे । ग्रावाणश्च मेधिपवणे च मे पूतभृच्च मे आधवनीय-
श्च मे । वेदिश्च मे बर्हिश्च मे स्वगाकारश्च मे अवभृथश्च
मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २१ ॥

स्रुचः । चमसाः । वाषव्यानि । द्रोणकलशः । ग्रावाणः । अधि-
पवणे । पूतभृत् । आधवनीयः । वेदिः । स्वगाकारः । अवभृथ इति द्वा-
दश । अत्रापि सोमधारका ग्रहास्त्रिंशत् षट् च यथाकथंचनोपकारका
इति विभागः । गृहे सोमो येषु ते ग्रहाः । गृह्यते वा सोम एभिरीत ग्रहा
इति । वेदिरुक्तलक्षणः । बर्हिः प्रसिद्धाः स्वगाकारः । स्वमात्मानमाग-
च्छन्तीति स्वगाः । ताः करोति कारयतीति च स्वगाकारः । समाप्तिः ।
सूक्तवाक इत्यन्ये । अवभृतः प्रसिद्धः । अयैतान्यक्षकतुः जुहोत्यग्निश्च
मे धर्मश्च मे इति ॥ ॥ तत्पाठस्तु ॥

अग्निश्च मे धर्मश्च मे र्कश्च मे सूर्यश्च मे । प्राणश्च
मेश्वश्च मे चरा पृथिवी च मे दितिश्च मे द्यौश्च मे गुल्लयः
शक्रयो दिशश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २२ ॥

अग्निश्चायमानोऽग्निरग्निष्टोमः । धर्मः । प्रवर्ग्यः । अर्को महाव्रतः ।
सूर्यः सौर्यं चर्त्तमिति प्राणो गवामयनं । अश्वमेधः । प्रसिद्धपृथिवी प्र-
सिद्धा । अदितिरन्तरिक्षं । सैवादितिः वृध्यादिधात्री । द्यौः बुलोकः ।
अंगुलयः प्रसिद्धाः । शक्रयः । शक्तः । दिशः प्रसिद्धाः । एते यज्ञेन
कल्पन्तां ॥

अथ द्वितीयमन्त्रः ॥ ॥ व्रतेच म ऋतवश्च मे संवत्सरश्च मे तपश्च मे । अहोरात्रे उर्वष्टीवे बृहद्रथन्तरे च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ॥

व्रतं नियमः । ऋतवः । वसन्तादयः । संवत्सरः प्रभवादिः । तपः कृच्छ्रवान्द्रायणादिः । अहोरात्रे पुण्यहेतुत्वेन प्रसिद्धे । उर्वष्टीवे । उरुत्वेन ष्टीवनादिदोषरहिते । यद्वा उरु अष्टीवं शुन्धन्ते । उर्वष्टीवे । बृहद्रथन्तरे सामनी । एते यज्ञेन कल्पन्तां ॥

इत्येकोनविंशोऽध्याये सप्तमोऽनुवाकः ॥

अष्टमेऽनुवाके युग्मस्तोमादयो होमा उच्यन्ते ॥ ॥ तत्र प्रथममेकया कण्डिकया युजः स्तोमहोमार्थमन्त्रा उच्यन्ते ॥ ॥ अथायुजस्तोमां जुहोत्येका च म इति ॥

पाठस्तु एका च मे तिस्रश्च मे पञ्चदश च मे सप्तदश च मे सप्तदश च मे नवदश च मे नवदश च म एकविंशतिश्च म एकविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे त्रयोविंशतिश्च मे । पञ्चविंशतिश्च मे पञ्चविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे सप्तविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च मे नवविंशतिश्च मे एकत्रिंशच्च म एकत्रिंशच्च मे त्रयस्त्रिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ ॥

एकामादाय द्वितीयां विहाय तृतीयामादाय चतुर्थां विहायेत्येवमेव क्रमेण । त्रयस्त्रिंशत्पर्यन्तान् । अयुग्मस्तोमान् जुह्यादित्यर्थः । एतद्वै देवाः सर्वान्कामानवाप्नोत्ययुग्मिः स्तोमैः स्वर्गः लोकानां यः स्तोमैर्वत्तयजमानः सर्वान्कामानवाप्नोतीति श्रुतेः । अथ चतस्रश्चम इत्येकया कण्डिकया युग्मस्तोमान् जुहोति । तत्र श्रुतिः । अथ युग्मान् जुहोति चतस्रश्च इति । एतद्वै छन्दास्यब्रुवन् यातयामा वा अयातयामा वा युग्मिभ्यः स्तोमैः स्वर्गं लोकमवाप्नोतीति श्रुतेः ।

पाठस्तु ॥ ॥ चतस्रश्च मेष्टौ च मेष्टौ च मे द्वादश च मे द्वादश च मे षोडश च मे षोडश च मे विंशतिश्च मे चतु-

र्विंशतिश्च मे चतुर्विंशतिश्च मेष्टाविंशतिश्च मेष्टाविंश-
तिश्च मे । द्वात्रिंशच्च मे द्वात्रिंशच्च मे षट्त्रिंशच्च मे चत्वारिं-
शच्च मे चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंशच्च मे चतुश्च-
त्वारिंशच्च मे चतुश्चतुश्चत्वारिंशच्च मे चतुश्चत्वारिंश-
च्च मेष्टाचत्वारिंशच्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २५

चतस्र इत्येतां संख्यामादाय चतुरुत्तरे त्वष्टांतात् युग्मांस्तोमान्
अष्टाचत्वारिंशत्पर्यन्तान् जुहोति । तथा श्रुतिः । पूर्वपूर्वं सुभक्तियथावृत्तमु-
त्तरामुत्तरां शाखाममालम्भनारोहेत् तादृगिति अथ वयांसि जुहोति स्वविश्च
म इति । पशवो वै वयांसि पशुभिरैवैनमेतदन्नेन प्रीणात्मयो पशुभिरैवैन-
मेतदन्नेनाभिषिञ्चतीति श्रुतेः ॥ पाठस्तु ॥

अविद्वच्च मे अवी च मे दित्यवाद् च मे दित्यौही च
मे । पञ्चाविद्वच्च मे पञ्चावी च मे त्रिवत्सश्च मे त्रिवत्सा च
मे । तुर्यवाद् च मे तुर्यौही च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥ २६

अत्रिरिति प्रभृतां वयोवस्थाभिधानम् । त्रिभिः श्रोणिगुदलक्षणै-
रङ्गैः स्विष्टकृतमग्निमवतीति अवि । अत्रिरिति मेघः । अवीतिस्त्रोदिसवाद् ।
द्विवर्षा पशुर्दित्यवाद् दा दाने दावखण्डने । दानार्हं खण्डनार्हं वा दित्यं
ब्रह्मतीति दित्यवाद् । दित्यौही तत्स्त्री । पञ्चभिरवतीति पञ्चाविः । पञ्चव-
र्षीयः पशुर्वा पञ्चाविः । तत्स्त्री पञ्चावी । त्रिवत्सः त्रयो वत्सा यस्येति
त्रिवत्सवयोवस्थाविहितो वत्सः । तत्स्त्री त्रिवत्सा । तुर्यवाद् । चतुर्थवाद् ।
तुर्यं चतुर्थं वत्सरं ब्रह्मतीति । तथा । तत्स्त्री तुर्यौही ॥ अथ द्वितीयमन्त्रः ॥

पष्टवाद् च मे पष्टौही च मे मनुजा च मे वशा च
मे । ऋषभश्च मे वेहच्च मेनड्वाश्च मे धेनुश्च मे यज्ञेन
कल्पन्ताम् ॥ - *

पष्टवाद् युगपार्श्वगामी पृष्ठं ब्रह्मतीति पृष्ठौही । गर्भिणी गौः । उक्षा
सेचनदक्षः बलीवर्हः । वशा वन्ध्या गौः । ऋषभः । प्रामिद्धः । वेहत् ।
गर्भाभिधातिनी गौः । अनड्वान् । बलीवर्हः । धेनुः प्रसूतिका गौः । एते
यज्ञेन कल्पन्ताम् । स्वस्वव्यापारसमर्था भवन्वित्यर्थः । एते उपभोगक्षमा
भवन्तु ॥

इत्येकोनविंशोऽध्यायेऽष्टमोनुवाकः ॥

अथ नवमानुवाके कल्पहोमार्था मन्त्रा उच्यन्ते । तत्र प्रथमकण्डिकायाँ नामग्राहहोम उच्यते । अत्र श्रुतिः । अथ नामग्रहो जुहोति वाजाय स्वाहेत्येतद्देवाः सर्वान्कामानाप्त्वाथैनैव प्रसक्षमप्रीणान्यजमानः सर्वान्कामानाप्त्वाथैनमेव प्रसक्षं प्रीणातीति ॥ तत्पाठस्तु ॥

वाजाय स्वाहा प्रसवाय स्वाहापिजाय स्वाहा ऋतवे स्वाहा । वसवे स्वाहाहर्षतये स्वाहा । अहे मुग्धाय स्वाहा मुग्धाय वैनशिनाय स्वाहावितशिनऽआन्त्यायनाय स्वाहान्त्याय भौवनाय स्वाहा भुवनस्य पतये स्वाहाधिपतये स्वाहा प्रजापतये स्वाहा ॥ ५ ॥

वाजापेसादि नामान्येव नामग्रहः । वाजायान्नाय स्वाहेति होममन्त्रः । प्रसवाय अभ्यनुज्ञाय । अपिजाय । अप्मु जायत इत्यपिजः । सप्तम्या अलुक् । क्रतुर्यागस्तस्मै । वसवे निवामकर्त्रे अहर्षतये दिनपतये । अहे दिवसाय । मुग्धाय । मोहमापन्नाय । मुग्धाय मोहरहिताय । विनाशशीलत्वादि धर्ममन्वन्धिने तथा तमशीलाय । विनोशने विशेषेण नष्टं शीलं यस्येति विनोशी तस्मै । अन्तस्य अवसानस्य निर्णयस्य सम्बन्धी आन्त्यः । आन्त्ये अयनं यस्यासौ आन्त्यायनः । अन्ते भवाय निर्णयस्वरूपाय । अन्त्याय । भौवनाय । भुवनमन्वन्धिने । भुवनस्य पतये । अधिपतये प्रजापतये स्वाहेति होमार्थः ॥ अथाभिषेचनं मन्त्रपाठस्तु ॥

इयं तेनामित्राय यन्तासि यमनः । ऊर्जे त्वा वृकौ त्वा प्रजानां त्वाधिपत्याय ॥ ६ ॥

हेअग्रे चितव इयेराट् । इदं राज्यं यत्र यत्र क्रियन्तेऽग्निष्टोमादयः तदिदं सर्वं त्वदीयं राज्यम् । तस्मिन् त्वमभिषिक्तोऽसि । कीदृशस्त्वं मित्राय यन्ता । व्यत्ययः । मित्रस्य त्वं नियन्तासि । मयमनः । यमयतीति यमनः । सर्वेषु अग्निष्टोमादिकर्मसु नियमनकर्ता । अत ऊर्जो विशिष्टान्न रसाय त्वामभिषिञ्चामि । तथा वृष्ट्यै । वृष्ट्यर्थम् । तथा प्रजानामाधिपत्याय । वसोर्धारायामभिषिञ्चामीति शेषः । तथा च श्रुतिः । प्रजानां त्वाधिपत्या ये सत्रं वा ऊर्गन्ने वृष्टिरन्नेनैवैनं प्रीणाति । यदेवाहेयं तेनामित्राय यन्तासि यमनः । ऊर्जे त्वा वृष्ट्यै त्वा प्रजानां त्वाधिपत्यायेति । इदं तेराज्यमभिषिक्तोसीसेतस्मिन्मन्त्रस्य त्वं यन्तासि श्रुतेः । अथ कल्पां जुहोति

आयुर्यज्ञेन कल्पतामिति ॥ पाठस्तु ॥

आयुर्यज्ञेन कल्पतां प्राणो यज्ञेन कल्पतां चक्षुर्यज्ञेन कल्पताः श्रोत्रं यज्ञेन कल्पताम् । वाग्यज्ञेन कल्पतां मनो यज्ञेन कल्पतामात्मा यज्ञेन कल्पताम् । ब्रह्म यज्ञेन कल्पतां यज्ञो यज्ञेन कल्पतां ज्योतिर्यज्ञेन कल्पताः स्वयज्ञेन कल्पताम् ॥ २८ ॥

आयुर्जिवनकालः । यज्ञेन निमित्तभूतेन कल्पतां साध्यतां तथा प्राणादयः प्रविद्धाः तत्र प्राणादीनां स्थितिरूपतिश्च मनुष्याणां पुण्यपापाभ्यां भवति । तस्माद्यज्ञेन वेदविहितेन केवलपुण्येन राजमादिभावशून्येन प्राणादयः कल्पन्तामिति मार्थना । आत्मा बुद्धिः पृष्ठं नाकपृष्ठं ब्रह्म वेदः । यज्ञः श्रीभगवत्पूजादिलक्षणः । ज्योतिर्ब्रह्मज्योतिः । स्वः सुखम् । एते यज्ञेन कल्पन्तामिति मन्वन्धः । वसार्धारयाग्निमभिपिञ्चति यजमानं आत्मानमेवाभिपिञ्चतीति ॥ मन्त्रपाठस्तु ॥

स्तोमश्च यजुश्च ऋक्च साम च वृहच्च रथन्तरं च ।
स्वर्देवाः ऽअगन्माऽमृता ऽअभूम प्रजापतये प्रजा अभूवमवेद्
स्वाहा ॥

स्तोमः स्तुतिः यजुः प्रल्लिष्टमठितं यजुः । नियतपादवद्धा ऋक् । गीतिप्रधानं साम । वृहत् वृहत्त्वाम । रथन्तरं रथन्तरं साम । हेदेवाः । स्वर्गं अगन्म । स्वर्गमुखं प्राप्ताः । गन्ता च अपृताः । अमर्त्याः अभूम । देवान् गत्वा पुनः प्रजापतेः हिरण्यगर्भस्य प्रजा अभूम् । भवेमेति प्रार्थना । वेद् स्वाहेति होमार्थः । वेद् स्वाहेति वषट्कारो हैव परोक्षं वेद्कारो वषट्कारेण वा वै स्वाहाकारेण वा देवेभ्योन्नं प्रदीयत इति श्रुतिः ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो दद्याद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्रीवीर-
रत्नकभूपालसाम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्येण विरचिते माध-
र्वाय्ये वेदार्थप्रकाशे काण्वसंहिताभाष्ये एकोनविंशोऽध्यायः ॥

अथ काण्वसंहिता भाष्ये २० अध्यायः ।

यस्य निश्चसितं वेदा यो वेदेभ्योऽखिलं जगत् ।

निर्ममे तमहं वन्दे विद्यातीर्थमहेश्वरम् ॥ १ ॥

एकोनविंशेऽध्याये वसोर्धारादिमन्त्राः उक्ताः । अथ त्रिंशेऽध्याये वा-
जपसवादिमन्त्रा उच्यन्ते कात्यायनः वाजपसवीयं जुहोति सप्तमिर्कृष्णिरिति
पाठस्तु वाजस्य तु । व्याख्यातोऽयं मन्त्रः ॥ ॥ अथ द्वितीयः ।

विश्वे अद्य मरुतो विश्वऽऊती विश्वे भवन्त्वग्नयः समि-
द्धाः । विश्वे नो देवाऽअवसागमन्तु विश्वमस्तु द्रविणं वाजो
अस्मे इति ॥

विश्वे सर्वे मरुतः अग्न्याम्पिन्नहनि अगमन्त्वित्यनुपङ्गः । विश्व
ऊती । विश्व इति सर्वनाम सामान्यदेवतागणप्रतिपात्तिजनकम् । अतस्तं नि-
राकांक्षीकरणाय विशिष्टो देवगण इहाद्याह्रियते विश्वे च देवगणाः । वसवो
रुद्रा आदित्याश्चाद्य ऊती ऊत्या अत्रनेन तर्पणेन निमित्तभूतेन आगमन्तु ।
तदागमनेन च । विश्वे अग्नयो गार्हपत्यप्रभृतयः । समिद्धाः सम्यक् दीप्ता
भवन्तु । विश्वे देवाश्च नोऽस्माकं अवसा अन्नेन हविल्लक्षणेन निमित्तभूतेन
आगमन्तु । आगच्छन्तु । तेषां च तुष्टया विश्वं सर्वं अस्तु द्रविणं भूमिहि-
रण्यादिधने वाजश्चान्नं । अस्माकमस्तु । अन्यथा वा सम्बन्धः । विश्व-
मरुतः अग्न्यागमन्तु । विश्वे च देवगणा ऊत्या निमित्तभूतया आगमन्तु ।
विश्वे च नो देवा अवसा निमित्तभूतेनागमन्तु । तदागमनेन च वि-
श्वे भवन्तु । अग्नयः समिद्धाः होमार्थं ह्यग्नयः प्रज्वाल्यन्तो ततो या-
गोत्तरकालं विश्वमस्तु । द्रविणं वाजो अस्मे तुल्यम् ॥

अथ तृतीयः ॥ वाजो नः सप्त प्रदिशश्चतस्रो वा पराव-
तः । वाजो नो विश्वे देवैर्धनसातां इहावत्विति ॥

वाजोन्नं नोऽस्माकं सप्त प्रदिशः प्रकृष्टा दिशः सप्तदिशां चतस्रं
अपश्चोर्ध्वं च मध्यं चेति तिस्रो वा शब्दः समुच्चयार्थः । परावतः । पराव-

च्छब्दो दूरवचनः महर्जनः तपः सत्यमित्येने लोका उच्यन्ते । ते हि त्रिलोकानतीत्य वर्तते । त एताः प्रदिशः अस्माकं वाजः अस्त्विति शेषः । अस्माकमन्नमाधका भवन्त्विति शेषः । दिशः वाजः अन्नं पूरयत्विति वा । एवं पूरितो विश्वेदेवैः सहितो वाजं धनसातौ धनसदभोजनकाले प्राप्ते इह षष्ठे लोके वा नः अस्माकं अवतु । पालयतु ॥

अथ चतुर्थः ॥ वाजो नो अद्य प्रसुवाति दानं वाजो देवां ऽ ऋतुभिः कल्पयाति । वाजो हि मा सर्ववीरं चकार सर्वा आशा वाजपतिर्भवेयमिति ॥

वाजो नोऽस्माकं अद्य । प्रसुवाति अन्नादिदानमभ्यनुजानातु । ऋतुभिः कालैश्च सहदेवान्वाजं कल्पयानि । यथास्थानं कल्पयतु । वाजो हि माहिशब्दः ममुच्चयार्थः । वाजश्च मां सर्वं वीरं सर्ववीरणीयं सर्वेभ्यः श्रेष्ठं वाजं जानातु । जनयतु वा । ततो विश्वाः सर्वाः आशा दिशः वांछाया वाजपतिः सन् । भवेयमित्याशीः ॥

अथ पञ्चमः ॥ वाजः पुरस्तादुत मध्यतो नो वाजो देवान्हरविषा वर्धयानि । वाजो हि मा सर्ववीरं चकार विद्वं । आशा वाजपतिर्जयेयमिति ॥

वाजः पुरस्तात् । अम्ब्विति वाक्यशेषः । उतापि च मध्यतो नोऽस्माकं भस्तु वाजश्च देवान् हरविषा वर्धयानि । वर्धयतु अस्माकं वाजश्च मां सर्ववीरं चकार करोतु । ततः सर्वा आशा दिशः वाजपतिः सन् । अहं जयेयमिति दिग्वृत्ततया व्यापकता प्रार्थने ॥

अथ षष्ठः । संसा सृजामि पयसा पृथिव्याः स मा सृजाम्यद्विरोषधीभिः । सोहं वाजः सनेयमग्न इति ॥

सोहं वाजमिति तच्छब्दयोगाद्यहोरात्राध्याहारः सोहं सृजामि च मा मां आत्मानं पयसा रसेन पृथिव्याः संवन्धिना । संसृष्टपयः प्रभृतिशिरः । वाजं सन्नेषं सम्भजेयं त्वत्प्रसादात् हे अग्ने । यद्वा अग्निरेवोच्यते तस्मदादेशशब्दस्य त्वा शब्दं कृत्वा । युक्तं न रमेत् । तद्व्याख्यातम् । योहं हे अग्ने । संसृजामि त्वां पयसा पृथिव्याः संसर्गश्च होमाभिप्रायः । शिष्टं समानं ।

अथ सप्तमः ॥ पयः पृथिव्यां पय ओषधीषु पयो दिव्यं-
न्तरिक्षे पयोधाः । पयस्वतीः प्रदिशः सन्तु मह्यमिति ॥

अग्निरुच्यते हविर्वा । हेश्रीभगवन्नग्ने ! पृथिव्यां यत्पयः क्षीरादि-
जातं धाः धेहि । ओषधीषु यत्पयः मधुरादिरसं तद्धेहि । दिवि शुलोके य-
त्पयः । अमृतलक्षणं तद्धेहि । अन्तरिक्षे यत्पयः हविः । परिणामलक्षणं तद्धे-
हि । अतस्त्वामग्निं प्रार्थये । पयस्वतीरत्र व्यस्यः । मध्ये दिशः प्रदिशश्च
पयस्वत्यः । रमन्त्यः सन्तु भवन्तु । कासायनः । अथैनं दक्षिणवाहुमनुपर्या-
वृत्य यजमानमभिषिञ्चति । देवस्य त्वेति व्याख्यातो मन्त्रः सरस्वत्यै
व्यत्ययः । सरस्वत्या वाचः यन्तुः नियन्तुः अग्नेः यन्त्रे स्वयमनेन तदाङ्गया
साम्राज्येन निमित्तभूतेन मवित्रा प्रमूतोहं कृष्णाजिनोपविष्टं यजमानम-
भिषिञ्चामि ॥

इतिविंशोऽध्याये प्रथमोऽनुवाकः ॥

प्रथमे वाजप्रसवीयहोम मन्त्रा उक्ताः द्वितीये राष्ट्रभृदोषादिमन्त्रा
उच्यन्ते ॥ कात्पायनः । अथ राष्ट्रभृतो जुहोति द्वादशगृहीतेनाज्येन ता
द्वादशा बाहुतयो भवन्तु । द्वादशयजूषि स नो भुवनस्य पत इत्येनस्याः ।
प्रागृतापडित्यादीनि ॥

तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु । ऋताषाल्लतधामाग्निर्गन्धर्वः । तस्यौ-
षधयोप्सरसां मदो नाम । स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वा-
हावाद् ताभ्यः स्वाहेति ॥

अग्निरुच्यते । ऋतं सत्यं ब्रह्मलक्षणं महत्तेजस्तत्सहने इत्यृतापाद्
दीर्घश्छान्दमः । ऋतधामा सत्यं धाम स्थानं यस्य स तथोक्तोऽग्निर्गन्धर्वः ।
गन्धं कामयत इति । तस्य चाग्नेर्गन्धर्वस्य औषधयोप्सरसः । तासां च मुदः
नाम ओषधीभिर्होदं सर्वं मोदत इति मुदः सोऽग्निर्गन्धर्वः नोऽस्माकं इदं ब्रह्म
ब्राह्मणजातिर्ब्राह्मण्यं च । क्षतात्रायत इति क्षत्रं । तदुभयं पातु रक्षतु ।
तस्मै स्वाहावाद् सुहुतं हविरस्तु । वपदूकारेण ताभ्यश्चौषधीभ्यः स्वाहा ।

अथ द्वितीयमन्त्रः ।

साधितो विश्वसामा सूर्यो गन्धर्वः । तस्य मरीचयोप्स-

रस आयुषो नाम । स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहावाद
ताभ्यः स्वाहेति ॥

यः सूर्यः साहितः । अहोरात्रे सन्दधातीति साहितः । एष ह्यहो-
रात्रे सन्दधातीति श्रुतेः । स एव विश्वसामानि यस्य सः साम सान्त्वययो-
ग इति च एष एव सन्ध्यामेति श्रुतेः । तस्याप्सरसः । मरीचयः मरीचय-
स्तेजसस्त्रसरेणवः । तामामायुषो नाम । आयुषो वापेसायुवाना इव मरी-
चयः पुवन्त इति श्रुतेः । पु मिश्रणे । आमिश्रयन्त इत्यर्थः । तुल्यमन्यत् ।

अथ तृतीयः ॥ सृष्टुष्णः सूर्यरश्मिश्चन्द्रमा गन्धर्वः ।
तस्य नक्षत्राण्यप्सरसो भेकुरयो नाम । स न इदं ब्रह्मक्षत्रं
पातु तस्मै स्वाहावाद ताभ्यः स्वाहेति ॥

यः सृष्टुष्णः सूर्ययक्षिणः सूर्यरश्मिः सूर्यस्येव हि चन्द्रमसो रश्मयः
स चन्द्रमा गन्धर्वः सृष्टुष्ण इति सृष्टु इति ह्येतिवत् । सूर्यरश्मिरिति च-
न्द्रमसो रश्मयश्चन्द्रमा गन्धर्व इति श्रुतेः । तस्य नक्षत्राण्यप्सरसः । तामां
नाम भेकुरयः । भा० हि नक्षत्राणि कुर्वन्तीति भेकुरयो नक्षत्राणि ।
तुल्यमन्यत् ॥

अथ चतुर्थः ।

इषिरो विश्वव्यचा वातो गन्धर्वः । तस्यापो अप्सरस-
ऊर्जो नाम स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहावाद
ताभ्यः स्वाहेति ॥

य इषिरः क्षिपः । इषि गतानुप्रगतौ । विश्वव्यचाः सर्वतो गमनशी-
लाः । वातो वायुः स एव गन्धर्वः । तस्य वातस्य आपः । अप्सरसस्त्रि-
यः । उर्जः । अन्नरसः नाम । स्पष्टमन्यत् ॥

अथ पञ्चमः ॥

भुज्युः सुपर्णो यज्ञो गन्धर्वः । तस्य दक्षिणा अप्सरस-
स्तावा नाम । स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहावाद
ताभ्यः स्वाहेति ॥ ४२

यो यज्ञो भुज्युः । यज्ञो हि सर्वाणि भूतानि भुनक्तीति श्रुतेः । सु-

पर्णः शोभनपतनः स एव गन्धर्वस्तस्य दक्षिणा अप्सरसः । दाक्षयनीति दक्षिणास्तासां स्तावा नाम ताभ्यः सूयन्त इति स्तावाः स्तुत्याः । दाक्षिणा वै स्तावा दक्षिणाभिरेव यज्ञस्तुयतेथो वै यश्च दक्षिणां ददाति स्तुय एव स इति श्रुतेः । तुल्यमन्यत् ॥

प्रजापतिर्विश्वकर्मा मनो गन्धर्वः । तस्य ऋक्सामान्य-
प्सरस एष्टयो नाम । स न इदं ब्रह्मक्षत्रं पातु तस्मै स्वाहावाद्
ताभ्यः स्वाहेति ॥४३

यः प्रजापतिर्विश्वकर्मा । विश्वकर्ता । प्रजापतिर्वै विश्वकर्मा स
हीदं सर्वमकरोदिति श्रुतेः । स नो गन्धर्वः । मनोऽक्षणी गन्धर्वः । तस्य
ऋक्सामानि अप्सरसः । एष्टयो नाम । ऋक्सामानि वा एष्टयः ऋक्समै-
र्ह्याशासत इति नोस्तिवच्छनोस्तीति श्रुतेः तुल्यमन्यत् ॥ ॥ कात्याय-
नः ॥ ॥ रथशिरसि जुहोति स नो भुवनस्य पते इति ॥

पाठस्तु ॥ स नो भुवनस्य पते प्रजापते यस्य तनुपरिगृहा
यस्य वेह । अस्मै ब्रह्मणेस्मै क्षत्राय महि शर्म यच्छ स्वाहेति ॥४४

हे भुवनस्य पते प्रजापते । यस्य ते तव उपरि अमुष्मिलोके गृहाः
सत्त्वं प्रजापतिः । अस्मै ब्रह्मणे ॥ अस्मै क्षत्राय महि महत् । शर्म शरणं
यच्छ प्रयच्छ देहि । स्वाहेति होमार्थः ॥ कात्यायनः ॥ वातहोमाँजुहोति
समुद्रोसीति ॥

पाठस्तु । समुद्रोसि नभस्वानार्द्रदानुः शंभूर्मयोभूरसि
मिमा वाहि स्वाहा । मारुतोसि मरुतां गणः शंभूर्मयोभूरभि
वाहि स्वाहा अवस्यूरसि दुवस्वाञ्छम्भूर्मयोभूरसि मा वा-
हि स्वाहेति ॥४५

लोकत्रयस्थं वायुं लोकद्वारेण स्तुवन्ति । हेवायो ! यत्त्वं समु-
द्रः समुन्दनोसि नभस्वान् श्वनभ इति नक्षत्राण्युच्यन्ते । तानि हि नि
तरां भाति तैः संयुक्तो नभस्वान् । आद्रदानुश्च वृक्षादिना आर्द्रं ददाती-
सार्द्रदानुः । शम्भावयतीतिशम्भुः । मयः । सुखं भावयतीति मयाभूः ।
एवम्भूतस्त्वं हेवायो मा अभिवाहि । आभिमुख्येन यज्ञफलं प्रापय मा मां ।

स्वाहा होमार्थः । मारुतोसि यस्त्वं मारुतः मारुतः पुरो वातप्रभृतीनां वा-
तानां प्रकृतिभूतोसि । अन्तरिक्षलोके सतीति वा । मरुतां शुक्रज्योतिः
प्रभृतीनां गणोसि तं त्वा ब्रवीमि । शम्भुश्च मयोभूश्च भूत्वा अभिमाहि ।
स्वाहेत्युक्तार्थः । हेवायो यस्त्वं अवस्यूः । अवनं तर्पणं वावयस्यति । सी-
क्ष्यतीश्रवस्युः । यद्वा आवसः अन्नन्तदिच्छतीति । व्यचीकृते औणादि-
के उग्रत्यये च कृते अवस्युरिति च भवति । अन्नं कामयमानः दुव-
स्वान् दुहृस्व इति हविर्नाम । तद्वा न् हविष्वान् । अन्यत्समानं । कात्या-
यनः ॥ रुहन्तीः जुहोति यास्त इति तिसृभिरिति यास्त इति या वो इति
द्वौ मंत्रौ चतुर्दशाध्याये व्याख्यातौ ॥

तृतीयस्य मन्त्रपाठस्तु ॥ रुचन्नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचः राजसु
नस्कृयि । रुचं विश्येषु शूद्रेषु मपिधेहि रुचा रुचमिति ॥ ४८

हे भगवन्नने । नः अस्माकं ये ब्राह्मणास्तेषु रुचं । दीप्तिं धेहि
स्यापय । राजसु सत्रियेषु नः अस्माकं सम्बन्धिषु कृधि कुरु । विश्येषु
वैश्येषु अस्मत्परिवृद्धीतेषु शूद्रेषु च कृधि अपि च धेहि । रुचा दीप्या
सह रुचं दीप्तिं अमृतत्वं वा । अनुत्सन्नघर्माणां यथा वयं दीप्या भवेम ।
तथा कुर्वीत्याशयः यद्वा ब्राह्मणप्रभृतिषु पा रुक् तामस्पृश्यं धेहि देहि
सर्वथा । किं बहुक्त्यामप्येव धेहि । रुचा ज्ञानेन रूपं अमृततामिति ।
कात्यायनः । अथ वारुणं जुहोति तत्त्वायामीति ॥ पाठस्तु ॥

तत्त्वायामि ब्रह्मणा वन्दमानस्तदाशास्ते यजमानो ह-
विर्भिः । अहेलमानो वरुणेह षोड्युरुशः समानऽआयुः प्रमो-
षीरिति ॥ ४९

हेश्रीभगवन् वरुण ! यत्प्रयोजनमुद्दिश्य त्वा त्वां यामि ब्रह्मणा वेदेन
वंदमानः नमस्कारं कुर्वाणः । यद्वा वन्दमानः स्तुतिं कुर्वाणोहं त्वां यामि
शरणं व्रजामि । तदा हेळं देवापराधं नमः कुर्वाणोयं यजमानो हविर्भिर-
भ्युद्युतैर्हविर्भिः । तत् तदेव प्रयोजनं आशास्ते प्रार्थयते । हेवरुण इह
बोधि तत्प्रयोजनं यज्ञसमाप्तिक्षणं बुध्यस्व । हे उरुशःस हेवहुस्तुत । नः
आयुषोऽवखण्डनं मा कुरुष्व । कात्यायनः ॥ अथार्कादशमेधयोः सन्ततिर्जु-
होति । स्वर्णधर्म इति ॥ पाठस्तु ॥

स्वर्णधर्मः स्वाहा स्वर्णार्कः स्वाहा स्वर्णशुक्रः स्वाहा ।

स्वर्णज्योतिः स्वाहा स्वर्णसूर्यः स्वाहेति ॥ ५०

अत्र श्रुतिः । अयं वाकोग्निः अर्कोसावादिशोऽवमेधस्तौ गृत्सौ नानैवान्तां तौ देवा एताभिराहुतिभिः सतन्वन्नित्यादि श्रुतेः । स्वर्णधर्मःस्वरिव असावादित्यो धर्मः अतस्तप्तादित्यमग्नौ स्वाहा जुहोति प्रतिष्ठापयति । स्वरिव योर्कोग्निमादित्ये जुहोति स्थापयति स्वरिव असावादित्यः शुक्रः तं पुनरमुत्र दधाति । तं शुक्रं पुनरग्नौ दधामि स्थापयामि । स्वरिव योग्नि-ज्योतिस्तमग्निं इहादित्ये जुहोमि स्थापयामि । स्वरिव असौ आदित्यः सूर्यस्तमग्निं जुहोमि एवं पञ्चचितिकोऽयमग्निः स्तूयते । पञ्चैवा आहुतीर्जुहो-ति । पञ्चचितिकोऽग्निरिति श्रुतेः । यद्वा स्वर्णार्कस्वाहेत्येतानि अग्नेरव पञ्चनामानि अस्यैवैतान्यग्नेर्नामानीति श्रुतेः ॥

इति विश्वेऽध्याये द्वितीयोऽनुवाकः ॥

द्वितीये राष्ट्रभृतादि होममन्त्रा उक्ताः ॥ तृतीये प्रातरनुवाकादि होममन्त्रा उच्यन्ते । कासायनः ॥ प्रातरनुक्रमुपाकरिप्पन् अग्निं युनग्मीति तिमृभिरिति ॥ तत्रप्रथममन्त्रपाठस्तु ॥

अग्निं युनग्मि शवसा घृतेन दिव्यं सुपर्णं वयसा बृह-न्तम् । तेन गमेम ब्रध्नस्य विष्टपं स्वरूहाणा अधिनाकमु-त्तममिति ॥ ५१

दिवि भवं सुपर्णं शोभनपतनम् । अवसा अग्नेन हविर्लक्षणेन ध्रुमेन च बृहन्तं महान्तम् । तमग्निं शवसा बलेन घृतेन युनग्मि युक्तं करोमि तेन युक्तेनाग्निना वयं ब्रध्नस्य सूर्यस्य विषयं विगततापं सर्वद्वन्द्वद्वापलक्षणं सर्व-तापरहितं सौरं पदं गमेम गच्छेम अतोऽप्यधिकं स्वरूपां रूहाणाः । आरोहन्तः नाकं उत्तमं सर्वेभ्यः गमेमेत्यनुवर्तते । यत्र गता न कथञ्चन अकं अमुखं न प्राप्नुवन्ति । स नाकलोकः ॥ अथ द्वितीयः ॥

इमौ ते पक्षा अजरौ पतन्निणो याभ्यां रक्षां स्यपहं स्यग्ने । ताभ्यां पतेम सुकृता मुलोकं यत्र ऋषयो जग्मुः प्रथम-जाः पुराणाः इति ॥ ५२

हेश्रीभगवन्नग्ने ते पतात्रिणः उत्पतनशीलस्य तव इमौ पत्रौ प्रतीय-
मानौ प्रसिद्धौ । अजरौ जरारहितौ पक्षाविशिष्टगमनसाधनभूतौ तौ काविति
याभ्यां पक्षाभ्यां त्वं रक्षांसि राक्षामान् श्रेयसः परिपन्थिनः पाप्मनश्च
अपहृषि विनाशयसि । ताभ्यां पक्षाभ्यां सुकृता सुलोकं पतेम गच्छेम ।
अपि च अस्मदधिकपुण्यकारिणामपि लोकं गच्छेम । लोकं विशिनष्टि ।
यत्र ऋषयो मन्त्राणां द्रष्टारः । प्रथमजाः । पूर्वजाताः पुण्याः पुरातनाः ।
विश्वसृजः । यत्र स्थानं जग्मुः गतास्तत्र पतेमेति सम्बन्धः ॥ अथ तृतीयः ॥

इदं दक्षः श्येन ऋतावाँ हिरण्यपक्षः शकुनो भरण्युः ।
महान्तसधस्थे ध्रुव आनिपतो नमस्ते अस्तु मा माहिःसीरिति ॥ ५३

हेअग्ने यस्त्वमिन्दुः । इदि परमेश्वर्ये । परमेश्वरः उदि क्लेदने ।
उदोरदेरिति उन्दतीति इन्दुः इन्दनो वा । दक्षः उत्साहवान् । श्येनः
घोसनीयगतिः । ऋतावान् । यज्ञवान् सत्यवान् । उदकवान् । हिरण्य-
पक्षः । अमृतपक्षः । भुरण्युः भरणशीलः महाप्रभावतः श्रेष्ठः । सधस्थे
ब्रह्मणा मह विभक्तस्थाने ध्रुवः स्थिर आनिपतः । आनिषण्णः । एवंविधो
योगिनस्तस्मै ते तुभ्यं नमोस्तु मा माहिःसीः मां मा हिंसां कुरु ॥ कात्या-
यनः ॥ अश्वानामार्दि प्रयुज्जानं दिवो मूर्द्धेति द्वाभ्यामिति ॥ तत्र प्रथम-
मन्त्रपाठस्तु ॥

दिवो मूर्द्धांसि पृथिव्या नाभिरूर्गयामोषधीनाम् । वि-
श्वायुः शर्म सप्रधानमस्यथ इति ॥ ५४

हेभगवन्नग्ने । यस्त्वं दिवः शुलोकस्य मूर्द्धामि । उत्तमाङ्गमसि ।
पृथिव्याः नानागुणविशिष्टायाः नाभिः नहनमसि अयामर्कः । सर्वरसभूतमपां
रसः सारोमि । विश्वायुः सर्वप्राणिनामायुः । जीवनं च त्वमसि । सप्रथाः
सर्वतः प्रथिरूपः विस्तीर्णोमि । अतः यथा मार्गाय देवयानारूपमार्गभूताय
तुभ्यं नमः ॥ अथ द्वितीयः ॥

विश्वस्य मूर्धन्नधितिष्ठसि श्रितः समुद्रे ते हृदयम्
वायुरयो दत्तोदधिं भित्त । दिवस्वर्जन्यादन्तरिक्षात्पृथिव्यास्ततो
नो वृष्ट्या वेति ॥ ५५

हेअग्ने यस्त्वमखं विश्वस्य सर्वस्य प्राणिजातस्य मूर्धेन आधि उपरि

निष्ठमि । श्रितः आश्रितः बुद्धिः सुषुम्णा वा नाडीम् । यस्य च समुद्रे समुन्दने अन्तरिक्षे ते तत्र हृदये । अप्सु चायुर्जीवनं तं त्वां याचे । अपो दत्त आपो देहीति बहुवचनव्यत्ययः । एकोऽह्निरिह देवता नो बहुत्वं पूजार्थम् । उदधिं भिन्त । उदस्योदादेशः । उदा धीयन्ते यस्मिन्मेघे स उदधिः । तमुदधिवृध्यर्थं भिन्धि । विदारय । हेअग्ने ततो मेघविदारणा-
निमित्तात् । दिवः सम्बन्धिनः पर्जन्यात् । वृष्ट्यभिमानो देवात् । ततो-
न्तरिक्षान्मेघस्थानविशेषात् । पृथिव्याः पृथिव्यै वृष्टिं देहि । तद्वृष्ट्या नोऽस्मान् । अव पालय कात्यायनः अध्वर्युर्यजमानविषयमाक्षिपं करोति । इष्टो यज्ञ इति द्वाभ्यामिति ॥ मन्त्रपाठस्तु ॥

इष्टो यज्ञो भृगुभिराशीर्दा वसुभिः । तस्य न इष्टस्य प्रीतस्य द्रविणेहा गमेरिति ॥ ५५ ॥

यस्यास्य सुवर्णो दानस्य यजमानस्य इष्टः सम्पादितो यज्ञः भृगुभिः भृगुप्रमुखैर्ब्राह्मणैः । आशीर्दाः । वसुप्रभृतिभिर्देवताविशेषैः आक्षिपं दाना च कृताः । तस्यास्य यजमानस्य नः इष्टस्य अस्माकमभिप्रेतस्य प्री-
तस्य चास्मान्प्रीतिं प्रीतः स्निग्ध उच्यते । याज्ययाजनयोः स्नेहख्यापनपर-
वाक्यमिदं मुक्त्वाथेदानीं द्रविणमाह । त्वं अपि हेद्रविण इह यजमाने आ-
गमेः । आगमनं कृथाः । यजमानं प्रीतिं क्षीघ्रमागच्छ । यद्वा भृगुभिः आ-
चार्यैर्ब्राह्मणैरिष्टो यो यज्ञो वसुभिर्देवैराशीर्दाः । कृतः अत्र विभक्तिव्य-
त्ययः । परार्द्धर्चः स यज्ञोस्माकमिष्टश्च प्रीतश्च द्रविणमिहानयत्विति ॥

अथ द्वितीयः इष्टो अग्निराहुतः पिपर्तुतइष्टं हविः स्व-
गेदं देवेभ्यो नम इति । कृतैर्यागैरग्निरिष्टः आहुतश्च पूर्वा । अस्माभिरा-
हुतश्चेष्टं हविः स्वेष्टं नः अस्मादृतं । समिष्टयजुर्लसणं हविः पिपते हवि-
षः परिपूरणं करोतु । किञ्च । स्वगेदं अत्र व्यत्ययः । इदं हविः स्वगाः
स्वान् स्वकीयान् हविः सम्बन्धिनो गच्छतीति स्वगास्वगं भवत्विति शेषः ।
सर्वमन्तुष्टयर्थं नमस्करोति । देवेभ्यो नम इति । यद्वा नम इत्यन्ननाम ।
देवेभ्य इदमन्नं स्वगं भवत्विति ।

इति विशोऽध्याये तृतीयोऽनुमाकः ॥

तृतीये प्रातरनुवाकादिर्मन्त्रा उक्ता चतुर्थेऽनुवाके सुवाहुत्पादिमन्त्रा

उच्यन्ते कात्यायनः इष्टौ विश्वं वैश्वकर्मणाभिजुहोति । यदाऽकृतादिति न-
र्वाभर्मन्त्रैः स्तुवाहुतीर्जुहुयात् ॥

तत्र प्रथममन्त्रपाठस्तु ॥ यदाऽकृतात्समसुस्रोद्भूतो वा
मनसो वा सम्भृतं चक्षुषोः । तदनुप्रेतसुकृतामुलोकं यत्र ऋ-
षयो जग्मुः प्रथमजाः पुराणा इति । ५८

यत्कर्म आकृतात् । आकृतो नाम प्राज्जनसः प्रवृत्तेरात्मनो धर्मो
मनःप्रवृत्तिहेतुराकृतः । तस्मात्सुभृतं सुकृतं सूक्ष्मरूपं संचितं यत् सु-
स्रोत् । समस्तवत् । प्रजापतेर्हृदो बुद्धेश्च । मनसो वा हृदयार्वाच्छा-
न्मनसः सकाशात् चक्षुषो सौराष्ट्रपासनावलाद्या चक्षुरपलक्षितस्थानाद्वा
यत्संभृतं समसुस्रोत् । निःसृतं भवति । फलपारम्भार्थं यत्सूक्ष्मरूपं कर्म
निःसृतं तदनुमुकृतां मत्कर्मकारिणां तु आपं लोकं लोक्यते भुज्यत इति
लोकः तं लोकं प्रेत गच्छत । यत्र यत्स्थानं ऋषयः स्वार्थकुशलाः ज-
ग्मुः । प्रथमजाः विश्वसृजः । पुराणाः । देवाश्चापि निवसन्ति । तं लोकं
गच्छत । यत्र यत्स्थानं ऋषयः स्वार्थकुशलाः जग्मुः । प्रथमजाः । विश्व-
सृजः पुराणाः देवाश्चापि निवसन्ति । तं लोकं गच्छतेति सम्बन्धः ॥

अथ द्वितीयः । एतं सधस्थं परि ते ददामि यमावहाच्छेव-
धिं जातवेदाः । अन्वागन्ता यज्ञपतिर्वा अन्नतस्म जानीत
परमे व्योमन् इति । ५९

हेसधस्थ ! समानस्थानदेवानां समानं स्वर्गं एनं यजमानं परि ते
ददामि । ते तुभ्यं परिददामि । परिदानं रक्षणार्थं । जातवेदाः सर्वज्ञो-
ग्निः यं च यजमानं शेषधिं देवानां निधिं कोशस्थानीयं आवहत् । आ-
नयेत् । तं यजमानं तुभ्यं ददामि । यद्वा आहुतिपरिणामभूतमग्न्यनु-
गृहीतं सकृन्मार्त्तं वा परिददामि । यत्र यज्ञपतिर्विष्णुर्गुह्यफलप्रदातृत्वेन
प्रकृतं यजमानं अत्र वः युष्मान् अत्रस्थाश्च अन्वागन्ता तं श्रीभगवंतं
अन्वागन्तारं परमे उत्कृष्टे व्योमन् व्योमनि । परिपूर्णे सस्वरूपे एवं
स्थितं देवाः भूयं जानीत सर्वान्तर्यामित्वाच्चेति ॥

अथ तृतीयः ॥ एतं जानीथ परमे व्योम देवाः सधस्था

विदरूपमस्य यदा गङ्गात्पथिभिर्देवयानैरिष्टापूर्ते कृणवथा विरस्मा इति ॥ ६०

हे सधस्थाः समानस्थाना देवाः । परमे उत्कृष्टतमे व्योमनि स्थितमेनं यजमानं जानीथ किञ्च यतोस्य यजमानस्य रूपं विदं अत्र व्यत्ययः । विदाथ जानीथ । अतो युष्माभिर्विदितरूपो यजमानो देवयानैः पथि मार्गे यदा आस्पाद । मार्ग एव देवताबहुत्वाभिप्रायेण बहुवचनं । यदागच्छेत् । तदा इष्टापूर्ते कृणवथ । अस्मै यजमानाय । इष्टं यागादिपूर्ते तडागादि । ते द्वे आधिः कृणवथ । आविर्भूतफले कृणवथा । इष्टापूर्तफलाभिव्यक्तिं कुरुतेत्यर्थः ।

चतुर्थपञ्चममन्त्रौ षोडशेऽध्याये व्याख्यातौ ।

अथ षष्ठः ॥ ॥ प्रस्तरेण परिधिना सुचविद्या च बर्हिषा । ऋचेमं यज्ञं नो नय स्वर्देवेषु गन्तव इति ॥ ६३

हे श्रीभगवन्मन्त्रे प्रस्तरेण परिधिना सीमित्यरिधिना सुचा वेद्या च बर्हिषा । ऋगादिभिर्मन्त्रैस्तदभिमानि देवतारूपैश्च सह नः अस्मदीयमिमं यज्ञं स्वः स्वर्गं नय । देवेषु गन्तवे देवान्प्रतिगमनाय । यज्ञे हि गते यजमानो गत एव । स हि तस्य शरीरमित्यभिप्रायः ।

अथ सप्तः ॥ यदत्तं यत्परादानं यत्पूर्तिर्याश्चदक्षिणाः । तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधदिति । ६४

यदत्तं भार्यापुत्रजामात्रादिभ्यः । यत्परादानं दीनान्धकृपणादिभ्यः । दयया यत्परेभ्यः दानं कृतं यत्पूर्तिं स्मृतिविहितं । ब्राह्मणभोजनादि । याश्च दक्षिणाः । यज्ञान्तर्गताः । तत्सर्वं अग्निर्वैश्वकर्मणः विश्वकर्मैव वैश्वकर्मणः । स्वार्थे तद्धितः । अग्निं स्वर्देवेषु स्वर्गलोकस्य देवे मध्ये च नः अस्माकं भागार्थं दधत् दधातु स्थापयतु ।

अथाष्टमः ॥

यत्र धारा अनपेता मधोर्धृतस्य च याः । तदग्निर्वैश्वकर्मणः स्वर्देवेषु नो दधदिति ॥ ६५

यत्र यस्मिन् देशे मधोः मधुनः घृतस्य च सोमादीनां च या अनपेताः अनुषसीणाः । अनवच्छिन्नाश्च धाराः सांति तद् । ताभिः सर्वाभिः धा-

राभिः वैश्वकर्माणोऽग्निः स्वः देवेषु मध्ये नः अस्माकं दधत् दधातु पोषय-
तु । कासायनः ॥ चिखग्निमुपतिष्ठते ये अग्नय इति ॥

पाठस्तु ॥ ये अग्नयः पाञ्चजन्याः अस्यां पृथिव्यामधि ।
तेषामसि त्वमुत्तमः प्र नो जीवातवे सुवेति ।

हेयज्ञ ! ये अग्नयः पाञ्चजन्याः । अस्यां पृथिव्यामुपरि ये अव-
सिता पञ्चचितिका अग्नयः । ये के च अग्नयः पञ्चचितिका इति श्रुतेः ।
तेषामग्नीनां त्वमुत्तमोऽसि निर्मध्याग्निस्त्वमुद्गतोऽसि । अतस्त्वां प्रार्थयामः !
जीवातवे जीवयतुः । जीवयतीति जीवातुः । तस्मै बहुकालजीवानार्थं नः
अस्मान् । सुव । एवमस्त्वित्यनुजानाहि ॥

इति विश्वेध्याये चतुर्थोऽनुवाकः ।

चतुर्थे सुवादि होममन्त्रा उक्ताः ॥ पञ्चमे चिखग्न्युपस्थापनादि
मन्त्रा उच्यन्ते कासायनः चिखग्निमुपतिष्ठते वार्त्रहत्यायोति । वार्त्रहत्यादिद-
शभिर्मन्त्रैरग्रेरुपस्थानं कुर्यात् ॥

तत्र प्रथममन्त्रः । वार्त्रहत्याय शवसे पृतनापाहाय च ।
इन्द्र त्वा वर्तयामसीति ।

हेइन्द्र ! त्वा त्वां आवर्तयाममि इकारच्छान्दसः । आवर्तयामः ।
किमर्थं । शवसे शव इति बलनाम । कीदृशाय वार्त्रहत्याय । वृत्रो येन ह-
न्यते तद्वार्त्रघ्न इत्यं पृतनापाहाय च । सहतिरभिभवार्थः । पृतनां सेनां
सहते अभिभवतीति पृतनामहः । तत्र साधुः पृतनासाह्यः च्छान्दसं ष-
न्वं । आवर्तनं वृत्रजयार्थं परिभ्रमणं तत्कारयामः ॥

अथ द्वितीयः ॥ ॥ सह दानुं पुरुहूत क्षियन्त महस्तमिन्द्र-
सम्पिणक्कुणारुं वर्धमानं पियारुपपादमिन्द्र तवसा जघंधेति ।

हेपुरुहूत । पुरुभिर्वहुभिर्हूयत आहुतइति पुरुहूतः । हे इन्द्र ! सहदानुं
सहसो बलस्य च दातारं स एकीभूय युद्धं ददातीति सहदानुः । तं सहदानुं ।
क्षियन्तं निवसन्तं शक्रमभि इन्द्रं त्वामभिमुखीकृत्य युद्धार्थं स्थितं । वृत्रं
अहस्तं कृत्वा बज्रेण हस्तं छित्त्वा अहस्तं वृत्रं निर्जित्य । कुणन्तं दुर्वचोभि-
धायिनं । कुणारुं । सम्पिणक् । सम्पिण्डि । सम्प्यक् पीडय एवमपि व-

धमानं । पियारुं । पियातिर्हिसाकर्म देवानां हिंसितारं । हेइन्द्र एवम्बिधं
वृत्रं अपादं कृत्वा गमनासमर्थं कृत्वा । तवसा बलेन जघंथ । जहि हन ।

अथ तृतीयः ॥ विन इन्द्र मधो जही नीवार्यछ पृतन्य-
तः । यो अस्मां अभिदा सखधरं गमया तम इति ॥७०

अयमन्त्रो व्याख्यातः ॥

अथ चतुर्थः । मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः य एव न
आजगन्था परस्या । सृक्संशाय पविमिद्रन्तिगमं विशक्र-
न्ता हिवि मृधो नुदस्वेति ॥७१

मृगो न मृग इव भीमः । तत्र हेतुः । व्याघ्रो वा भिहो वा । भीमो
भीषणः । कुचरः । कुन्तिताचारी हिंस्रः प्राणिवधजीवनः गिरिष्ठा पर्वताश्रयः ।
स यथा कांश्चिन्प्राणिविशेषान् हन्ति तैश्चानमिभूयमानः । एवं त्वं परस्याः
पृथिव्याः परावतः परावत इति दूरनाम । दूरदूरतरप्रादेशादाहूयमान
इव आजगन्थ । आगत्य च शृणु । यन्पार्थयेतेस्माभिः सृकं वृत्रं ।
सृपन्ति हिनस्तीति सृकं हिमामावृतं सृक्संशायशो तनुकरणे । निशि-
तधारं कृत्वा । पविं शतधारं तदपि तिग्मं अतितीक्ष्णं । वृत्रं मृहीत्वा हे-
इन्द्र शत्रून् विनाहि वधार्थेयध्रातुः । विनाशय हनन् वधपतिष्ठायामिति
वा । अपतिष्ठान्वागच्छतु । प्रधानमूतान् शत्रून् हत्वा अवशिष्टान् क्षीणान्
मृधः रणमण्डलात् । विनुदस्व मेरय । अपुनरागमनाय ।

अथ पञ्चमः ॥ वैश्वानारो न हृतय आप्रयातु परावतः ।
अग्निर्नः सुष्टुतीरुपेति । ७२

वैश्वानरोग्निः नोस्माकं कुतवे अचनाय तर्पणाय आप्रयातु ।
आगच्छतु । परावतः दूरदूरतः प्रदेशतः किञ्च नोस्माकं सुष्टुतीरुप
शोभनास्तुतीनुपश्रोतुं आयात्विति सम्बन्धः ।

अथ षष्ठः । पृष्ठो दिविपृष्ठो अग्निः पृथिव्यां पृष्ठो बिश्वाऽ
ओषधीराविवेश । वैश्वानरः माहसा पृष्ठोऽग्निः स नो दिवा
सरिषस्यानुनक्तमिति । ७३

यो अग्निर्वैश्वानरः दिवि द्युमंडले सुमुखिः कोयमिति पृष्ठः
तत्र ह्येवं श्रूयते । यमेनमादिसे पुरुषं वेदयन्ते स इन्द्रः प्रजापतिः स

इन्द्रः प्रजापतिः स ब्रह्मोति । यश्च वैश्वानरोऽग्निर्विद्युतात्मना प्रावृषि स्थितः । पृथिव्यामन्तरिक्षलोके पृथिवीत्यन्तरिक्षनामसु पठितं । उदकादिभिः कोयं किनाम । यमिति पृष्ठः । यश्च वैश्वानरः अस्मिन्लोके । व्यवस्थितः पृष्ठः अग्निहोत्रप्रभृतिभिर्मूर्च्छेच्छपर्यन्तैः कोजनैः कोपतापमकाशादिभिर्वैश्व ओषधीराविवेश आविष्टः यश्चाग्निः सहसा बलेनाध्वर्युपागे मध्यमानः कोयमिति दिदृक्षुभिः पृष्ठः । स नः सोऽस्मान्दिवो नक्तं रात्रौ अस्मान्पातु रक्षतु । रिषः रिषति हिंसाकर्मा । हिंसाव्यापारात् । नः दिवानक्तं सन्ततं अनवल्लिन्नं निरन्तरं पाहि साशीरिति ॥

अथ सप्तमः । अश्यामः तं काममग्ने तवातोऽ अश्याम रायि रयिवः सुवीरं । अश्याम वाजमाभि वाजयंतोऽश्याम शुभ्रमजरारं त इति । ७४

हेश्रीभगवन्नग्रे ! वयं यं कामं कामयामहे तं तं कामं अश्याम त्वत्प्रसादान्प्राप्स्याम । तवेति व्यत्ययः । तव हृसा अग्नेन पालनेन । रायि धनमश्याम । हेरयिवः । धनवत्सुवीरं सुपुत्रं अश्याम ते त्वत्प्रसादाद्वाजं अन्नं वाजतिरर्चति कर्मा । अभिवाजयन्तः वाजमभ्यर्चयन्तो वयं वाजमश्याम । हेश्रीभगवन्नग्रे ! हेअजर ! जरारहित अजरं जराशून्यं शुभ्रं यशः त्वत्प्रसादाज्जरारहितां कीर्तिं अश्याम ।

अथाष्टमः । वयं ते अथ ररिमा हि काममुत्तानहस्त नभसोपसथ । यजिष्ठेन मनसा यच्चि देवानस्त्रेधतां मन्मना विप्रो अग्न इति । ७५

हेश्रीभगवन्नग्रे ! अथ अस्मिन् अहनि हि यस्मात्ते तुभ्यं कामं त्वदपेक्षितं हविः ररिम । दत्तवतः । कथयिति । उत्तानहस्ताः पूरणे विस्तृतपाण्यंगुलयः । अवद्धमुष्टिकाः सन्तः कृतांजलयो वा । नमता प्रणिपातेन उपसथ । उपसङ्गम्य । यजिष्ठेन । यजननिष्ठेन । श्रद्धायुक्तेन मनसा । तुभ्यं कामं हविः ररिमेति सम्बन्धः । हेश्रीभगवन् ! त्वमाधिदेवान् यक्षि यजसि । देवानां स्वं स्वं भागं प्रयच्छेत्यर्थः । हेअग्रे ! विम प्रा पूरणे । इष्टापूर्तिः करः त्वं मन्मना मन्मनांसि अस्माकं मनांसि । अस्त्रेधतां । मनोनियन्ता भव ।

अथ नवमः ॥

धामछदग्निरिन्द्रो ब्रह्मा देवो बृहस्पतिः । सचेतसो
विश्वदेवा यज्ञं प्रावन्तु नः श्रुम इति । ७६

धामशब्दोत्र स्थानवचनः । धानानि स्थामानि जनानि छादय
पूरयति अतिरिक्तानि च यः समीकरोति स धामछत् अग्निः । सर्वज्ञः ।
इन्द्रः परमैश्वर्ययुक्तः ब्रह्मा चतुर्मुखः । देवो देवनादिगुणयुक्तः । बृह-
स्पतिर्देवगुरुः । सचेतसः समनेस्काः । ज्ञानसपन्नाः । विश्वे सर्वे देवाः
नोऽस्माकं यज्ञं भूमेः शोभनात्मके श्रीभगवद्विषये स्थितं यज्ञं प्रकर्षेण अवन्तु ।
सफलं कुर्वन्तु । यद्वा अन्यूनातिरिक्तं कुर्वन्तु । नोऽस्माकं श्रुमे स्विष्टे
च स्थाने स्थापयतु ।

अथ दशमः ॥ त्वं यद्विषदाभुषो नृ० पाहि शृणुधी गिरः ।
रक्षा तोकमु तन्ममेति । ७७

अयं मन्त्रश्चतुर्दशोऽध्याये व्याख्यातः ॥

वेदार्थस्य प्रकाशेन तमो हार्दं निवारयन् ।

पुमर्थाश्चतुरो दद्याद्विद्यातीर्थमहेश्वरः ॥ १ ॥

इति वि०शोऽध्याये पञ्चमोऽनुवाकः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजपरमेश्वरवैदिकमार्गप्रवर्तकश्री-
धीरबुक्कभूपालसाम्राज्यधुरन्धरेण सायणाचार्यविरचिते माध-
वीये वेदार्थप्रकाशे शुक्लयजुःकाण्वसंहिताभाष्ये विश्वोऽध्या-
यः समाप्तिमगमत् ॥

